राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन माला का षोडश पुष्प

महाभारतीय–गीतामहोदधिः

प्रथमभागः

शौनक–पुलस्त्य–धौम्य–अष्टावक्र–हनुमद्–आर्ष्टिषेण–नहुष–मार्कण्डेय–
सरस्वती–मत्स्योपाख्यान–बक–युधिष्ठिर–I–कौशिक–(व्याध) –सावित्री–
युधिष्ठिर–II–सनत्सुजातीय गीताः

(महाभारत की 16 गीताएँ हिन्दी भाषानुवाद सहित)

राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन माला - 16

प्रधान सम्पादक : **डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा**
समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के उच्च अध्ययन केन्द्र के
अन्तर्गत दर्शन विभाग के द्वारा 2018 में प्रकाशित ग्रन्थ।

ISBN - 81-86027-27-6 (Set)
ISBN - 81-86027-28-4 (Vol. I)
ISBN - 81-86027-29-2 (Vol. II)
ISBN - 81-86027-30-0 (Vol. III)
ISBN - 81-86027-31-9 (Vol. IV)

मूल्य : **600/– रुपये (प्रति खण्ड)**
सम्पूर्ण सेट 2400/–

विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर द्वारा सङ्गणक टङ्कित
टेक्नोक्रेट प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर द्वारा मुद्रित।

University of Rajasthan Studies in Indian Philosophy -16

MAHĀBHĀRĀTĪYA-GĪTĀMAHODADHIḤ

Volume - I

(Śaunka-Pulastya-Dhaumya-Aṣṭāvakra-Hanumad-Arṣtiṣeṇa-Nahuṣa-Mārkaṇdeya-Saraswati-Matsyopākhyāna-Baka-Yuddhiṣṭhira-I-Kauśika (Vyādha)-Sāvitri-Yuddhiṣthira-II-Sansujātīya-Gītāḥ)

(16 Gītā's of Mahābhārata With Hindi Commentary)

Rajendra Prasad Sharma

Department of Philophy
University of Rajasthan
Jaipur

University of Rajasthan Studies in Indian Philosophy-16

General Editor : **Dr. Rajendra Prasad Sharma**
Co-ordinator, Centre of Advanced Study
Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur

Published in 2018 by the Department of Philosophy, University of Rajasthan, Jaipur-302004 (Rajasthan) India with financial assistance from the UGC under its CAS budget.

ISBN - 81-86027-27-6 (Set)
ISBN - 81-86027-28-4 (Vol. I)
ISBN - 81-86027-29-2 (Vol. II)
ISBN - 81-86027-30-0 (Vol. III)
ISBN - 81-86027-31-9 (Vol. IV)

Price : Rs. 600/- (Per-Volume)
Rs. 2400/- (Full Set.)

Computer typed by : Vishal Computers, Jaipur
Printed by : Technocrat Printers Pvt. Ltd, Jaipur.

महाभारतीय–गीतामहोदधिः

अनुक्रमणिका

प्रथम भाग

महाभारतीय–गीतामहोदधि की भूमिका **1–58**

विविध महाभारतीय गीताओं का अनुसन्धान : मूल साहित्य एवं विषयविवरण **1–17**

शोध समस्या का उद्‌गम 5

शोध उद्देश्य एवं पद्धति 6

अन्तर–अनुशासनीय उपयुक्तता 7

महाभारतीय गीताओं की सूची 7

पुराण एवं संहिताग्रन्थों में उपलब्ध गीताओं की सूची 12

दार्शनिक मूर्धन्यों के द्वारा लिखित उपलब्ध गीताओं की सूची 17

महाभारतीय गीताओं का दार्शनिक विवेचन **18–34**

दर्शन परम्परा में गीता शब्द प्रयोग, तात्पर्य एवं गीताओं एवं विधा परीक्षण 18

गीताओं एवं उपनिषदों के प्रस्तुतिकरण की दिव्यशैली 20

गीता एवं तत्पर्याय शब्दों की प्रयुक्ति 21

महाभारत में विविध गीताओं को मानने का तार्किक आधार **23**

विविध शोध अध्येता के अनुसार स्वीकृत गीताओं की सूची 29

गीताओं का प्रतिपाद्य सामान्य उपदेश 34

महाभारतीय गीता साहित्य का परिचय **35–49**

गीता स्वरूप एवं विषय 42

गीता की टीका एवं भाष्य परम्परा 45

महाभारतीय गीताओं का संक्षिप्त परिचयात्मक विश्लेषण **50–58**

अकारादिक्रमानुसार महाभारतीय गीताओं की सूची **59–62**

	महाभारतीय गीता–महोदधिः (मूल एवं अनुवाद)	**1–1734**
	*** महाभारतीय–गीतामहोदधिः ***	**1–408**
	प्रथमभागः	
	शौनकगीता	**1–11**
1.	धन के दोष, अतिथिसत्कार की महत्ता तथा कल्याण के उपायों के विषय में धर्मराज युधिष्ठिर से ब्राह्मणों तथा शौनकजी की बातचीत	1
	पुलस्त्यगीता	**12–77**
1	भीष्मजी के पूछने पर पुलस्त्यजी का उन्हें विभिन्न तीर्थों की यात्रा का माहात्म्य बताना	12
2	कुरुक्षेत्र की सीमा में स्थित अनेक तीर्थों की महत्ता का वर्णन	25
3	नाना प्रकार के तीर्थों की महिमा	46
4	गङ्गासागर, अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग आदि विभिन्न तीर्थों की महिमा का वर्णन और गङ्गा का माहात्म्य	64
	धौम्यगीता	**78–93**
1	युधिष्ठिर का धौम्य मुनि से पुण्य तपोवन, आश्रम एवं नदी आदि के विषय में पूछना	78
2	धौम्य द्वारा पूर्व दिशा के तीर्थों का वर्णन	81
3	धौम्य मुनि के द्वारा दक्षिण दिशावर्ती तीर्थों का वर्णन	84
4	धौम्य द्वारा पश्चिम दिशा के तीर्थों का वर्णन	87
5	धौम्य द्वारा उत्तर दिशा के तीर्थों का वर्णन	89
	अष्टावक्रगीता	**94–112**
1	अष्टावक्र के जन्म का वृत्तान्त और उनका राजा जनक के दरबार में जाना	94
2	अष्टावक्र का द्वारपाल तथा राजा जनक से वार्तालाप	97
3	बन्दी और अष्टावक्र का शास्त्रार्थ, बन्दी की पराजय तथा समङ्गा में स्नान से अष्टावक्र के अङ्गों का सीधा होना	103
	हनुमद्गीता	**113–145**
1	भीमसेन का सौगन्धिक कमल लाने के लिए जाना और कदली वन में उनकी हनुमान्‌जी से भेंट	113
2	श्रीहनुमान् और भीमसेन का संवाद	124
3	हनुमान्‌जी का भीमसेन को सङ्क्षेप में श्रीराम का चरित्र सुनाना	129
4	हनुमान्‌जी के द्वारा चारों युगों के धर्मों का वर्णन	131

5	हनुमान्‌जी के द्वारा भीमसेन को अपने विशाल रूप का प्रदर्शन और चारों वर्णों के धर्मों का प्रतिपादन	137
6	हनुमान्‌जी का भीमसेन को आश्वासन और विदा देकर अन्तर्धान होना	143
	आर्ष्टिषेणगीता	**146–149**
1	प्रश्न के रूप में आर्ष्टिषेण का युधिष्ठिर के प्रति उपदेश	146
	नहुषगीता	**150–162**
1	युधिष्ठिर का भीमसेन के पास पहुँचना और सर्परूपधारी नहुष के प्रश्नों का उत्तर देना	150
2	युधिष्ठिर द्वारा अपने प्रश्नों का उचित उत्तर पाकर सन्तुष्ट हुए सर्परूपधारी नहुष का भीमसेन को छोड़ देना तथा युधिष्ठिर के साथ वार्तालाप करने के प्रभाव से सर्पयोनि से मुक्त होकर स्वर्ग जाना	155
	मार्कण्डेयगीता, सरस्वतीगीता एवं मत्स्योपाख्यानगीता	**163–233**
1	काम्यक वन में पाण्डवों के पास भगवान् श्रीकृष्ण, मुनिवर मार्कण्डेय तथा नारदजी का आगमन एवं युधिष्ठिर के पूछने पर मार्कण्डेयजी के द्वारा कर्म फल भोग का विवेचन	163
2	तपस्वी तथा स्वधर्म परायण ब्राह्मणों का माहात्म्य	176
3	ब्राह्मण की महिमा के विषय में अत्रि मुनि तथा राजा पृथु की प्रशंसा	178
	(सरस्वतीगीता)	**183–188**
4	तार्क्ष्य मुनि और सरस्वती का संवाद	183
	(मत्स्योपाख्यानगीता)	**189–195**
5	वैवस्वत मनु का चरित्र तथा मत्स्यावतार की कथा	189
6	चारों युगों की वर्ष संख्या एवं कलियुग के प्रभाव का वर्णन, प्रलयकाल का दृश्य और मार्कण्डेयजी को बालमुकुन्दजी के दर्शन, मार्कण्डेयजी का भगवान् के उदर में प्रवेश कर ब्रह्माण्ड दर्शन करना और फिर बाहर निकल कर उनसे वार्तालाप करना	195
7	भगवान् बालमुकुन्द का मार्कण्डेय को अपने स्वरूप का परिचय देना तथा मार्कण्डेय द्वारा श्रीकृष्ण की महिमा का प्रतिपादन और पाण्डवों का श्रीकृष्ण की शरण में जाना	211
8	युगान्तकालिक कलियुग के समय के बर्ताव का तथा कल्कि अवतार का वर्णन	218
9	भगवान् कल्की के द्वारा सत्ययुग की स्थापना और मार्कण्डेयजी का युधिष्ठिर के लिए धर्मोपदेश	229

	बकगीता	**234–238**
1	चिरजीवी के सुख एवं दुःखनिरूपक इन्द्र और बक मुनि का संवाद	234
	युधिष्ठिरगीता–।	**239–272**
1	निन्दित दान, निन्दित जन्म, योग्य दानपात्र, श्राद्ध में ग्राह्य और अग्राह्य ब्राह्मण, दानपात्र के लक्षण, अतिथि सत्कार, विविध दानों का महत्त्व, वाणी की शुद्धि, गायत्री जप, चित्त शुद्धि तथा इन्द्रिय निग्रह आदि विविध विषयों का वर्णन	239
2	उत्तङ्क की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् का उन्हें वरदान देना तथा इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्व का धुन्धुमार नाम पड़ने का कारण बताना	255
3	उत्तङ्क का राजा बृहदश्व से धुन्धु का वध करने के लिए आग्रह	259
4	ब्रह्माजी की उत्पत्ति और भगवान् विष्णु के द्वारा मधु–कैटभ का वध	263
5	धुन्धु की तपस्या और वर प्राप्ति, कुवलाश्व द्वारा धुन्धु का वध और देवताओं का कुवलाश्व को वर देना	267
	कौशिकगीता (व्याधगीता)	**273–333**
1	पतिव्रता स्त्री तथा पिता माता की सेवा का माहात्म्य	273
2	कौशिक ब्राह्मण और पतिव्रता के उपाख्यान के अन्तर्गत ब्राह्मणों के धर्म का वर्णन	276
3	कौशिक का धर्मव्याध के पास जाना, धर्मव्याध के द्वारा पतिव्रता से प्रेषित जान लेने पर कौशिक को आश्चर्य होना, धर्मव्याध के द्वारा वर्ण धर्म का वर्णन, जनक राज्य की प्रशंसा और शिष्टाचार का वर्णन	282
4	धर्मव्याध द्वारा हिंसा और अहिंसा का विवेचन	294
5	धर्म की सूक्ष्मता, शुभाशुभ कर्म और उनके फल तथा ब्रह्म की प्राप्ति के उपायों का वर्णन	298
6	विषय सेवन से हानि, सत्सङ्ग से लाभ और ब्राह्मी विद्या का वर्णन	306
7	पञ्चमहाभूतों के गुणों का और इन्द्रिय निग्रह का वर्णन	309
8	तीनों गुणों के स्वरूप और फल का वर्णन	312
9	प्राण वायु की स्थिति का वर्णन तथा परमात्म साक्षात्कार के उपाय	314
10	माता–पिता की सेवा का दिग्दर्शन	320

11	धर्मव्याध का कौशिक ब्राह्मण को माता–पिता की सेवा का उपदेश देकर अपने पूर्वजन्म की कथा कहते हुए व्याध होने का कारण बताना	324
12	कौशिक धर्मव्याध संवाद का उपसंहार तथा कौशिक का अपने घर को प्रस्थान	329
	सावित्रीगीता	**334–349**
1	सावित्री और यम का संवाद, यमराज का सन्तुष्ट होकर सावित्री को अनेक वरदान देते हुए मरे हुए सत्यवान् को भी जीवित कर देना	334
	युधिष्ठिरगीता–II	**350–382**
1	ब्राह्मण अरणि एवं मन्थन काष्ठ का पता लगाने के लिए पाण्डवों का मृग के पीछे दौड़ना और दुःखी होना	350
2	पानी लाने के लिए गए हुए नकुल आदि चार भाइयों का सरोवर के तट पर अचेत होकर गिरना	353
3	यक्ष और युधिष्ठिर का प्रश्नोत्तर तथा युधिष्ठिर के उत्तर से सन्तुष्ट हुए यक्ष का चारों भाइयों के जीवित होने का वरदान देना	358
4	यक्ष का चारों भाइयों को जिलाकर धर्म के रूप में प्रकट हो युधिष्ठिर को वरदान देना	378
	सनत्सुजातीयगीता	**383–408**
1	विदुरजी के द्वारा स्मरण करने पर आये हुए सनत्सुजात ऋषि से धृतराष्ट्र को उपदेश देने के लिए उनकी प्रार्थना	383
2	सनत्सुजातजी के द्वारा धृतराष्ट्र के विविध प्रश्नों का उत्तर	385
3	ब्रह्मज्ञान में उपयोगी मौन, तप, त्याग, अप्रमाद एवं दम आदि के लक्षण तथा मदादि दोषों का निरूपण	392
4	ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्म का निरूपण	401
5	गुण–दोषों के लक्षणों का वर्णन और ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन	406
	*** महाभारतीय–गीतामहोदधिः ***	**409–842**
	द्वितीयभागः	
	भगवद्गीता	**409–500**
1	दोनों सेनाओं के प्रधान–प्रधान वीरों एवं शङ्खध्वनि का वर्णन तथा स्वजनवध के पाप से भयभीत हुए अर्जुन का विषाद	409

2	अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करते हुए भगवान् के द्वारा नित्यानित्य वस्तु के विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञ की स्थिति और महिमा का प्रतिपादन	414
3	ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनों के अनुसार कर्तव्यकर्म करने की आवश्यकता का प्रतिपादन एवं स्वधर्मपालन की महिमा तथा कामनिरोध के उपाय का वर्णन	424
4	सगुण भगवान् के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा का वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञान की महिमा का वर्णन	429
5	सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोग का वर्णन	435
6	निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धार के लिए प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्ट की गति का वर्णन	439
7	ज्ञान-विज्ञान, भगवान् की व्यापकता, अन्य देवताओं की उपासना एवं भगवान् को प्रभावसहित न जानने वालों की निन्दा और जानने वालों की महिमा का कथन	445
8	ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के सात प्रश्न और उनका उत्तर, एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गों का प्रतिपादन	449
9	ज्ञान, विज्ञान और जगत् की उत्पत्ति का, आसुरी और दैवी सम्पदावालों का, प्रभावसहित भगवान् के स्वरूप का, सकाम-निष्काम उपासना का एवं भगवद्-भक्ति की महिमा का वर्णन	453
10	भगवान् की विभूति और योगशक्ति का तथा प्रभावसहित भक्तियोग का कथन, अर्जुन के पूछने पर भगवान् द्वारा अपनी विभूतियों का और योग शक्ति का पुनः वर्णन	457
11	विश्वरूप का दर्शन कराने के लिए अर्जुन की प्रार्थना, भगवान् और संजय द्वारा विश्वरूप का वर्णन, अर्जुन द्वारा भगवान् के विश्वरूप का देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुन द्वारा भगवान् की स्तुति-प्रार्थना, भगवान् द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूप के दर्शन की महिमा और केवल अनन्य भक्ति से ही भगवान् की प्राप्ति का कथन	463

12	साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमता का निर्णय तथा भगवत्प्राप्ति के उपाय का एवं भगवत्प्राप्ति वाले पुरुषों के लक्षणों का वर्णन	471
13	ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुष का वर्णन	473
14	ज्ञान की महिमा और प्रकृति-पुरुष से जगत् की उत्पत्ति का, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणों का, भगवत्प्राप्ति के उपाय का एवं गुणातीत पुरुष के लक्षणों का वर्णन	478
15	संसारवृक्ष का, भगवत्प्राप्ति के उपाय का, जीवात्मा का, प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरूप का एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम के तत्त्व का वर्णन	481
16	फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदा का वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्र के अनुकूल आचरण करने के लिए प्रेरणा	484
17	श्रद्धा का और शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत् के प्रयोग की व्याख्या	487
18	त्याग का, सांख्यसिद्धान्त का, फलसहित वर्ण-धर्म का, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठा का, भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग का एवं गीता के माहात्म्य का वर्णन	491
	विदुरगीता	**501–519**
1	राजा धृतराष्ट्र को समझाकर उनको शोक का त्याग करने के लिये कहना	501
2	शरीर की अनित्यता बताते हुए धृतराष्ट्र को शोक त्यागने के लिये कहना	505
3	दु:खमय संसार के गहन स्वरूप का वर्णन और उससे छूटने का उपाय	508
4	गहन वन के दृष्टान्त से संसार के भयंकर स्वरूप का वर्णन	511
5	संसार रूपी वन के रूपक का स्पष्टीकरण	514
6	संसारचक्र का वर्णन और रथ के रूपक से संयम और ज्ञान आदि को मुक्ति का उपाय रूप का वर्णन	515
	जनकगीता	**520–528**
1	युधिष्ठिर द्वारा भीम की बात का विरोध करते हुए मुनि वृत्ति की और ज्ञानी महात्माओं की प्रशंसा	520

2	अर्जुन का राजा जनक और उनकी रानी का दृष्टान्त देते हुए युधिष्ठिर को संन्यास ग्रहण करने से रोकना	523
	सेनजिद्गीता–I	**529–533**
1	सेनजित् के उपदेश युक्त उद्गारों का उल्लेख करके व्यासजी का युधिष्ठिर को समझाना	529
	अश्मगीता	**534–541**
1	अश्मा ऋषि और जनक के संवाद द्वारा प्रारब्ध की प्रबलता बतलाते हुए व्यासजी का युधिष्ठिर को समझाना	534
	स्वायंभुवमनुगीता	**541–548**
1	स्वायम्भुव मनु के कथनानुसार धर्म का स्वरूप, पाप से शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त, अभक्ष्य वस्तुओं का वर्णन तथा दान के अधिकारी एवं अनधिकारी का विवेचन	541
	भीष्मस्तवराजगीता	**549–566**
1.	भीष्मद्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति — भीष्मस्तवराज	549
	मनुगीता एवं उशनोगीता	**567–574**
1	युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म के द्वारा राजधर्म का वर्णन, राजा के लिए पुरुषार्थ और सत्य की आवश्यकता, ब्राह्मणों की अदण्डनीयता तथा राजा की परिहासशीलता और मृदुता से प्रकट होने वाले दोष	567
	भार्गवगीता	**575–580**
1	राजा के धर्मानुकूल नीतिपूर्ण बर्ताव का वर्णन	575
	यज्ञगीता	**581–588**
1	वर्णधर्म का वर्णन	581
	नारायणगीता	**589–592**
	आश्रमधर्म का वर्णन	589
	आङ्गिरस (बृहस्पति) गीता	**593–600**
1	वसुमना और बृहस्पति के संवाद में राजा के न होने से प्रजा की हानि और होने से लाभ का वर्णन	593
	कैकेयगीता	**601–606**
1	केकय राजा तथा राक्षस का उपाख्यान और केकय राज्य की श्रेष्ठता का विस्तृत वर्णन	601
	उतथ्यगीता	**607–619**
1	मान्धाता को उपदेश — राजा के लिए धर्म पालन की आवश्यकता	607

2	धर्माचरण का महत्त्व और राजा के धर्म का वर्णन	612
	वामदेवगीता	**620–630**
1	राजा के धर्मपूर्वक आचार के विषय में वामदेवजी का वसुमना को उपदेश	620
2	वामदेवजी के द्वारा राजोचित बर्ताव का वर्णन	622
3	राजा और राज्य के लिए हितकर बर्ताव	627
	ऋषभगीता	**631–642**
1	युधिष्ठिर की आशा विषयक जिज्ञासा	631
2	राजा सुमित्र का मृग की खोज करते हुए तपस्वी मुनियों के आश्रम पर पहुँचना और उनसे आशा के विषय में प्रश्न करना	633
3	ऋषभ का राजा सुमित्र को वीरद्युम्न और तनु मुनि का वृत्तान्त सुनाना	635
4	तनु मुनि का राजा वीरद्युम्न को आशा के स्वरूप का परिचय देना और ऋषभ के उपदेश से सुमित्र का आशा को त्याग देना	639
	ब्रह्मगीता-I	**643–644**
1	राजा किस का धन ले और किस का न ले तथा किस के साथ कैसा बर्ताव करे—इसका विचार	643
	भीष्मगीता, खड्गगीता एवं षड्जगीता	**645–716**
1	समस्त अनर्थों का कारण लोभ को बताकर उससे होने वाले विभिन्न पापों का वर्णन तथा श्रेष्ठ महापुरुषों के लक्षण	645
2	अज्ञान और लोभ एक-दूसरे का कारण बताकर दोनों की एकता करना और दोनों को ही समस्त दोषों का कारण सिद्ध करना	649
3	मन और इन्द्रियों के संयम रूप दम का माहात्म्य	651
4	तप की महिमा	656
5	सत्य के लक्षण, स्वरूप और महिमा का वर्णन	658
6	काम, क्रोध आदि तेरह दोषों का निरूपण और उनके नाश का उपाय	661
7	नृशंस अर्थात् अत्यन्त नीच पुरुष के लक्षण	664
8	नाना प्रकार के पापों और उनके प्रायश्चित्तों का वर्णन	666
	(खड्गगीता)	**676–686**
9	खड्ग की उत्पत्ति और प्राप्ति की परम्परा की महिमा का वर्णन	676

	(षड्जगीता)	**686–693**
10	धर्म, अर्थ और काम के विषय में विदुर तथा पाण्डवों के पृथक् पृथक् विचार तथा अन्त में युधिष्ठिर का निर्णय	686
11	मित्र बनाने एवं न बनाने योग्य पुरुषों के लक्षण तथा कृतघ्न गौतम की कथा का आरम्भ	694
12	गौतम का समुद्र की ओर प्रस्थान और संध्या के समय एक दिव्य बक पक्षी के घर पर अतिथि होना	700
13	गौतम का राजधर्मा द्वारा आतिथ्य सत्कार और उसका राक्षसराज विरूपाक्ष के भवन में प्रवेश	703
14	गौतम का राक्षसराज के यहाँ से सुवर्ण राशि लेकर लौटना और अपने मित्र बक के वध का घृणित विचार मन में लाना	706
15	कृतघ्न गौतम द्वारा मित्र राजधर्मा का वध तथा राक्षसों द्वारा उसकी हत्या और कृतघ्न के मांस को अभक्ष्य बताना	710
16	राजधर्मा और गौतम का पुनः जीवित होना	714
	सेनजिद्गीता–II एवं पिङ्गला गीता	**717–725**
1	शोकाकुल चित्त की शान्ति के लिए राजा सेनजित् और ब्राह्मण के संवाद का वर्णन एवं पिङ्गला की कथा	717
	शम्पाकगीता	**726–729**
1	त्याग की महिमा के विषय में शम्पाक ब्राह्मण का उपदेश	726
	मङ्किगीता	**730–737**
1	धन की तृष्णा से दुःख और उसकी कामना के त्याग से परम सुख की प्राप्ति	730
	बोध्यगीता	**738–740**
1	शम, वैराग्य एवं शान्ति प्राप्ति हेतु बोध्य का राजा ययाति को उपदेश	738
	आजगरगीता	**741–746**
1	प्रह्लाद और अवधूत का संवाद वैराग्य साधिका आजगर वृत्ति की प्रशंसा	741
	शृगालगीता	**747–753**
1	सद्बुद्धि का आश्रय लेकर आत्महत्यादि पापकर्म से निवृत्त होने के सम्बन्ध में काश्यप ब्राह्मण और इन्द्र का संवाद	753

	कर्मफलगीता	**754–756**
1	शुभाशुभ कर्मों का परिणाम कर्त्ता को अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन	754
	भृगुगीता	**757–795**
1	भरद्वाज और भृगु के संवाद में जगत् की उत्पत्ति का और विभिन्न तत्त्वों का वर्णन	757
2	आकाश से अन्य चार स्थूल भूतों की उत्पत्ति का वर्णन	762
3	पञ्चमहाभूतों के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन	764
4	शरीर के भीतर जठरानल तथा प्राण अपान आदि वायुओं की स्थिति आदि का वर्णन	769
5	जीव की सत्ता पर नाना प्रकार की युक्तियों से शङ्का उपस्थित करना	772
6	जीव की सत्ता तथा नित्यता को युक्तियों से सिद्ध करना	774
7	वर्ण विभागपूर्वक मनुष्यों और समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन	778
8	चारों वर्णों के अलग-अलग कर्मों का और सदाचार का वर्णन तथा वैराग्य से परब्रह्म की प्राप्ति	781
9	सत्य की महिमा, असत्य के दोष तथा लोक और परलोक के सुख-दुःख का विवेचन	783
10	ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमों के धर्म का वर्णन	787
11	वानप्रस्थ और संन्यास धर्मों का वर्णन तथा हिमालय के उत्तर पार्श्व में स्थित उत्कृष्ट लोक की विलक्षणता एवं महत्ता का प्रतिपादन, भृगु-भरद्वाज संवाद का उपसंहार	791
	जापकगीता	**796–819**
1	जापक को सावित्री का वरदान, उसके पास धर्म, यम, मृत्यु और काल का आगमन, राजा इक्ष्वाकु और जापक ब्राह्मण का संवाद, सत्य की महिमा तथा जापक की परम गति का वर्णन	796
2	जापक ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकु की उत्तम गति का वर्णन तथा जापक को मिलने वाले फल की उत्कृष्टता	814
	मनुगीता–II	**820–842**
1	बृहस्पति के प्रश्न के उत्तर में मनु द्वारा कामनाओं के त्याग की एवं ज्ञान की प्रशंसा तथा परमात्म तत्त्व रूप का निरूपण	820

2	आत्म-तत्त्व का और बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थों का विवेचन तथा उसके साक्षात्कार का उपाय	824
3	शरीर, इन्द्रिय और मन-बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा की नित्य सत्ता का प्रतिपादन	828
4	आत्मा एवं परमात्मा के साक्षात्कार का उपाय तथा महत्त्व	832
5	परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय	834
6	परमात्म तत्त्व का निरूपण—मनु-बृहस्पति संवाद की समाप्ति	838
	*** महाभारतीय-गीतामहोदधिः ***	**843-1294**
	तृतीयभाग:	
	विष्णुवराह(अनुस्मृति)गीता	**843-869**
1	श्रीकृष्ण से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति तथा उनकी महिमा का कथन	843
2	ब्रह्मा के पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियों के वंश का तथा प्रत्येक दिशा में निवास करने वाले महर्षियों का वर्णन	851
3	भगवान् विष्णु का वराह रूप में प्रकट होकर देवताओं की रक्षा और दानवों का विनाश कर देना तथा नारद को अनुस्मृति स्तोत्र का उपदेश और नारद द्वारा भगवान् की स्तुति	855
	गुरुशिष्यगीता-I	**870-878**
1	गुरु-शिष्य के संवाद का उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण सम्बन्धी अध्यात्म तत्त्व का वर्णन	870
2	संसार चक्र और जीवात्मा की स्थिति का वर्णन	876
	पञ्चशिखगीता	**879-896**
1	राजा जनक के दरबार में पञ्चशिख का आगमन और उनके द्वारा नास्तिक मतों के निराकरणपूर्वक शरीर से भिन्न आत्मा की नित्य सत्ता का प्रतिपादन	879
2	पञ्चशिख के द्वारा मोक्ष तत्त्व का विवेचन एवं भगवान् विष्णु द्वारा मिथिला नरेश जनकवंशी जनदेव की परीक्षा और उनके लिए वर प्रदान	887
	सनत्कुमारगीता एवं प्रह्लादगीता	**897-907**
1	सनत्कुमारजी का ऋषियों को भगवत्स्वरूप का उपदेश देना	897
	बलिवासवगीता, लक्ष्मीवासवगीता एवं नमुचिवासवगीता	**908-955**
1	इन्द्र और बलि का संवाद — इन्द्र के आक्षेपयुक्त वचनों का बलि के द्वारा कठोर प्रत्युत्तर	908

2	बलि और इन्द्र का संवाद, बलि के द्वारा काल की प्रबलता का प्रतिपादन करते हुए इन्द्र को फटकारना	912
	(लक्ष्मीवासवगीता)	**920–955**
3	इन्द्र और लक्ष्मी का संवाद, बलि को त्याग कर आयी हुई लक्ष्मी की इन्द्र के द्वारा प्रतिष्ठा	920
	(नमुचिवासवगीता)	**926–929**
4	इन्द्र और नमुचि का संवाद	926
5	इन्द्र और बलि का संवाद—काल और प्रारब्ध की महिमा का वर्णन	929
6	दैत्यों को त्याग कर इन्द्र के पास लक्ष्मी देवी का आना तथा किन सद्गुणों के होने पर लक्ष्मी आती हैं और किन दुर्गुणों के होने पर वे त्याग कर चली जाती हैं, इस बात को विस्तारपूर्वक बताना	943
	जैगीषव्यगीता	**956–959**
1	जैगीषव्य का असित देवल को समत्व बुद्धि का उपदेश	956
	व्यासगीता–I	**960–1051**
1	शुकदेवजी का प्रश्न और व्यासजी का उनके प्रश्नों का उत्तर देते हुए काल का स्वरूप बताना	960
2	व्यासजी का शुकदेव को सृष्टि के क्रम तथा युगधर्मों का उपदेश	964
3	ब्राह्मप्रलय एवं महाप्रलय का वर्णन	970
4	ब्राह्मणों का कर्त्तव्य और उन्हें दान देने की महिमा का वर्णन	973
5	ब्राह्मण के कर्त्तव्य का प्रतिपादन करते हुए काल रूप नद को पार करने का उपाय बताना	977
6	ध्यान के सहायक योग, उनके फल और सात प्रकार की धारणाओं का वर्णन तथा सांख्य एवं योग के अनुसार ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति	981
7	सृष्टि के समस्त कार्यों में बुद्धि की प्रधानता और प्राणियों की श्रेष्ठता के तारतम्य का वर्णन	988
8	नाना प्रकार के भूतों की समीक्षापूर्वक कर्म तत्त्व का विवेचन, युगधर्म का वर्णन एवं काल का महत्त्व	991
9	ज्ञान का साधन और उसकी महिमा	994
10	योग से परमात्मा की प्राप्ति का वर्णन	999
11	कर्म और ज्ञान का अन्तर तथा ब्रह्म प्राप्ति के उपाय का वर्णन	1003
12	आश्रम धर्म की प्रस्तावना करते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम का वर्णन	1006
13	ब्राह्मणों के उपलक्षण से गार्हस्थ्य धर्म का वर्णन	1111

14	वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के धर्म और महिमा का वर्णन	1015
15	संन्यासी के आचरण और ज्ञानवान् संन्यासी की प्रशंसा	1019
16	परमात्मा की श्रेष्ठता, उसके दर्शन का उपाय तथा इस ज्ञानमय उपदेश के पात्र का निर्णय	1025
17	महाभूतादि तत्त्वों का विवेचन	1028
18	बुद्धि की श्रेष्ठता और प्रकृति पुरुष विवेक	1031
19	ज्ञान के साधन तथा ज्ञानी के लक्षण और महिमा	1034
20	परमात्मा की प्राप्ति का साधन, संसार नदी का वर्णन और ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति	1037
21	ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण के लक्षण और परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय	1040
22	शरीर में पञ्चभूतों के कार्य और गुणों की पहचान	1043
23	स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से भिन्न जीवात्मा का और परमात्मा का योग के द्वारा साक्षात्कार करने का प्रकार	1045
24	कामरूपी अद्भुत वृक्ष का तथा उसे काटकर मुक्ति प्राप्त करने के उपाय का और शरीर रूपी नगर का वर्णन	1047
25	पञ्चभूतों के तथा मन और बुद्धि के गुणों का विस्तृत वर्णन	1049
	मृत्युगीता	**1052–1062**
1	युधिष्ठिर का मृत्यु विषयक प्रश्न, नारदजी का राजा अकम्पन से मृत्यु की उत्पत्ति का प्रसङ्ग सुनाते हुए ब्रह्माजी की रोषाग्नि से प्रजा के दग्ध होने का वर्णन	1052
2	महादेवजी की प्रार्थना से ब्रह्माजी के द्वारा अपनी रोषाग्नि का उपसंहार तथा मृत्यु की उत्पत्ति	1055
3	मृत्यु की घोर तपस्या और प्रजापति की आज्ञा से उसका प्राणियों के संहार का कार्य स्वीकार करना	1057
	जाजलिगीता एवं ब्रह्मगीता-II	**1063–1089**
1	युधिष्ठिर का धर्म की प्रामाणिकता पर सन्देह उपस्थित करना	1063
2	जाजलि की घोर तपस्या, सिर पर जटाओं में पक्षियों के घोंसला बनाने से उनका अभिमान और आकाशवाणी की प्रेरणा से उनका तुलाधार वैश्य के पास जाना	1066
3	जाजलि और तुलाधार का धर्म के विषय में संवाद	1072
4	जाजलि को तुलाधार का आत्म यज्ञ विषयक धर्म का उपदेश	1079
	(ब्रह्मगीता-II)	**1086–1089**
5	ब्रह्मगीता एवं जाजलि को पक्षियों का उपदेश	1086
	विचख्नुगीता	**1090–1092**
1	राजा विचख्नु के द्वारा अहिंसा धर्म की प्रशंसा	1090

	गौतमचिरकारिगीता	**1093–1102**
1	महर्षि गौतम और चिरकारी का उपाख्यान — दीर्घ काल सोच-विचार कर कार्य करने की प्रशंसा	1093
	कपिलगीता	**1103–1124**
1	स्यूमरश्मि और कपिल का संवाद—स्यूमरश्मि के द्वारा यज्ञ की आवश्यक कर्त्तव्यता का निरूपण	1103
2	प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग के विषय में स्यूमरश्मि-कपिल संवाद	1108
3	स्यूमरश्मि-कपिल संवाद—चारों आश्रमों में उत्तम साधनों के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का कथन	1117
	असितदेवलगीता	**1125–1130**
1	जीवात्मा के देहाभिमान से मुक्त होने के विषय में नारद और असितदेवल का संवाद	1125
	माण्डव्यजनकगीता	**1131–1132**
1	तृष्णा के परित्याग के विषय में माण्डव्य मनु और जनक का संवाद	1131
	पितापुत्रगीता	**1133–1138**
1	शरीर और संसार की अनित्यता तथा आत्म कल्याण की इच्छा रखने वाले पुरुष के कर्त्तव्य का निर्देश—पिता-पुत्र का संवाद	1133
	हारीतगीता	**1139–1142**
1	हारीत मुनि के द्वारा प्रतिपादित संन्यासी के स्वभाव, आचरण और धर्मों का वर्णन	1139
	वृत्रगीता	**1143–1158**
1	ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय तथा उस विषय में वृत्र-शुक्र संवाद का आरम्भ	1143
2	वृत्रासुर को सनत्कुमार का अध्यात्म विषयक उपदेश देना और उसकी परम गति तथा भीष्म द्वारा युधिष्ठिर की शङ्का का निवारण	1147
	समङ्गगीता	**1159–1162**
1	समङ्ग के द्वारा नारदजी से अपनी शोकहीन स्थिति का वर्णन	1159
	श्रेयोवाचिका (गालव) गीता	**1163–1170**
1	नारदजी का गालव मुनि को श्रेय का उपदेश	1163
	अरिष्टनेमिगीता	**1171–1176**
1	अरिष्टनेमि का राजा सगर को वैराग्योत्पादक मोक्ष विषयक उपदेश	1171

	शुक्रगीता	**1177–1182**
1	भृगुपुत्र उशना का चरित्र तथा उसे शुक्र नाम की प्राप्ति	1177
	पाराशरगीता	**1183–1221**
1	राजा जनक को कल्याण की प्राप्ति के साधन का उपदेश	1183
2	कर्मफल की अनिवार्यता तथा पुण्यकर्म से लाभ	1186
3	धर्मोपार्जित धन की श्रेष्ठता, अतिथि-सत्कार का महत्त्व, पाँच प्रकार के ऋणों से छूटने की विधि, भगवत्स्तवन की महिमा एवं सदाचार तथा गुरुजनों की सेवा से महान् लाभ	1190
4	शूद्र के लिए सेवा वृत्ति की प्रधानता, सत्सङ्ग की महिमा और चारों वर्णों के धर्मपालन का महत्त्व	1193
5	ब्राह्मण और शूद्र की जीविका, निन्दनीय कर्मों के त्याग की आज्ञा, मनुष्यों में आसुरभाव की उत्पत्ति और भगवान् शिव के द्वारा उसका निवारण तथा स्वधर्म के अनुसार कर्त्तव्यपालन का आदेश	1198
6	विषयासक्त मनुष्य का पतन, तपोबल की श्रेष्ठता तथा दृढ़तापूर्वक स्वधर्मपालन का आदेश	1199
7	वर्णविशेष की उत्पत्ति का रहस्य, तपोबल से उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति, विभिन्न वर्णों के विशेष और सामान्य धर्म, सत्कर्म की श्रेष्ठता तथा हिंसारहित धर्म का वर्णन	1204
8	नाना प्रकार के धर्म और कर्त्तव्यों का उपदेश	1209
9	राजा जनक के विविध प्रश्नों का उत्तर	1215
	हंसगीता	**1222–1228**
1	हंसरूपधारी ब्रह्मा का साध्यगणों को उपदेश	1222
	सांख्ययोगगीता	**1229–1250**
1	सांख्य और योग का अन्तर बतलाते हुए योग मार्ग के स्वरूप साधन, फल और प्रभाव का वर्णन	1229
2	सांख्य योग के अनुसार साधन और उसके फल का वर्णन	1236
	वसिष्ठगीता	**1251–1290**
1	वसिष्ठ और करालजनक का संवाद—क्षर और अक्षरतत्त्व का निरूपण और इनके ज्ञान से मुक्ति	1251
2	प्रकृति-संसर्ग के कारण जीव का अपने को नाना कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता मानना एवं नाना योनियों में बारम्बार जन्म ग्रहण करना	1257

3	प्रकृति के संसर्ग दोष से जीवन का पतन	1264
4	क्षर–अक्षर एवं प्रकृति–पुरुष के विषय में राजा जनक की शङ्का और उसका वसिष्ठजी द्वारा उत्तर	1265
5	योग और सांख्य के स्वरूप का वर्णन तथा आत्मज्ञान से मुक्ति	1271
6	विद्या–अविद्या, अक्षर और क्षर तथा प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का एवं विवेकी के उद्गार का वर्णन	1277
7	क्षर–अक्षर और परमात्म–तत्त्व का वर्णन, जीव के नानात्व और एकत्व का दृष्टान्त एवं उपदेश के अधिकारी और अनधिकारी का वर्णन	1283
	मुनिगीता	**1291–1294**
1	जनकवंशी वसुमान् को एक मुनि का धर्म विषयक उपदेश	1291
	❋ महाभारतीय–गीतामहोदधिः ❋	**1295–1752**
	चतुर्थ भागः	
	याज्ञवल्क्यगीता	**1295–1332**
1	राजा जनक को उपदेश—सांख्यमत के चौबीस तत्त्वों और नौ प्रकार के सर्गों का निरूपण	1295
2	अव्यक्त, महत्तत्व, अहङ्कार, मन और विषयों की कालसंख्या का एवं सृष्टि का वर्णन तथा इन्द्रियों में मन की प्रधानाता का प्रतिपादन	1298
3	संहारक्रम का वर्णन	1301
4	अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का वर्णन तथा सात्त्विक, राजस और तामस भावों के लक्षण	1303
5	सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृति के मनुष्यों की गति का वर्णन तथा राजा जनक के प्रश्न	1306
6	प्रकृति–पुरुष का विवेक और उसका फल	1309
7	योग का वर्णन और उसके साधन से परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति	1311
8	विभिन्न अङ्गों से प्राणों के उत्क्रमण का फल तथा मृत्युसूचक लक्षणों का वर्णन और मृत्यु को जीतने का उपाय	1315
9	याज्ञवल्क्य द्वारा सूर्य से वेदज्ञान की प्राप्ति का प्रसङ्ग, विश्वावसु को जीवात्मा और परमात्मा की एकता का उपदेश देकर उसका फल मुक्ति बताना	1318

	सुलभागीता	**1333–1357**
1	राजा जनक की परीक्षा करने के लिए आई हुई सुलभा का उनके शरीर में प्रवेश करना, राजा जनक का उस पर दोषारोपण करना एवं सुलभा का युक्तियों द्वारा निराकरण करते हुए राजा जनक को अज्ञानी बताना	1333
	व्यासगीता-II	**1358–1370**
1	व्यासजी का अपने पुत्र शुकदेव को वैराग्य और धर्म पूर्ण उपदेश देते हुए सावधान करना	1358
	ययातिगीता	**1371–1377**
1	राजा जनक के द्वारा शुकदेवजी का पूजन तथा उनके प्रश्न का समाधान करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम में परमात्मा की प्राप्ति होने के बाद अन्य तीनों आश्रमों की अनावश्यकता का प्रतिपादन करना तथा मुक्त पुरुष के लक्षणों का वर्णन	1371
	नारदगीता	**1378–1396**
1	शुकदेवजी को वैराग्य और ज्ञान का उपदेश	1378
2	शुकदेव को नारदजी का सदाचार और अध्यात्मविषयक उपदेश	1385
3	नारदजी का शुकदेव को कर्मफल प्राप्ति में परतन्त्रताविषयक उपदेश तथा शुकदेवजी का सूर्यलोक में जाने का निश्चय	1389
	नारायणीयगीता	**1397–1510**
1	श्वेतद्वीप में नारदजी को भगवान् का दर्शन, भगवान् का वासुदेव–सङ्कर्षण आदि अपने व्यूह–स्वरूपों का परिचय कराना और भविष्य में होने वाले अवतारों के कार्यों की सूचना देना।	1397
2	व्यासजी का अपने शिष्यों को भगवान् द्वारा ब्रह्मादि देवताओं से कहे हुए प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप धर्म के उपदेश का रहस्य बताना	1414
3	भगवान् श्रीकृष्ण का अर्जुन को अपने प्रभाव का वर्णन करते हुए अपने नामों की व्युत्पत्ति एवं माहात्म्य बताना	1428
4	सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन, ब्राह्मणों की महिमा बताने वाली कथाओं का उल्लेख, भगवन्नामों के हेतु तथा रुद्र के साथ होने वाले युद्ध में नारायण की विजय	1434

5	जनमेजय का प्रश्न, देवर्षि नारद का श्वेतद्वीप से लौटकर नर-नारायण के पास जाना और उनके पूछने पर उनसे वहाँ के महत्त्वपूर्ण दृश्य का वर्णन करना	1457
6	नर-नारायण का नारदजी की प्रशंसा करते हुए उन्हें भगवान् वासुदेव का माहात्म्य बतलाना	1464
7	भगवान् वराह के द्वारा पितरों के पूजन की मर्यादा का स्थापित होना	1467
8	नारायण की महिमा सम्बन्धी उपाख्यान का उपसंहार	1471
9	हयग्रीव-अवतार की कथा, वेदों का उद्धार, मधुकैटभ का वध तथा नारायण की महिमा का वर्णन	1474
10	सात्वत-धर्म की उपदेश-परम्परा तथा भगवान् के प्रति ऐकान्तिक भाव की महिमा	1485
11	व्यासजी का सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् नारायण के अंश से सरस्वती पुत्र अपान्तरतमा के रूप में जन्म होने की और उनके प्रभाव की कथा	1495
12	वैजयन्त पर्वत पर ब्रह्मा और रुद्र का मिलन एवं ब्रह्माजी द्वारा परम पुरुष नारायण की महिमा का वर्णन	1504
13	ब्रह्मा और रुद्र के संवाद में नारायण की महिमा का विशेष रूप से वर्णन	1507
	बृहस्पतिगीता	**1511-1532**
1	प्राणियों के जन्म के प्रकार और नानाविध पापों के कारण नरकादि की प्राप्ति एवं तिर्यग्योनियों में जन्म लेने का वर्णन	1511
2	पाप से छूटने के उपाय तथा अन्नदान की विशेष महिमा	1526
3	बृहस्पतिजी का युधिष्ठर को अहिंसा एवं धर्म की महिमा बताकर स्वर्गलोक को प्रस्थान	1530
	व्यासमैत्रेयगीता	**1533-1542**
1	व्यास और मैत्रेय का संवाद — दान की प्रशंसा और कर्म का रहस्य	1533
2	विद्वान् एवं सदाचारी ब्राह्मण को अन्नदान की प्रशंसा	1536
3	तप की प्रशंसा तथा गृहस्थ के उत्तम कर्त्तव्य का निर्देश	1539
	माहेश्वरगीता	**1543-1596**
1	शिव-पार्वती का धर्म विषयक संवाद वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी आचार एवं प्रवृत्ति निवृत्त रूप धर्म का निरूपण	1543

2	उमा–महेश्वर संवाद, वानप्रस्थ धर्म तथा उसके पालन की विधि और महिमा	1570
3	ब्राह्मणादि वर्णों की प्राप्ति में मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों की प्रधानता का प्रतिपादन	1581
4	बन्धन मुक्ति, स्वर्ग, नरक एवं दीर्घायु और अल्पायु प्रदान करने वाले शरीर, वाणी और मन द्वारा किए जाने वाले शुभाशुभ कर्मों का वर्णन	1589
	काम–गीता	**1597–1600**
1	श्रीकृष्ण द्वारा ममता के त्याग का महत्त्व, काम–गीता का उल्लेख और युधिष्ठिर को यज्ञ के लिए प्रेरणा करना	1597
	अनुगीता	**1601–1734**
	(काश्यपगीता, ब्राह्मणगीता एवं गुरुशिष्यगीता-II)	
	(काश्यपगीता)	**1601–1624**
1	—अर्जुन का श्रीकृष्ण से गीता का विषय पूछना और श्रीकृष्ण का अर्जुन से सिद्ध, महर्षि एवं काश्यप का संवाद सुनाना	1601
2	काश्यप के प्रश्नों के उत्तर में सिद्ध महात्मा द्वारा जीव की विविध गतियों का वर्णन	1606
3	जीव के गर्भ–प्रवेश, आचार–धर्म, कर्म–फल की अनिवार्यता तथा संसार से तरने के उपाय का वर्णन	1612
4	गुरु–शिष्य के संवाद में मोक्ष प्राप्ति के उपाय का वर्णन एवं काश्यपगीता का उपसंहार	1616
	(ब्राह्मणगीता एवं अम्बरीषगीता)	**1624–1670**
5	ब्राह्मणगीता—एक ब्राह्मण का अपनी पत्नी से ज्ञानयज्ञ का उपदेश करना	1624
6	दस होताओं से सम्पन्न होने वाले यज्ञ का वर्णन तथा मन और वाणी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन	1627
7	मन–बुद्धि और इन्द्रिय रूप सप्त होताओं का, यज्ञ तथा मन–इन्द्रिय–संवाद का वर्णन	1631
8	प्राण, अपान आदि का संवाद और ब्रह्माजी का सबकी श्रेष्ठता बतलाना	1635
9	देवर्षि नारद और देवमत का संवाद एवं उदान के उत्कृष्ट रूप का वर्णन	1639

10	चातुर्होम यज्ञ का वर्णन	1641
11	अन्तर्यामी की प्रधानता	1644
12	अध्यात्मविषयक महान् वन का वर्णन	1646
13	ज्ञानी पुरुष की स्थिति तथा अध्वर्यु और यति का संवाद	1649
14	परशुरामजी के द्वारा क्षत्रिय-कुल का संहार	1653
15	अलर्क के ध्यान योग का उदाहरण देकर पितामहों का परशुरामजी को समझाना और परशुराम जी का तपस्या के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना	1656
	(अम्बरीषगीता)	**1661–1663**
16	राजा अम्बरीष की गायी हुई लोभ-विजयरूप आध्यात्मिक स्वराज्यविषयक गाथा	1661
17	ब्राह्मणरूपधारी धर्म और जनक का ममत्वत्याग विषयक संवाद	1663
18	ब्राह्मण का पत्नी के प्रति अपने ज्ञाननिष्ठ स्वरूप का परिचय देना	1666
19	भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा ब्राह्मण, ब्राह्मणी और क्षेत्रज्ञ का रहस्य बतलाते हुए ब्राह्मणगीता का उपसंहार	1668
	(गुरुशिष्यगीता-II)	**1670–1734**
20	श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन से मोक्ष-धर्म का वर्णन—गुरु और शिष्य के संवाद में ब्रह्मा और महर्षियों के प्रश्नोत्तर	1670
21	ब्रह्माजी के द्वारा तमोगुण का, उसके कार्य का और फल का वर्णन	1676
22	रजोगुण के कार्य का वर्णन और उसके जानने का फल	1681
23	सत्त्वगुण के कार्य का वर्णन और उसके जानने का फल	1683
24	सत्त्व आदि गुणों का और प्रकृति के नामों का वर्णन	1685
25	महत्तत्व के नाम और परमात्मतत्त्व को जानने की महिमा	1688
26	अहङ्कार की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का वर्णन	1689
27	अहङ्कार से पञ्च महाभूतों और इन्द्रियों की सृष्टि, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का वर्णन तथा निवृत्ति मार्ग का उपदेश	1690
28	चराचर प्राणियों के अधिपतियों का, धर्म आदि के लक्षणों का और विषयों की अनुभूति के साधनों का वर्णन तथा क्षेत्रज्ञ की विलक्षणता	1697

29	सब पदार्थों के आदि-अन्त का और ज्ञान की नित्यता का वर्णन	1702
30	देहरूपी कालचक्र का तथा गृहस्थ और ब्राह्मण के धर्म का कथन	1704
31	ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी के धर्म का वर्णन	1708
32	मुक्ति के साधनों का, देहरूपी वृक्ष का तथा ज्ञान-खड्ग से उसे काटने का वर्णन	1715
33	आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का विवेचन	1717
34	धर्म का निर्णय जानने के लिए ऋषियों का प्रश्न	1719
35	सत्त्व और पुरुष की भिन्नता, बुद्धिमान् की प्रशंसा तथा परमात्मा की श्रेष्ठता	1721
36	तपस्या का प्रभाव, आत्मा का स्वरूप और उसके ज्ञान की महिमा तथा अनुगीता का उपसंहार	1728
	पाण्डव गीता	**1735-1752**
	महाभारतीय गीताओं की अकारादिक्रमानुसार सूची	**1753-1756**
	संग्रहीत ग्रन्थानुक्रमणिका	**1757-1760**

भूमिका

मात्रे श्रद्धास्वभावायै पित्रे च तपसात्मने।
गुरवे ज्ञानरूपाय त्रितत्त्वाय सदा नमः।।

श्रीमहागणपति, श्रीगुरु एवं भगवती राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी पराम्बा के असीम अनुग्रह से राजस्थान विश्वविद्यालय दर्शन विभाग के उच्च अध्ययन केन्द्र (द्वितीय चरण) द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अन्तर्गत *महाभारतीय गीतामहोदधि* ग्रन्थ को चार भागों में प्रकाशित करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है, यह हर्ष एवं सौभाग्य का विषय है।

विविध महाभारतीय गीताओं का अनुसन्धान : मूलसाहित्य एवं विषय–विवरण (Discovery of various Geetas of Mahabharat : Original Text)

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के द्वारा उच्च अध्ययन केन्द्र (CAS II Phase) का अनुदान जारी रहने पर इस वर्ष (2018 ई.) इस महनीय ग्रन्थ को प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया है ताकि दर्शन विभाग के उच्च स्तरीय प्रकाशन की प्रतिष्ठा निरन्तर बनी रहे।

इस ग्रन्थ का डिजिटल संस्करण करते हुए अन्तरजाल पर भी प्रदर्शित कर दिया गया है तथा PDF प्रति का निर्माण भी कर लिया गया है, ताकि जिज्ञासु शोधार्थी एवं विद्वज्जन आधुनिक तकनिकी का लाभ उठा सके। महाभारत ग्रन्थ के महनीय दर्शन शास्त्रीय चिन्तन परम्परा का प्रसाद जनमानस को प्राप्त हो सके, उनके संशयों को छिन्न–भिन्न करने तथा दिव्यज्ञान के आलोक से उन्हें मण्डित करने में इस ग्रन्थ की महती भूमिका होगी।

2010 ई. में गीता महोदधि के तीन खण्डों के प्रकाशन के समय महाभारत की विविध गीताओं के विषय में जिज्ञासा हई। तदर्थ ICPR को परियोजना भेजी गई। स्वीकृत होने पर शोध विषय में अनुसन्धान किया गया, जिसका शोध परिणाम यह कृति है। यह ग्रन्थ भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् नई दिल्ली के द्वारा प्रायोजित परियोजना (2012–2015) के शोध कार्य का परिष्कृत रूप है। परियोजना के लिए आवश्यक सामग्री संकलन हेतु विविध स्थानीय पुस्तकालयों, ग्रन्थागारों तथा पुस्तक

विक्रेताओं से सम्पर्क किया गया तथा इण्टरनेट में इस विषय में उपलब्ध सामग्री का संकलन किया गया है तथा इस कार्य को विधिवत् पूर्ण किया गया है।

इस ग्रन्थ में महाभारत की 94 गीताओं का अनुसन्धान किया गया है जो चार भागों में इस सूची क्रम में प्रकाशित की जा रही है—

महाभारतीय–गीतामहोदधिः — प्रथमभागः

1.	शौनकगीता	1–11
2.	पुलस्त्यगीता	12–77
3.	धौम्यगीता	78–93
4.	अष्टावक्रगीता	94–112
5.	हनुमद्गीता	113–145
6.	आर्ष्टिषेणगीता	146–149
7.	नहुष गीता	150–162
8.	मार्कण्डेयगीता सरस्वतीगीता एवं मत्स्योपाख्यानगीता	163–233
9.	(सरस्वतीगीता)	183–188
10.	(मत्स्योपाख्यानगीता)	189–195
11.	बकगीता	234–238
12.	युधिष्ठिरगीता–I	239–272
13.	कौशिकगीता (व्याधगीता)	273–333
14.	सावित्रीगीता	334–349
15.	युधिष्ठिरगीता–II	350–382
16.	सनत्सुजातीयगीता	383–408

महाभारतीय–गीतामहोदधिः — द्वितीयभागः

1.	भगवद्गीता	409–500
2.	विदुरगीता	501–519
3.	जनकगीता	520–528
4.	सेनजिद्गीता–I	529–533
5.	अश्मगीता	534–541
6.	स्वायंभुवमनुगीता	541–548
7.	भीष्मस्तवराजगीता	549–566
8–9.	मनुगीता एवं उशनोगीता	567–574
10.	भार्गवगीता	575–580
11.	यज्ञगीता	581–588

12.	नारायणगीता	589-592
13.	आङ्गिरस (बृहस्पति) गीता	593-600
14.	कैकेयगीता	601-606
15.	उतथ्यगीता	607-619
16.	वामदेवगीता	620-630
17.	ऋषभगीता	631-642
18.	ब्रह्मगीता-I	643-644
19.	भीष्मगीता, खड्गगीता एवं षड्जगीता	645-716
20.	(खड्गगीता)	676-686
21.	(षड्जगीता)	686-693
22-23.	सेनजिद्गीता-II एवं पिङ्गला गीता	717-725
24.	शम्पाकगीता	726-729
25.	मङ्किगीता	730-737
26.	बोध्यगीता	738-740
27.	आजगरगीता	741-746
28.	शृगालगीता	747-753
29.	कर्मफलगीता	754-756
30.	भृगुगीता	757-795
31.	जापकगीता	796-819
32.	मनुगीता-II	820-842

महाभारतीय-गीतामहोदधिः — तृतीयभागः

1.	विष्णुवराह(अनुस्मृति)गीता	843-869
2.	गुरुशिष्यगीता-I	870-878
3.	पञ्चशिखगीता	879-896
4-5.	सनत्कुमारगीता एवं प्रह्लादगीता	897-907
6.	बलिवासवगीता, लक्ष्मीवासवगीता एवं नमुचिवासवगीता	908-955
7.	(लक्ष्मीवासवगीता)	920-955
8.	(नमुचिवासवगीता)	926-929
9.	जैगीषव्यगीता	956-959
10.	व्यासगीता-I	960-1051
11.	मृत्युगीता	1052-1062

12.	जाजलिगीता एवं ब्रह्मगीता-II	1063-1089
13.	(ब्रह्मगीता-II)	1086-1089
14.	विचख्नुगीता	1090-1092
15.	गौतमचिरकारिगीता	1093-1102
16.	कपिलगीता	1103-1124
17.	असितदेवलगीता	1125-1130
18.	माण्डव्यजनकगीता	1131-1132
19.	पितापुत्रगीता	1133-1138
20.	हारीतगीता	1139-1142
21.	वृत्रगीता	1143-1158
22.	समङ्गगीता	1159-1162
23.	श्रेयोवाचिका (गालव) गीता	1163-1170
24.	अरिष्टनेमिगीता	1171-1176
25.	शुक्रगीता	1177-1182
26.	पाराशरगीता	1183-1221
27.	हंसगीता	1222-1228
28.	सांख्ययोगगीता	1229-1250
29.	वसिष्ठगीता	1251-1290
30.	मुनिगीता	1291-1294

महाभारतीय-गीतामहोदधिः — चतुर्थभागः

1.	याज्ञवल्क्यगीता	1295-1332
2.	सुलभागीता	1333-1357
3.	व्यासगीता-II	1358-1370
4.	ययातिगीता	1371-1377
5.	नारदगीता	1378-1396
6.	नारायणीयगीता	1397-1510
7.	बृहस्पतिगीता	1511-1532
8.	व्यासमैत्रेयगीता	1533-1542
9.	माहेश्वरगीता	1543-1596
10.	काम-गीता	1597-1600
11.	अनुगीता (काश्यपगीता, ब्राह्मणगीता एवं गुरुशिष्यगीता-II)	1601-1734

12.	(काश्यपगीता)	1601-1624
13.	(ब्राह्मणगीता एवं अम्बरीषगीता)	1624-1670
14.	(अम्बरीषगीता)	1661-1663
15.	(गुरुशिष्यगीता-II)	1670-1734
16.	पाण्डव गीता	1735-1752
17.	महाभारतीय गीताओं की अकारादिक्रमानुसार सूची	1752-1755
18.	संग्रहीत ग्रन्थानुक्रमणिका	1756-1760

शोध समस्या का उद्‌गम

वेदान्त दर्शन के स्मृति प्रस्थान के अन्तर्गत *'श्रीमद्‌भगवद् गीता'* की व्याख्या करना वेदान्त के दार्शनिक आचार्यों का प्रधान अभीष्ट रहा है, जिसके फलस्वरूप श्रीमद्‌भगवद् गीता ने आज बौद्धिक जगत् में सर्वाधिक ख्याति अर्जित की है। यह गीता जिस प्रकार उपनिषदों के सारभूत ज्ञान सिद्धान्तों की सरल व्याख्या करती है उसी तरह *महाभारत* में उपलब्ध अनेक गीताएँ भी विविध दार्शनिक तत्त्वों की प्रतिपादिका हैं। यही नहीं प्राच्य वाङ्मय के सारभूत इतिहास-पुराण ग्रन्थों में इसी प्रकार अनेक गीता रत्न अनावृत हैं। इन सभी गीताओं का अनुसन्धान करना वर्तमान दार्शनिक जगत् की एक महनीय अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत हो रही है। वस्तुत: गीता दिव्योपदेश है जिसमें प्रश्नकर्ता की शङ्काओं का शास्त्रीय आधार पर दार्शनिक समाधान किया जाता है। अत: दिव्य ज्ञान में सम्पन्न ये गीताएँ अद्‌भुत, अमूल्य तथा अनुपम दार्शनिक निधि हैं, जो अनेक दार्शनिक जिज्ञासाओं/ग्रन्थियों, नैतिक समस्याओं तथा आध्यात्मिक प्रश्नों का भलीभाँति समाधान करती है। इनको जन सामान्य के सामने लाना ही प्रकृत शोध का प्रधान ध्येय रहा है।

महाभारत में सामान्य जन एक ही गीता को समझते हैं। विशेष विद्वानों ने कुछ गीताओं का उल्लेख किया है। परन्तु इस विषय में गम्भीरतर पर्याप्त अनुसन्धान करने पर अब तक प्राय: 94 गीताओं की जानकारी मिली है। यही नहीं पुराणादि ग्रन्थों के अनुशीलन में 113 से अधिक गीताएँ अब तक प्राप्त की गई है। प्रस्तावित शोध परियोजना में पाँच आयामों पर कार्य करना निश्चित हुआ।

1. ये गीताएँ मूल उपजीव्यग्रन्थ से पृथक् संकलित न होने से जन सामान्य को परिज्ञात नहीं हुई। अत: सर्वप्रथम इन गीताओं को एकत्र कर एक कोश ग्रन्थ निर्माण किया गया, जिस पर कार्य करते हुए इनका ग्रन्थ क्रम के आधार पर महाभारतीय गीता साहित्य का कोश ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिया गया है।
2. इन गीताओं के संस्कृत में होने से दार्शनिक जगत् के अवबोध के लिए सभी गीताओं के हिन्दी भाषानुवाद की महती आवश्यकता है, अत: उसका समावेश भी साथ-साथ कर दिया गया है।

3. इन गीताओं पर दार्शनिक टिप्पणी भी विषय अवबोध हेतु परमावश्यक है। विस्तृत सूची के साथ टिप्पणी संयोजित कर दी गई है।
4. सभी गीताओं को महाभारत के विषयक्रम से संकलित करते हुए उनका सम्पादन करके एक सन्दर्भ कोश ग्रन्थ का निर्माण कर निर्धारित लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया है।
5. इनके गीता विधा होने के प्रमाण की समीक्षा कर दी गई है तथा इसके आधार को भूमिका भाग में सुस्पष्ट कर दिया गया है।

इस परियोजना में उपर्युक्त पाँच प्रधान प्रस्तावित कार्य यथासम्भव पूर्ण कर दिये गये हैं।

इस प्रकार महाभारत की समस्त गीताओं का एक कोश ग्रन्थ बन गया है जो अपने दिव्य उपदेश रूप आध्यात्मिक ज्ञान से मानव के समस्यामूलक बौद्धिक संशय को विदीर्ण कर परा विद्या का मार्ग प्रशस्त करता है।

शोध उद्देश्य एवं पद्धति

भारतीय संस्कृति का मूलाधार आध्यात्मिक चिन्तन में निहित है। भौतिकता के पीछे भारतीय मनीषी कभी भी नहीं भागे। अधर्म से सञ्चित धन अधोगति का दाता बनता है। अत: नैतिक एवं आध्यात्मिक शुद्धि की परमावश्यकता है। सांसारिक भवबन्धन के जाल काटने हेतु इस गीता साहित्य के प्रचार एवं प्रसार की महती आवश्यकता है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग की सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक मीमांसा—इन गीताओं से प्रस्फुटित होती है तथा मानवता के उच्चतम आदर्शों का मार्ग प्रशस्त होता है। सभी आत्माओं की समानता एवं सन्मार्ग, भूत कल्याण, जीव दया, दानधर्म, ईश्वरानुराग, ज्ञान एवं वैराग्य, सत्य और अहिंसा, भक्ति एवं उपासना, कर्त्तव्य एवं मर्यादा, मातृभक्ति एवं पितृभक्ति ज्ञाननिष्ठता एवं सुखशान्ति की कामना प्रभृति सद्गुणों का अमूल्य विवेचन गीतासाहित्य की अमृतमयी युक्तिसंगत वाणी के दार्शनिक पक्ष को उद्घाटित करता है।

ये गीताएँ विकीर्णरूप में इतिहास-पुराण ग्रन्थों में अज्ञातप्राय हो रही हैं। इनको संयोजित एवं संकलित कर हम हमारी प्राचीन उदात्त दार्शनिक भावों की प्रामाणिक जानकारी जनसाधारण को उपलब्ध कराने तथा दार्शनिक मूल्याङ्कनार्थ प्रस्तुत करना परमावश्यक है तथा इनके प्रकाशन से दार्शनिक जगत् को लाभ हुआ तो हमारा प्रयास सार्थक होगा।

हमारे द्वारा स्वीकृत शोध पद्धति के प्रमुख ध्यातव्य बिन्दु इस प्रकार हैं—

1. विभिन्न पुस्तकालयों, ग्रन्थागारों तथा पुस्तक विक्रेताओं से सम्पर्क कर विविध गीता सम्बन्धित सामग्री का संकलन किया गया है।
2. हस्तलिखित, पाण्डुलिपि तथा दुर्लभ प्रकाशित कृतियों को छायाचित्र से प्रति प्राप्त कर उसका संशोधन कर प्रकाशनार्थ तैयार किया जा रहा है।
3. अनेक संस्करणों के आधार पर स्वीकृत पाठ भेद का निर्णय किया गया है।

4. जो गीताएँ अब तक केवल संस्कृत में है उनका अनुवाद प्रस्तुत करना।
5. जिन गीताओं का अनुवाद स्तरीय नहीं है उसे संशोधित करना तथा स्तरीय अनुवाद प्रस्तुत करना।
6. इन गीताओं पर दार्शनिक विश्लेषणात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करना, जिससे उनका मूल्याङ्कन का मार्ग प्रशस्त हो सके।
7. उपलब्ध गीताओं को विषयक्रम से संयोजित करते हुए एक सन्दर्भीय कोशग्रन्थ का संगणक टङ्कण करना तथा प्रकाशन की यथासम्भव व्यवस्था करना। यदि सम्भव हो तो सम्पूर्ण शोधकार्य को इन्टरनेट पर प्रतिस्थापित करना, जिससे शोधार्थियों को घर बैठे अध्ययन की सुविधा सुलभ हो जाय।
8. गीता कहने के आधार का प्रमाणों और युक्तियों से समीक्षा कर निर्णय प्रथम उद्देश्य है।

अन्तर–अनुशासनीय उपयुक्तता

गीताएँ भारतीय संस्कृति की आधारभूत तथा सर्वमान्य साहित्य होने के कारण न केवल तत्त्वमीमांसीय, ज्ञानमीमांसीय, नैतिक, आध्यात्मिक तथा धर्मशास्त्रीय, सामाजिक, राजनीतिक जिज्ञासाओं का ही समाधान करती हैं अपितु जीवन के हर पड़ाव पर सर्वाधिक सरल एवं सहज ग्राह्य एवं सर्वमान्य मार्ग को भी प्रदर्शित करती हैं। इसका सम्बन्ध न केवल दर्शन की किसी एक विधा से है अपितु समग्र भारतीय चिन्तन परम्परा इससे ओतप्रोत है। अत: इस गीतासाहित्य विषयक अनुसन्धान की अन्तर–अनुशासनीय उपयुक्तता सर्वथा सिद्ध होती है।

अनुसन्धान के द्वारा महाभारत में उपलब्ध गीताओं की ग्रन्थ क्रमानुसार सूची

क्र.	गीताएँ	पर्व एवं अध्याय	अध्याय	श्लोक
1.	शौनक गीता	वनपर्व, अध्याय 2	1	84
2.	पुलस्त्यगीता	वनपर्व, अध्याय, 82–85	4	650
3.	धौम्यगीता	वनपर्व, अध्याय 86–90	5	128
4.	अष्टावक्रगीता	वनपर्व, अध्याय, 132–134	3	94
5.	हनुमद्गीता	वनपर्व, अध्याय, 146–151	6	263
6.	आर्ष्टिषेण गीता	वनपर्व, अध्याय, 159	1	32
7.	नहुष गीता	वनपर्व, 180–81	2	89

8.	मार्कण्डेयगीता	वनपर्व, अध्याय, 183-191	9	579
9.	(सरस्वतीगीता)	वनपर्व, अध्याय, 186	1	30
10.	(मत्स्योपाख्यानगीता)	वनपर्व, अध्याय, 187	1	58
11.	बक गीता	- वनपर्व, अध्याय, 193	1	37
12.	युधिष्ठिरगीता-I	वनपर्व, अध्याय, 200-204	5	274
13.	कौशिकगीता (व्याधगीता)	वनपर्व, अध्याय 205-216	12	454
14.	सावित्रीगीता	वनपर्व, अध्याय, 297	1	112
15.	युधिष्ठिरगीता-II	वनपर्व, 311-314	4	228
16.	सनत्सुजातीयगीता	उद्योगपर्व, 41-45	5	196
17.	भगवद्गीता	भीष्मपर्व, अध्याय 25-42	18	700
18.	विदुरगीता	स्त्रीपर्व, अध्याय, 1-6	6	145
19.	जनकगीता	शान्तिपर्व, 17-18	2	64
20.	सेनजिद्गीता-I	शान्तिपर्व, 25	2	36
21.	अश्मगीता	शान्तिपर्व, 28	2	59
22.	स्वायंभुवमनुगीता	शान्तिपर्व, 36	1	50
23.	भीष्मस्तवराजगीता	शान्तिपर्व, 47	1	
24.	मनुगीता-I	शान्तिपर्व, 56	1	05
25.	उशनोगीता	शान्तिपर्व, 56	1	06
26.	भार्गवगीता	शान्तिपर्व, 57	1	06
27.	यज्ञगीता	शान्तिपर्व, 60	1	15
28.	नारायणगीता	शान्तिपर्व, 61	1	21
29.	आङ्गिरस (बृहस्पति) गीता	शान्तिपर्व, 68	1	61
30.	कैकेयगीता	शान्तिपर्व,77	1	34
31.	उतथ्यगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 90-91	2	101
32.	वामदेवगीता	न्तिपर्व, अध्याय, 92-94	3	77

33.	ऋषभगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 125-128	4	91
34.	ब्रह्मगीता-I	शान्तिपर्व, अध्याय, 136	1	11
35.	भीष्मगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 158-173	16	570
36.	(खड्गगीता)	शान्तिपर्व, अध्याय 166	1	89
37.	(षड्जगीता)	शान्तिपर्व, अध्याय, 167	1	51
38.	सेनजिद्गीता -II	शान्तिपर्व, 174	1	1-55
39.	पिङ्गलागीता	शान्तिपर्व, अध्याय 174	1	56-63
40.	शम्पाकगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 176	1	23
41.	मङ्किगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 177	1	54
42.	बोध्यगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 178	1	13
43.	आजगरगीता	शान्तिपर्व अध्याय, 179	1	37
44.	शृगालगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 180	1	54
45.	कर्मफलगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 181	1	20
46.	भृगुगीता	शान्तिपर्व, 182-192	11	261
47.	जापकगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 199-200	2	162
48.	मनुगीता-II	शान्तिपर्व, अध्याय, 201-206	6	151
49.	विष्णुवराह(अनुस्मृति)गीता	शान्तिपर्व, अध्याय 207-209	3	207
50.	गुरुशिष्यगीता-I	शान्तिपर्व, अध्याय, 210-211	2	63
51.	पञ्चशिखगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 218-219	2	116
52.	सनत्कुमारगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 222	1	37
53.	प्रह्लादगीता	शान्तिपर्व, 222	1	37
54.	बलिवासवगीता	शान्तिपर्व 223-228	6	366
55.	(नमुचिवासवगीता)	शान्तिपर्व, 226	1	23
56.	(लक्ष्मीवासवगीता)	शान्तिपर्व, 225-228	4	276
57.	जैगीषव्यगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 229	1	25

58.	व्यासगीता-I	शान्तिपर्व, अध्याय 231-255	25	656
59.	मृत्युगीता	शान्तिपर्व, 256-258	3	85
60.	जाजालिगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 260-264	5	194
61.	ब्रह्मगीता- II	शान्तिपर्व, 264	1	23
62.	विचख्नुगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 265	1	14
63.	गौतमचिरकारिगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 266	1	78
64.	कपिलगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 268-270	3	155
65.	असितदेवल गीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 275	1	39
66.	माण्डव्यजनकगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 276	1	14
67.	पितापुत्रगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 277	1	39
68.	हारीतगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 278	1	23
69.	वृत्रगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 279-280	2	104
70.	समङ्गगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 286	1	21
71.	श्रेयोवाचिका (गालव) गीता	शान्तिपर्व, अध्याय 287	1	59
72.	अरिष्टनेमिगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 288	1	47
73.	शुक्रगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 289	1	38
74.	पराशरगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 290-298	9	317
75.	हंसगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 299	1	46
76.	सांख्ययोगगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 300-301	2	178
77.	वसिष्ठगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 302-308	7	302
78.	मुनिगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 309	1	25
79.	याज्ञवल्क्यगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 310-318	9	290
80.	सुलभागीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 320	1	193
81.	व्यासगीता- II	शान्तिपर्व, 321	1	94
82.	ययातिगीता	शान्तिपर्व, अध्याय, 326	1	51

83.	नारदगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 329-331	3	154
84.	नारायणीयगीता	शान्तिपर्व, अध्याय 339-351	13	904
85.	बृहस्पतिगीता	अनुशासनपर्व, अ., 111-113	3	179
86.	व्यासमैत्रेयगीता	अनुशासनपर्व, अ., 120-122	3	68
87.	माहेश्वरगीता	अनुशासनपर्व, अ., 140-143	4	436
88.	कामगीता	अश्वमेधपर्व, अध्याय 13	1	22
89.	अनुगीता	अश्वमेधपर्व, अध्याय 16-51	36	1041
90.	(कश्यपगीता)	अश्वमेधपर्व, अध्याय 16-19	4	(189)
91.	(ब्राह्मणगीता)	अश्वमेधपर्व, अध्याय, 20-34	15	(332)
92.	(अम्बरीषगीता)	अश्वमेधपर्व, 31	1	(09)
93.	(गुरुशिष्यगीता)	अश्वमेधपर्व, 35-51	17	(520)
94.	पाण्डवगीता	यह विकीर्ण रूप में है		

ध्यातव्य है कि इन गीताओं में 5 गीताएँ दो बार उल्लिखित हुई है अत: नाम की दृष्टि से 93-5=88 गीताएँ कही जा सकती है। 10 गीताएँ अन्य गीताओं के अन्तर्गर्भ में है, जिन्हें हमने कोष्ठक में दिखाया है। इन्हें स्वतन्त्र गीता कहा जाये या उपगीता कहें, चूँकि परम्परा में उपगीता नाम से कहीं भी नहीं कहा गया है अत: हमने सभी को गीता ही माना है परन्तु उनका क्षेत्र विभाजन यथास्थान पर कर दिया गया है। पाण्डव गीता में भक्तिपरक श्लोकों का चयन महाभारत में इतस्तत: से किया गया है। यह महत्त्वपूर्ण रचना है अत: ग्रन्थ के अन्त में इसे संयोजित किया जाना आवश्यक है। गीताओं की सूची अकारादिक क्रम से न देकर महाभारत के ग्रन्थक्रम को स्वीकृत किया गया है ताकि शोध अध्येता को मूल महाभारत में अन्वेषण के समय कष्ट न हो। अत: पूर्वोक्त सूची महाभारतीय क्रम से निर्धारित की गई है। इन गीताओं का परिशीलन करते हुए इनके हिन्दी भाषा का अनुवाद, लेखन तथा सम्पादन करते हुए कम्प्यूटर टंकण का कार्य प्रारम्भ किया गया था, जो अब पूर्णता को प्राप्त हुआ है। यह वृहत्-कार्य परियोजना के अनुरूप सम्पन्न कर लिया गया है। इन गीताओं का विषय-क्रम-विभाजन, संस्कृत भाषा में मूलपाठ तथा हिन्दी-अनुवाद का प्रारूप संशोधन अन्तिम रूप में किया गया है। इन गीताओं की समालोचनात्मक दार्शनिक टिप्पणी, विषय वस्तु की समीक्षा तथा शेष गीताओं का अनुसन्धान कार्य भी संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत है। इन गीताओं में कतिपय देवताओं से सम्बन्धित है। कुछ ऋषियों से, कुछ राजनीतिक विचारकों से, कुछ

सामाजिक परम्पराओं से तथा कुछ धार्मिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों की उद्‌घाटक हैं, जिनका विस्तृत समीक्षण अब शोधमनीषियों द्वारा करना आवश्यक है।

इसके साथ महाभारत से इतर गीता साहित्य ग्रन्थों का अनुसन्धान कार्य अग्रिम योजना के रूप में प्रगति पर है। पुराण एवं संहिता ग्रन्थों में शताधिक (113) गीताओं की जानकारी प्राप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त 18 दार्शनिक मूर्धन्यों के द्वारा लिखित गीताओं का विवरण भी समुपलब्ध हो गया है, जिस पर भविष्य में अनुदान स्वीकृत होने पर अगली योजना में कार्य किया जाना प्रस्तावित है। पुराण एवं संहिता ग्रन्थों में अनुसन्धान के द्वारा उपलब्ध गीताओं का विवरण इस प्रकार है—

पुराण एवं संहिता ग्रन्थों में
अनुसन्धान के द्वारा उपलब्ध गीताओं की सूची

क्र.	गीताएँ	आकर ग्रन्थ सन्दर्भ अध्याय	अध्याय	श्लोक
1.	अगस्त्यगीता	वराहपुराण, अध्याय 51-67	17	313
2.	अर्जुनगीता	योगवसिष्ठ षष्ठ प्रकरण, 52-58	7	254
3.	अवधूतगीता-I	दत्तात्रेय संहिता	8	288
4.	अवधूत गीता-II	पद्मपुराणसिंहाद्रि खण्ड		
5.	अवधूतगीता-III	भागवत पुराण 11.7-9	3	151
6.	अष्टादश श्लोकीगीता		1	18
7.	अष्टावक्रगीता	ब्रह्मविद्या	21	303
8.	ईश्वरगीता	कूर्मपुराण, उपरिभाग अध्याय 1-11	11	330
9.	उत्तरगीता	गौडपादभाष्य सहित	3	123
10.	उद्धवगीता	भागवतपुराण-एकादश स्कन्ध, 7-29	23	1030
11.	ऋभु गीता-I	शिवरहस्य षष्ठ शङ्कर अंश	1-50	2493
12.	ऋभुगीता-II	वसिष्ठ तत्त्वसारायण	4	346
13.	ऋभुगीता- III	नारदपुराण		49
14.	ऋभुगीता-IV	विष्णुपुराण 2 अंश 15-16	2	
15.	ऋषभगीता	भागवत स्कन्ध 5 अध्याय 5	1	27
16.	ऐतरेयगीता	स्कन्दपुराण माहेश्वर खण्ड 42वां अंश		
17.	ऐल गीता	भागवत पुराण 11.26	1	35
18.	कचगीता	योगवासिष्ठ स्थितिप्रकरण	सर्ग 58	12

19.	कपिल गीता-I	पद्मपुराण शिवपार्वती संवाद	5	
20.	कपिलगीता-II	भागवतपुराण, तृतीय स्कन्ध, 23-33	11	501
21.	कर्मगीता	पद्मपुराण		
22.	कवाषेयगीता	ब्रह्मपुराण		
23.	काश्यप गीता			
24.	काशिगीता	ब्रह्मवैवर्त पञ्चक्रोशी माहात्म्य		
25.	कुमार गीता			
26.	केशिध्वज-खण्डिक्यगीता	नारद पुराण 46-47	2	-
27.	केशिध्वज-खण्डिक्यगीता	विष्णु पुराण 6.5.82-6.7.87	-	-
28.	गणेशगीता	गणेशपुराण, क्रीडाखण्ड, अध्याय 138-148	11	414
29.	गर्भगीता	-	1	22
30.	गीताप्रपूर्ति भागवत	भागवत/विश्वाससार तन्त्र		
31.	गीतासार	गरुडपुराण, अध्याय 237-238	2	28
32.	गीतासार	अग्निपुराण, अध्याय 381	1	58
33.	गीतासार	विष्णुयामल (पोथीखाना-1524)	-	-
34.	गुरु गीता	कुलार्णव	3	352
35.	गुरुगीता	स्कन्दपुराण	1	221
36.	गुरुगीता	रुद्रयामल		
37.	गुरुगीता (लघु)	स्कन्दपुराण उत्तर खण्ड ईश्वर पार्वती संवाद		182
38.	गुहगीता	कलिसन्तारकभिक्षुरूपीगुह-हिडिम्भ संवाद		
39.	गृह गीता	लक्ष्मीनारायण संहिता खण्ड 4	86-89	
40.	जायन्तेयनारदगीता	भागवतपुराण 11.2-5	4	185
41.	जीवन्मुक्तिगीता	दत्तात्रेय	1	23

42.	तुलसीगीता		1	29
43.	दत्तगीता	अवधूतग्रन्थ	7	283
44.	दत्तात्रेय अलर्कगीता	मार्कण्डेय पुराण 38-43	5	300
45.	दत्तात्रेय अलर्कगीता	गरुड पुराण पूर्व 226	1	40
46.	देवीगीता	देवीभागवतपुराण, सप्तम स्कन्ध, अध्याय 31-40	10	507
47.	देवीगीता	कूर्मपुराण	12	31
48.	धरणीगीता	विष्णु पुराण 4-24	-	127-151
49.	नारदगीता	नारद श्रीकृष्ण संवाद		
50.	पञ्चशिखगीता	नारदपुराण 45	1	-
51.	परमहंस(भरत) गीता	भागवतपुराण 5 स्कन्ध 10-14 अध्याय	5	130
52.	परमार्थगीता	योगवसिष्ठ निर्वाण सर्ग 175	1	79
53.	परशुरामगीता	-		
54.	पिङ्गलागीता- II	भागवत पुराण 11.8	1	22-44
55.	पितृगीता	वराहपुराण 13 अध्याय श्राद्ध कल्प	1	12
56.	पृथिवीगीता	वराहपुराण 113-121	09	11
57.	बालयोगिनी गीता	लक्ष्मीनारायण संहिता खण्ड 4	9-22	
58.	ब्रह्मगीता	योगवासिष्ठ मोक्ष प्रकरण 173-186	14	1778
59.	ब्रह्मगीता	एकाम्र पुराण	1-37	
60.	ब्रह्मगीता- II	स्कन्दपुराण, सूत संहिता, यज्ञ वैभव खण्ड	12	1058
61.	ब्रह्मगीतासार- III	गरुडपुराण, अध्याय 239-240	2	26
62.	भगवतीगीता (पार्वतीगीता)	देवीपुराण (महाभागवत) 15-19	5	217
63.	भरतगीता	नारदपुराण-48		
64.	भिक्षुगीता	भागवत पुराण 11.23	1	62

65.	मार्कण्डेयगीता	कूर्मपुराण पूर्वभाग 34-37	4	116
66.	मार्कण्डेयगीता	भागवत 12.8-10	3	125
67.	यमगीता- I	नरसिंहपुराण, अष्टम अध्याय	1	46
68.	यमगीता- II	अग्निपुराण, अध्याय 382	1	37
69.	यमगीता- III	विष्णुपुराण, तृतीयांश 7	1	39
70.	यमगीता-IV	ब्रह्मवैवर्तपुराण		
71.	यमगीता-V	भागवत 6 स्कन्ध-3	1	35
72.	याज्ञवल्क्यगीता	गरुडपुराण 93-106	14	
73.	योगीयाज्ञवल्क्यगीता	याज्ञवल्क्य संहिता	12	500
74.	रामगीता- I	अद्भुतरामायण, उत्तरकाण्ड, 11-14	4	166
75.	रामगीता- II	अध्यात्मरामायण, उत्तरकाण्ड पञ्चम अध्याय	1	62
76.	रामगीता- III	स्कन्दपुराण, निर्वाणखण्ड	3	166
77.	रासगीता		1	55
78.	रुद्रगीता	वराहपुराण 70-89	20	531
79.	रुद्रगीता	भागवतपुराण 4.24 (24-79)	1	56
80.	रुद्रगीता	ब्रह्मसंहिता		
81.	लोमश गीता	लक्ष्मीनारायण संहिता खण्ड द्वितीय	249-262	
82.	वधु गीता	लक्ष्मीनारायण संहिता खण्ड 3	40-67	
83.	वसिष्ठ गीता	योगवसिष्ठ उत्तरार्द्ध निर्वाण प्रकरण 30-40	2	51
84.	वानर गीता	पराशरसंहिता हनुमान माहात्म्य वर्णन		
85.	वायुगीता	मनुस्मृति 9.42-43	1	2
86.	विभीषणगीता	अध्यात्म रामायण, युद्ध काण्ड तृतीय सर्ग 13-17	1	25
87.	वेदान्तगीता	निम्बार्कदर्शन		

88.	वैष्णवगीता	अम्बरीष नारद संवाद 1-10 श्लोक	1	
89.	व्यासगीता	कूर्मपुराण, उपरिविभाग, अध्याय 12-33	22	1314
90.	व्यासगीता (अविमुक्त)	कूर्मपुराण पूर्व विभाग 27-33	107	352
91.	व्यासगीता	ब्रह्मपुराण 234-245	12	792
92.	शंकर गीता	विष्णुधर्मोत्तर पुराण	51-57	
93.	शांति गीता	अध्यात्म विद्या	8	322
94.	शिवगीता	पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय, 1-18	18	864
95.	शिवरामगीता	अद्वैतसुधासार		
96.	शिवोत्तर गीता	हरिवंश तृतीय पटल		
97.	शुकगीता	मौद्गल महापुराण अष्टम खण्ड अध्याय 28	1	73
98.	श्रीमद्गीतासारगीता			
99.	श्रीरामगीता	तत्त्वसारायण	18	1000
100.	श्रीविद्या गीता	त्रिपुरा रहस्य, ज्ञान खण्ड, 20वां अध्याय		138
101.	श्रुतिगीता	भागवतपुराण 10 स्कन्ध 27 अध्याय	1	28
102.	सनत्कुमारगीता	भागवत महापुराण 5वां स्कन्ध 22वां अध्याय	1	63
103.	सप्तशतीगीता	मार्कण्डेयपुराण	13	577
104.	सप्तश्लोकी गीता			7
105.	सिद्धगीता	योगवसिष्ठ उपशम प्रकरण, 8	1	18
106.	सुदर्शनगीता			
107.	सूतगीता	स्कन्दपुराण, सूतसंहिता, यज्ञवैभव खण्ड	8	458
108.	सूर्यगीता	तत्त्वसारायण कर्मकाण्डोक्त	5	376
109.	सौम्यगीता			
110.	हंसगीता	विष्णुधर्मोत्तर तृतीय प्रकरण 227-342	116	-

111.	हंसगीता	भागवत पुराण 11.13	1	42
112.	हनुमद्गीता	अद्भुतरामायण	11-15	191
113.	हनुमद्गीता	स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड सेतु माहात्म्य 45वां अध्याय		

दार्शनिक मूर्धन्यों के द्वारा लिखित उपलब्ध गीताओं की सूची

क्र.	गीताएँ	आकर ग्रन्थ सन्दर्भ	अध्याय	श्लोक
1.	अध्यात्मगीता	देवचन्द्र	1	49
2.	उत्तरसत्याग्रहगीता	पं. क्षमाराव (1932)	18	649
3.	गुरु गीता	स्वामि ज्ञानानन्दाविष्कृता	1	221
4.	जिनगीतासार	यशोविजयकृत अष्टक	32	256
5.	जैनमहावीरगीता	बुद्धिसागर सूरीश्वरजी	16	2262
6.	बुद्धगीता (धर्मपदम्)	धम्मपद 1-26	26	427
7.	मोक्षगीता	स्वामी शिवानन्द		
8.	मोक्षगीता	स्वामी ब्रह्मानन्द		
9.	रमणगीता	रमण	18	300
10.	रेणुका गीता	शिवयोगी शिवाचार्य		
11.	विष्णुगीता	स्वामिज्ञानानन्दाविष्कृता	7	912
12.	शक्तिगीता	स्वामिज्ञानानन्दाविष्कृता	7	932
13.	शम्भुगीता	स्वामिज्ञानानन्दाविष्कृता	7	1001
14.	श्रीधीशगीता	स्वामिज्ञानानन्दाविष्कृता	7	709
15.	संघगीता	श्रीधरभास्कर वर्णेकर	8	151
16.	संन्यासगीता	स्वामिज्ञानानन्दविष्कृता	12	1001
17.	सत्याग्रहगीता	पं. क्षमाराव (1944)	45	-
18.	सूर्यगीता	स्वामिज्ञानानन्दाविष्कृता	7	600

(18)

महाभारतीय गीता साहित्य का दार्शनिक विवेचन

दर्शन परम्परा में गीता : शब्द प्रयोग, तात्पर्य एवं विधा परीक्षण

इतिहास एवं पुराण ग्रन्थों के महासागरों में निमज्जित अप्रसिद्ध उपनिषदों की सारभूता गीता रूपी यह रत्न राशि निश्चय ही अद्भुत, अनुपम एवं अमूल्य दार्शनिक निधि है जिसे हिन्दी भावानुवाद सहित एकत्र प्रस्तुत करने का गीतोद्धाररूपी महनीय एवं गौरवमय कार्य करते हुए हमें अपार हर्ष एवं संतोष का अनुभव हो रहा है।

हमारे द्वारा इस शोध परियोजना में संगृहीत दिव्यज्ञान की प्रसारिका गीतायें अनेक दार्शनिक जिज्ञासाओं, नैतिक समस्याओं एवं आध्यात्मिक प्रश्नों का भलीभाँति समाधान प्रस्तुत करती हैं। जब एक गीता ने ही विश्व के ज्ञानी मनीषीगण को अति प्रभावित किया है तो निस्सन्देह इन अनेक गीताओं का प्रकाशन विश्व को चमत्कृत कर नवचिन्तन का आधारभूत मार्ग प्रशस्त करेगा। इन विविध गीताओं के संवाद विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा तत्कालीन विशिष्ट विज्ञानियों के साथ किये गये हैं। गीताओं के उपदेष्टा परापरज्ञ देवता या त्रिकालदर्शी महर्षिगण हैं जिन्होंने गुरुभाव में दुविधाग्रस्त शिष्य को अपूर्व अमृत के उपदेश से आप्लावित एवं सिञ्चित किया है। इन दुर्लभ अमृत कणों को हम श्रद्धापूर्वक सञ्चित कर लोककल्याणार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

गीता का शाब्दिक अर्थ

गाया हुआ अथवा कथन किया गया। हमारी चिन्तन परम्परा में अध्यात्म और ज्ञान-सम्बन्धी छोटी रचनाओं का नाम प्राय: गीता हो गया है। इनमें से कुछ में आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है, किसी में वेदान्त और ब्रह्मज्ञान की चर्चा की गई है, किसी में हठयोग आदि किसी योग विधि का विवेचन किया गया है, किसी में सम्प्रदाय विशेष के विधिविधानों का प्रतिपादन किया गया है, किसी में नैतिक प्रश्नों का शास्त्रीय समाधान प्रस्तुत हुआ है, किसी में दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है, किसी में पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ पूर्वघटित आख्यानों के माध्यम से विवेचित की गई है, किसी में कर्मकाण्ड तथा वर्णाश्रम धर्म का विवरण ही पाया जाता है। पर एक बात अवश्य है कि प्रत्येक गीताकार ने अपना उद्देश्य अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होकर मोक्ष प्राप्त करना ही माना है। उनका कथन है कि यदि कोई मनुष्य हमारे उपदेशानुसार आचरण करता है, भजन, चिन्तन, साधन, उपासना अथवा

कर्मकाण्ड द्वारा आत्मोन्नति करता है तो वह निश्चय ही भव-बन्धनों से छुटकारा पाकर परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर सकेगा। अत: इन सभी अध्यात्म प्रधान गीताओं का दर्शनशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। वस्तुत: गीता दिव्य ज्ञान का अमृतमय उपदेश है जिसमें बहुधा गुरुशिष्य के संवाद रूप में संस्कृत पद्यों द्वारा धार्मिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है तथा गुरु कई बार ईश्वर भाव का प्रदर्शन भी करते हैं। अत: धार्मिक एवं श्रद्धालु जन इसे दिव्यज्ञान और आध्यात्मिक उपदेश मानते हैं।

संस्कृत के पुरातन वाङ्मय के अन्तर्गत अध्यात्म प्रधान दार्शनिक भावों पर आधारित जो श्लोकबद्ध रचनायें की जाती थीं उन्हें प्राय: 'गीत' नाम से कहा जाता था। इन गीतों का उद्देश्य ईश्वर की ओर मानव को उन्मुख करना था। पुराणों के रचयिता महर्षि वेदव्यास ने ऐसे गीतों को भगवान् विष्णु का अंश रूप बतलाया था। उन्होंने *विष्णुपुराण* में लिखा है—

काव्यालापाश्च ये केचित् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मन:।।

सम्भवत: ये गीत ही गीताशास्त्र की नींव है, जिसके कारण इन गीतों को पद्यकाव्यविधा के अन्तर्गत ही 'गीता' नाम से स्थान मिल पाया। गीता के रूप में ये अध्यात्मप्रधान रचनायें शास्त्र मानी जाने लगी क्योंकि दर्शन ही शास्त्र के रूप में मान्य था। षड्दर्शन को षट्शास्त्र कहने की परम्परा आज भी विद्वानों में देखी जाती है। वस्तुत: शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में लिखा है—

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभि:।।

तात्पर्य यह है कि 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति शास् एवं शंस् दो धातुओं से मानी जाती है। शास् का अर्थ है—आज्ञा करना तथा शंस् का अर्थ है—प्रकट करना या वर्णन करना। शासन करने वाले शास्त्र प्राय: विधि-निषेध रूप में उपदेशात्मक तथा निर्देशात्मक होते हैं। इनमें प्राय: श्रुति एवं स्मृति का ग्रहण किया जाता है।

श्रुति एवं स्मृति द्वारा प्रतिपादित कर्म अनुष्ठेय माने गये हैं। अत: वे सबके सब विधि रूप में ग्राह्य है जबकि श्रुति तथा स्मृति द्वारा निन्दित कर्म हेय माने गये हैं। अत: उनका प्रतिषेध किया गया है, क्योंकि वे त्याज्य है। अत: शास्त्र विधि निषेधात्मक होते हैं।

शंसन करने वाले शास्त्र वे शास्त्र हैं जो ज्ञानपरक होते हैं तथा आत्मालोचन कर सत्य की ओर प्रेरित करने वाले होते हैं। ऐसे शास्त्रों में 'उपनिषद्' का नाम सर्वप्रथम लिया जाना उचित है, क्योंकि वेदों के ज्ञानकाण्ड नाम से जाने जाने वाले उपनिषत् साहित्य में सर्वत्र आत्मजिज्ञासा का उपदेश है। प्राणि का पारलौकिक अभ्युदय इनका लक्ष्यभूत है।

पूर्वोक्त वाङ्मय भेदों के रूप में चर्चित 'गीत' जो 'गीता' के मूल आधार हैं इन्हीं उपनिषदों के ज्ञान को अपने आप में समेटे हुए है, जिसका प्रमाण हमें भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गयी पुष्पिका में उपलब्ध होता है—

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।

उपर्युक्त उल्लेख में 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि श्रीकृष्णार्जुन संवाद के रूप में सृजित भगवद्गीता से पूर्व अनेक गीतायें विद्यमान थी, अतः ग्रन्थकर्ता महर्षि वेदव्यास ने बहुवचनान्त सप्तम्यन्त पद का प्रयोग किया है। दूसरा तथ्य यह भी स्पष्ट होता है कि गीताग्रन्थ उपनिषत्तुल्य थे। वेदव्यास ने उनको उपनिषद् ही माना है। अतः अभेदान्वय सम्बन्ध से 'श्रीमद्भगवद्गीता' के सन्दर्भ में वेदव्यास लिखते हैं कि उन उपनिषत्मूलक गीताग्रन्थों में यह ग्रन्थ ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हेतु विविध योगों का शंसन करने वाला शास्त्र है, जो संवादशैली में लिखा गया है।

गीताशास्त्र के ऐतिहासिक संदर्भ में उपर्युक्त उल्लेख पर्याप्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु गीता–परम्परा के उद्भव के मूलान्वेषण हेतु हमें इस आधार पर उपनिषदों की गहराई तक जाना पड़ेगा।

उपनिषद् एवं गीताओं के प्रस्तुतिकरण की दिव्य शैली

उपनिषदों का कवित्व भले ही सरलतम प्रतीत होता हो, किन्तु शाब्दिक अभिव्यक्ति ही सब कुछ नहीं होती, उपनिषदों में अर्थ की गम्भीरता विद्यमान रही है तथा इसी कारण न केवल उपनिषदों के चिन्तन को ही गम्भीर माना जाता है, अपितु उपनिषदों के कवित्व को भी गम्भीर समझा जाता रहा है। इसका मूल कारण यह है कि इस उपनिषत् साहित्य में आध्यात्म जैसे गम्भीर विषय की प्रस्तुति हुई है। उपनिषदों के इस कवित्व के संदर्भ में प्रो. दत्तात्रेय रामचन्द्र रानाडे ने लिखा है—"तीव्रतम भावोद्रेक में रचना करने वाला कवि दिव्य प्रेरणा में आत्मानुभूति की सीमा और अन्तस् में सरस्वती की अवतारण कोटि के अनुरूप अनुपात में ही सौन्दर्य साधना कर पाता है। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये अतीन्द्रिय काव्य मनुष्यरचित होने के नाते ही पौरुषेय नहीं कहला सकते वरन् दिव्य तथा ईश्वर प्रदत्त है।" (— *उपनिषदों का रचनात्मक सर्वेक्षण)*

उक्त कथन से यह तो स्पष्ट है कि समालोचक उपनिषदीय कवित्व के संदर्भ में जिस तीव्रतम भावोद्रेक की बात कर रहा है, वही गीत अथवा गीता शास्त्र का मूल आधार रहा है। गीत एवं गीता का कवित्व भी प्रायः इसी तीव्रतम भावोद्रेक से अनुप्राणित है। उपनिषद् ग्रन्थों में इस तीव्रतम भावोद्रेक को प्रकट करने की अनेक

पद्धतियाँ अपनायी गयी हैं जैसा कि प्रो. रानाडे एवं डॉ. काले ने एकादश विधियों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार है—

1. रहस्यान्वेषणमूलक जिज्ञासात्मक प्रश्न शैली
2. सूत्र शैली
3. व्युत्पत्ति शैली
4. कथा शैली
5. दृष्टान्त शैली
6. संवाद शैली
7. रूपक शैली
8. समन्वय पद्धति
9. आत्मोक्ति पद्धति
10. प्रयोजन पद्धति
11. प्रतिगमन पद्धति

उपनिषदों की ये विविध शैली पद्धतियाँ उस तीव्रतम भावोद्रेक को व्यक्त करने में समर्थ हुई है, जो पुरातन ऋषि-परम्परा एवं गुरु-शिष्य परम्परा में जिज्ञासोपशम या शङ्का-समाधान के रूप में विद्यमान था। अध्यात्म इस प्रक्रिया का मूल बिन्दु या मूल आधार था। उस समय सम्भवत: आत्मजिज्ञासा या ईश्वरजिज्ञासा ही मानवीय चिन्तन का एकमात्र विषय था, फिर भी अनेक रूपों में उपनिषदों का यह आध्यात्म चिन्तन अभिव्यक्त हुआ।

उपनिषद् ग्रन्थों में अपनायी गयी उपर्युक्त पद्धतियाँ ही हमें परम्परागत गीता ग्रन्थों में यत्र-तत्र उसी प्रकार प्राप्त हो जाती है। अत: गीता ग्रन्थों को उपनिषदों का ऋणी मानना अधिक उचित होगा। वस्तुत: उपनिषदों के दर्शन का विकसित रूप गीता साहित्य है जो महाभारत एवं पुराण साहित्य में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ है।

गीता एवं तत्पर्याय शब्दों की प्रयुक्ति

गीता शब्द मूलत: गीत शब्द का ही रूपान्तर है, क्योंकि गीता एवं गीत दोनों शब्द संस्कृत व्याकरणशास्त्र के अनुसार 'गै' धातु से निष्पन्न हैं। पाणिनीय नियमानुसार 'गै' धातु से 'क्त' प्रत्यय जोड़ने एवं स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने पर 'गीता' शब्द सिद्ध होता है।

गीता का तात्पर्य है, जिसे गाया गया हो। 'गै' धातु से भूत अर्थ में 'क्त' प्रत्यय के संयोग से गीता शब्द निष्पन्न हुआ है। यह स्त्रीलिङ्ग 'टाबन्त' पद है। *महाभारत* एवं

भागवत में 'गीत' शब्द का प्रयोग हुआ है जो नपुंसकलिङ्ग में प्राप्त है। तात्पर्य की दृष्टि से दोनों को निम्नानुसार स्पष्ट किया जा सकता है—

गीयते स्म या सा गीता। — भाव व्युत्पत्ति
गीयते इति गीतम्। — करण व्युत्पत्ति

दोनों का तात्पर्य लगभग एक जैसा नहीं है। गीता जहाँ किसी एक विशिष्ट प्रसङ्ग में किसी विशिष्ट व्यक्ति का एक विषय पर दिये गये उपदेश को सूचित करती है वहाँ गीत प्रसङ्ग विशेष को लेकर किसी विषय का अतिरेक पूर्ण कथन होता है जो गा–गाकर सुनाया जाता है। महाभारत में प्राप्त गीताओं में वस्तुत: किसी ऋषि या महापुरुष का किसी विशिष्ट विषय पर उपदेश प्राप्त होता है। अत: इस सन्दर्भ में गीता को स्वरूप की दृष्टि से उपदेशात्मक शास्त्र मानना ही सर्वाधिक उचित है। कतिपय विद्वानों की यह भी मान्यता रही है कि वैदिक काल में गेय आख्यानों को गाथा शब्द से कहा जाता था। यह शब्द लौकिक संस्कृत में लिखे जाने वाले गेय आख्यानों के लिए 'गीता' नाम से रूपान्तरित हो गया। इन विद्वानों ने अपने कथन की पुष्टि में महाभारत के उन पद्यों को प्रमाण बताया है जिनमें गाथा एवं गीता का एकार्थ में अथवा समानाधिकरण में प्रयोग हुआ है।

महाभारत में प्राप्त इन गीताओं का स्वरूप गीतिकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। ये सब भिन्न–भिन्न समय की रचनायें हैं। इनमें इतना साङ्कर्य है कि इनके पौर्वापर्य का निर्धारण करना पर्याप्त कठिन है, किन्तु यह कहना उचित है कि महाभारत के अन्तिम संस्करण के समय तक संभवत: ये सभी गीतायें महाभारत की अङ्ग बन चुकी थी।

यद्यपि इन सभी गीताओं के लिए 'गीता' शब्द का स्पष्टत: प्रयोग नहीं हुआ है तथा कुछ के प्रारम्भ में तथा कुछ के मध्य या अन्तिम पुष्पिका में 'गीता' या 'गीत' शब्द का उल्लेख उपलब्ध होता है। कुछ गीताओं में 'इतिहास', कुछ में 'गीत', कुछ में 'उपनिषद्', कुछ में 'रहस्य' तथा कुछ में 'गाथा' संवाद आदि शब्दों के प्रयोग प्रतिपाद्य के द्योतक रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

भागवत के रुद्रगीत, वेणुगीत, युग्मगीत, भिक्षुगीत, भूमिगीत, गोपीगीत, भ्रमरगीत स्वरूप की दृष्टि से उपदेशात्मक नहीं है। यद्यपि इनमें साहित्यिक वैशिष्ट्य भावाभिव्यञ्जना के कारण रुचिकर हैं तथापि महाभारत में प्रयुक्त 'गीत' शब्द इनके समतुल्य अर्थ में न होकर 'गीता' के अर्थ में है। अत: वहाँ गीत को गीता के पर्याय अर्थ में ग्रहण किया गया है।

महाभारत की अश्मगीता, वामदेवगीता, बोध्यगीता, मङ्किगीता, विचख्नुगीता, वृत्रगीता, शम्पाकगीता, माण्डव्यगीता, सेनजिद्गीता, कैकयगीता, भार्गवगीता, नारायणगीता तथा बलिगीता इत्यादि में 'गीता' तथा 'गीत' शब्द पर्याय रूप में प्रयुक्त

हुए हैं। कहीं-कहीं गीता अर्थ में प्रयुक्त 'गीत' शब्द के साथ 'इतिहास' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। तात्पर्य यह है कि इन गीताओं में इतिहास प्रसिद्ध धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सम्बन्धी प्राचीन कथानक भी उपनिबद्ध हुए हैं। चारों पुरुषार्थों से सम्बन्धित कथायें इतिहास का विषय मानी जाती रही है।

कुछ गीताओं में केवल 'इतिहास' शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग भी किया गया है। उदाहरण के लिए अनुगीता, भृगुगीता तथा ऋषभगीता में इतिहास शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग उपलब्ध होता है। इनमें कुछ गीतायें छोटे-छोटे संवादों से युक्त हैं, जैसे—हंसगीता, ब्राह्मणगीता, आजगरगीता, कपिलगीता, शृगालगीता, याज्ञवल्क्यगीता, गुरु-शिष्यसंवादगीता इत्यादि। भगवद्गीता भी श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के संवाद के रूप में उपलब्ध होती है। अत: स्वरूप की दृष्टि से उसे संवादात्मक मानना अधिक उचित होगा। भगवद्गीता के स्वरूप के आधार पर कई विद्वानों ने तो संवाद और गीता में विशिष्ट साम्य भी स्वीकार किया है।

'गीता' एवं 'गाथा' शब्दों में भी पर्याप्त साम्य है। महाभारत में उपलब्ध कतिपय गीतायें गाथा रूप में कही गयी हैं, जैसे—पिङ्गलागीता, कामगीता, यज्ञगीता, ब्रह्मगीता, जनकगीता, ब्राह्मणगीता, ययातिगीता इत्यादि। गाथा का तात्पर्य है—प्रशस्त व्यक्तियों अथवा वीर पुरुषों की प्रशंसा में कहे गये गीत। ऐसे गीत सम्भवत: लोकभाषा में आज भी प्रचलित देखे जाते हैं।

महाभारत एवं पुराणों में अनेक प्रसङ्गों को लेकर ऐतिहासिक कथानकों की उपलब्धि होती है। प्रसिद्ध गाथायें ही लोकगीतों के रूप में गायी जाती रही हैं। अत: उन्होंने भी 'गीता' का रूप ले लिया है जिसके कारण 'गाथा' और 'गीत' पर्याय जैसे प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राचीनकाल के प्रसिद्ध पुरुषों के आप्तोपदेश कण्ठोपकण्ठ परम्परा से श्रुत परम्परा से प्रचलित रहे हैं। महाभारत में इनका संकलन या समावेश अन्तिम संस्करण के समय तक हुआ। मूल महाभारत में ये गाथा अथवा गीत समाविष्ट नहीं थे। इनका संकलन इसलिये किया गया, क्योंकि महाभारत एक इतिहास ग्रन्थ है तथा गाथा एवं गीतों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध इतिहास से रहा है। आख्यानों एवं उपाख्यानों का सम्बन्ध भी इतिहास से है। अत: कतिपय आख्यानों-उपाख्यानों का संकलन भी इनमें करना अनिवार्य है।

महाभारत में विविध गीताओं का मानने का तार्किक आधार

महाभारत में जिन युक्तियों के आधार पर गीता मानना सुनिश्चित किया गया है उनके प्रमाणों का हम उल्लेख कर रहे हैं जिससे इनकी गीता नाम से स्वीकृत होने की पुष्टि हो सके। ये आठ तरह के प्रमाण इस प्रकार प्राप्त हैं—

1. महाभारतकार ने स्पष्ट शब्दों में गीता नाम से कहा है।
2. महाभारत में प्रत्येक अध्याय के अन्त की पुष्पिका में गीता शब्द का प्रयोग किया है।
3. वेदव्यास ने गीत शब्द से गीता को संकेतित किया है।
4. महाभारत में गीत और इतिहास शब्द से गीता मानी गई है।
5. महाभारतकार ने इतिहास शब्द से गीताओं को सूचित किया है।
6. लेखक ने इतिहास एवं संवाद शब्द से गीताओं को बताया है।
7. ग्रन्थकार ने उपनिषद् या रहस्य शब्द से गीताओं को संकेतित किया है।
8. उत्तरवर्ती परम्परा के ग्रन्थों में इन्हें गीता के नाम से सम्बोधित किया गया है।

महाभारत के निम्न उद्धरणों में रचनाकार ने स्पष्ट गीता एवं गाथा शब्द का प्रयोग किया है—

1. अपि गाथामिमां गीता जनकेन वदन्त्युत। —जनकगीता, 17
2. अत्र गाथा यज्ञगीता: कीर्तयन्ति पुराविद:। — यज्ञगीता, 1.47
3. अत्र पिङ्गलया गीता गाथा: श्रूयन्ति पार्थिव। — पिङ्गलागीता, 56
4. अत्र गाथा ब्रह्मगीता: कीर्तयन्ति पुराविद:। — ब्रह्मगीता-I, 1
5. अत्र गाथा ब्रह्मगीता: कीर्तयन्ति पुराविद:। — ब्रह्मगीता-II, 7
6. अत्र गाथा: पुरा गीता: शृणु राजा ययातिना। — ययातिगीता, 31
7. अत्र गाथा: कामगीता: कीर्तयन्ति पुराविद:। — कामगीता, 11
8. अत्र गाथा: कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जना:।
   अम्बरीषेण या गीता राज्ञा राज्यं प्रशासता। — अम्बरीषगीता, 4
9. जगाम महतीं सिद्धिं गाथां चेमा जगाद ह। — अम्बरीषगीता, 6
10. इति राज्ञाम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना। — अम्बरीषगीता, 13

महाभारत के निम्न श्लोकों में गीत शब्द के द्वारा गीताओं को सङ्केतित किया गया है—

1. अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरञ्जय। — सरस्वतीगीता, 1.1
2. गाङ्गेयेन पुरा गीतो महापातकनाशन:। — भीष्मस्त्वराजगीता 1.111
3. मनुना चापि राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना। — मनुगीता, 23
4. श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा। — उशनोगीता, 1.28
5. मरुत्तेन हि राज्ञा वै गीत: श्लोक: पुरातन:। — भार्गवगीता, 1.6

6. श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना। — भार्गवगीता, 1.40

7. अथात्रनारायणगीतमाहुर्महर्षयस्तात महानुभावाः। — नारायणगीता, 1.13

8. अस्मिन्नर्थे च यौ श्लोकौ गीतावङ्गिरसा स्वयम्। — आङ्गिरसगीता, 69

9. इत्येतद् बलिना गीतमहंकारसंज्ञितम्। — बलिवासवगीता, 1.38

10. नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः।। — नारायणीयगीता, 1.112

महाभारतकार ने इतिहास एवं गीत शब्द से गीताओं को इस प्रकार सूचित किया है—

1. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्तेन युधिष्ठिर। —सेनजिद्गीता-I, 1.13

2. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर। — अश्मगीता, 1.2

3. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं केकयराजेन ह्रियमाणेन रक्षसा। — कैकेयगीता, 1.6

4. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं दृष्टार्थतत्त्वेन वामदेवेन धीमता।। —वामदेवगीता, 1.2

5. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शम्पाकेन विमुक्तेन गीतं शान्तिगतेन च। — शम्पाकगीता, 1.2

6. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर। — मङ्किगीता, 1.4

7. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता।। — बोध्यगीता, 1.1

8. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतं राज्ञा विचख्नुना। — विचख्नुगीता, 1.1

9. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीत विदेहराजेन माण्डव्यायानुपृच्छते। — माण्डव्यजनकगीता, 1.3

10. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
हारीतेन पुरागीतं तं निबोध युधिष्ठिर। — हारीतगीता, 1.2

11. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अस्मिन्नर्थे पुरा गीतं शान्तिगतेन ह। —वृत्रगीता, 1.13

निम्नगीताओं में इतिहास शब्द से गीताओं को सङ्केतित किया गया है—

1. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
   बृहस्पतिं वसुमना यथा प्रपच्छ भारत। —आङ्गिरस(बृहस्पति)गीता,1.2
2. इतिहासं सुमित्रस्य निवृतमृषभस्य च। — ऋषभगीता, 1.8
3. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
   यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत् सुहृत्।—सेनजिद्गीता-II, 1.8
4. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। — भृगुगीता, 1.5
5. इक्ष्वाकोः सूर्यपुत्रस्य यद्वृत्तं ब्राह्मणस्य च। — जापकगीता, 1.2
6. मनोः प्रजापतेर्वादं महर्षेश्च बृहस्पतेः। — मनुगीता-II, 1.2
7. येन वृत्तेन धर्मज्ञः स जगाम महत् सुखम्।। — पञ्चशिखगीता, 1.2
8. चिरकारेस्तु यत्पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले। — गौतमचिरकारिगीता, 1.2
9. अत्र ते वर्तिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
   अरिष्टनेमिना प्रोक्तं सागरायानुपृच्छते। — अरिष्टनेमिगीता, 1.2
10. इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्। — अनुगीता, 1.3

अग्रलिखित गीताओं में संवाद शब्द से गीता को अभिहित किया गया है—

1. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
   संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह। — गुरुशिष्यगीता-II, 1.2
2. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
   प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च। — आजगरगीता, 1.2
3. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
   इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर। — शृगालगीता, 1.4
4. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
   संवादं वासुदेवस्य सुरर्षेर्नारदस्य।। — कर्मफलगीता 1.2
5. प्रह्लादस्य च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर। — प्रह्लादगीता, 1.3
6. वासवस्य च संवादं बलेर्वैरोचनस्य च। —बालिवासवगीता, 1.2
7. शतक्रतोश्च संवादं नमुचेश्च युधिष्ठिर। — नमुचिवासवगीता, 4.1
8. जगौ भगवान् व्यासः पुत्राय परिपृच्छते। — व्यासगीता-I, 1.6
9. तुलाधारस्य वाक्यानि धर्मे जाजलिना सह। — जाजलिगीता, 2.1
10. कपिलस्य गोश्च संवादं तन्निबोध युधिष्ठिरा। — कपिलगीता, 1.5
11. नारदस्य संवादं देवलस्यासितस्य च। — असितदेवलगीता,

12. पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर। — पितापुत्रगीता, 1.1

13. नारदस्य संवादं समङ्गस्य च भारत। — समङ्गगीता, 1.2

14. गालवस्य संवादं देवर्षेर्नारदस्य च। — श्रेयोवाचिकागालवगीता, 1.2

15. अत्र ते वर्तियिष्येहमितिहासं पुरातनम्।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर। — हंसगीता, 1.2

16. अत्र ते वर्तियिष्येहमितिहासं पुरातनम्।
याज्ञवल्क्य संवादं जनकस्य च भारत।। — याज्ञवल्क्यगीता, 1.3

17. जनकस्य च संवादं सुलभायाश्च भारत।। — सुलभागीता, 1.3

18. अत्र ते वर्तियिष्येहमितिहासं पुरातनम्।
दम्पत्योः पार्थ संवादो योऽभवद् भरतर्षभ।। — अनुगीता, 6.1

19. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। — अनुगीता, 6.1

20. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।। — अनुगीता, 7.1

21. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।। — अनुगीता, 8.1

22. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च।। — अनुगीता, 9.1

23. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।। — अनुगीता, 10.1

24. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अध्वर्युयतिसंवादं तं निबोध यशस्विनि।। — अनुगीता, 13.6

25. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
कार्तवीर्यस्य संवादं समुद्रस्य च भाविनि। — अनुगीता,

26. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।। — अनुगीता, 15.1

27. अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भाविनि।। — अनुगीता,17.1

निम्नलिखित गीताओं में इन्हें उपनिषद् शब्द से प्रतिबोधित किया गया है—

1. एतां राजोपनिषदं ययाति स्माह नहुषः।
मनुष्यविजये युक्तो हन्ति शत्रूननुत्तमान्।। — वामदेवगीता, 1.38

2. असेरष्टौ च नामानि रहस्यानि निबोध मे।। — खड्गगीता, 1.81

3. इमां रहस्यां परमामनुस्मृतिमधीत्य बुद्धिं च लभते च नैष्ठिकीम्।
विहाय दु:खान्यवमुच्य सङ्कटात् स वीतरागो विचरेन् महीमिमाम्।।
— विष्णुवराह (अनुस्मृति) गीता 3.86

4. तेषामपेततृणानां निर्णिक्तानां शुभात्मनाम्।
चतुर्थ औपनिषदो धर्म: साधारण: स्मृत:।। — कपिलगीता, 1.27

5. उपनिषदमुपाकरोत्तदा वै जनकनृपस्य पुरा हि याज्ञवल्क्य:।।
— याज्ञवल्क्यगीता, 1.108

6. इदं द्वैपायनवचो हितमुक्तं निशम्य तु।
शुको गत: परित्यज्य पितरं मोक्षदेशिकम्।। — व्यासगीता-II, 9.4

7. इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।
सांख्ययोग कृतं तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम्।। —नारायणीयगीता, 1.112

7. सुरहस्यमिदं प्रोक्तं देवानां भरतर्षभ।
कश्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मनुष्येणेह कर्हिचित्।।— अनुगीता, 4.57

यह सत्य है कि महाभारत में प्राप्त *भगवद्गीता* की वैचारिक जगत् में पूर्णत: प्रसिद्धि है जबकि अनुगीता की ख्याति अंशत: हुई है। महाभारत में उपलब्ध अन्य गीताओं की स्वतन्त्र रूप में चर्चा भारतीय दार्शनिक परम्परा में नगण्य रूप में हुई है। इस शोधकार्य में महाभारत में उपलब्ध समग्र 94 गीताओं का अनुसंधान करते हुए उनका स्वरूप निर्धारण करने का प्रयास किया गया है। महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने पुष्पिकाओं में 14 गीताओं का नामोल्लेख किया है। लोकमान्य तिलक ने *गीतारहस्य* में 12 गीताओं को मुख्य रूप से उल्लिखित किया है। पं. जानकीनाथ शर्मा 16 गीताओं का निर्देश अपनी पुस्तक *महाभारत परिचय* की भूमिका में किया है। डॉ. सुखमय भट्टाचार्य ने अपनी कृति *महाभारतकालीन समाज* में 16 गीताओं का उल्लेख किया है। प्रो. संगमलाल पाण्डेय ने 7 गीताओं का विवेचन अपने ग्रन्थ *भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, पृ.* 45-47 में किया है। डॉ. आर. नीलकण्ठ ने अपनी शोध कृति (अंग्रेजी) *महाभारत और पुराण की गीताओं के अध्ययन* में 16 गीताओं का वर्णन किया है। पं. श्रीराम शर्मा ने *चौबीस गीता* ग्रन्थ में 28 गीताओं की स्वीकृति दी है। वीरेन्द्र शर्मा ने *गीता संचयन* में 18 तथा शोधविदुषी डॉ. प्रज्ञा (हरिकृष्ण ठाकर) जोशी ने अपने गुजराती शोध ग्रन्थ *महाभारत की गौण गीता : एक विवेचनात्मक अध्ययन* में 44 गीताओं का विवेचन किया है। इस विषय में पर्याप्त अनुसंधान करते हुए महाभारत में उपलब्ध 94 गीताओं का स्वरूप निर्धारण किया गया है। महाभारत की 94 गीताओं

को निम्न विषय क्रमानुसार 7 भागों में वर्गीकृत किया गया है, जिससे दार्शनिक जगत् के जिज्ञासुओं को लाभ हो सके।

1. देवविशेष द्वारा प्रोक्त गीताएँ
2. ऋषिवर के द्वारा उपदिष्ट गीताएँ
3. दिव्य मनुष्यों के द्वारा कथित गीताएँ
4. राजन्यवर के द्वारा प्रोक्त गीताएँ
5. मनुष्यविशेष के द्वारा कथित गीताएँ
6. पशु-पक्षी द्वारा प्रस्तुत गीताएँ
7. असुर के द्वारा विवेचित गीताएँ

अग्रलिखित तालिका में स्पष्ट किया गया है कि महाभारत के प्रसिद्ध संस्कृत टीकाकार नीलकण्ठ, पं. बालगङ्गाधर तिलक, पं. जानकीनाथ शर्मा, डॉ. आर नीलकण्ठ, पं. श्रीराम शर्मा, डॉ. प्रज्ञा (हरिकृष्ण ठाकर) जोशी तथा प्रकृत परियोजना में किन-किन गीताओं को स्वीकृत एवं प्रमाणित किया है—

विविध शोध अध्येताओं के अनुसार स्वीकृत गीताओं की सूची

	प्रकृत शोध कार्य में स्वीकृत	टीकाकार नीलकण्ठ	पं.बाल गंगाधर तिलक	पं.जानकी नाथ शर्मा	डॉ. आर. नीलकण्ठ	पं. श्रीराम शर्मा	प्रज्ञा (ठाकर) जोशी
1.	शौनक गीता						
2.	पुलस्त्यगीता						
3.	धौम्यगीता						
4.	अष्टावक्रगीता						
5.	हनुमद्गीता						
6.	आर्ष्टिषेणगीता						
7.	नहुषगीता						
8.	मार्कण्डेयगीता					✓	
9.	(सरस्वतीगीता)						
10.	(मत्स्योपाख्यानगीता)						

11.	बक गीता						
12.	युधिष्ठिरगीता–I					✓	
13.	कौशिकगीता (व्याधगीता)					✓	
14.	सावित्रीगीता					✓	
15.	युधिष्ठिरगीता–II					✓	
16.	सनत्सुजातीयगीता						✓
17.	भगवद्गीता	✓	✓	✓	✓	✓	✓
18.	विदुरगीता					✓	✓
19.	जनकगीता						✓
20.	सेनजिद्गीता–I						✓
21.	अश्मगीता				✓		✓
22.	स्वायंभुवमनुगीता						
23.	भीष्मस्तवराजगीता						
24.	मनुगीता–I					✓	✓
25.	उशनोगीता						✓
26.	भार्गवगीता						✓
27.	यज्ञगीता						✓
28.	नारायणगीता						✓
29.	आङ्गिरस(बृहस्पति) गीता						✓
30.	कैकेयगीता						✓
31.	उतथ्यगीता	✓			✓	✓	✓

32.	वामदेवगीता	✓			✓		✓
33.	ऋषभगीता	✓			✓		✓
34.	ब्रह्मगीता–I					✓	✓
35.	भीष्मगीता					✓	
36.	(खड्गगीता)						✓
37.	(षड्जगीता)	✓		✓	✓		✓
38.	सेनजिद्गीता –II				✓		✓
39.	पिङ्गलागीता		✓	✓			✓
40.	शम्पाकगीता	✓	✓	✓	✓		✓
41.	मङ्किगीता	✓	✓	✓	✓	✓	✓
42.	बोध्यगीता	✓	✓	✓	✓		✓
43.	आजगरगीता			✓			✓
44.	शृगालगीता			✓			✓
45.	कर्मफलगीता						
46.	भृगुगीता			✓		✓	✓
47.	जापकगीता					✓	
48.	मनुगीता–II					✓	
49.	विष्णुवराह (अनुस्मृति) गीता						
50.	गुरुशिष्यगीता–I						
51.	पञ्चशिखगीता					✓	
52.	सनत्कुमारगीता						
53.	प्रह्लादगीता						

54.	बलिवासवगीता						✓
55.	(नमुचिवासवगीता)						
56.	(लक्ष्मीवासवगीता)						
57.	जैगीषव्यगीता						
58.	व्यासगीता–I			✓		✓	
59.	मृत्युगीता						
60.	जाजालिगीता					✓	
61.	ब्रह्म गीता- II					✓	✓
62.	विचख्नुगीता	✓	✓	✓	✓		✓
63.	गौतमचिरकारिगीता						
64.	कपिलगीता					✓	✓
65.	असितदेवल गीता						
66.	माण्डव्यजनकगीता						✓
67.	पितापुत्रगीता						
68.	हारीतगीता	✓	✓	✓	✓		✓
69.	वृत्रगीता	✓	✓	✓	✓		✓
70.	समङ्गगीता						
71.	श्रेयोवाचिका (गालव) गीता						
72.	अरिष्टनेमिगीता						
73.	शुक्रगीता						
74.	पराशरगीता	✓	✓	✓	✓	✓	✓
75.	हंसगीता	✓	✓	✓	✓	✓	✓
76.	सांख्ययोगगीता						

77.	वसिष्ठगीता					✓	
78.	मुनिगीता						
79.	याज्ञवल्क्यगीता					✓	✓
80.	सुलभागीता						
81.	व्यासगीता- II					✓	✓
82.	ययाति गीता						✓
83.	नारदगीता			✓			✓
84.	नारायणीयगीता						
85.	बृहस्पतिगीता					✓	
86.	व्यासमैत्रेयगीता						
87.	माहेश्वरगीता					✓	
88.	कामगीता						✓
89.	अनुगीता		✓		✓		✓
90.	(कश्यपगीता)						
91.	(ब्राह्मणगीता)	✓	✓			✓	✓
92.	(अम्बरीषगीता)						
93.	(गुरुशिष्यगीता)						✓
		14	12	16	16	28	44

94वीं गीता 'पाण्डव गीता' है जो प्रकीर्ण श्लोकों का संग्रह है।

महाभारत के प्रसिद्ध शोधकर्त्ता मनीषी डॉ. सुखमय भट्टाचार्य ने 16 गीताओं के अतिरिक्त शान्तिपर्व का मोक्षधर्म (जिसमें 47 गीताएँ हैं), अष्टावक्र वन्दि संवाद, द्विजव्याध संवाद, यक्ष युधिष्ठिर संवाद, सनत्सुजातीय प्रकरण तथा अश्वमेध का गुरुशिष्य संवाद को अध्यात्म की दृष्टि से अति प्रख्यात माना है, जिससे इतनी अधिक 68 गीताओं की पुष्टि स्वत: हो जाती है।

गीताओं का प्रतिपाद्य सामान्य उपदेश

भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ-चतुष्टय के अन्तर्गत मोक्ष को तुरीय या अन्तिम पुरुषार्थ कहा गया है। अत: मोक्ष को लेकर जिज्ञासा भाव प्रारम्भ से ही विद्यमान रहा है। वैदिक विद्वान् कर्म से मोक्ष की प्राप्ति का समर्थन करते थे तथा इसी कारण उन्होंने मोक्ष के साधनभूत यज्ञ को कर्मरूप मानकर मीमांसाशास्त्र का प्रवर्त्तन किया— **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत** (*मीमांसा प्रकाश*, पृ. 16)। यह मीमांसाशास्त्र ही आगे चलकर दो भागों में विभाजित हो गया—पूर्वमीमांसा एवं उत्तर मीमांसा। पूर्वमीमांसा में कर्म मार्ग के अन्तर्गत यज्ञवाद की ही प्रतिष्ठापना की गयी थी तथा उत्तरमीमांसा में कर्म से भिन्न ज्ञानमार्ग के अन्तर्गत आत्मवाद पर व्यापक चिन्तन का प्रस्तुतीकरण हुआ।

कपिल मुनि ने कालान्तर में सांख्यशास्त्र का प्रवर्तन कर दोनों धाराओं को समन्वित करने का प्रयास किया किन्तु उस प्रयास में कर्मवाद तिरोहित सा हो गया। सम्भवत: इसकी पुन: प्रतिष्ठापना के प्रयत्न के रूप में गीतासाहित्य का आविर्भाव हुआ था। यही कारण है कि उपलब्ध गीताशास्त्रों के प्रतिपाद्य में कर्मवाद के प्रति अधिकाधिक चिन्तन की प्रस्तुति हुई है। इस परिप्रेक्ष्य में अब तक उपलब्ध गीताओं के प्रतिपाद्य को निम्नांकित बिन्दुओं के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

समस्त गीताशास्त्रों का प्रतिपाद्य जगत् एवं जीव की क्षणभङ्गुरता, कर्म एवं पुनर्जन्मवाद कर्मफल की अनिवार्यता, सदाचारों में प्रवृत्ति, सांसारिक द्वन्द्वों से मुक्ति, दु:खों का आत्यान्तिक विनाश, कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक की प्राप्ति, परमानन्द की प्राप्ति, व्यक्तिधर्म एवं वर्णधर्म का अनुपालन, नैतिक मूल्यों की उपादेयता, अवतारवाद, मानसिक एकाग्रता, पाप-पुण्य के प्रति व्यक्तिचेतना, अहिंसात्मक कर्मों की कर्त्तव्यता, यज्ञ की अनिवार्यता, संन्यास, निष्काम प्रवृत्ति, त्यागपूर्वक भोगमार्ग एवं तपश्चरण, शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म का ज्ञान, अविद्या की निवृत्ति, शास्त्रज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, इन्द्रियवशीकरण, तृष्णोन्मूलन, आस्तिक्य बुद्धि एवं धर्मलक्षण, सत्त्वादि गुणों की प्रकृति एवं प्रभाव, आत्मज्ञान, पाञ्चभौतिक सृष्टि का निरूपण, आश्रम धर्म का पालन, मन या चित्त का स्थिरीकरण, आसक्ति का उन्मूलन, विषयवासनाओं का परित्याग, जीवात्मा एवं परमात्मा का सम्बन्ध, कर्मबन्ध से मुक्ति के उपायों का प्रतिपादन, लौकिक एवं पारलौकिक सुखों का चिन्तन, दान की महत्ता, श्रेयस का स्वरूप, वैराग्य का निरूपण, त्रिविध गति एवं परमगति, कामनाओं का परित्याग, स्थितप्रज्ञता का निरूपण, भक्तिमार्ग का निरूपण एवं नवधा भक्ति, स्वधर्म एवं परधर्म सृष्टि की उत्पत्ति, प्रकृति एवं पुरुष का निरूपण तत्त्व साक्षात्कार, दैवी एवं आसुरी सम्पत्ति, शरणगति रहा है।

महाभारतीय गीता साहित्य का परिचय़

भारतीय मनीषियों का चिन्तन प्राय: वेदों पर ही केन्द्रित रहा है। समस्त भारतीय ज्ञान-विज्ञान का आधार वहीं समुपलब्ध होता है। जगत, ब्रह्म, ईश्वर तथा आत्मा विषयक चिन्तन छुटपुट रूप में वेदों में सर्वत्र उपलब्ध है, परन्तु संगृहीत रूप में उपनिषदों में उपलभ्य है। अत: सर्वप्रथम दार्शनिक चिन्तन के आधार ग्रन्थ उपनिषद् हैं। इस परम्परा को 'श्रौतप्रस्थान' कहा जाता है। दूसरा दर्शनिक चिन्तन सूत्रकार ऋषियों द्वारा सूत्रों में प्रतिपादित हुआ है जिसे 'सौत्रप्रस्थान' से अभिहित किया जाता है। तीसरी परम्परा लौकिक चिन्तन की है। रामायण, महाभारत तथा स्मृति ग्रन्थों का चिन्तन इसमें आता है। यह प्रस्थान 'स्मृतिप्रस्थान' कहलाता है। इन तीनों प्रस्थान में श्रौत में दस उपनिषदों की गणना है जिन पर आचार्य शङ्कर ने भाष्य लिखा है। 'सौत्रप्रस्थान' में बादरायण विरचित 'ब्रह्मसूत्र' को प्रधान ग्रन्थ वेदान्त परम्परा की दृष्टि से स्वीकारा जाता है। स्मार्त परम्परा में एकमात्र ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही स्वीकृत है।

महाभारत हमारी परम्परा में पञ्चम वेद कहलाता है। इसके बारे में उक्ति है कि जो महाभारत में है, वही सर्वत्र उपलब्ध है, जो महाभारत में नहीं, वह कहीं भी नहीं है।

महाभारत स्वयं अपने विषय में घोषणा कर रहा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पर जो कुछ महाभारत में लिखा है वही अन्यत्र भी है और जो वहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।—*महाभारत-माहात्म्य*

महाभारत को भारतीय वाङ्मय में इतिहास कहा जाता है। आचार्य शङ्कर के अनुसार इतिहास सुखपूर्वक अवबोध के लिये है। (इतिहासस्तु सुखावबोधनार्थ:। — शाङ्कर-छान्दोग्य-भाष्य, 1.8.1) इतिहास शब्द से रामायण का भी बोध होता है। *काव्यमीमांसा* में राजशेखर ने लिखा है कि इतिहास ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं— परिक्रिया और पुराकल्प। परिक्रिया वह इतिहास ग्रन्थ है जिसका नायक एक होता है, जैसे वाल्मीकि का *रामायण*, जिसके नायक राम हैं। पुराकल्प वह इतिहास-ग्रन्थ है जिसके नायक अनेक होते हैं, जैसे महाभारत।

परिक्रिया पुराकल्प: इतिहासगतिर्द्विधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका। —राजशेखर : *काव्यमीमांसा।*

महाभारत के रचयिता व्यास माने जाते हैं। किन्तु महाभारत जैसा बड़ा ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकता है। अत: आधुनिक विद्वान् ठीक ही महाभारत के कई लेखक मानते हैं। उनके विचार से महाभारत के आकार में भी क्रमश: वृद्धि हुई है। सबसे प्रथम महाभारत का जो रूप था उसका नाम जय था और उसमें केवल महाभारत

के युद्ध का, कौरवों पर पाण्डवों की विजय का, वर्णन आठ हजार श्लोकों में था। इसी के रचयिता व्यास थे। स्वयं महाभारत में आरम्भ में मङ्गलाचरण में इस ग्रन्थ का नाम जय कहा गया है—

नारायणं नमस्कृत्यं नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्।। — *महाभारत, आदिपर्व,* 1.1

महाभारत का दूसरा रूप भारत था। इस भारत को व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने पढ़कर जनमेजय को सुनाया था। वैशम्पायन ही इस भारत के रचयिता कहे जाते हैं। इसमें उपाख्यान नहीं थे और महाभारत के युद्ध का वर्णन विस्तार से चौबीस हजार श्लोकों में किया गया था।

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः।।—*महाभारत, आदिपर्व,* 1.103

अन्त में महाभारत का तीसरा रूप है जिसे महाभारत नाम से पुकारा जाता है और जिसमें एक लाख श्लोक कहे जाते हैं। भारत में ही उपाख्यानों को जोड़कर महाभारत बनाया गया। इसके रचयिता सौति उग्रश्रवा हैं। यही महाभारत का वर्तमान संस्करण है। इसमें आदि पर्व, सभा पर्व, वन पर्व, विराट पर्व, उद्योग पर्व, भीष्म पर्व, द्रोण पर्व, कर्ण पर्व, शल्य पर्व, सौप्तिक पर्व, स्त्री पर्व, शान्ति पर्व, अनुशासन पर्व, आश्वमेधिक पर्व, आश्रमवासिक पर्व, मौसल पर्व, महाप्रस्थानिक पर्व और स्वर्गारोहण पर्व—ये अठारह पर्व हैं। अन्त में इन अठारह पर्वों का परिशिष्ट हरिवंश है। हरिवंश को लेकर सम्पूर्ण महाभारत में एक लाख श्लोक हैं।

इदं शतसाहस्रं तु लोकानां पुण्यकर्मणाम्।
उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्।।—*महाभारत, आदिपर्व,* 1.101

महाभारत को पञ्चम वेद कहा जाता है। महाभारत में आदिपर्व1.271 में तो यह भी कहा गया है कि प्राचीनकाल में देवताओं ने तराजू के एक पलड़े पर चारों वेद रखा और दूसरे पलड़े पर महाभारत को रखा और तब उन्होंने देखा कि महाभारत वेदों की अपेक्षा भारी है। तभी से इसका नाम महाभारत पड़ा, क्योंकि इसका भार महान् था। किन्तु यह भार केवल ग्रन्थ के आकार का ही नहीं था अपितु उसके महत्त्व का भी था। महत्त्व और गुरुत्व दोनों में महाभारत वेदों की अपेक्षा भारी था।

तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् महाभारतमुच्यते।
महत्त्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं यतोऽधिकम्।। — *महाभारत, आदिपर्व,* 1.273

महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।। — *महाभारत, आदिपर्व,* 1.274

वास्तव में महाभारत को वेदों से भारी कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें वेदों के समस्त सिद्धान्तों का संग्रह है और इसके अतिरिक्त इसमें अनेक उपाख्यान तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विवेचन है। वेद निगम है। महाभारत में वेदमत तथा आगममत दोनों हैं। इसमें निगम और आगम दोनों का समन्वय है। सम्भवत: इसीलिए महाभारत को वेदों से अधिक श्रेष्ठ कहा गया है।

यहाँ आगम का कुछ परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। आगम का विकास उन दस्युओं के धर्म और सिद्धान्त से हुआ है जिन्हें आर्यों ने जीता था। जब आर्यों ने उनके धार्मिक रीति-रिवाजों तथा सिद्धान्तों को अपनाया तब इस आदान-प्रदान से आगमों का आविर्भाव हुआ। आगमों में मूर्तिपूजा, सगुण ईश्वरवाद, भक्ति, अवैदिक मन्त्र-विधान, दीक्षा देने तथा भगवान् के सामने सभी वर्णों के व्यक्तियों की समानता तथा एकेश्वरवाद का वर्णन है। इन सभी बातों में आगम निगम या वेद से भिन्न हैं। महाभारत में जहाँ वैदिक परम्पराओं का संग्रह है वहीं आगम-परम्पराओं का भी समावेश है। इस कारण सचमुच महाभारत का महत्त्व वेदों से अधिक हो गया है और वह आर्य-संस्कृति का एक उपजीव्य ग्रन्थ बन गया है।

महाभारत का काल

महाभारत की मुख्य घटना कौरवों और पाण्डवों का युद्ध है। इस युद्ध को महाभारत कहते हैं। प्रो. मैक्डानेल कहते हैं कि यह युद्ध ऐतिहासिक था और कुरु तथा पांचाल जनपदों का आपसी गृहयुद्ध था। इस युद्ध के बाद कुरु तथा पांचाल के लोग एक-दूसरे से मिल गये। यजुर्वेद में ये दोनों जातियाँ एक-दूसरे से मिली प्रतीत होती है और काठक संहिता में धृतराष्ट्र विचित्रवीर्य नामक राजा का उल्लेख भी आता है। शतपथ ब्राह्मण में भारतों के गौरव का वर्णन है। अत: इन प्रमाणों के आधार पर प्रो. मैक्डानेल का मत है कि महाभारत की घटना ईसा-पूर्व दसवीं शती के पश्चात् की नहीं हो सकती है। (*संस्कृत लिटरेचर*, पृ. 284-285) रमेशचन्द्र दत्त इसको 12वीं शती ईसा पूर्व की घटना बताते हैं। (*एनशिएण्ट हिन्दू सिविलिजेशन*) कोलब्रुक, एलफिन्स्टन और विल्फोर्ड इसे 14वीं शती ईसा पूर्व की घटना कहते हैं।

भारतीय परम्परा के अनुसार व्यास ने महाभारत की घटना के समय ही महाभारत को लिखा। अत: महाभारत का मूल रूप जिसे जय कहा जाता है, अवश्य ही ई.पू. 14वीं शती से लेकर ई.पू. 10वीं शती तक रचा गया होगा। किन्तु यह निर्णय महाभारत के वर्तमान रूप के बारे में नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें यवनों का स्पष्ट उल्लेख है। कपिल, आसुरि, पञ्चशिख आदि सांख्याचार्यों के नामोल्लेख हैं, तथा बौद्ध धर्म के स्पष्ट प्रभाव पड़े हैं। इससे सिद्ध है कि महाभारत ग्रन्थ का वर्तमान संस्करण गौतम बुद्ध के बाद का ही नहीं किन्तु सिकन्दर के आक्रमण के बाद का है। आश्वलायन के गृह्यसूत्र

में भारत और महाभारत का उल्लेख है। (सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनसूत्रभाष्य- भारत—आश्वालायन-गृह्यसूत्र, 3.40) बोधायन गृह्यसूत्र में महाभारत के अन्दर विद्यमान विष्णुसहस्रनाम तथा भगवद्गीता का उल्लेख है। इन दोनों गृह्यसूत्रों का रचना-काल सामान्यत: ई.पू. चौथी शती है। अत: महाभारत के मूल की रचना प्राय: ई.पू. 14वीं शती की है और तब से लेकर ई.पू. पाँचवीं शती तक इसके वर्तमान रूप का विकास हुआ। किन्तु विन्टरनित्ज का कहना है कि महाभारत का वर्तमान रूप चौथी शती ई.पू. के पहले का नहीं हो सकता है और चौथी शती ईस्वी के बाद भी नहीं हो सकता क्योंकि चौथी शती ईस्वी तक महाभारत का प्रचार-प्रसार केवल भारतवर्ष में ही नहीं वरन् दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों में भी हो चला था। (*इण्डियन लिटरेचर*, भाग-1) विन्टरनित्ज महाभारत की रचना को चौथी शती ई.पू. के पहले का नहीं मानते हैं। किन्तु यह बात वे महाभारत के वर्तमान रूप के बारे में ही कहते हैं। अत: उनके मत से भी सिद्ध है कि महाभारत के मूलरूप की रचना पाँचवीं शती ई.पू. के पहले हुई। प्रो. मैक्डानेल कहते हैं कि महाभारत के मूलरूप की रचना पाँचवीं शती ई.पू. में हुई। किन्तु यह केवल उनका अनुमान है जो इस बात पर निर्भर है कि महाभारत का मूलरूप बुद्ध-पूर्व है। यदि वह बुद्ध-पूर्व है तो उसे भारतीय परम्परा के अनुसार पाँचवीं शती ई.पू. के पहले का भी माना जा सकता है। कुछ भी हो, इतना निर्विवाद है कि महाभारत का मूलरूप बुद्ध-पूर्व है और 500 ई.पू. से लेकर आज तक महाभारत का महत्त्व बना है।

इसका रचनाकाल महाभारत का प्रारम्भ दिन है। परम्परा से मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को गीता जयन्ती मनाई जाती है। पौराणिक मतानुसार लगभग 5000 वर्ष पूर्व इसकी रचना हुई है। चि.वि. वैद्य, अ.द. पुशाल्कर तथा गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के अनुसार 3080 ई.पू. इसकी रचना हुई है। पाश्चात्य विद्वान् 700 ई.पू. के बाद का समय मानते हैं। शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित 1400 ई.पू., तिलक 1200-1300 ई.पू., विण्टरनित्स ने 400 ई.पू., हप्किन्स ने 400 ई.पू., काशीप्रसाद जायसवाल, जयचन्द विद्यालङ्कार, वेल्वल्कर, राधाकृष्णन् तथा वासुदेवशरण अग्रवाल लगभग 500 ई.पू. मानते हैं। इस प्रकार निष्कर्षत: निर्विवाद रूप में यह माना जा सकता है कि गीता की रचना आज से 2500 वर्ष पूर्व तक अवश्य हो गई थी।

महाभारत के इस महत्त्व को यह श्लोक स्पष्ट करता है—

पाराशर्यवच: सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटम्,
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम्।
लोके सज्जनषट्पदैरहरह: पेपीयमानं मुदा,
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि न श्रेयसे।। — *भविष्यपुराण* 1.4

पराशर मुनि के पुत्र व्यास का वचन (महाभारत) ऐसा अमल कमल है जिसमें गीतार्थ उत्कट गन्ध विद्यमान है। अनेक आख्यान केशर है जो हरिकथा के सम्यक्बोधन

से आबोधित (शिक्षित) ज्ञान शक्ति सम्पन्न हैं। लोक में सत्पुरुष रूप षट्पदों द्वारा प्रतिदिन बड़े चाव से इसके मकरन्द का रसपान किया जाता है। इस प्रकार यह महाभारत रूप अमल कमल इस कलिकाल के मल को नष्ट करने वाला हमारे कल्याण के लिए हो।

ऐसे प्रशंसनीय विश्वकोषीय ग्रन्थ महाभारत जिसमें एक लाख श्लोक हैं, भीष्म पर्व में सात सौ श्लोकों में *भगवद्गीता* नामक ग्रन्थ एक अंश के रूप में उपलब्ध होता है।

महाभारत में वर्णित प्राचीन दर्शन

महाभारत में प्राचीन दर्शन का इतिहास विद्यमान है। वहाँ सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत तथा वेद, इन पाँच दर्शनों का वर्णन मिलता है। इन सब का तात्पर्य महाभारत के अनुसार एक ही है अर्थात् इन सबमें परम तत्त्व रूप से भगवान् नारायण ही एकमात्र तत्त्व बताये गये हैं। सांख्य के वक्ता कपिल हैं। योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं। अपान्तरतमा वेदमत के वक्ता हैं। अपान्तरतमा को ही प्राचीनगर्भ कहा जाता है। भूतनाथ श्रीकृष्ण उमापति ने पाशुपत मत को प्रकट किया। स्वयं नारायण ने पाञ्चरात्र मत को व्यक्त किया। (*शान्तिपर्व*,318.59-61)

महाभारत में सांख्याचार्य कपिल, आसुरि, पंचशिख, गार्ग्य, जैगीषव्य, वार्षगण्य आदि के नाम और विचार आये हैं तथा *शान्तिपर्व* 318.59-61 में अनेक सांख्याचार्यों के नाम हैं। इससे स्पष्ट है कि महाभारतकाल तक सांख्य के विचार-दर्शन का पर्याप्त विकास हो चुका था। महाभारतकालीन सांख्य साहित्य पृथक् रूप से अब उपलब्ध नहीं है। अत: महाभारत में आये सांख्य-दर्शन के विवरण सांख्य-दर्शन के प्राचीनतम उद्धरण तथा उल्लेख हैं। सबसे उल्लेखयोग्य तथ्य यह है कि महाभारत के अनुसार सांख्य ईश्वरवादी है।

सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत तथा वेद, ये पाँचों दर्शन ईश्वरवादी हैं। इनके अतिरिक्त महाभारत में निरीश्वरवाद का भी उल्लेख है। (*शान्तिपर्व*, 222.6-7) कुछ लोग कहते हैं कि जगत् नित्य है, कुछ कहते हैं कि जगत् ईश्वर-सहित है, कुछ कहते हैं कि जगत् ईश्वर के बिना ही है, कुछ लोग कहते हैं कि जगत् का कोई प्राकृतिक कारण नहीं है, कुछ कहते हैं जगत् का कारण ईश्वर है और अन्त में कुछ लोग कहते हैं कि जगत् है ही नहीं। इसी प्रकार कुछ लोग स्वभाव को, कुछ कर्म को, कुछ पुरुषार्थ को, कुछ दैव को और कुछ लोग स्वभाव, धर्म, पुरुषार्थ तथा दैव सभी को जगत् का कारण बताते हैं। इन मत-मतान्तरों के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि महाभारत में सर्वेश्वरवाद, निरीश्वरवाद, प्रकृतिवाद या प्राकृतवाद, स्वभाववाद, कर्मवाद, दैववाद तथा पुरुषार्थवाद का विचार हुआ है। इनके अतिरिक्त कालवाद, नियतिवाद, यदृच्छवाद, योनिवाद, भूतवाद आदि के भी विचार आये हैं। प्रह्लाद को स्वभाववादी बताया गया है। उनके अनुसार स्वभाव से ही सारे भाव तथा अभाव आते-जाते रहते हैं—

स्वभावात् सम्प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च।
सर्वे भावास्तथाभावाः पुरुषार्थो न विद्यते।। – *प्रह्लादगीता,* 1.15

स्वभाव से ही सब कुछ प्राप्त होता है। प्रज्ञा, आत्म-प्रतिष्ठा, शान्ति आदि स्वभाव से ही मिलती है।

स्वभावादेव तत्सर्वमिति मे निश्चिता मतिः।
आत्मप्रतिष्ठा प्रज्ञा वा मम नास्ति ततोऽन्यथा।।– *प्रह्लादगीता,* 1.23

नास्तिक दर्शनों में एक स्थल पर (आदिपर्व, 70.46) लोकायतिक का उल्लेख है। किन्तु उस दर्शन का वर्णन वहाँ नहीं है। अन्यत्र उसका वर्णन किया गया है—वह आन्वीक्षिकी, तर्कविद्या, हेतुवाद, वेदनिन्दा अतिवाद तथा कटुवाद है। (अनुशासनपर्व, 37.12-14) स्पष्टतः यहाँ आन्वीक्षिकी को व्यर्थ कहा गया है। ऐसे लोगों को अन्यत्र नास्तिक कहा गया है, क्योंकि वे कहते हैं कि आत्मा, धर्म, परलोक और मर्यादा नहीं हैं।

पाञ्चरात्र दर्शन

प्रो. सङ्गमलाल पाण्डेय ने महाभारत के मूलदर्शन को पाञ्चरात्र दर्शन माना है तथा अपने ग्रन्थ *भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण*, पृ. 48 में इस प्रकार सिद्धान्तित किया है कि– महाभारत के सभी दर्शनों की एकवाक्यता पर बल दिया है तथापि उसका प्रमुख दर्शन पाञ्चरात्र है। इसी पर सात्वत धर्म या नारायण-धर्म आधारित है।

पाञ्चरात्र एक महान् उपनिषद् है। यह चारों वेदों के ज्ञान से सम्पन्न है। इसमें सांख्य और योग का भी समन्वय है। उसका गान साक्षात् नारायण के मुख से हुआ है। नारद जी ने इसको श्वेतद्वीप में सुना था। उन्होंने ही पुनः इसका प्रचार किया—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।
सांख्ययोगकृतं तेन पाञ्चरात्रानुशब्दितम्।
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत् पुनः।। —*नारायणीयगीता,* 111.112

इस दर्शन के अनुसार नारायण ही एकमात्र देवता है। वे ही सनातन सत्य हैं। वे विश्वात्मा चतुमूर्ति हैं। उनकी चार मूर्तियाँ या व्यूह वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध हैं। वासुदेव पुरुषोत्तम हैं। उन्हीं से अव्यक्त की उत्पत्ति हुई है। अव्यक्त को ही कुछ लोग प्रधान या प्रकृति कहते हैं।

तस्मात् प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः। —*नारायणीयगीता,* 111.29

अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति हुई है। इसी व्यक्त को लोग महान् आत्मा या अनिरुद्ध कहते हैं। स्पष्ट है कि अव्यक्त को ही पाञ्चरात्र में प्रद्युम्न माना जाता है। फिर अव्यक्त वासुदेव से साक्षात् नहीं उत्पन्न है। यह सङ्कर्षण से उत्पन्न है ओर सङ्कर्षण

साक्षात् वासुदेव से उत्पन्न है। पहले नारायण एकमूर्ति थे। बाद में धर्म-विस्तार के लिए उन्होंने अपने को चार मूर्तियों में व्यक्त किया—

एक मूर्तिरयं पूर्वं जाता भूयश्चतुर्विधा। — *शान्तिपर्व,* 334.16

भगवान् के भक्त कभी एक व्यूह अर्थात् वासुदेव की, कभी दो व्यूह अर्थात् वासुदेव और सङ्कर्षण की, कभी तीन व्यूह अर्थात् वासुदेव, सङ्कर्षण तथा प्रद्युम्न की और कभी चारों व्यूहों की उपासना करते हैं।

एकव्यूहविभागो वा क्वचिद् द्विर्व्यूहसञ्ज्ञितः।
त्रिर्व्यूहश्चादिसंख्याश्चतुर्व्यूहश्च दृश्यते।। — *शान्तिपर्व,* 348.57

किन्तु प्रत्येक प्रकार की उपासना एकान्त-धर्म है। उसके लिए एकान्त-निष्ठा, ऐकान्तिक भक्ति या एकाग्रचित से की गई उपासना की आवश्यकता है। इसी कारण पाञ्चरात्र को एकान्त-धर्म भी कहते हैं। एकान्त भक्त अपने को नारायण के प्रति समर्पित कर देता है।

यह महान् धर्म है। यही सनातन धर्म है। इसमें धर्म, काम, अर्थ तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थों का समन्वय है। इसे पहले सात्वत लोगों ने ग्रहण किया था। अत: यह सात्वत धर्म कहा जाता है। सात्वत यदुवंशी थे। अत: नारायण का जो अभेद कृष्ण से किया गया उसका मुख्य कारण सात्वतों के बीच इस धर्म का प्रचार था तथा कृष्ण का सात्वतों का महापुरुष होना था।

पाञ्चरात्र को लेकर एक यह विवाद प्रचलित है कि पाञ्चरात्र वैदिक दर्शन है या अवैदिक? शङ्कराचार्य का कहना है कि पाञ्चरात्र अवैदिक दर्शन है। किन्तु रामानुज का कहना है कि यह वैदिक दर्शन है। इस विवाद में शङ्कराचार्य का ही मत अधिक उचित जान पड़ता है क्योंकि (1) पाञ्चरात्र की उत्पत्ति श्वेतद्वीप में बतायी गयी है, (2) पाञ्चरात्र के प्रथम अनुयायी सात्वत लोग थे जो वेदपाठी ब्राह्मण नहीं थे और जिनके अनार्यता इतिहास-सिद्ध हैं, (3) पाञ्चरात्र को स्वयं महाभारत में वेद से पृथक् करके प्रतिपादित किया गया है, (4) पाञ्चरात्र में वेद की निन्दा है और उसमें कहा गया है कि जब बहुत-से वेदपाठी लोगों को वेद से शान्ति नहीं मिली थी तब उन्होंने पाञ्चरात्र के द्वारा शान्ति प्राप्ति की थी तथा अन्त में (5) पाञ्चरात्र आगम-परम्परा के अनुकूल था।

किन्तु पाञ्चरात्र की उत्पत्ति भले ही वेद-बाह्य स्रोतों से हुई हो, कालान्तर में उसका समन्वय वेदमत से किया गया और यह प्रयास तो महाभारत में ही स्पष्ट है कि पाञ्चरात्र तथा वेद की एकवाक्यता है या पाञ्चरात्र वैदिक धर्म के अनुकूल है। इस प्रकार पाञ्चरात्र एक ऐसा धर्म और दर्शन है जिसमें वैदिक-अवैदिक दोनों संस्कृतियों या परम्पराओं का समन्वय है। महाभारत में इसी को सनातन धर्म या परम धर्म कहा गया है।

आधुनिक युग में डॉ. ब्रजेन्द्रनाथ सील, वेबर, लासेन आदि विद्वानों ने सिद्ध किया है कि महाभारत में वर्णित पाञ्चरात्र धर्म पर मसीही मत का प्रभाव पड़ा है क्योंकि पाञ्चरात्र वैसा ही ऐकान्तिक (एकेश्वरवादी) तथा भक्ति-प्रधान धर्म है जैसा मसीही मत। किन्तु पाणिनि ने वासुदेव शब्द का प्रयोग किया है। ई.पू. दूसरी शती के बेसनगर शिलालेख के अनुसार भागवत हेलियोडोरस ने वासुदेव के सम्मान में एक गरुड़-स्तम्भ स्थापित किया था। गोसुण्डी शिलालेख भागवत सङ्कर्षण और वासुदेव की उपासना का वर्णन करता है और नानाघात के प्रथम शती ई. पू. के शिलालेख में सङ्कर्षण तथा वासुदेव की स्तुति है। इससे सिद्ध है कि पाञ्चरात्र धर्म-दर्शन मसीही मत का पूर्ववर्ती है और उस पर मसीही मत का प्रभाव नहीं पड़ा है। उल्टे, पाञ्चरात्र का ही प्रभाव मसीही मत पर पड़ा होगा अन्यथा दोनों में इतना साम्य न होता।

गीता : स्वरूप एवं विषय

गीता शब्द का अर्थ है—गाई गई या कही गई। महाभारत युद्ध के समय युद्ध का परित्याग करने की इच्छा पर अर्जुन को श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिया वही गीता है—

समापोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्।।

— *महाभारत*, शान्तिपर्व, 348.8

युद्ध में शोकग्रस्त अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुख से इसका (गीता का) उपदेश किया—

चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम्।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता।। — *वराहपुराण*, गी.मा. 9

महाभारत (भीष्मपर्व 43.1) के अनुसार—

'या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनि:सृता'

के अनुसार भगवान् के मुख कमल से उक्त होने से इसे भगवद्गीता या श्रीमद्भगवद्गीता कहा जाता है।

गीताओं का उपनिषदों से बहुत सामञ्जस्य है। स्वयं व्यास ने घोषणा की है कि उपनिषदों का विस्तार ही महाभारत में किया गया है—

ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया।
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया।। —*आदिपर्व,* 1.62

अनेक जगह उपनिषदों के पूरे श्लोक प्राप्त होते हैं, शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं तथा भावों की छाया तो प्राय: सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। उपनिषद शब्द का प्रयोग संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग में होता है इसलिए इसमें (गीता शब्द में) स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग

हुआ है। गीता की अध्याय पुष्पिकाओं में सर्वत्र उपनिषत्सु शब्द का प्रयोग हुआ है। फिर कुछ विद्वान् इसे उपनिषद् मानते हैं तथा कुछ विद्वान् उपनिषदों का सार—

सर्वोपनिषदो गावः दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।। — *गीता माहात्म्यम्,* 1।

समस्त उपनिषद् गाय के समान है, उसके दुहने वाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण है, अर्जुन बछड़ा है (जिसे निमित्त बनाकर इसका दोहन हुआ है)। गीता रूपी महान् अमृत दुग्ध है तथा शुद्ध बुद्धि वाला पुरुष इसको पीने का अधिकारी है। श्री अरविन्द ने तो इसे तेरहवीं उपनिषत् माना है। पं. मधुसूदन ओझा इसे स्मार्त उपनिषद् मानते हैं। भगवद् वाणी होने से उपनिषत्सु में आदरार्थे बहुवचन का प्रयोग है। इसलिए अध्याय पुष्पिकाओं में सर्वत्र 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' ऐसा प्रयोग किया गया है। महाभारत शान्तिपर्व 346.10, 348.53 में इसे 'हरिगीतासु' कहा गया है। आचार्य शङ्कर ने स्वभाष्य में 'इति गीतासु' यह बहुवचनान्त प्रयोग किया है। लाघवार्थ 'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्' की जगह लोक में केवल 'गीता' ही प्रयोग प्रचलित हो गया है।

इसे गीता न कहकर भगवद्वाक्य या भगवद्वचन क्यों नहीं कहा गया है? तो लगता है कि 'गीता' कहने में कोई विशेष अभिप्राय है। इस विषय में द्रष्टव्य है कि गीता में 13.14 पर कहा है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।

इस ज्ञान का विविध प्रकार की वेदऋचाओं से गायन किया गया है, ऋषियों के द्वारा (उपनिषद्रूप में) अनेक प्रकार से गायन किया गया है, युक्तियुक्त निश्चायक ब्रह्मसूत्र के पदों के द्वारा गायन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है इस श्लोक के क्रियावाचक 'गीतं' शब्द से गीता शब्द व्युत्पन्न किया गया है। इससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि वेद, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र में जिस ज्ञान का वर्णन किया गया है वही गीता में है तथा जिस प्रकार वह ज्ञान श्रेष्ठतम है वैसे ही गीताओं का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। इसमें केवल न शब्दों का ही संगीत है अपितु भावों का भी संगीत है। अनेक प्रकार के आध्यात्मिक, अधिदैविक तथा आधिभौतिक भावों का संगीत इसमें उपलब्ध है, जिसे ऋषियों की दिव्यदृष्टि प्रभावित करती है। इसमें जीव, प्रकृति, ईश्वर, ज्ञान, कर्म, भक्ति, सांख्य, योग तथा वेदान्त सम्बन्धी विविध भावों का विचित्र सामञ्जस्य के गायन प्रस्तुत हुआ है जिसे योगी अपने दिव्य अन्तःकरण में अनुभूत करते हैं। वेदव्यास ने भावों के संगीत को शब्दों के संगीत से युक्त कर दिया है जिससे मणिकाञ्चन संयोग हो गया है। श्री अरविन्द ने इसे महासंगीत कहा है। कुछ अन्य विद्वानों ने इसे दिव्य संगीत कहा है।

अत: यह भगवान् का परम वाक्य, उक्ति या वचन होने पर भी दिव्य संगीत तथा उपनिषद् रूप से होने से 'भगवद्गीता' कहलाती है।

भारतीय परम्परा के श्रद्धा व विश्वास के आधार पर गीता के कर्त्ता भगवान् कृष्ण हैं पर जिस रूप में गीता उपलब्ध है उस रूप में गीता का प्रणयन श्रीकृष्ण ने नहीं किया होगा। कृष्ण के मध्यमावाक् में दिये गए उपदेशों का सङ्कलन महाभारतकार वेदव्यास ने स्वकवित्व शक्ति के अनुरूप गीता के वर्तमान स्वरूप में किया है। अत: कृष्ण के द्वारा प्रदत्त ज्ञान को काव्य रूप प्रदान करने वाले व्यास हैं। इस गीता के विषयवस्तु की व्याख्या हेतु *भागवत* का एकादश स्कन्ध, *पद्मपुराण* तथा *वराहपुराण* का गीता माहात्म्य, *योगवासिष्ठ* के निर्वाण प्रकरण में कथित गीतासार—इसके महत्त्व को अभिव्यक्त करते हैं। अत: गीता महाभारत का महत्त्वपूर्ण अंग है तथा निश्चय ही वेदव्यास की ग्रन्थ रूप में रचना है तथा नित्य पठनीय है।

इस ग्रन्थ को संवाद शैली या प्रश्नोत्तर रूप शैली में लिखा गया है। पुराणों में इस तरह की शैली का पर्याप्त प्रयोग उपलब्ध होता है। अध्यायान्त पुष्पिकाओं में 'कृष्णार्जुनसंवादे' कहा गया है। प्राचीन वैदिक संवाद सूक्तों, ब्रह्मोद्य चर्चाओं, इतिहास-पुराण ग्रन्थों तथा बाद के साहित्य ग्रन्थों में भी संवाद शैली उपलब्ध है। इस शैली के आश्रयण से नाटकीयता, रोचकता, स्वाभाविकता, सरलता तथा उत्सुकता का पल्लवन होने से शिष्यों को अध्ययन में विशेष रसास्वादन प्राप्त होता है। इसकी शैली के बारे में ई.डी. प्राईस ने लिखा है कि यह एक नाट्य पद्य काव्य है और इसकी शैली प्लेटो के संवाद से मिलती है।

गीता की पुष्पिकाएँ बड़ी सार्थक हैं उनमें वर्ण्य विषय को सूक्ष्मता से संकेतित किया गया है। ॐ ब्रह्मवाचक है, 'तत्सत्' उसकी अबाधित सत्ता का बोध कराता है। इस ग्रन्थ का पूर्ण नाम 'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्' है, आदर के लिए बहुवचन है। ब्रह्मज्ञान को प्रतिपादक होने से 'ब्रह्मविद्यायां' कहा गया है। आत्मा को अज्ञानावरणध्वंसपूर्वक स्व-स्वरूप परमात्मा से युक्त करने वाले योगशास्त्र का वाचक 'योगशास्त्र' कहा गया है। संवादशैली के द्योतनार्थ 'कृष्णार्जुनसंवादे' कहा गया है फिर अध्याय के विषय शीर्षक स्पष्ट किए हैं तथा अन्त में अध्याय की संख्या निर्देश करके समाप्ति द्योतक पद लिखे गए हैं।

छन्दों का विवरण

गीता के सात सौ श्लोकों में पाँच तरह के छन्दों का प्रयोग हुआ है—अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपन्द्रवज्रा, उपजाति और विपरीतपूर्वा। इनमें 645 श्लोक अनुष्टुप् छन्द में अवशेष 55 श्लोकों का विवरण इस प्रकार है—इन्द्रवज्रा 10, उपेन्द्रवज्रा 4, उपजाति 37 तथा विपरीतपूर्वा 4। गीता की 'अध्यायत्रयी' (2-4) में दूसरे अध्याय के दो श्लोक

7 व 29 इन्द्रवज्रा छन्द में है तथा दूसरे अध्याय के छ: श्लोक 5, 6, 8, 20, 22 व 70 उपजाति छन्द में है। शेष सभी श्लोक अनुष्टुप् में हैं। अन्य अध्यायों का छन्द विवरण इस प्रकार है—

इन्द्रवज्रा—दूसरे अध्याय में पूर्वोक्त दो श्लोक और आठवें अध्याय का एक श्लोक 28, नवें अध्याय का एक श्लोक 20, गयारहवें अध्याय के चार श्लोक 20, 22, 27 व 30, पन्द्रहवें अध्याय के दो श्लोक 5 व 15 इन्द्रवज्रा छन्द में हैं। सम्पूर्ण गीता में कुल 10 इन्द्रवज्रा छन्द हैं।

उपेन्द्रवज्रा—गीता में उपेन्द्रवज्रा छन्द चार हैं और ये चारों ही श्लोक ग्यारहवें अध्याय के 18, 28, 29 व 45 हैं।

उपजाति—दूसरे अध्याय में पूर्वोक्त छ: श्लोक, आठवें अध्याय के तीन श्लोक 9, 10 व 11, नवें अध्याय का एक श्लोक 21, ग्यारहवें अध्याय के चौबीस श्लोक 15, 16, 17, 19, 21, 23, 24, 25, 26, 31, 32, 33, 34, 36, 38, 40, 41, 42, 43, 46, 47, 48, 49 व 50 तथा पन्द्रहवें अध्याय के तीन श्लोक 2, 3 व 4 उपजाति छन्द हैं। इस प्रकार उपजाति छन्द 37 हैं।

विपरीतपूर्वा—इस छन्द के ग्यारहवें अध्याय में चार श्लोक हैं 35, 37, 39 व 44।

अनुष्टुप्—उपर्युक्त 55 श्लोक के अलावा 645 श्लोक अनुष्टुप् छन्द में हैं। साहित्य शास्त्र की दृष्टि से शास्त्र रचना में सर्वाधिक उपयुक्त छन्द अनुष्टप् है। अत: क्षेमेन्द्र कहते हैं—

शास्त्रं कुर्यात् प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा।
येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम्।।

इसलिए गीता में सर्वाधिक अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है। दूसरी बात यह है कि गीता में बड़े छन्द उपलब्ध नहीं हैं। क्षेमेन्द्र ने कहा है—

शास्त्रकाव्येऽतिदीर्घाणां वृत्तानां न प्रयोजनम्।

इसलिए गीता में छोटे-छोटे छन्दों का प्रयोग साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से भी उपयुक्त है।

गीता की टीका एवं भाष्य परम्परा

गीता पर विभिन्न भाषाओं में सैकड़ों भाष्य, टीका, अनुवाद, निबन्ध और प्रवचन लिखे जा चुके हैं तथा लिखे जा रहे हैं। इनमें देवीसम्पद्युक्त भगवत्परायण वैराग्य सम्पन्न साधकों तथा महापुरुषों द्वारा लिखे गए सभी प्रामाणिक हैं, क्योंकि सबका ध्येय एक है पर मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। कहा है—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।।

यही शिवमहिम्नः स्तोत्र में पुष्पदन्त कहते हैं—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

जिस प्रकार सभी नदियों का जल अन्ततः सागर में समाविष्ट होता है उसी प्रकार रुचि की विभिन्नता के कारण सीधे और टेढ़े-नाना मार्गों पर चलने वाले सभी मनुष्यों का गन्तव्य आप भगवान् ही हैं।

इन समस्त व्याख्याकारों की टीकाएँ भाष्यादि मननीय हैं। इन्हीं की कृपावशात् आज हम लोग गीता को किसी-न-किसी अंश में समझने में समर्थ हो रहे हैं।

गीता एवं सनत्सुजातगीता का सबसे प्राचीन भाष्य 'शाङ्करभाष्य' है जो उपलब्ध है। उसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि इससे भी प्राचीन व्याख्या ग्रन्थ थे। इस शङ्करभाष्य की आनन्दज्ञान ने 'भगवद्भाष्यविवरण' नाम की टीका लिखी तथा श्री रामानन्द ने 'भगवद् गीता व्याख्या' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। इसके बाद इस भाष्य पर 'गीताशय' नामक ग्रन्थ लिखा गया। यामुनाचार्य नामक दो व्यक्तियों ने पृथक्-पृथक् एक ने गद्य पर तथा दूसरे ने पद्य में भाष्य लिखा है। रामानुज के महान् गुरु श्रीयामुन ने 'गीतार्थ संग्रह' ग्रन्थ में गीता की विषयवस्तु का सार प्रकट किया जिस पर निगमान्त महादेशिक ने 'गीतार्थ संग्रह रक्षा' ग्रन्थ लिखा। जिस पर वरवा मुनि ने 'गीतार्थसंग्रहदीपिका' व्याख्या की। विख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज ने गीता पर अपना भाष्य लिखा, जिस पर वेदान्ताचार्य वेंकटनाथ ने 'तात्पर्य चन्द्रिका' नामक उपभाष्य लिखा। मध्वाचार्य या आनन्दतीर्थ ने गीता पर गीता भाष्य लिखा जिस पर जयतीर्थ ने 'प्रमेय दीपिका' में टीका की। उन्होंने एक 'भगवद्गीता तात्पर्य निर्णय' नामक निबन्ध लिखा। कृष्ण भट्ट ने 'गीता टीका' लिखी। इसके पश्चात् राघवेन्द्र स्वामी ने 'गीता विवृति', 'गीतार्थ संग्रह' तथा 'गीतार्थ विवरण' केशव भट्ट ने 'गीतातत्त्व प्रकाशिका', आञ्जनेय ने 'हनुमद्भाष्य' (पैशाच भाष्य), कल्याण भट्ट ने 'रसिकरञ्जिनी', जगद्धर ने 'भगवद्गीता प्रदीप', जयराम ने 'गीतासारार्थसंग्रह', बलदेव विद्याभूषण ने 'गीताभूषण भाष्य', मधुसूदन सरस्वती ने 'गूढार्थदीपिका', ब्रह्मानन्दगिरि ने 'भगवद्गीता प्रकाश', दत्तात्रेय ने 'प्रबोधचन्द्रिका', रामकृष्ण, मुकुन्ददास, रामनारायण विश्वेश्वर तथा श्रीधर स्वामी ने 'सुबोधिनी टीकाएँ' लिखी हैं।

वल्लभ मत से 'तत्त्वदीपिका' एवं 'अमृततरङ्गिणी' लिखी गई हैं। नीलकण्ठ चतुर्धुर 'भावप्रदीप', बच्चा झा ने 'गूढार्थदीपिकातत्त्वालोक', धनपति ने 'भाष्योत्कर्ष दीपिका', अभिनवगुप्त ने 'गीतार्थ संग्रह', सदानन्द व्यास ने 'भावप्रकाश', सूर्यपण्डित ने

'परमार्थप्रपा', राजानक और रामकण्ठ ने 'सर्वतोभद्र', शङ्करानन्द ने 'शङ्करानन्दी', ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' आदि टीकाओं का प्रणयन किया। महाभारत के अनन्त भट्ट, अर्जुन मिश्र, आनन्द जगदीश चक्रवर्ती, देवबोध, नीलकण्ठ, महानन्दपूर्ण, यज्ञनारायण, रत्नगर्भ, विमलबोध आदि तीस से अधिक टीकाकारों ने गीता की व्याख्या की। अत: सभी गीता साहित्य पर ये तीस टीकाएँ उपलब्ध हैं। आधुनिक युग में बालगङ्गाधर तिलक, श्री अरविन्द, पं. मधुसूदन ओझा, मोतीलाल शास्त्री, महात्मा गाँधी, राधाकृष्णन्, विनोबा भावे, हनुमान प्रसाद पोद्दार, जयदयाल गोयनका, स्वामी रामसुखदास आदि दार्शनिकों तथा सन्तों ने गीता की विवेचनाएँ की हैं।

गीता की संस्कृत टीकाओं को मुख्यत: वेदान्त दर्शन की दृष्टि से अग्रलिखित छ: भागों में विवेचित किया जा सकता है।

गीता की संस्कृत टीकाओं को दार्शनिक दृष्टि से निम्नलिखित छ: भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. श्री शङ्कराचार्य का अद्वैतपरक भाष्य—आचार्य शङ्कर के अतिरिक्त अन्य किसी की वास्तविक सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। इसमें सम्पूर्ण प्रपञ्च को दो प्रधान भागों में विभाजित किया है—द्रष्टा और दृश्य। एक वह नित्य और चेतन तत्त्व है जो सम्पूर्ण प्रतीतियों का अनुभव करता है। दूसरा जो अनुभव का विषय है, इनमें समस्त प्रतीतियों का द्रष्टा आत्मा है तथा विषय अनात्मा है। आत्म सत्, नित्य, निरञ्जन, निश्चल, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, असङ्ग, कूटस्थ एक और सनातन है। स्वप्न में द्रष्टा ही दृश्य को प्रपञ्चित करता है। स्वप्न (दृश्य) वस्तुत: द्रष्टा से भिन्न नहीं है, केवल अविद्यावशात् भासित होता है। विभिन्न रूपों में दीखने वाला जगत् केवल शुद्ध ब्रह्म ही है, वही आत्मा है। अविद्या के अभाव होने से जीव जीवभाव से मुक्त होकर शरीर में दूसरों की दृष्टि से बने रहने पर भी जीवन्मुक्त हो जाता है। चित्त शुद्धि के पश्चात् कर्मसंन्यासपूर्वक आत्मतत्त्व के सम्यक् ज्ञान से जीवन्मुक्ति या मोक्ष प्राप्त होता है।

2. श्री रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतपरक भाष्य—इनका मत भी विशिष्ट अद्वैत की व्याख्या करता है। ब्रह्म एक (अद्वैत) है उसमें तीन वस्तुएँ हैं—(1) अचित् अर्थात् जड़ प्रकृति, (2) चित् अर्थात् चेतन आत्मा, (3) ईश्वर। स्थूल सूक्ष्म चेतनाचेतन विशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। यह सगुण और सविशेष है। उसकी शक्ति माया (प्रकृति) है। ईश्वर सृष्टिकर्त्ता, नियन्ता और सर्वान्तर्यामी तथा सम्पूर्ण गणों का धाम है। जगत् और जीव ब्रह्म के शरीर हैं। जगत् जड़ है, ब्रह्म ही इसका उपादान तथा निमित्त कारण है। वे ही जगत् रूप में परिणत हुए हैं। फिर भी वे विकार रहित हैं। जीव चेतन और अणु है, स्वगत भेद है। ब्रह्म पूर्ण, ईश्वर तथा कारण है, परमधाम वैकुण्ठ में नारायण की सेवा प्राप्त करना पुरुषार्थ है। पाञ्चभौतिक शरीर को त्याग कर अप्राकृत

शरीर से नारायण का सान्निध्य ही मुक्ति है। मुक्ति ज्ञान से नहीं, अपितु भक्ति से प्राप्त होती है। भक्ति से प्रसन्न होकर जब भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं, तभी मुक्ति होती है। भक्ति का सर्वोत्तम स्वरूप प्रपत्ति या आत्मसमर्पण है।

3. श्री माध्वाचार्य का द्वैतपरक भाष्य—दो तत्त्व हैं—जगत् और भगवान् विष्णु। विष्णु सर्वोच्च तत्त्व है। वे सगुण, सविशेष, स्रष्टा, पालक, संहारक है। जीव और ईश्वर दोनों सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ईश्वर सर्वज्ञ, दिव्य गुणों का आश्रय, असीम, अनन्त और स्वतन्त्र है। जीव अणु, भगवद्दास, अनादिकाल से माया मोहित, बद्ध तथा अस्वतन्त्र है। जगत् सत् जड़ और अस्वतन्त्र है। भगवान् इसके नियामक हैं, जगत्-सत्य है। भेद वास्तविक है। पाञ्च भेद हैं—1. जीव ईश्वर का भेद, 2. जीव जड़ का भेद, 3. ईश्वर जड़ का भेद, 4. जीवों का परस्पर भेद, 5. जड़ों का परस्पर भेद। ये सभी भेद वास्तविक हैं। जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं है। ईश्वर के अनन्त, असीम, सामर्थ्य, शक्ति तथा गुणों का बोध होने पर दिव्य लोक और स्वरूप की प्राप्ति होती है। यही मुक्ति है। मुक्त जीव ईश्वर का नित्य सेवक होता है। भक्ति ही मुक्ति का प्रधान साधन है। सभी विहित सांसारिक कर्मों को भगवदर्पण करना ही भक्ति है।

4. श्री निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवादपरक भाष्य—इस भाष्य में द्वैत और अद्वैत दोनों को मिलाकर सिद्धान्त निश्चित किए गए हैं। ब्रह्म सर्वशक्तिमान् निर्विकार और निर्गुणी है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का सर्जन, पालन तथा संहार इसी से होता है। यही निमित्तोपादानकारण है। इसकी चार अवस्था हैं—1. मूल अवस्था है जिसमें अव्यक्त, निर्विकार देशकाल से अनवच्छिन्न रूप रहता है। 2. जगदीश्वर अवस्था है। इसमें ईश्वर के साथ सम्पूर्ण जगत् का भाव है। 3. जीवावस्था है जिसमें विषयों की व्यष्टिगत अनुभूति होती है। 4. जगदावस्था है जिसमें ब्रह्म विश्व के रूप में व्यक्त होता है। ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की कोई सत्ता नहीं है। ब्रह्म सब कुछ है। जीव उसका अंश है। जगत् उसका परिणाम है। भगवान् वासुदेव ही ब्रह्म हैं, उनकी प्रसन्नता और उनके दर्शन होना ही परमानन्द प्राप्ति या मुक्ति है। भक्ति ही मुक्ति का प्रधान साधन है। भगवन्नामों तथा गुणों का चिन्तन, स्वरूप का ध्यान तथा युगल मूर्ति की उपासना करना भक्ति है।

6. श्री वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतपरक भाष्य—ब्रह्म सर्वशक्तिवान्, सर्वज्ञ सच्चिदानन्दस्वरूप तथा परमशुद्ध है। उसमें माया नहीं है। वे निर्गुण, गुणातीत, अनन्तशक्ति तथा अचिन्त्य है। अत: वे सब कुछ बन सकते हैं। उनमें विरुद्ध धर्मों तथा वाक्यों का युगपत् समावेश है। गोलोकाधिपति कृष्ण ही ब्रह्म हैं। वे जीवों के सत्य हैं। जीव ब्रह्म का अंश, अणु और शुद्ध है। वे लीला से जगत् रूप में परिणत होते हैं। जगत् उनका अविकृत परिणाम है। भगवान् कृष्ण की प्राप्ति ही मुक्ति है। शुद्ध जीव-जगत् को कृष्णमय देखकर श्रीकृष्ण के प्रेम में पत्नीवत् स्वस्वामी कृष्ण की सेवा करके परमानन्द

में निमग्न रहता है। भगवत् कृपा से प्राप्त भक्ति ही मुक्ति का साधन है। भगवद् अनुग्रह ही पुष्टि है, इससे पुष्टिभक्ति का उदय होता है जो मर्यादा भक्ति से विलक्षण है। भगवान् की सर्वात्मना सेवा ही भक्ति है।

6. श्री चैतन्य महाप्रभु का अचिन्त्यभेदाभेदवादपरक भाष्य—ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् अप्राकृत गुणों से सम्पन्न है। वह स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता ओर विज्ञानस्वरूप है। जीव, अणु और चेतन है। ईश्वर से विमुखता के कारण बन्धनग्रस्त होता है। ईश्वर के सम्मुख होने पर बन्धन कट जाते हैं। चार पदार्थ नित्य हैं—1. ईश्वर, 2. जीव, 3. प्रकृति, 4. काल। जीव, प्रकृति और काल ईश्वराधीन हैं। जीव और ब्रह्म गुण तथा गुणीभाव से भिन्न तथा अभिन्न दोनों हैं। जगत् का निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है। वह अपनी अचिन्त्य शक्ति के कारण सत् जगत् में परिणत होता है, परन्तु जगत् अनित्य है। भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करना ही मुक्ति है। भगवद्धाम को प्राप्त कर जीव का पुनरावगमन नहीं होता है। भक्ति ही प्रधान साधन है। ज्ञान और वैराग्य इसके सहकारी साधन हैं। भगवत्प्राप्ति, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से होती है।

गीता के संस्कृत भाष्य और टीकाओं में इन्हीं छह मतों में से किसी मत का आश्रय लेकर उसके समर्थन में लिखे गए हैं। इनकी सार्थकता के विषय में श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार का कथन द्रष्टव्य है—ये छहों मत ऐसे महान् पुरुषों द्वारा प्रवर्तित है कि उनमें से किसी को भी भ्रान्त नहीं कहा जा सकता है। सभी भगवत्तत्त्व के ज्ञाता महान् पुरुष माने जाते हैं। अतएव इनमें दीखने वाले मतभेद को भगवद्वाणी का चमत्कार मानकर सभी को शुद्ध हृदय से इन्हें नमस्कार करना चाहिए और अपने-अपने अधिकार के अनुसार यथारुचि अपने लाभ की बात सभी से लेनी चाहिए (गीताचिन्तन, पृ. 474)। अत: गीता पर लिखी गई सभी व्याख्याएँ एक लक्ष्य पर जाने वाली विभिन्न सरणियाँ हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

गीता साहित्य की मुख्य विशेषता यह है कि यह उच्च कोटि का दार्शनिक ग्रन्थ होने पर भी अन्य वेद उपनिषदों के समान शान्त तथा एकान्त अरण्य में तत्त्व जिज्ञासु गुरु तथा शिष्य के बीच में विवेचित न होकर युद्ध जैसे अशान्त क्षेत्र में एक योद्धा को दूसरे गुरु योद्धा ने व्यावहारिक समस्या के समाधानार्थ प्रस्तुत किया है। इस उपदेश का व्यावहारिक जीवन से अटूट सम्बन्ध है। गीता उठना, बैठना, खाना, पीना, कृषि, व्यापार, युद्ध तथा विषयभोग आदि सांसारिक कर्मों को करने की अनूठी विधि प्रस्तुत करती है, जिससे मानव मात्र जीवन के समस्त कार्यों को करता हुआ भगवान् या मोक्ष को सरलता से अधिगत कर लेता है। स्वयं के उद्धार के साथ सम्पूर्ण लोक (समाज, राष्ट्र एवं मान जाति) को उन्नत, समृद्ध तथा दिव्य बनाने में सहयोग दे सकता है। वस्तुत: गीता साहित्य लोक तथा परलोक में, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में दुर्लभ सहयोग अथवा सामञ्जस्य या समन्वय स्थापित करती है।

महाभारतीय गीताओं का संक्षिप्त परिचयात्मक विश्लेषण

(1) शौनक गीता

शौनकगीता महाभारत के अन्तर्गत वनपर्व के अरण्यपर्व में द्वितीय अध्याय में वर्णित है। इसमें कुल 84 श्लोक हैं। इसमें परमात्म-चिन्तन में तत्पर, विद्वान् शौनकमुनि द्वारा महाराज युधिष्ठिर को दिये गये ज्ञानोपदेश का निरूपण है।

मन्त्रियों सहित धृतराष्ट्र के दुरात्मा पुत्रों ने जब कपटपूर्वक पाण्डवों को हुए में हरा दिया, द्रौपदी का अपमान किया और राज्य का अपहरण कर लिया, तब महाराज युधिष्ठिर के साथ सभी भाई दु:ख से पीड़ित हो गए।

पाण्डवों के वनगमन के समाचार से हस्तिनापुर के निवासी शोकाकुल होकर पाण्डवों के साथ ही वन जाने के लिए उद्यत हो गए। महाराज युधिष्ठिर के बहुविध अनुनय-विनय से पुरवासी तो लौट गए, किन्तु कुछ ब्राह्मण लोग उनके साथ ही चले आए।

गङ्गाजी के किनारे रात्रि व्यतीत करने के पश्चात् प्रातःकाल जब महाराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को वन के कष्टों को बताकर उन्हें हस्तिनापुर लौट जाने के लिए कहा कि इस समय धन आदि से हीन होने के कारण आप लोगों के उचित भरण-पोषण के अभाव में हमें क्लेश होगा।

तब उनके कहने के बाद कर्मयोग और सांख्य योग दोनों में ही प्रवीण शौनकजी ने समझाते हुए कहा—धर्मराज युधिष्ठिर! शोक के सहस्रों और भय के सैकड़ों स्थान हैं। वे अज्ञानी पुरुषों पर प्रतिदिन अपना प्रभाव डालते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुषों पर उनका प्रभाव नहीं पड़ सकता। अष्टाङ्ग योग समन्वित श्रुति स्मृति विहित स्वाध्याय परिपुष्ट उत्तम बुद्धि आपमें स्थित है। आप जैसे ज्ञानी पुरुष अर्थ संकट, अपार दु:ख तथा स्वजनों पर आई हुई विपत्तियों तथा शारीरिक और मानसिक दु:खों से पीड़ित नहीं होते।

पूर्वकाल में राजा जनक ने अन्त:करण को स्थिर करने वाले जिन श्लोकों का गान किया था, वे इस प्रकार हैं—शारीरिक दु:ख के चार कारण हैं—रोग, अप्रिय घटनाओं का होना, अधिक परिश्रम तथा प्रिय वस्तुओं का वियोग। इन कारणों के निवारण करने के उपाय हैं—समय पर इनका प्रतिकार और कभी उनका चिन्तन न करना।

बुद्धिमान् लोग पहले मानसिक दु:ख का निवारण करते हैं, क्योंकि मन के दु:खी होने पर शरीर भी संतृप्त होने लगता है। इसलिए ज्ञान के द्वारा मानसिक दु:ख का नाश करना चाहिए। मन का दु:ख मिट जाने पर शरीर का दु:ख भी दूर हो जाता है। मन के दु:ख का मूल कारण स्नेह (आसक्ति) है। आसक्ति से ही भय, शोक, हर्ष तथा क्लेश, इन सबकी प्राप्ति होती है। विषयों के प्राप्त होने पर भी जो व्यक्ति उनमें दोष जानकर उनका परित्याग कर देता है, वही वैराग्य को प्राप्त होता है। वही बन्धन मुक्त हो जाता

है। तृष्णा को प्राणनाशक रोग कहा गया है। तृष्णा का त्याग करने वाला ही सुख पाता है। धन की प्राप्ति की चिन्ता करना अपना नाश करना है। इसीलिए ज्ञानी जन संतोष को ही सबसे उत्तम समझते हैं।

यौवन, रूप, जीवन, रत्नों का संग्रह, ऐश्वर्य तथा प्रिय जनों का एकत्र निवास, ये सभी अनित्य हैं। धर्मात्मा पुरुष उसी धन की प्रशंसा करते हैं, जो दैवेच्छा से न्यायपूर्वक स्वत: प्राप्त हो गया हो।

शौनकजी के ये वचन सुनकर महाराज युधिष्ठिर ने कहा—ब्रह्मन्! मैं जो धन चाहता हूँ वह स्वयं भोगने की इच्छा से नहीं, ब्राह्मणों के भरण-पोषण के लिए ही उसकी इच्छा करता हूँ। विप्रवर! गृहस्थ आश्रम में रहने वाले मेरे जैसे पुरुष अपने अनुयायी जनों का भरण-पोषण, उनका सम्मान-सत्कार, अतिथियों की सेवा आदि भी न करें, यह कैसे उचित हो सकता है?

पाण्डुकुमार युधिष्ठिर की बात सुनकर शौनकजी ने कहा—कुन्तीनन्दन! अविद्या, कर्म और तृष्णा द्वारा चक्र की भाँति भ्रमण करते हुए अविवेकी जन विभिन्न योनियों में भटकते रहते हैं, किन्तु विवेकीजन तो वे हैं, जो धर्म और कल्याण मार्ग में तत्पर हैं और मोक्ष के विषय में जिनका निरन्तर अनुराग है। सङ्कल्पों की एकनिष्ठता, इन्द्रिय निग्रह, अहिंसादि व्रतों का परिपालन, गुरु-सेवा, योग साधनोपयोगी आहार, वेदादि का अध्ययन, कर्मों का भगवद्अर्पण तथा चित्त का निरोध करने से मनुष्य को परम कल्याण की प्राप्ति होती है। बुद्धिमान् पुरुष इसी प्रकार राग-द्वेष से मुक्त होकर कर्म करते हैं। कुन्तीनन्दन! आप भी मन और इन्द्रियों को भलीभाँति वश में करके तपस्या द्वारा सिद्धि तथा योग द्वारा ऐश्वर्य पाने की चेष्टा कीजिये। सिद्ध पुरुष जो वस्तु चाहते हैं, उसे अपने तप के प्रभाव से प्राप्त कर लेते हैं। अत: आप तपस्या का आश्रय लेकर अपने मनोरथ की पूर्ति कीजिए। इस तरह के उपदेश से यह गीता सम्पन्न होती है।

(2) पुलस्त्यगीता

पुलस्त्य गीता महाभारत के वनपर्व अध्याय 82 से 85 में चार अध्यायों तथा 650 श्लोकों में निरूपित है। भीष्म जी के पूछने पर पुलस्त्य ऋषि उन्हें विभिन्न तीर्थों की विस्तृत महिमा बताते हैं। कुरुक्षेत्र की सीमा में स्थित विविध क्षेत्रों की महिमा वर्णन के साथ गङ्गासागर, अयोध्या, चित्रकूट व प्रयागादि का वर्णन करते हुए पापहारिणी गङ्गा की महिमा गाई गई है। भारतीय संस्कृति में विशेषकर तीर्थों की महिमा अनादिकाल से स्वीकार्य है। पुण्यक्षेत्र में गमन से कल्मषरूपी पापों का ध्वंस होता है। इसमें कोई संशय नहीं है। यह गीता तीर्थों को भौगोलिक एवं आध्यात्मिक विवेचन करने से अद्भुत तथ्यों को सुप्रमाणित करती है। यहाँ पर सभी पवित्र नदियों की दिव्य महिमा का बखान किया

गया है। सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक प्राचीन तथ्यों के मूल्याङ्कन में यह प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करती है। अतएव इस गीता की अपनी धर्मशास्त्रीय दृष्टि से विलक्षणता है।

(3) धौम्यगीता

यह गीता वनपर्व के अध्याय 86 से 90 तक में प्राप्त है। इसमें पाँच अध्याय तथा 128 श्लोक हैं। युधिष्ठिर के द्वारा पुण्य तपोवन, आश्रम एवं नदी के विषय में जिज्ञासा करने पर धौम्य नामक ऋषि ने सभी दिशाओं में स्थित पुण्य क्षेत्र या तीर्थों का विवरण प्रस्तुत किया है। पहले काम्यक वन से पूर्व दिशा के तीर्थों का वर्णन है तत्पश्चात् दक्षिण दिशावर्ती तीर्थों का प्रतिपादन है। पुन: पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत हुआ है। ऋषि धौम्य सिद्ध करते हैं कि इन पुण्य तीर्थों में जाने से उनको विशेष लाभ होगा क्योंकि देवता, वसु, ऋषि, साध्य, मरुद्गण तथा सिद्ध महात्मा इनका सेवन करते हैं। तुम्हारी भी उत्कट इच्छा यहाँ जाने से पूर्ण हो जायेगी। वस्तुत: तीर्थों में परमात्मा का नित्य निवास होता है। अत: उन पुण्यमय स्थानों में दिव्यता की उत्पत्ति हो जाती है तथा मन में उठने वाली अनेक समस्याओं का समाधान भी दिव्य कृपा से हो जाता है। वस्तुत: भारतीय संस्कृति में तीर्थयात्रा करने पर पाप एवं दु:ख का नाश तो होता ही है कुछ दैवीय कृपा का संबल पुण्य रूप में उपलब्ध होता है, यह इस गीता का प्रधान सन्देश है।

(4) अष्टावक्रगीता

यह गीता महाभारत के वनपर्व के तीन अध्यायों (132-134) तथा 94 श्लोकों के रूप में उपलब्ध है। अष्टावक्र वेदान्त के दृष्टि से बड़े उच्चस्तर के दार्शनिक थे। उनकी 'अष्टावक्र गीता' नामक रचना किसी संहिता के अंश के रूप में प्रकाशित है जिसमें अद्वैत मत की सयुक्तिक प्रतिष्ठा की गई है। उससे यह महाभारत की गीता से भिन्न प्रतीत होती है। अष्टावक्र के वैदुष्य की महिमा से उनकी कथा इसमें प्रारम्भ होती है जहाँ कहोडपुत्र अष्टावक्र तथा श्वेतकेतु (उद्दालक पुत्र) ने बन्दी नामक जनक राजा के विद्वान् से शास्त्रार्थ किया था। अष्टावक्र की दिव्यता का अन्दाजा इससे ही लगाया जा सकता है कि उन्होंने गर्भावस्था में अपने पिता की अशुद्धि निकालनी प्रारम्भ कर दी थी। तब कहोड़ ने गर्भस्थ शिशु से खिन्न होकर उसे आठ अङ्गों से वक्र होने का श्राप दिया था। अष्टावक्र अपनी पिता की हार का बदला लेने जनक के दरबार में जाते हैं। वहाँ द्वारपाल तथा राजा जनक से उनका वैदुष्यपूर्ण विचारविमर्श होता है तब राजा प्रसन्न होकर उनका बन्दी से शास्त्रार्थ करवाते हैं। अष्टावक्र की विलक्षण प्रतिभा से बन्दी शास्त्रार्थ में परास्त होता है तथा उनके पिता को जल में निकाल कर वापस उपलब्ध कराता है। समङ्गा नदी में स्नान से अष्टावक्र की वक्रता भी सीधी होती है। इससे यह बात तो निश्चित रूप से सिद्ध होती है कि महाभारत काल में तीर्थों में दिव्य

जल होता था जो आधि-व्याधि को स्नान मात्र से मिटा देता था। इस गीता में राजा जनक ने प्रहेलिका पद्धति द्वारा अष्टावक्र के वैदुष्य की परीक्षा ली है।

(5) हनुमद्गीता

यह गीता महाभारत के वनपर्व अध्याय 146-151 तक छ अध्यायों में प्राप्त होती है। इसमें कुल श्लोक 263 हैं। इसमें भीमसेन द्रोपदी के कहने पर सौगन्धिक कमल लाने के लिए कदली वन जाते हैं जहाँ उसकी भेंट हनुमान् जी से होती है। हनुमान् जी को रास्ते से दूर हटने के लिए भीम कहता है तब हनुमान् जी कहते हैं कि 'मैं वृद्ध हूँ, तुम ही मुझे हटा दो।' भीम की पूरी शक्ति लगने पर भी हनुमान् जी टस से मस नहीं होते हैं। तब भीम को उनकी शक्ति का वास्तविक परिचय मिलता है। भीम ने उनसे रामचरित्र के विषय में जिज्ञासा की तब हनुमान् जी ने रामचरित सुनाया तथा चारों युगों के धर्मों का सुन्दर विवेचन किया। भीम के द्वारा जिज्ञासा दिखाने पर हनुमान् जी ने अपना विराट् रूप दिखाया तथा चारों वर्णों के धर्म का विस्तार से प्रतिपादन किया। अन्त में युद्ध के समय पर अपने उपस्थित होने का आश्वासन देकर भीम को विदा किया। इस गीता में हनुमान् अपने त्रेतायुग के विराट् रूप तथा शक्ति का प्रदर्शन करके इसकी गीता नाम को सार्थकता प्रदान करते हैं तथा युगधर्म एवं वर्णधर्म की महत्ता भी प्रतिपादित करते हैं।

(6) आर्ष्टिषेणगीता

यह गीता वनपर्व के 159वें अध्याय में प्रस्तुत है। इसमें केवल 32 श्लोक हैं। प्रश्न के उत्तर रूप में आर्ष्टिषेण नामक राजर्षि राजा युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हैं। अत: राजधर्म की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण गीता है।

(7) नहुषगीता

यह गीता वनपर्व के दो अध्यायों (180-181) में प्राप्त होती है। इसमें कुल श्लोक 89 है। इसमें राजा नहुष सर्प योनि में गिरा हुआ है तथा भीमसेन को अपनी कुण्डलियों में जकड़ लेता है तब युधिष्ठिर पहुँचते हैं तो नहुष मनुष्य की वाणी में राजनीति के कुछ गम्भीर प्रश्न पूछता है। युधिष्ठिर उनका समुचित उत्तर प्रदान करते हैं तब नहुष सन्तुष्ट होकर भीम को अपने बन्धनों से मुक्त कर देता है। धर्मराज युधिष्ठिर से वार्तालाप करते हुए उसके पुण्यमय प्रभाव से सर्पयोनि से मुक्त होकर स्वर्ग को प्रस्थान करता है। इस गीता में युधिष्ठिर के उत्तर राजनीति एवं धर्मदृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है।

(8) मार्कण्डेय गीता

यह गीता वनपर्व के 9 अध्यायों (183-191) में है। इसमें कुल श्लोक 579 हैं। इसके आरम्भ में ऐसे महापुरुषों का वर्णन किया गया है जो पूर्ण सदाचार, सत्य और

न्याय का जीवन व्यतीत करते हैं और इस कारण मृत्यु से भी कभी भयभीत नहीं होते। इस सम्बन्ध में मुनिवर अरिष्टनेमि ने कहा था कि—"हम पर मृत्यु का कोई वश नहीं चलता। हम शुद्ध आचरण वाले, आलस्य रहित, सन्ध्योपासन परायण, शुद्ध अन्न भोजी, न्यायपूर्वक उपार्जन करने वाले और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं। हम सत्य को ही जानते हैं, झूठ से सदा दूर रहते हैं और धर्म पालन में सदैव तत्पर रहते हैं, इसलिए हमें मृत्यु से कुछ भी भय नहीं है।" निश्चय ही सदाचार और कर्मण्यता बहुत बड़ी शक्तियाँ हैं। जहाँ इन दोनों का समन्वय हो जाए वहाँ किसी बात की कमी नहीं रह सकती।

आगे चल कर राजा पृथु के यज्ञ और उसमें गौतम तथा अत्रि की कलह तथा वाग्युद्ध की कथा है। यह वर्णन चाहे सत्य हो अथवा काल्पनिक पर उससे यह अवश्य प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में भी जब धार्मिक जन त्याग-तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे, तब भी वंशगत श्रेष्ठता के अहङ्कार और अपनों के प्रति पक्षपात का दोष लोगों में काफी मात्रा में पाया जाता था। गौतम ने कहा—"तुम्हारी बुद्धि चञ्चल है, फिर कभी इस प्रकार न कहना। हमारे प्रथम प्रजापति के रूप में यहाँ साक्षात् इन्द्र उपस्थित हैं।" अत्रि ने कहा—"यह पृथु ही प्रजापति है, यही इन्द्र और यही विधाता है।" इस पर गौतम बोले—"मैं तो तुम्हें मूर्ख या बालक के समान देखता हूँ, यद्यपि किसी कारण से तुम वृद्ध दिखाई पड़ते हो।" जब हम ब्रह्मा के मानस पुत्र सप्त ऋषियों की यह दशा देखते हैं और साथ ही विश्वामित्र और वसिष्ठ की जन्मजात शत्रुता की बात याद करते हैं तो यही समझ में आता है कि इस जगत् में धर्म की बात कह लेना या उसके रहस्य को जान लेना सहज है पर उस पर आचरण करना विरले व्यक्तियों के लिए ही सम्भव है।

(9) (सरस्वतीगीता)

यह गीता वनपर्व का 186वां अध्याय है। इसमें 30 श्लोक है। इसमें तार्क्ष्य मुनि के साथ देवी सरस्वती का रमणीय संवाद प्राप्त होता है।

(10) (मत्स्योपाख्यानगीता)

यह गीता वनपर्व का 187वां अध्याय है। इसमें 58 श्लोक है। इसमें मत्स्य तथा वैवस्वत मनु की कथा है। वैवस्वत मनु के पास भगवान् छोटी-सी मछली के रूप में प्रगट होते हैं फिर मुनि के संरक्षण में बड़े हो जाते हैं। कुछ दिन बाद सृष्टि पर प्रलय का ताण्डव होता है। सब कुछ जल में प्लावित हो जाता है। दूरदृष्टि मनु ने अग्रिम सृष्टि के संरक्षण हेतु एक नौका में सभी बीजों का संग्रहण किया है फिर मत्स्य की सहायता से सृष्टि को पुन: उत्पन्न करने में सक्षम हो जाते हैं। यह वर्णन सप्तम वैवस्वत मनु की कथा को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करता है तथा मत्स्योपाख्यान की प्राचीनता को सुदृढ़ रूप से प्रमाणित करता है। मत्स्योपाख्यान का वर्णन इससे पूर्व *शतपथ ब्राह्मण* में भी प्राप्त होता है।

(11) बक गीता

यह गीता महाभारत वनपर्व के अध्याय 193वें में है। इसमें 37 श्लोक हैं। इसमें इन्द्र तथा बक मुनि का संवाद है। इन्द्र अपने मित्र बक ऋषि के आश्रम में आकर पूछते हैं कि हे महर्षि आपकी आयु एक लाख वर्ष की हो चुकी है। आपको किस तरह की कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। तब बक मुनि बालते हैं प्रियों का वियोग तथा अप्रियों का संयोग बड़ा दु:ख है। ज्ञानी दु:खी है, अज्ञानी मजे कर रहे हैं। अच्छे कुलों तथा मनुष्यों का नाश तथा दुष्कुलों की उन्नति देखकर दु:ख होता है। तब पुन: इन्द्र पूछते हैं कि आपके लिए सुख क्या है तब बक मुनि कहते हैं—प्रतिदिन बिना चिन्ता किये हुए भोजन प्राप्त हो जाये, दूसरों के सामने दीनता नहीं दिखानी पड़े, अपने आश्रित जन अतिथि आदि का भोजन कराना निर्बाध हो तो सबसे बड़ा सुख यही है। दूसरों का आश्रय नहीं होना चाहिए। अगर जीवन निर्वाह की सुदृढ़ व्यवस्था है तथा शास्त्रानुसार आचरण है तो यही बड़ा सुख है। इस प्रकार बक के उपदेश से इन्द्र बड़े उपकृत होते हैं।

(12) युधिष्ठिरगीता–I

यह गीता वनपर्व के पाँच अध्यायों (200–204) में 274 श्लोकों में उपलब्ध है। इसमें मार्कण्डेय ऋषि से युधिष्ठिर दान धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं। निन्दित दान तथा निन्दित जन्म क्या है? श्राद्ध में ग्राह्य ब्राह्मण कौन है? अतिथि सत्कार, गायत्री जप, वाणी की शुद्धि, चित्त की शुद्धि तथा इन्द्रिय निग्रह के विषय में प्रश्न करते हैं, जिनका सटीक उत्तर मार्कण्डेय देते हैं। तपस्या से स्वर्ग प्राप्त होता है, दान से भोगों की प्राप्ति होती, ज्ञान से मोक्ष तथा तीर्थस्नान से पापों का नाश होता है। दानों में सर्वश्रेष्ठ दान भूमि, गौ तथा सुवर्ण का माना गया है। इसके पश्चात् उतङ्क की तपस्या से भगवान् के प्रसन्न होने की कथा तथा धुन्धुमार की कथा भी कही है। कुवलयाश्व राजकुमार का धुन्धुमार नाम क्यों पड़ा उसकी कथा भी मार्कण्डेय जी कहते हैं। उतङ्क की प्रेरणा से तथा भगवान् विष्णु के आशीर्वाद से मधुकैटभ के पुत्र धुन्धु का राजा कुवलयाश्व ने वध किया तथा पृथिवी की रक्षा की। इस प्रकार गीता उस समय के दान आदि धार्मिक कृत्यों पर तथा राजधर्म की विलक्षणता पर प्रकाश डालती है।

(13) कौशिकगीता (व्याधगीता)

यह गीता महाभारत के वनपर्व के अध्याय 205–216 में प्रस्तुत है। इसमें 12 अध्याय तथा 454 श्लोक हैं। इसमें अपनी तपस्या की शक्ति से एक बगुली को जला देने वाले कौशिक ब्राह्मण, एक पतिव्रता स्त्री और धर्म व्याध की कथा कही गयी है। स्त्री ने कौशिक को क्रोध न करने का उपदेश देते हुए कहा—"मनुष्य का एक महान् शत्रु उसके शरीर में ही रहता है, जिसे 'क्रोध' कहते हैं। पर देवगण उसी को ब्राह्मण मानते हैं जिसने क्रोध और मोह को त्याग दिया है। जो सदा सत्य बोले, गुरु को सन्तुष्ट रखे, हिंसित किया जाने पर भी दूसरे की हिंसा करने को उद्यत न हो उसी को देवगण ब्राह्मण कहते हैं। जिसने इन्द्रियों और काम–क्रोध को जीत लिया है, जो धर्मपरायण

और स्वाध्याय में तत्पर रहता है तथा जो सब प्रकार से पवित्र है, जो धर्मज्ञ और मनस्वी पुरुष सम्पूर्ण संसार के प्रति आत्मभाव रखता है तथा जो सभी धर्मों में समान श्रद्धा रखता है उसे देवगण ब्राह्मण कहते हैं।"

पतिव्रता स्त्री के उचित उपालम्भ से कौशिक की आँखें खुल गईं और वह तपस्वी और ब्राह्मणत्व के झूठे अभिमान को त्याग कर विनीत भाव से स्त्री के बतलाये धर्म व्याध के पास धर्म ज्ञान प्राप्त करने पहुँचा। व्याध ने धर्म की परिभाषा बताई तथा माता-पिता की सेवा को सर्वोच्च धर्म के रूप में सिद्ध किया। उसका उपदेश सुन कर उसने जिज्ञासा की "कि हे महामते मुझे आप शिष्टाचार का मार्ग बतलाइये, जिससे मैं अन्य व्यक्तियों के साथ प्रिय व्यवहार कर सकूँ।" धर्म व्याध ने उत्तर दिया—"काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलता को वश में कर लेने वाले तथा सत्य भाषण में अनुरक्त व्यक्ति शिष्ट कहे जाते हैं और अन्य शिष्ट व्यक्ति उनका आदर करते हैं। उनमें स्वेच्छाचारिता नहीं होती और वे सदैव सदाचार का पालन करते हें। इस प्रकार के आचरण से जो श्रेष्ठ प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, वह किसी अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकती।" इस प्रकार यह गीता उपाख्यान के रूप में होने पर भी उच्च कोटि के आध्यात्मिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक तथ्यों से युक्त है और धर्म की वास्तविक परिभाषा के लिए विशेष रूप से शिक्षाप्रद है। माता-पिता की सेवा करना ही परम धर्म है। इसे आलस्यरहित होकर करना चाहिये। इस धर्म के पालन से ही व्याध को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ है—

अतन्द्रित कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजननम्।
अत: परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कश्चन।।

(14) सावित्रीगीता

यह गीता महाभारत वनपर्व के 297वें अध्याय में है। इसमें 112 श्लोक हैं। सावित्री-सत्यवान् की कथा भारतीय समाज में सुप्रसिद्ध है। सावित्री ने पतिव्रत का जो अनुपम उदाहरण उपस्थित किया और उसी शक्ति के द्वारा अपने पति को यमराज के फन्दे से छुड़ा लिया, वह विश्व साहित्य का एक अमर उपाख्यान है। यद्यपि उसमें किसी धार्मिक प्रश्न का समाधान नहीं पाया जाता, पर सावित्री ने अपनी धर्म और नीतियुक्त बातों से यमराज को सन्तुष्ट करके जिस प्रकार अपने पति का उद्धार किया वह वार्तालाप भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सावित्री के कथन का मुख्य आशय यही था कि सन्त समागम का परिणाम सदा कल्याणकारी होता है। इसलिए जब मैं आपका पुण्यमय सत्सङ्ग कर चुकी तो मेरी कामना—मेरी प्रार्थना अपूर्ण कैसे रह सकती है। यमराज ने उसके कथन की यथार्थता को स्वीकार किया और सत्यवान् को जीवन दान मिल गया। इसमें स्त्री बुद्धि का चातुर्य सुस्पष्ट हुआ है।

(15) युधिष्ठिरगीता-II

यह गीता वनपर्व अध्याय 200-204 में पञ्चाध्याय में निबद्ध है, श्लोक 174 हैं। इसमें दान देने के सम्बन्ध में सामान्य नियम बतलाये हैं, जिनको प्राचीनकाल में उचित माना जाता था। दान का सर्वोत्तम पात्र ब्राह्मण को ही माना गया है, पर वह

सत्पात्र और ज्ञानी होना चाहिए। जिसने ब्राह्मण के कर्मों को त्याग दिया है, जो परोपकार और परमार्थ के मार्ग को त्याग कर मुफ्त के धन से उदर पोषण करना ही सबसे बड़ा काम समझता है उसे दान देने से पुण्य के स्थान में उल्टा पाप होता है। कहा गया है कि जो ब्राह्मण श्रोत्रिय, निर्धन, दरिद्रता के कारण तिरस्कृत जीवन व्यतीत करने वाला हो गौ-दान उसी को करे, धनवान् ब्राह्मण को न करे। धनवान् को दान करने से क्या लाभ? आगे चल कर यमलोक के वर्णन में बतलाया गया है कि दुष्कर्म और दूसरों का अपकार करने वालों की परलोक में बड़ी दुर्दशा होती है। उपवास का महत्त्व भी बहुत कहा गया है, एक मास तक उपवास करने वाले मरणोपरान्त हंसों के यान से तथा छः दिन उपवास करने वाले मयूरयान में जाते हैं। तीन दिन उपवास करने वालों को पुण्यलोक की प्राप्ति होती है। हम इसका अर्थ यही समझते हैं कि जो खान-पान में पूर्ण संयमी है और सामयिक उपवास करके जो स्वास्थ्य को ठीक रखते हैं वे ही सुखी जीवन व्यतीत करते हैं।

गायत्री जप का विशेष महत्त्व भी इस गीता में बतलाया गया है। जो दोनों समय सभी को पवित्र करने वाली वेदमाता भगवती गायत्री का जप करता है, वह उन्हीं की कृपा से पवित्र और पापरहित हो जाता है। यदि कोई ग्रह उसके लिए अनिष्टकारी हो तो वह भी गायत्री के प्रभाव से मङ्गलकारी बन जाता है। भयङ्कर रूप और क्रूर कर्मों वाले राक्षस भी गायत्री भक्त का अनिष्ट नहीं कर सकते। इस प्रकार गायत्री उपासना लोक-परलोक सर्वत्र कल्याण करने वाली है। अन्त में कुवलयाश्व की कथा दी गई है, जो मार्कण्डेय पुराण में विस्तृत रूप में वर्णित है।

(16) सनत्सुजातीयगीता

यह गीता आचार्य शङ्कर के द्वारा व्याख्यात होने से अति महत्त्वपूर्ण गीता है। इसमें आत्मा का अमरत्व सिद्ध किया गया है। यह गीता महाभारत के उद्योगपर्व में 41वें अध्याय से लेकर 45वें अध्याय तक प्राप्त होती है। इसमें 196 श्लोक हैं। इस गीता के प्रवक्ता सनत्सुजात हैं। इनके मोक्ष एवं आत्मज्ञानविषयक उपदेश अत्यन्त प्रभावी ढंग से यहाँ व्यक्त हुए हैं। पाँच अध्यायों के इस लघु ग्रन्थ में अध्याय का परम्परागत स्वरूप देखने को मिलता है। इस गीता पर भी कुछ अंशों में योगवासिष्ठ का प्रभाव विद्यमान रहा है। मृत्यु जैसे गूढ़ विषयों की सरलतम प्रस्तुति इसकी अन्यतम विशेषता है। इस पर शङ्कराचार्य का भाष्य है। यद्यपि शङ्कराचार्य आदि शङ्कराचार्य नहीं है तथापि वे अद्वैत वेदान्ती हैं। इसमें सनत्सुजात या सनत्कुमार का सिद्धान्त प्रतिपादित है। उस सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु है ही नहीं (मृत्युर्नास्ति — *सनत्सुजातीयगीता*, 1.2) मृत्यु केवल प्रमाद है। प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद अमृतत्व है।

प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।
तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि।। — *सनत्सुजातीयगीता*, 2.4

सनत्सुजात ने अपने इस सिद्धान्त को ब्रह्मविद्या से सत्यापित किया है। अतः इसका कथन करने के पश्चात् उन्होंने ब्रह्मविद्या का बड़ा ही सूक्ष्म तथा सार्थक विवरण किया है।

कृतज्ञताज्ञापन

इस ग्रन्थमाला के प्रकाशनार्थ वित्तीय सहायता के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली को राजस्थान विश्वविद्यालय, दर्शनशास्त्र विभाग का हार्दिक साधुवाद।

शोध-परियोजना के लिए भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली के द्वारा अनुदान देने के कारण यह कार्य सम्पन्न हो सका है एतदर्थ सर्वप्रथम परिषद् को हार्दिक साधुवाद।

इस प्रकाशन योजना को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराने में मेरे अनन्य सहकर्मी आदरणीय डॉ. अरविन्द विक्रमसिंह, श्री अनुभव वार्ष्णेय, डॉ. मनीष सिनसिनवार, श्री मनीष गोठवाल एवं डॉ. विनीता नायर प्रभृति अध्यापकगणों का निरन्तर भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ अत: आभार।

भगवती की असीम अनुकम्पा से यह कार्य सम्पन्न हुआ है अत: उनके चरणों में कोटिश: प्रणाम। इस ग्रन्थ की सम्पूर्ति में जिन शोध कार्यों से लेखक उपकृत हुआ उन सबके प्रति सादर नतमस्तक हूँ।

प्रात:स्मरणीय विद्यागुरु पं. सूर्य्यनारायण झा, प्रो. विश्वम्भर पाहि, दीक्षागुरु श्री दत्तात्रेयानन्द नाथ को सादर प्रणामाञ्जलि, जिनकी असीम कृपा से यह कार्य सम्पन्न हुआ है। 'ब्राह्मणस्य शरीरं हि क्षुद्रकामाय नेष्यते' इस उत्कृष्ट शास्त्रवाक्य के चरितार्थ रूप दिवङ्गत पूज्य पिता श्री गजानन्द शर्मा एवं माता श्रीमती पार्वती देवी के शुभाशीष से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। अत: इनके श्रीचरणों में श्रद्धा सुमनाञ्जलि समर्पित कर रहा हूँ। धर्मपत्नी श्रीमती शशिकला शर्मा, पुत्र उज्ज्वल शर्मा एवं उत्कर्ष शर्मा के सहयोग से इस कार्य की पूर्णता हुई है।

इस कार्य को सकलशब्दमयी तनुरूपा भगवती पराम्बा की स्तुति मानते हुए क्षमामण्डित पण्डितजनों से क्षमा याचना चाहता हूँ। यहाँ जो उत्कृष्ट विशेषता है उसका श्रेय आचार्य परम्परा को है तथा जो त्रुटि है वह मेरी असावधानी के कारण। अन्त में अभिनवगुप्त की भगवति स्तुति के साथ इस निवेदन को विराम देता हूँ।

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके,
सकलशब्दमयी किल ते तनु:।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो,
मनसिजासु बहि: प्रसरासु च।।

जयपुर
विक्रम संवत् 2075
सितम्बर, 2018 ई.

विद्वच्चरणचञ्चरीक
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा
समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र
दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
दूरभाष : 9413970601

अकारादिक्रमानुसार महाभारतीय गीताओं की सूची

1.	अनुगीता	1601-1734
2.	अम्बरीषगीता	1661-1663
3.	अरिष्टनेमिगीता	1171-1176
4.	अश्मगीता	534-541
5.	अष्टावक्रगीता	94-112
6.	असितदेवलगीता	1125-1130
7.	आङ्गिरस (बृहस्पति) गीता	593-600
8.	आजगरगीता	741-746
9.	आर्ष्टिषेणगीता	146-149
10.	उतथ्यगीता	607-619
11.	उशनोगीता	567-574
12.	ऋषभगीता	631-642
13.	कपिलगीता	1103-1124
14.	कर्मफलगीता	754-756
15.	काम-गीता	1597-1600
16.	काश्यपगीता	1601-1624
17.	कैकेयगीता	601-606
18.	कौशिकगीता (व्याधगीता)	273-333
19.	खड्गगीता	676-686
20.	गुरुशिष्यगीता-I	870-878
21.	गुरुशिष्यगीता-II	1670-1734
22.	गौतमचिरकारिगीता	1093-1102
23.	जनकगीता	520-528
24.	जाजलिगीता	1063-1089

25.	जापकगीता	796-819
26.	जैगीषव्यगीता	956-959
27.	धौम्यगीता	78-93
28.	नमुचिवासवगीता	926-929
29.	नहुषगीता	150-162
30.	नारदगीता	1378-1396
31.	नारायणगीता	589-592
32.	नारायणीयगीता	1397-1510
33.	पञ्चशिखगीता	879-896
34.	पाराशरगीता	1183-1221
35.	पाण्डवगीता	1735-1752
36.	पिङ्गला गीता	717-725
37.	पितापुत्रगीता	1133-1138
38.	पुलस्त्यगीता	12-77
39.	प्रह्लादगीता	897-907
40.	बकगीता	234-238
41.	बलिवासवगीता	908-955
42.	बृहस्पतिगीता	1511-1532
43.	बोध्यगीता	738-740
44.	ब्रह्मगीता-I	643-644
45.	ब्रह्मगीता-II	1086-1089
46.	ब्राह्मणगीता	1624-1670
47.	भगवद्गीता	409-500
48.	भार्गवगीता	575-580
49.	भीष्मगीता	645-716
50.	भीष्मस्तवराजगीता	549-566
51.	भृगुगीता	757-795
52.	मङ्किगीता	730-737

53.	मत्स्योपाख्यानगीता	189-195
54.	मनुगीता	567-574
55.	मनुगीता-II	820-842
56.	माण्डव्यजनकगीता	1131-1132
57.	मार्कण्डेयगीता	163-233
58.	माहेश्वरगीता	1543-1596
59.	मुनिगीता	1291-1294
60.	मृत्युगीता	1052-1062
61.	यज्ञगीता	581-588
62.	ययातिगीता	1371-1377
63.	याज्ञवल्क्यगीता	1295-1332
64.	युधिष्ठिरगीता-।	239-272
65.	युधिष्ठिरगीता-II	350-382
66.	लक्ष्मीवासवगीता	920-955
67.	वसिष्ठगीता	1251-1290
68.	वामदेवगीता	620-630
69.	विचख्नुगीता	1090-1092
70.	विदुरगीता	501-519
71.	विष्णुवराह(अनुस्मृति)गीता	843-869
72.	वृत्रगीता	1143-1158
73.	व्यासगीता-I	960-1051
74.	व्यासगीता-II	1358-1370
75.	व्यासमैत्रेयगीता	1533-1542
76.	शम्पाकगीता	726-729
77.	शुक्रगीता	1177-1182
78.	शृगालगीता	747-753
79.	शौनकगीता	1-11
80.	श्रेयोवाचिका (गालव) गीता	1163-1170

81.	षड्जगीता	686-693
82.	सनत्कुमारगीता	897-907
83.	सनत्सुजातीयगीता	383-408
84.	समङ्गीता	1159-1162
85.	सरस्वतीगीता	183-188
86.	सांख्ययोगगीता	1229-1250
87.	सावित्रीगीता	334-349
88.	सुलभागीता	1333-1357
89.	सेनजिद्गीता-I	529-533
90.	सेनजिद्गीता-II	717-725
91.	स्वायंभुवमनुगीता	541-548
92.	हंसगीता	1222-1228
93.	हनुमद्गीता	113-145
94.	हारीतगीता	1139-1142

महाभारतीय–गीतामहोदधिः

प्रथमभागः

शौनकगीता

प्रथमोऽध्याय

धन के दोष, अतिथिसत्कार की महत्ता तथा कल्याण के उपायों के विषय में धर्मराज युधिष्ठिर से ब्राह्मणों तथा शौनकजी की बातचीत

वैशम्पायन उवाच

प्रभातायां तु सर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः।।1।।
तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः।।2।।
फलमूलाशनाहारा वनं गच्छाम दुःखिताः।
वनं च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम्।।3।।
परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति।
ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत्।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्तध्वं यथेष्टतः।।4।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब रात बीती और प्रभात का उदय हुआ तथा अनायास ही महान् पराक्रम करने वाले पाण्डव वन की ओर जाने के लिए उद्यत हुए, उस समय भिक्षान्नभोजी ब्राह्मण साथ चलने के लिए उनके सामने खड़े हो गये।।1।। तब कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने उनसे कहा—'ब्राह्मणों! हमारा राज्य, लक्ष्मी और सर्वस्व जूए में हरण कर लिया गया है। हम फल, मूल तथा अन्न के आहार पर रहने का निश्चय करके दुःखी होकर वन में जा रहे हैं। वन में बहुत–से दोष हैं। वहाँ सर्व–बिच्छू आदि असंख्य भयंकर जन्तु हैं।।2–3।। 'मैं समझता हूँ, वहाँ आप लोगों को अवश्य ही महान् कष्ट का सामना करना पड़ेगा। ब्राह्मणों को दिया हुआ क्लेश तो देवताओं का भी विनाश कर सकता है, फिर मेरी तो बात ही क्या है? अतः ब्राह्मणों! आप लोग यहाँ से अपने अभीष्ट स्थान को लौट जायँ'।।4।।

ब्राह्मणा ऊचुः

गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तुमुद्यताः।
नार्हस्यस्मान् परित्यक्तुं भक्तान् सद्धर्मदर्शिनः।।5।।
अनुकम्पां हि भक्तेषु देवता ह्यपि कुर्वते।
विशेषतो ब्राह्मणेषु सदाचारावलम्बिषु।।6।।

ब्राह्मणों ने कहा—राजन्! आपकी जो गति होगी, उसे भुगतने के लिये हम भी उद्यत हैं। हम आपके भक्त तथा उत्तम धर्म पर दृष्टि रखने वाले हैं। इसलिये आपको हमारा परित्याग नहीं करना चाहिये।।5।। देवता भी अपने भक्तों पर विशेषतः सदाचारपरायण ब्राह्मणों पर तो अवश्य ही दया करते हैं।।6।।

युधिष्ठिर उवाच

ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम्।।7।।
आहरेयुरिमे येऽपि फलमूलमधूनि च।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः।।8।।
द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च।
दुःखार्दितानिमान् क्लेशैर्नाहं योक्तुमिहोत्सहे।।9।।

युधिष्ठिर बोले—विप्रगण! मेरे मन में भी ब्राह्मणों के प्रति उत्तम भक्ति है, किन्तु यह सब प्रकार के सहायक साधनों का अभाव ही मुझे दुःखमग्न-सा किये देता है। जो फल मूल एवं शहद आदि आहार जुटाकर ला सकते थे, वे ही ये मेरे भाई शोकजनित दुःख से मोहित हो रहे हैं।।7-8।। द्रौपदी के अपमान तथा राज्य के अपहरण के कारण से दुःख से पीड़ित हो रहे हैं, अतः मैं इन्हें (आहार जुटाने का आदेश देकर) अधिक क्लेश में नहीं डालना चाहता।।9।।

ब्राह्मणा ऊचुः

अस्मत्पोषणजा चिन्ता मा भूत् ते हृदि पार्थिव।
स्वयमाहृत्य चान्नानि त्वानुयास्यामहे वयम्।।10।।
अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव।
कथाभिश्चाभिरम्याभिः सह रंस्यामहे वयम्।।11।।

ब्राह्मण बोले—पृथ्वीनाथ! आपके हृदय में हमारे पालन-पोषण की चिन्ता नहीं होनी चाहिये। हम स्वयं ही अपने लिये अन्न आदि की व्यवस्था करके आपके साथ चलेंगे।।10।। हम आपके अभीष्ट चिन्तन और जप के द्वारा आपका कल्याण करेंगे तथा आपको सुन्दर-सुन्दर कथाएँ सुनाकर आप के साथ ही प्रसन्नतापूर्वक वन में विचरेंगे।।11।।

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतम्न संदेहो रमेऽहं सततं द्विजैः।
न्यूनभावात् तु पश्यामि प्रत्यादेशमिवात्मनः।।12।।

कथं द्रक्ष्यामि वः सर्वान् स्वयमाहृतभोजनान्।
मद्भक्त्या क्लिश्यतोऽनर्हान् धिक् पापान् धृतराष्ट्रजान्।।13।।

युधिष्ठिर ने कहा—महात्माओं! आपका कहना ठीक है। इसमें सन्देह नहीं कि मैं सदा ब्राह्मणों के साथ रहने में ही प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ, किन्तु इस समय धन आदि से हीन होने के कारण मैं देख रहा हूँ कि मेरे लिये यह अपकीर्ति की-सी बात है।।12।। आप सब लोग स्वयं ही आहार जुटाकर भोजन करें, यह मैं कैसे देख सकूँगा? आप लोग कष्ट भोगने के योग्य नहीं है, तो भी मेरे प्रति स्नेह होने के कारण इतना क्लेश उठा रहे हैं। धृतराष्ट्र के पापी पुत्रों को धिक्कार है।।13।।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा स नृपः शोचन् निषसाद महीतले।
तमध्यात्मरतो विद्वाञ्छौनको नाम वै द्विजः।।14।।
योगे सांख्ये च कुशलो राजानमिदमब्रवीत्।।15।।
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ।।16।।
न हि ज्ञानविरुद्धेषु बहुदोषेषु कर्मसु ।
श्रेयोघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ।।17।।
अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्या सर्वाश्रेयोविघातिनीम् ।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन् सा त्वय्यवस्थिता ।।18।।
अर्थकृच्छ्रेषु दुर्गेषु व्यापत्सु स्वजनस्य च ।
शारीरमानसैर्दुःखैर्न सीदन्ति भवद्विधाः ।।19।।
श्रूयतां चाभिधास्यामि जनकेन यथा पुरा ।
आत्मव्यवस्थानकरा गीताः श्लोका महात्मना ।।20।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इतना कहकर धर्मराज युधिष्ठिर शोकमग्न हो चुपचाप पृथ्वी पर बैठ गये। उस समय अध्यात्मविषय में रत अर्थात् परमात्म चिन्तन में तत्पर विद्वान् ब्राह्मण शौनक ने, जो कर्मयोग और सांख्ययोग—दोनों ही निष्ठाओं के विचार में प्रवीण थे, राजा से इस प्रकार कहा—'शोक के सहस्रों और भय के सैकड़ों स्थान हैं। वे मूढ़ मनुष्य पर प्रतिदिन अपना प्रभाव डालते हैं; परन्तु ज्ञानी पुरुष पर वे प्रभाव नहीं डाल सकते।।14-16।। अनेक दोषों से युक्त, ज्ञानविरुद्ध एवं कल्याणनाशक कर्मों में आप-जैसे ज्ञानवान् पुरुष नहीं फँसते हैं।।17।। राजन्! योग के आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि से सम्पन्न, समस्त अमङ्गलों का नाश करने वाली तथा श्रुतियों और स्मृतियों के स्वाध्याय से भलीभाँति दृढ़ की हुई जो उत्तम बुद्धि कही गयी है, वह आपमें स्थित है।।18।। अर्थसंकट, दुस्तर दुःख तथा स्वजनों पर आयी हुई विपत्तियों में आप-जैसे ज्ञानी शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होते।।19।। पूर्वकाल में महात्मा राजा जनक ने अन्तःकरण को स्थिर करने वाले कुछ श्लोकों का गान किया था। मैं उन श्लोकों का वर्णन करता हूँ, आप सुनिये—।।20।।

मनोदेहसमुत्थाभ्यां दुःखाभ्यां मर्दितं जगत् ।
तयोर्व्याससमासाभ्यां शमोपायमिमं शृणु ।।21।।
व्याधेरनिष्टसंस्पर्शाच्छ्रमादिष्टविवर्जनात् ।
दुःखं चतुर्भिः शारीरं कारणैः संप्रवर्तते ।।22।।
तदा तत्प्रतिकाराच्च सततं चाविचिन्तनात् ।
आधिव्याधिप्रशमनं क्रियायोगद्वयेन तु ।।23।।
मतिमन्तो ह्यतो वैद्याः शमं प्रागेव कुर्वते ।
मानसस्य प्रियाख्यानैः संभोगोपनयैर्नृणाम् ।।24।।
मानसेन हि दुःखेन शरीरमुपतप्यते ।
अयस्तप्तेन पिण्डेन कुम्भसंस्थमिवोदकम् ।।25।।
मानसं शमयेत्तस्माज्ज्ञानेनाग्निमिवाम्बुना ।
प्रशान्ते मानसे ह्यस्य शारीरमुपशाम्यति ।।26।।
मनसो दुःखमूलं तु स्नेह इत्युपलभ्यते ।
स्नेहात्तु सज्जते जन्तुर्दुःखयोगमुपैति च ।।27।।
स्नेहमूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च ।
शोकहर्षौ तथायासः सर्वस्नेहात् प्रवर्तते ।।28।।
स्नेहाद् भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा ।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः ।।29।।
कोटराग्निर्यथाशेषं समूलं पादपं दहेत् ।
धर्मार्थौ तु तथाऽल्पोऽपि रागदोषो विनाशयेत् ।।30।।

सारा जगत् मानसिक और शारीरिक दुःखों से पीड़ित है। उन दोनों प्रकार के दुःखों की शान्ति का यह उपाय संक्षेप और विस्तार से सुनिये।।21।। रोग, अप्रिय घटनाओं की प्राप्ति, अधिक परिश्रम तथा प्रिय वस्तुओं का वियोग—इन चार कारणों से शारीरिक दुःख प्राप्त होता है।।22।। समय पर इन चारों कारणों का प्रतीकार करना एवं कभी भी उसका चिन्तन न करना—ये दो क्रियायोग (दुःख-निवारक उपाय हैं। इन्हीं से अधि-व्याधि की शान्ति होती है।।23।। अतः बुद्धिमान् तथा विद्वान् पुरुष प्रिय वचन बोलकर तथा हितकर भोगों की प्राप्ति कराकर पहले मनुष्यों के मानसिक दुःखों का ही निवारण किया करते हैं।।24।। क्योंकि मन में दुःख होने पर शरीर भी संतप्त होने लगता है; ठीक वैसे ही, जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला डाल देने पर घड़े में रक्खा हुआ शीतल जल भी गरम हो जाता है।।25।। इसलिए जल से अग्नि को शान्त करने की भाँति ज्ञान के द्वारा मानसिक दुःख को शान्त करना चाहिये। मन का दुःख मिट जाने पर मनुष्य के शरीर का दुःख भी दूर हो जाता है।।26।। मन के दुःख का मूल कारण क्या है? इसका पता लगाने पर 'स्नेह' (संसार में आसक्ति) की ही उपलब्धि होती है। इसी स्नेह के कारण ही जीव कहीं आसक्त होता और दुःख पाता है।।27।। दुःख का मूल कारण है आसक्ति। आसक्ति से ही भय होता है। शोक, हर्ष तथा क्लेश—इन सबकी प्राप्ति भी

आसक्ति के कारण ही होती है। आसक्ति से ही विषयों में भाव और अनुराग होते हैं। ये दोनों ही अमङ्गलकारी हैं। इनमें भी पहला अर्थात् विषयों के प्रति भाव महान् अनर्थकारक माना गया है।।28-29।। जैसे खोखले में लगी हुई आग सम्पूर्ण वृक्ष को जड़-मूल-सहित जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार विषयों के प्रति थोड़ी-सी भी आसक्ति धर्म और अर्थ दोनों का नाश कर देती है।।30।।

विप्रयोगेन तु त्यागी दोषदर्शी समागमे ।
विरागं भजते जन्तुर्निर्वैरो निरवग्रहः ।।31।।
तस्मात् स्नेहं न लिप्सेत मित्रेभ्यो धनसंचयात् ।
स्वशरीरसमुत्थं च ज्ञानेन विनिवर्तयेत् ।।32।।
ज्ञानान्वितेषु युक्तेषु शास्त्रज्ञेषु कृतात्मसु ।
न तेषु सज्जते स्नेहः पद्मपत्रेष्विवोदकम् ।।33।।
रागाभिभूतः पुरुषः कामेन परिकृष्यते ।
इच्छा संजायते तस्य ततस्तृष्णा विवर्धते ।।34।।
तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता ।
अधर्मबहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी ।।35।।
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ।।36।।
अनाद्यन्ता हि सा तृष्णा अन्तर्देहगता नृणाम् ।
विनाशयति भूतानि अयोनिज इवानलः ।।37।।
यथैन्धः स्वसमुत्थेन वह्निना नाशमृच्छति ।
तथाऽकृतात्मा लोभेन सहजेन विनश्यति ।।38।।
राजतः सलिलादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ।।39।।
यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यन्ते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ।।40।।

विषयों के प्राप्त न होने पर जो उनका त्याग करता है, वह त्यागी नहीं है; अपितु जो विषयों के प्राप्त होने पर भी उनमें दोष देखकर उनका परित्याग करता है, वस्तुतः वही त्यागी है—वही वैराग्य को प्राप्त होता है। उसके मन में किसी के प्रति द्वेष भाव न होने के कारण वह निर्वैर तथा बन्धनमुक्त होता है।।31।। इसलिये मित्रों तथा धनराशि को पाकर इनके प्रति स्नेह (आसक्ति) न करे। अपने शरीर से उत्पन्न हुई आसक्ति को ज्ञान से निवृत्त करे।।32।। जो ज्ञानी, योगयुक्त, शास्त्रज्ञ तथा मन को वश में रखने वाले हैं, उन पर आसक्ति का प्रभाव उसी प्रकार नहीं पड़ता, जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता।।33।। राग के वशीभूत हुए पुरुष को काम अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। फिर उसके मन में कामभोग की इच्छा जाग उठती है। तत्पश्चात् तृष्णा बढ़ने लगती है। तृष्णा सबसे बढ़कर पापिष्ठ (पाप में प्रवृत्त करने वाली) तथा नित्य उद्वेग करने वाली

बतायी गयी है। उसके द्वारा प्रायः अधर्म ही होता है। वह अत्यन्त भयंकर पाप बन्धन में डालने वाली है।।34-35।। खोटी बुद्धि वाले मनुष्यों के लिये जिसे त्यागना अत्यन्त कठिन है, जो शरीर के जरा से जीर्ण हो जाने पर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जिसे प्राणनाशक रोग बताया गया है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसी को सुख मिलता है।।36।। यह तृष्णा यद्यपि मनुष्यों के शरीर के भीतर ही रहती है, तो भी उसका कहीं आदि-अन्त नहीं है। लोहे के पिण्ड की आग के समान यह तृष्णा प्राणियों का विनाश कर देती है।।37।। जैसे काष्ठ अपने से ही उत्पन्न हुई आग से जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन वश में नहीं है, वह मनुष्य अपने शरीर के साथ उत्पन्न हुए लोभ के द्वारा स्वयं नष्ट हो जाता है।।38।। धनवान् मनुष्यों को राजा, जल, अग्नि, चोर तथा स्वजनों से भी सदा उसी प्रकार भय बना रहता है, जैसे सब प्राणियों को मृत्यु से।।39।। जैसे मांस के टुकड़े को आकाश में पक्षी, पृथ्वीपर हिंस्र जन्तु तथा जल में मछलियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार धनवान् पुरुष को सब लोग सर्वत्र नोचते रहते हैं।।40।।

अर्थ एव हि केषाञ्चिदनर्थ भजते नृणाम् ।
अर्थ श्रेयसि चासक्तो न श्रेयो विन्दते नरः ।।41।।
तस्मादर्थागमाः सर्वे मनोमोहविवर्धनाः ।
कार्पण्यं दर्पमानौ च भयमुद्वेग एव च ।।42।।
अर्थजानिं विदुः प्राज्ञा दुःखन्येतानि देहिनाम् ।
अर्थस्योत्पादने चैव पालने च तथाक्षये ।।43।।
सहन्ति च महद् दुःखं घ्नन्ति चैवार्थकारणात् ।
अर्थाद् दुःखं परित्यक्तं पालिताश्चैव शत्रवः ।।44।।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते तस्मान्नाशं न चिन्तयेत् ।
असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः ।।45।।
अन्तो नास्ति पिपासायाः सन्तोषः परमं सुखम् ।
तस्मात् सन्तोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः ।।46।।
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं रत्नसंचयः ।
ऐश्वर्यं प्रियसंवासो गृद्ध्येत् तत्र न पण्डितः ।।47।।
त्यजेत सञ्चयांस्तस्मात् तज्जान्क्लेशान् सहेत च ।
न हि सञ्चयवान् कश्चिद् दृश्यते निरुपद्रवः ।
अतश्च धार्मिकैः पुम्भिरनीहार्थः प्रशस्यते ।।48।।
धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य श्रेयो न स्पर्शनं नृणाम् ।।49।।
युधिष्ठिरैवं सर्वेषु न स्पृहां कर्तुमर्हसि ।
धर्मेण यदि ते कार्यं विमुक्तेच्छो भवार्थतः ।।50।।

कितने ही मनुष्यों के लिये अर्थ ही अनर्थ का कारण बन जाता है; क्योंकि अर्थ द्वारा सिद्ध होने वाले श्रेय (सांसारिक भोग) में आसक्त मनुष्य वास्तविक कल्याण को

नहीं प्राप्त होता।।41।। इसलिये धन-प्राप्ति के सभी उपाय मन में मोह बढ़ाने वाले हैं। कृपणता, घमण्ड, अभिमान, भय और उद्वेग इन्हें विद्वानों ने देहधारियों के लिए धनजनित दु:ख माना है। धन के उपार्जन, संरक्षण तथा व्यय में मनुष्य महान् दु:ख सहन करते हैं और धन के ही कारण एक-दूसरे को मार डालते हैं। धन को त्यागने में भी महान् दु:ख होता है और यदि उसकी रक्षा की जाय तो वह शत्रु का-सा काम करता है।।42-44 धन की प्राप्ति भी दु:ख ही होती है। इसलिये उसका चिन्तन न करे; क्योंकि धन की चिन्ता करना अपना नाश करना है। मूर्ख मनुष्य सदा असंतुष्ट रहते हैं और विद्वान् पुरुष संतुष्ट।।45।। धन की प्यास कभी बुझती नहीं है; अत: संतोष ही परम सुख है। इसलिये ज्ञानीजन संतोष को ही सबसे उत्तम समझते हैं।।46।। यौवन, रूप, जीवन, रत्नों का संग्रह, ऐश्वर्य तथा प्रियजनों का एकत्र निवास—ये सभी अनित्य हैं; अत: विद्वान् पुरुष उनकी अभिलाषा न करे।।47।। इसलिये धन-संग्रह का त्याग करे और उसके त्याग से जो क्लेश हो, उसे धैर्यपूर्वक सह ले। जिनके पास धन का संग्रह है, ऐसा कोई भी मनुष्य उपद्रवरहित नहीं देखा जाता है। अत: धर्मात्मा पुरुष उसी धन की प्रशंसा करते हैं, जो दैवेच्छा से न्यायपूर्वक स्वत: प्राप्त हो गया हो।।48।। जो धर्म करने के लिए धनोपार्जन की इच्छा करता है, उसका धन की इच्छा न करना ही अच्छा है। कीचड़ लगाकर धोने की अपेक्षा मनुष्यों के लिए उसका स्पर्श न करना ही श्रेष्ठ है।।49।। युधिष्ठिर! इस प्रकार आपके लिये किसी भी वस्तु की अभिलाषा करनी उचित नहीं है। यदि आपको धर्म से ही प्रयोजन हो तो धन की इच्छा का सर्वथा त्याग कर दें।।50।।

युधिष्ठिर उवाच

नार्थोपभोगलिप्सार्थमियमर्थेप्सुता मम।
भरणार्थं तु विप्राणां ब्रह्मन् काङ्क्षे न लोभत:।।51।।
कथं ह्यस्मद्विधो ब्रह्मन् वर्तमानो गृहश्रमे।
भरणं पालनं चापि न कुर्यादनुयायिनाम्।।52।।
संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्य: प्रदेयं गृहमेधिना।।53।।
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी न सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन।।54।।
देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम्।।55।।
चक्षुर्दद्यान्मनोदद्याद् वाचं दद्यात् सुभाषिताम्।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्म: सनातन:।
प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्चनम्।।56।।
अग्निहोत्रमनड्वांश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवा:।
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिता:।।57।।
आत्मार्थे पाचयेन्नान्नं न वृथा घातयेत् पशून्।

न च तत् स्वयमश्नीयाद् विधिवद् यन्न निर्वपेत्।।58।।
श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातश्च दीयते।।59।।
विघसाशी भवेत् तस्मान्नित्यं चामृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम्।।60।।

युधिष्ठिर ने कहा—ब्रह्मन्! मैं जो धन चाहता हूँ, वह इसलिये नहीं कि मुझे धन सम्बन्धी भोग भोगने की इच्छा है; मैं तो ब्राह्मणों के भरण-पोषण के लिए ही धन की इच्छा रखता हूँ, लोभवश नहीं।।51।। विप्रवर! गृहस्थ-आश्रम में रहने वाला मेरे-जैसा पुरुष अपने अनुयायियों का भरण-पोषण भी न करे, यह कैसे उचित हो सकता है?।।52।। गृहस्थ के भोजन में देवता, पितर, मनुष्य एवं समस्त प्राणियों का हिस्सा देखा जाता है। गृहस्थ का यह धर्म है कि वह अपने हाथ से भोजन न बनाने वाले संन्यासी आदि को अवश्य पका-पकाया अन्न दे।।53।। आसन के लिए तृण (कुश), बैठने के लिए स्थान, जल और चौथी मधुर वाणी, सत्पुरुषों के घर में इन चार वस्तुओं का अभाव कभी नहीं होता।।54।। रोग आदि से पीड़ित मनुष्य को सोने के लिये शय्या, थके-माँदे हुए को बैठने के लिए आसन, प्यासे को पानी और भूखे को भोजन तो देना ही चाहिये।।55।। जो अपने घर पर आ जाय, उसे प्रेमभरी दृष्टि से देखे, मन से उसके प्रति उत्तम भाव रखे, उससे मीठे वचन बोले और उठकर उसके लिए आसन दे। यह गृहस्थ का सनातन धर्म है। अतिथि को आते देख उठकर उसकी अगवानी और यथोचित रीति से उसका आदर-सत्कार करे।।56।। यदि गृहस्थ मनुष्य अग्निहोत्र, साँड, जाति-भाई, अतिथि-अभ्यागत, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र तथा भृत्यजनों का आदर-सत्कार न करे, तो वे अपनी क्रोधाग्नि से उसे जला सकते हैं।।57।। केवल अपने लिये अन्न न पकाये (देवता-पितरों एवं अतिथियों के उद्देश्य से ही भोजन बनाने का विधान है), निकम्मे पशुओं की भी हिंसा न करे और जिस वस्तु को विधिपूर्वक देवता आदि के लिये अर्पित न करे, उसे स्वयं भी न खाय।।58।। कुत्तों, चाण्डालों और कौवों के लिये पृथ्वी पर अन्न डाल दे। यह वैश्वदेव नामक महान् यज्ञ है, जिसका अनुष्ठान प्रातःकाल और सायंकाल में भी किया जाता है।।59।। अतः गृहस्थ मनुष्य प्रतिदिन विघस एवं अमृत भोजन करे। घर के सब लोगों के भोजन कर लेने पर जो अन्न शेष रह जाये उसे 'विघस' कहते हैं तथा बलिवैश्वदेव से बचे हुए अन्न का नाम 'अमृत' है।।60।।

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः।।61।।
यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत्।।62।।
एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे।
तस्य धर्मे परं प्राहुः कथं वा विप्र मन्यसे।।63।।

अतिथि को नेत्र दे (उसे प्रेम भरी दृष्टि से देखें), मन दे (मन हित-चिन्तन करे) तथा मधुर वाणी प्रदान करे (सत्य, प्रिय, हित की बात कहे)। जब वह जाने लगे, तब कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे जाय और जब तक वह घर पर रहे, तब तक उसके पास बैठे (उसकी सेवा में लगा रहे)। यह पाँच प्रकार की दक्षिणाओं से युक्त अतिथि-यज्ञ है।।61।। जो गृहस्थ अपरिचित थके-माँदे पथिक को प्रसन्नतापूर्वक भोजन देता है, उसे महान् पुण्यफल की प्राप्ति होती है।।62।। ब्रह्मन्! जो गृहस्थ इस वृत्ति से रहता है, उसके लिये उत्तम धर्म की प्राप्ति बतायी गयी है, अथवा इस विषय में आपकी क्या सम्मति है?।।63।।

शौनक उवाच

अहो बत महत् कष्टं विपरीतमिदं जगत्।
येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति।।64।।
शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु।
मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः।।65।।
ह्रियते बुध्यमानोऽपि नरो हारिभिरिन्द्रियैः।
विमूढसंज्ञो दुष्टाश्वैरुद्धान्तैरिव सारथिः।।66।।
षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा।
तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसंकल्पजं मनः।।67।।
मनो यस्येन्द्रियस्येह विषयान् याति सेवितुम्।
तस्यौत्सुक्यं सम्भवति प्रवृत्तिश्चोपजायते।।68।।
ततः संकल्पबीजेन कामेन विषयेषुभिः।
विद्धः पतति लोभाग्नौ ज्योतिर्लोभात् पतङ्गवत्।।69
ततो विहारैराहारैर्मोहितश्च यथेप्सया।
महामोहे सुखे मग्नो नात्मानमवबुध्यते।।70।।

शौनकजी ने कहा—ओ! बहुत दुःख की बात है, इस जगत् में विपरीत बातें दिखायी देती हैं। साधु पुरुष जिस कर्म से लज्जित होते हैं, दुष्ट मनुष्यों को उसी से प्रसन्नता प्राप्त होती है।।64।। अज्ञानी मनुष्य अपनी जननेन्द्रिय तथा उदर की तृप्ति के लिए मोह एवं राग के वशीभूत हो विषयों का अनुसरण करता हुआ नाना प्रकार की विषय-सामग्री को यज्ञावशेष मानकर उसका संग्रह करता है।।65।। समझदार मनुष्य भी मन को हर लेने वाली इन्द्रियों द्वारा विषयों की ओर खींच लिया जाता है। जैसे दुष्ट घोड़े वश में न होने पर सारथि को कुमार्ग में घसीट ले जाते हैं, यही दशा उस अजितेन्द्रिय पुरुष की भी होती है।।66।। जब मन और पाँचों इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, उस समय प्राणियों के पूर्वसंकल्प के अनुसार उसीकी वासना से वासित मन विचलित हो उठता है।।67।। मन जिस इन्द्रिय के विषयों का सेवन करने जाता है, उसी में उस विषय के प्रति उत्सुकता भर जाती है और वह इन्द्रिय उस विषय के उपभोग में प्रवृत्त हो जाती है।।68।। तदनन्तर संकल्प ही जिसका बीज है, उस काम के द्वारा विषयरूपी बाणों से

बिंधकर मनुष्य ज्योति के लोभ से पतंग की भाँति लोभ की आग में गिर पड़ता है।।69।। इसके बाद इच्छानुसार आहार-विहार से मोहित हो महामोहमय सुख में निर्मन रहकर वह मनुष्य अपने आत्मा के ज्ञान से वञ्चित हो जाता है।।70।।

एवं पतति संसारे तासु तास्विह योनिषु।
अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमाणोऽथ चक्रवत्।।71।।
ब्रह्मादिषु तृणान्तेषु भूतेषु परिवर्तते।
जले भुवि तथाऽऽकाशे जायमानः पुनः पुनः।।72।।
अबुधानां गतिस्त्वेषा बुधानामपि मे शृणु।
ये धर्मे श्रेयसि रता विमोक्षरतयो जनाः।।73।।
तदिदं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च।
तस्माद् धर्मानिमान् सर्वान् नाभिमानात् समाचरेत्।।74।।
इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।75।।
अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयाणपथे स्थितः।
कर्तव्यमिति यत् कार्यं नाभिमानात् समाचरेत्।।76।।
उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत्।।77।।
सम्यक्संकल्पसम्बन्धात् सम्यक् चेन्द्रियनिग्रहात्।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यक् च गुरुसेवनात्।।78।।
एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता ऐश्वर्यं देवता गताः।।80।।

इस प्रकार अविद्या, कर्म और तृष्णा द्वारा चक्र की भाँति भ्रमण करता हुआ मनुष्य संसार की विभिन्न योनियों में गिरता है।।71।। फिर तो ब्रह्माजी से लेकर तृणपर्यन्त सभी प्राणियों में तथा जल, भूमि और आकाश में वह मनुष्य बारम्बार जन्म लेकर चक्कर लगाता रहता है।।72।। यह अविवेकी पुरुषों की गति बतायी गयी है। अब आप मुझसे विवेकी पुरुषों की गति का वर्णन सुनें। जो धर्म एवं कल्याण मार्ग में तत्पर हैं और मोक्ष के विषय में जिनका निरन्तर अनुराग है, वे विवेकी हैं।।73।। वेद की यह आज्ञा है कि कर्म करो और कर्म छोड़ों; अतः आगे बताये जाने वाले इन सभी धर्मों का अहंकारशून्य होकर अनुष्ठान करना चाहिये।।74।। यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, मन और इन्द्रियों का संयम तथा लोभ का परित्याग—ये धर्म के आठ मार्ग हैं।।75।। इनमें पहले बताये हुए चार धर्म पितृयान के मार्ग में स्थित हैं अर्थात् इन चारों का सकाम भाव से अनुष्ठान करने पर ये पितृयान मार्ग से ले जाते हैं। अग्निहोत्र और संध्योपासनादि जो अवश्य करने योग्य कर्म हैं, उन्हें कर्त्तव्य-बुद्धि से ही अभिमान छोड़कर करे।।76।। अन्तिम चार धर्मों को देवयान मार्ग का स्वरूप बताया गया है। साधु पुरुष सदा उसी मार्ग का आश्रय लेते हैं। आगे बताये जाने वाले आठ अङ्गों से युक्त मार्ग द्वारा अपने

अन्तःकरण को शुद्ध करके कर्त्तव्य कर्मों का कर्तृत्व के अभिमान से रहित होकर पालन करे।।77।। पूर्णतया संकल्पों को एक ध्येय में लगा देने से, इन्द्रियों को भली प्रकार वश में करने से, अहिंसादि व्रतों का अच्छी प्रकार पालन करने से, भली प्रकार गुरु की सेवा करने से, यथायोग्य योगसाधनोपयोगी आहार करने से, वेदादि का भली प्रकार अध्ययन करने से, कर्मों को भलीभाँति भगवत्समर्पण करने से और चित्त का भली प्रकार निरोध करने से मनुष्य परम कल्याण को प्राप्त होता है।।78-79।। संसार को जीतने की इच्छा वाले बुद्धिमान् पुरुष इसी प्रकार राग-द्वेष से मुक्त होकर कर्म करते हैं। इन्हीं नियमों के पालन से देवता लोग ऐश्वर्य को प्राप्त हुए हैं।।80।।

रुद्राः साध्यास्तथाऽऽदित्या वसवोऽथ तथाश्विनौ।
योगैश्वर्येण संयुक्ता धारयन्ति प्रजा इमाः।।
तथा त्वमपि कौन्तेय शममास्थाय पुष्कलम्।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ योगसिद्धिं च भारत।।82।।
पितृमातृमयी सिद्धिः प्राप्ता कर्ममयी च ते।
तपसा सिद्धिमन्विच्छ द्विजानां भरणाय वै।।83।।
सिद्धा हि यद् यदिच्छन्ति कुर्वते तदनुग्रहात्।
तस्मात्तपः समास्थाय कुरुष्वात्ममनोरथम्।।84।।

रुद्र, साध्य, आदित्य, वसु तथा दोनों अश्विनीकुमार योगजनित ऐश्वर्य से युक्त होकर इन प्रजाजनों का धारण-पोषण करते हैं।।81।। कुन्तीनन्दन! इसी प्रकार आप भी मन और इन्द्रियों को भलीभाँति वश में करके तपस्या द्वारा सिद्धि तथा योगजनित ऐश्वर्य प्राप्त करने की चेष्टा कीजिये।।82।। यज्ञ, युद्धादि कर्मों से प्राप्त होने वाली सिद्धि पितृ-मातृमयी (परलोक और इहलोक में भी लाभ पहुँचाने वाली) है, जो आपको प्राप्त हो चुकी है। अब तपस्या द्वारा वह योगसिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिये, जिससे ब्राह्मणों का भरण-पोषण हो सके।।83।। सिद्ध पुरुष जो-जो वस्तु चाहते हैं, उसे अपने तप के प्रभाव से प्राप्त कर लेते हैं। अतः आप तपस्या का आश्रय लेकर अपने मनोरथ की पूर्ति कीजिये।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अरण्यपर्वणि पाण्डवानां प्रव्रजने द्वितीयोऽध्यायः।।2 ॥

इस प्रकार श्री महाभारत वन पर्व के अन्तर्गत अरण्य पर्व में पाण्डवों का प्रव्रजन (वन-गमन) विषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ।।2।।

।।इति शौनकगीता सम्पूर्णा ।।

पुलस्त्यगीता

प्रथमोऽध्यायः

भीष्मजी के पूछने पर पुलस्त्यजी का उन्हें विभिन्न तीर्थों की यात्रा का माहात्म्य बताना

पुलस्त्य उवाच

अनेन तव धर्मज्ञ प्रश्रयेण दमेन च।
सत्येन च महाभाग तुष्टोऽस्मि तव सुव्रत॥1॥
यस्येदृशस्ते धर्मोऽयं पितृभक्त्याश्रितोऽनघ।
तेन पश्यसि मां पुत्र प्रीतिश्च परमा त्वयि॥2॥
अमोघदर्शी भीष्माहं ब्रूहि किं करवाणि ते।
यद् वक्ष्यसि कुरुश्रेष्ठ तस्य दातास्मि तेऽनघ॥3॥

पुलस्त्यजी ने कहा—धर्मज्ञ! उत्तम व्रत का पालन करने वाले महाभाग! तुम्हारे इस विनय, इन्द्रियसंयम और सत्यपालन से मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ॥1॥ निष्पाप वत्स! तुम्हारे द्वारा पितृभक्ति के आश्रित जो ऐसे उत्तम धर्म का पालन हो रहा है, इसीके प्रभाव से तुम मेरा दर्शन कर रहे हो और तुम पर मेरा बहुत प्रेम हो गया है॥2॥ निष्पाप कुरुश्रेष्ठ भीष्म! मेरा दर्शन अमोघ है। बोलो, मैं तुम्हारे किस मनोरथ की पूर्ति करूँ? तुम जो माँगोगे, वहीं दूँगा॥3॥

भीष्म उवाच

प्रीते त्वयि महाभाग सर्वलोकाभिपूजिते।
कृतमेतावता मन्ये यदहं दृष्टवान् प्रभुम्॥4॥
यदि त्वहमनुग्राह्यस्तव धर्मभृतां वर।
सन्देहं ते प्रवक्ष्यामि तन्मे त्वं छेत्तुमर्हसि॥5॥
अस्ति मे हृदये कश्चित् तीर्थेभ्यो धर्मसंशयः।
तमहं श्रोतुमिच्छामि तद् भवान् वक्तुमर्हति॥6॥
प्रदक्षिणां यः पृथिवीं करोत्यमरसन्निभ।
किं फलं तस्य विप्रर्षे तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥7॥

भीष्मजी ने कहा—महाभाग! आप सम्पूर्ण लोकों द्वारा पूजित हैं। आपके प्रसन्न हो जाने पर मुझे क्या नहीं मिला? आप जैसे शक्तिशाली महर्षि का मुझे दर्शन हुआ, इतने ही से मैं अपने को कृतकृत्य मानता हूँ॥4॥ धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महर्षे! यदि मैं आपकी कृपा का पात्र हूँ तो मैं आपके सामने अपना संशय रखता हूँ। आप उसका

निवारण करें।।5।। मेरे मन में तीर्थों से होने वाले धर्म के विषय में कुछ संशय हो गया है, मैं उसी का समाधान सुनना चाहता हूँ; आप बताने की कृपा करें।।6।। देवतुल्य ब्रह्मर्षे ! जो (तीर्थों के उद्देश्य से) सारी पृथ्वी की परिक्रमा करता है, उसे क्या फल मिलता है? यह निश्चित करके मुझे बताइये।।7।।

पुलस्त्य उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यदृषीणां परायणम्।
तदेकाग्रमनाः पुत्र शृणु तीर्थेषु यत्फलम्॥8।।
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥9।।
प्रतिग्रहादपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित्।
अहङ्कारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥10।।

पुलस्त्यजी ने कहा—वत्स! तीर्थयात्रा ऋषियों के लिए बहुत बड़ा आश्रय है। मैं इसके विषय में तुम्हें बताऊँगा। तीर्थों के सेवन से जो फल होता है, उसे एकाग्र होकर सुनो।।8।। जिसके हाथ, पैर और मन अपने काबू में हों तथा जो विद्या, तप और कीर्ति से सम्पन्न हो, वही तीर्थसेवन का फल पाता है।।9।। जो प्रतिग्रह से दूर रहे तथा जो कुछ अपने पास हो, उसी से सन्तुष्ट रहे और जिसमें अहङ्कार का अभाव हो, वही तीर्थ का फल पाता है।।10।।

अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते॥11।।
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥12।।
ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विह यथाक्रमम्।
फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः॥13।।
न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते।
बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः॥14।।
प्राप्यन्ते पार्थिवैरेते समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्।
नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः॥15।।
यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर।
तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर॥16।।
ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम।
तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते॥17।।
अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च।
अदत्त्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते॥18।।
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः।
न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत्॥19।।

नृलोके देवदेवस्य तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
पुष्करं नाम विख्यातं महाभागः समाविशेत्॥20॥

जो दम्भ आदि दोषों से दूर, कर्तृत्व के अहङ्कार से शून्य, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय हो, वह सब पापों से विमुक्त हो तीर्थ के वास्तविक फल का भागी होता है। राजन्! जिसमें क्रोध न हो, जो सत्यवादी और दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करने वाला हो तथा जो सब प्राणियों के प्रति आत्मभाव रखता हो, वही तीर्थ के फल का भागी होता है॥12॥ ऋषियों ने देवताओं के उद्देश्य से यथायोग्य यज्ञ बताये हैं और उन यज्ञों का यथावत् फल भी बताया है, जो इहलोक और परलोक में भी सर्वथा प्राप्त होता है॥13॥ परन्तु भूपाल! दरिद्र मनुष्य उन यज्ञों का अनुष्ठान नहीं कर सकते; क्योंकि उनमें बहुत-सी सामग्रियों की आवश्यकता होती है। नाना प्रकार के साधनों का संग्रह होने से उनमें विस्तार बहुत बढ़ जाता है॥14॥ अतः राजा लोग अथवा कहीं-कहीं कुछ समृद्धिशाली मनुष्य ही यज्ञों का अनुष्ठान कर सकते हैं। जिनके पास धन की कमी और सहायकों का अभाव है, जो अकेले और साधन शून्य हैं, उनके द्वारा यज्ञों का अनुष्ठान नहीं हो सकता॥15॥ योद्धाओं में श्रेष्ठ नरेश्वर! जो सत्कर्म दरिद्रलोग भी कर सकें और जो अपने पुण्यों द्वारा यज्ञों के समान फलप्रद हो सकें, उसे बताता हूँ, सुनो॥16॥ भरतश्रेष्ठ! यह ऋषियों का परम गोपनीय रहस्य है। तीर्थयात्रा बड़ा पवित्र सत्कर्म है। वह यज्ञों से भी बढ़कर है॥17॥ मनुष्य इसीलिए दरिद्र होता है कि वह (तीर्थों में) तीन रात तक उपवास नहीं करता, तीर्थों की यात्रा नहीं करता और सुवर्ण-दान और गोदान नहीं करता॥18॥ मनुष्य तीर्थयात्रा से जिस फल को पाता है, उसे प्रचुर दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञों द्वारा यजन करके भी नहीं पा सकता॥19॥ मनुष्यलोक में देवाधिदेव ब्रह्माजी का त्रिलोकविख्यात तीर्थ है, जो 'पुष्कर' नाम से प्रसिद्ध है। उसमें कोई बड़भागी मनुष्य ही प्रवेश कर पाता है॥20॥

दशकोटिसहस्राणि तीर्थानां वै महामते।
सान्निध्यं पुष्करे येषां त्रिसन्ध्यं कुरुनन्दन॥21॥
आदित्या वसवो रुद्राः साध्याश्च समरुद्गणाः।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव नित्यं सन्निहिता विभो॥22॥
यत्र देवास्तपस्तप्त्वा दैत्या ब्रह्मर्षयस्तथा।
दिव्ययोगा महाराज पुण्येन महतान्विताः॥23॥
मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः।
पूयन्ते सर्वपापानि नाकपृष्ठे च पूज्यते॥24॥
तस्मिंस्तीर्थे महाराज नित्यमेव पितामहः।
उवास परमप्रीतो भगवान् कमलासनः॥25॥
पुष्करेषु महाभाग देवाः सर्षिगणाः पुरा।
सिद्धिं समभिसम्प्राप्ताः पुण्येन महतान्विताः॥26॥
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् पितृदेवार्चने रतः।

अश्वमेधाद् दशगुणं फलं प्राहुर्मनीषिणः॥27॥
अप्येकं भोजयेद्विप्रं पुष्करारण्यमाश्रितः।
तेनासौ कर्मणा भीष्म प्रेत्य चेह च मोदते॥28॥
शाकैर्मूलैः फलैर्वापि येन वर्तयते स्वयम्।
तद्वै दद्याद् ब्राह्मणाय श्रद्धावाननसूयकः॥29॥

महामते कुरुनन्दन! पुष्कर में तीनों समय दस सहस्र कोटि (दस खरब) तीर्थों का निवास रहता है॥21॥ विभो! वहाँ आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, गन्धर्व और अप्सराओं की भी नित्य सन्निधि रहती है॥22॥ महाराज! यहाँ तप करके देवता, दैत्य और ब्रह्मर्षि महान् पुण्य से सम्पन्न हो दिव्य योग से युक्त होते हैं॥23॥ जो मनस्वी पुरुष मन से भी पुष्कर तीर्थ में जाने की इच्छा करता है, उसके स्वर्ग के प्रतिबन्धक सारे पाप मिट जाते हैं और वह स्वर्गलोक में पूजित होता है॥24॥ महाराज! उस तीर्थ में कमलासन भगवान् ब्रह्माजी नित्य ही बड़ी प्रसन्नता के साथ निवास करते हैं॥25॥ महाभाग! पुष्कर में पहले देवता तथा ऋषि महान् पुण्य से सम्पन्न हो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं॥26॥ जो वहाँ स्नान करता तथा देवताओं और पितरों की पूजा में संलग्न रहता है, उस पुरुष को अश्वमेध से दस गुना फल प्राप्त होता है; ऐसा मनीषीगण कहते हैं॥27॥ भीष्म! पुष्कर में जाकर कम-से-कम एक ब्राह्मण को अवश्य भोजन कराये। उस पुण्यकर्म से मनुष्य इहलोक और परलोक में भी आनन्द का भागी होता है॥28॥ मनुष्य साग, फल तथा मूल जिसके द्वारा स्वयं प्राण-यात्रा का निर्वाह करता है, वही श्रद्धाभाव से दूसरों के दोष न देखते हुए ब्राह्मण को दान करे॥29॥

तेनैव प्राप्नुयात् प्राज्ञो हयमेधफलं नरः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वा राजसत्तम॥30॥
न वै योनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः।
कार्तिकीं तु विशेषेण योऽभिगच्छति पुष्करम्॥31॥
प्राप्नुयाच्च नरो लोकान् ब्रह्मणस्सदनेऽक्षयान्।
सायं प्रातः स्मरेद्यस्तु पुष्कराणि कृताञ्जलिः॥32॥
उपस्पृष्टं भवेत् तेन सर्वतीर्थेषु भारत।
जन्मप्रभृति यत् पापं स्त्रिया वा पुरुषेण वा॥33॥
पुष्करे स्नातमात्रस्य सर्वमेव प्रणश्यति।
यथा सुराणां सर्वेषामादिस्तु मधुसूदनः॥34॥
तथैव पुष्करं राजंस्तीर्थानामादिरुच्यते।
उष्ध्वा द्वादश वर्षाणि पुष्करे नियतः शुचिः॥35॥
क्रतून् सर्वानवाप्नोति ब्रह्मलोकं स गच्छति।
यस्तु वर्षशतं पूर्णमग्निहोत्रमुपासते॥36॥
कार्तिकीं वा वसेदेकां पुष्करे सममेव तत्॥37॥
त्रीणि शृङ्गाणि शुभ्राणि त्रीणि प्रस्रवणानि च।

पुष्कराण्यादिसिद्धानि न विद्मस्तत्र कारणम्॥38।।
दुष्करं पुष्करे गन्तुं दुष्करं पुष्करे तपः।
दुष्करं पुष्करे दानं वस्तुं चैव सुदुष्करम्॥39।।
उष्य द्वादशरात्रं तु नियतो नियताशनः।
प्रदक्षिणमुपावृत्य जम्बूमार्गं समाविशेत्॥40।।

उसीसे विद्वान् पुरुष अश्वमेध का फल पाता है। नृपश्रेष्ठ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र जो कोई भी महात्मा ब्रह्माजी के तीर्थ में स्नान कर लेते हैं, वे फिर किसी योनि में जन्म नहीं लेते।।30।। विशेषतः कार्तिकमास की पूर्णिमा को जो पुष्करतीर्थ में स्नान के लिए जाता है, वह मनुष्य ब्रह्मधाम में अक्षय लोकों को प्राप्त होता है।।31।। भारत! जो सायंकाल और प्रातःकाल हाथ जोड़कर तीनों पुष्करों का स्मरण करता है, उसने मानो सब तीर्थों में स्नान एवं आचमन कर लिया।।32।। स्त्री अथवा पुरुष ने जन्म से लेकर वर्तमान अवस्था तक जितने भी पाप किये हैं, पुष्करतीर्थ में स्नान करने मात्र से वे सब पाप नष्ट हो जाते हैं।।33।। राजन्! जैसे भगवान् मधुसूदन (विष्णु) सब देवताओं के आदि हैं, वैसे ही पुष्कर सब तीर्थों का आदि कहा जाता है।।34।। पुष्कर में पवित्रतापूर्वक संयम-नियम के साथ बारह वर्षों तक निवास करके मानव सम्पूर्ण यज्ञों का फल पाता और ब्रह्मलोक को जाता है।।35।। जो पूरे सौ वर्षों तक अग्निहोत्र करता है और जो कार्तिक की एक ही पूर्णिमा को पुष्कर में वास करता है, दोनों का फल बराबर है।।36-37।। तीन शुभ्र पर्वतशिखर, तीन सोते और तीन पुष्कर—ये आदिसिद्ध तीर्थ हैं। ये कब किस कारण से तीर्थ माने गये? इसका हमें पता नहीं है।।38।। पुष्कर में जाना अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्कर में तप अत्यन्त दुर्लभ है, पुष्कर में दान देने का सुयोग तो और भी दुर्लभ है और उसमें निवास का सौभाग्य तो अत्यन्त ही दुष्कर है।।39।। वहाँ इन्द्रियसंयम और नियमित आहार करते हुए बारह रात रहकर तीर्थ की परिक्रमा करने के पश्चात् जम्बूमार्ग को जाय।।40।।

जम्बूमार्गं समाविश्य देवर्षिपितृसेवितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति सर्वकामसमन्वितः॥ 41।।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च पूतात्मा जायते नरः।
न दुर्गतिमवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम्॥42।।
जम्बूमार्गादुपावृत्य गच्छेत् तन्दुलिकाश्रमम्।
न दुर्गतिमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति॥43।।
आगस्त्यं सर आसाद्य पितृदेवार्चने रतः।
त्रिरात्रोपोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत्॥44।।
शाकवृत्तिः फलैर्वापि कौमारं विन्दते परम्।
कण्वाश्रमं ततो गच्छेच्छ्रीजुष्टं लोकपूजितम्॥45।।
धर्मारण्यं हि तत्पुण्यमाद्यं च भरतर्षभ।
यत्र प्रविष्टमात्रो वै सर्वपापैः प्रमुच्यते॥46।।

अर्चयित्वा पितॄन् देवान्नियतो नियताशनः।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते॥47।।
प्रदक्षिणं ततः कृत्वा ययातिपतनं व्रजेत्।
हयमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति तत्र वै॥48।।
महाकालं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत्॥49।।
ततो गच्छेत धर्मज्ञः स्थाणोस्तीर्थमुमापतेः।
नाम्ना भद्रवटं नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्॥50।।

जम्बूमार्ग देवताओं, ऋषियों तथा पितरों से सेवित तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य समस्त मनोवाञ्छित भोगों से सम्पन्न हो अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है।।41।। वहाँ पाँच रात निवास करने से मनुष्य का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। उसे कभी दुर्गति नहीं प्राप्त होती, वह उत्तम सिद्धि पा लेता है।।42।। जम्बूमार्ग से लौटकर मनुष्य तन्दुलिकाश्रम को जाय। इससे वह दुर्गति में नहीं पड़ता और अन्त में ब्रह्मलोक को चला जाता है।।43।। राजन्! जो अगस्त्यसरोवर जाकर देवताओं और पितरों के पूजन में तत्पर हो तीन रात उपवास करता है, वह अग्निष्टोमयज्ञ का फल पाता है।।44।। जो शाकाहार या फलाहार करके वहाँ रहता है, वह परम उत्तम कुमारलोक (कार्तिकेय के लोक) में जाता है। वहाँ से लोकपूजित कण्व के आश्रम में जाय, जो भगवती लक्ष्मी के द्वारा सेवित है।।45।। भरतश्रेष्ठ! वह धर्मारण्य कहलाता है, उसे परम पवित्र एवं आदितीर्थ माना गया है। उसमें प्रवेश करने मात्र से मनुष्य सब पापों से छुटकारा पा जाता है।।46।। जो वहाँ नियमपूर्वक मिताहारी होकर देवता और पितरों की पूजा करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं से सम्पन्न यज्ञ का फल पाता है।।47।। तदनन्तर उस तीर्थ की परिक्रमा करके वहाँ से ययातिपतन नामक तीर्थ में जाय। वहाँ जाने से यात्री को अवश्य ही अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है।।48।। वहाँ से महाकालतीर्थ को जाय। वहाँ नियमपूर्वक रहकर नियमित भोजन करें। वहाँ कोटितीर्थ में आचमन (एवं स्नान) करने से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है।।49।। वहाँ से धर्मज्ञ पुरुष उमावल्लभ भगवान् स्थाणु (शिव) के उस तीर्थ में जाय, जो तीनों लोकों में 'भद्रवट' के नाम से प्रसिद्ध है।।50।।

तत्राभिगम्य चेशानं गोसहस्रफलं लभेत्।
महादेवप्रसादाच्च गाणपत्यं च विन्दति॥51।।
समृद्धमसपत्नं च श्रिया युक्तं नरोत्तमः।
नर्मदां तु समासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम्॥52।।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत्।
दक्षिणं सिन्धुमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः॥53।।
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाधिरोहति।
चर्मण्वतीं समासाद्य नियतो नियताशनः।
रन्तिदेव अभ्यनुज्ञातमग्निष्टोमफलं लभेत्॥54।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ हिमवत्सुतमर्बुदम्।
पृथिव्यां यत्र वै छिद्रं पूर्वमासीद्युधिष्ठिर॥55।।
तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्॥56।।
पिङ्गतीर्थमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
कपिलानां नरश्रेष्ठ शतस्य फलमश्नुते॥57।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रभासं तीर्थमुत्तमम्।
तत्र सन्निहितो नित्यं स्वयमेव हुताशनः॥58।।
देवतानां मुखं वीर ज्वलनोऽनिलसारथिः।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः॥59।।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति मानवः।
ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च सङ्गमे॥60।।
गोसहस्रफलं तस्य स्वर्गलोकं च विन्दति।
प्रभया दीप्यते नित्यमग्निवद् भरतर्षभ॥61।।

वहाँ भगवान् शिव का निकट से दर्शन करके नरश्रेष्ठ यात्री एक हजार गोदान का फल पाता है और महादेवजी के प्रसाद से वह गणों का आधिपत्य प्राप्त कर लेता है, जो आधिपत्य भारी समृद्धि और लक्ष्मी से सम्पन्न तथा शत्रुजनित बाधा से रहित होता है।।51।। वहाँ से त्रिभुवनविख्यात नर्मदा नदी के तट पर जाकर देवताओं और पितरों का तर्पण करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त होता है।।52।। इन्द्रियों को काबू में रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए दक्षिण समुद्र की यात्रा करने से मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञ का फल और विमान पर बैठने का सौभाग्य पाता है।।53।। इन्द्रिय संयम या शौच-सन्तोष आदि के पालनपूर्वक नियमित आहार का सेवन करते हुए चर्मण्वती (चम्बल) नदी में स्नान आदि करने से राजा रन्तिदेव द्वारा अनुमोदित अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त होता है।।54।। धर्मज्ञ युधिष्ठिर! वहाँ से आगे हिमालयपुत्र अर्बुद (आबू) की यात्रा करे, जहाँ पहले पृथ्वी में विवर था।।55।। वहाँ महर्षि वसिष्ठ का त्रिलोकविख्यात आश्रम है, जिसमें एक रात रहने से सहस्र गोदान का फल मिलता है।।56।। नरश्रेष्ठ! पिङ्गतीर्थ में स्नान एवं आचमन करके ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय मनुष्य सौ कपिलाओं के दान का फल प्राप्त कर लेता है।।57।। राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम प्रभासतीर्थ में जाय। वीर! उस तीर्थ में देवताओं के मुखस्वरूप भगवान् अग्निदेव, जिनके सारथि वायु हैं, सदा निवास करते हैं।।58।। उस तीर्थ में स्नान करके शुद्ध एवं संयत चित्त हो मानव अतिरात्र और अग्निष्टोम यज्ञों का फल पाता है।।59।। तदनन्तर सरस्वती और समुद्र के सङ्गम में जाकर स्नान करने से मनुष्य सहस्र गोदान का फल और स्वर्गलोक में पाता है। भरतश्रेष्ठ! वह पुण्यात्मा पुरुष अपने तेज से सदा अग्नि की भाँति प्रकाशित होता है।।60-61।।

तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः।
त्रिरात्रमुषितः स्नातस्तर्पयेत्पितृदेवताः॥62।।

प्रभासते यथा सोमः सोऽश्वमेधं च विन्दति।
वरदानं ततो गच्छेत् तीर्थं भरतसत्तम॥63।।
विष्णोर्दुर्वाससा यत्र वरो दत्तो युधिष्ठिर।
वरदाने नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥64।।
ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद्बहु सुवर्णकम्॥65।।
तस्मिंस्तीर्थे महाभाग पद्मलक्षणलक्षिताः।
अद्यापि मुद्रा दृश्यन्ते तदद्भुतमरिन्दम॥66।।
त्रिशूलाङ्कानि पद्मानि दृश्यन्ते कुरुनन्दन।
महादेवस्य सान्निध्यं तत्र वै पुरुषर्षभ॥67।।
सागरस्य च सिन्धोश्च सङ्गमं प्राप्य भारत।
तीर्थे सलिलराजस्य स्नात्वा प्रयतमानसः॥68।।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानृषींश्च भरतर्षभ।
प्राप्नोति वारुणं लोकं दीप्यमानं स्वतेजसा॥69।।
शङ्कुकर्णेश्वरं देवमर्चयित्वा युधिष्ठिर।
अश्वमेधाद् दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः॥70।।

मनुष्य शुद्धचित्त हो जलों के स्वामी वरुण के तीर्थ (समुद्र) में स्नान करके वहाँ तीन रात रहे और प्रतिदिन नहाकर देवताओं तथा पितरों का तर्पण करें।।62।। ऐसा करने वाला यात्री चन्द्रमा के समान प्रकाशित होता है। साथ ही उसे अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। भरतश्रेष्ठ! वहाँ से वरदान तीर्थ में जाय।।63।। युधिष्ठिर! यह वह स्थान है, जहाँ मुनिवर दुर्वासा ने श्रीकृष्ण को वरदान दिया था। वरदानतीर्थ में स्नान करने से मानव सहस्र गोदान का फल पाता है।।64।। वहाँ से तीर्थयात्री को द्वारका जाना चाहिये। वह नियम से रहे और नियमित भोजन करे। पिण्डारक तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को अधिकाधिक सुवर्ण की प्राप्ति होती है।।65।। महाभाग! उस तीर्थ में आज भी कमल के चिह्नों से चिह्नित सुवर्ण मुद्राएँ देखी जाती हैं। शत्रुदमन! यह एक अद्भुत बात है।।66।। पुरुषरत्न कुरुनन्दन! जहाँ त्रिशूल से अङ्कित कमल दृष्टिगोचर होते हैं। वहीं महादेवजी का निवास है।।67।। भारत! सागर और सिन्धु नदी के सङ्गम में जाकर वरुणतीर्थ में स्नान करके शुद्धचित्त हो देवताओं, ऋषियों तथा पितरों को तर्पण करे। भरतकुलतिलक! ऐसा करने से मनुष्य दिव्य दीप्ति से देदीप्यमान वरुणलोक को प्राप्त होता है।।68-69।। युधिष्ठिर! वहाँ शङ्कुकर्णेश्वर शिव की पूजा करने से मनीषी पुरुष अश्वमेध से दस गुने पुण्यफल की प्राप्ति बताते हैं।।70।।

प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।।71।।
दमीति नाम्ना विख्यातं सर्वपापप्रणाशनम्।
तत्र ब्रह्मादयो देवा उपासन्ते महेश्वरम्॥72।।

तत्र स्नात्वा च पीत्वा च रुद्रं देवगणैर्वृतम्।
जन्मप्रभृति यत् पापं तत् स्नातस्य प्रणश्यति॥73।।
दमी चात्र नरश्रेष्ठ सर्वदेवैरभिष्टुतः।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र हयमेधमवाप्नुयात्॥74।।
गत्वा यत्र महाप्राज्ञ विष्णुना प्रभविष्णुना।
पुरा शौचं कृतं राजन् हत्वा दैतेयदानवान्॥75।।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ वसोर्धारामभिष्टुताम्।
गमनादेव तस्यां हि हयमेधफलं लभेत्॥76।।
स्नात्वा कुरुवरश्रेष्ठ प्रयतात्मा समाहितः।
तर्प्य देवान् पितॄंश्चैव विष्णुलोके महीयते॥77।।
तीर्थे चात्र सरः पुण्यं वसूनां भरतर्षभ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च वसूनां सम्मतो भवेत्॥78।।
सिन्धूत्तममिति ख्यातं सर्वपापप्रणाशनम्।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ लभेद्बहु सुवर्णकम्॥79।।
भद्रतुङ्गं समासाद्य शुचिः शीलसमन्वितः।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत्॥80।।

भरतवंशवतंस कुरुश्रेष्ठ! उनकी परिक्रमा करके त्रिभुवन-विख्यात 'दमी' नामक तीर्थ में जाय, जो सब पापों का नाश करने वाला है। वहाँ ब्रह्मा आदि देवता भगवान् महेश्वर की उपासना करते हैं।।71-72।। वहाँ स्नान, जलपान और देवताओं से घिरे हुए रुद्र देव का दर्शन-पूजन करने से स्नानकर्त्ता पुरुष के जन्म से लेकर वर्तमान समय तक के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।।73।। नरश्रेष्ठ! भगवान् दमी का सभी देवता स्तवन करते हैं। पुरुषसिंह! वहाँ स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है।।74।। महाप्राज्ञ नरेश! सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु ने पहले दैत्यों-दानवों का वध करके इसी तीर्थ में जाकर (लोकसंग्रह के लिए) शुद्धि की थी।।75।। धर्मज्ञ! वहाँ से वसुधारातीर्थ में जाय, जो सबके द्वारा प्रशंसित है। वहाँ जाने मात्र से अश्वमेधयज्ञ का फल मिलता है।।76।। कुरुश्रेष्ठ! वहाँ स्नान करके शुद्ध और समाहितचित्त होकर देवताओं और पितरों का तर्पण करने से मनुष्य विष्णु लोक में प्रतिष्ठित होता है।।77।। भरतश्रेष्ठ! उस तीर्थ में वसुओं का पवित्र सरोवर है। उसमें स्नान और जलपान करने से मनुष्य वसु देवताओं प्रिय होता है। नरश्रेष्ठ! वहीं सिन्धूत्तम नाम से प्रसिद्ध तीर्थ है, जो सब पापों का नाश करने वाला है। उसमें स्नान करने से प्रचुर स्वर्णराशि की प्राप्ति होती है।।78-79।। भद्रतुङ्गतीर्थ में जाकर पवित्र एवं सुशील पुरुष ब्रह्मलोक में जाता और वहाँ उत्तम गति पाता है।।80।।

कुमारिकाणां शक्रस्य तीर्थं सिद्धनिषेवितम्।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं स्वर्गलोकमवाप्नुयात्॥81।।
रेणुकायाः च तत्रैव तीर्थं सिद्धनिषेवितम्।
तत्र स्नात्वा भवेद् विप्रो निर्मलश्चन्द्रमा यथा॥82।।

अथ पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः।
पञ्चयज्ञानवाप्नोति क्रमशो येऽनुकीर्तिताः॥83।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र भीमायाः स्थानमुत्तमम्।
तत्र स्नात्वा तु योन्यां वै नरो भरतसत्तम॥84।।
देव्याः पुत्रो भवेद् राजंस्तप्तकुण्डलविग्रहः।
गवां शतसहस्रस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥85।।
श्रीकुण्डं तु समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
पितामहं नमस्कृत्य गोसहस्रफलं लभेत्॥86।।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ विमलं तीर्थमुत्तमम्।
अद्यापि यत्र दृश्यन्ते मत्स्याः सौवर्णराजताः॥87।।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं वासवं लोकमाप्नुयात्।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम्॥88।।
वितस्तां च समासाद्य सन्तर्प्य पितृदेवताः।
नरः फलमवाप्नोति वाजपेयस्य भारत॥89।।
काश्मीरेष्वेव नागस्य भवनं तक्षकस्य च।
वितस्ताख्यमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम्॥90।।

शक्रकुमारिका-तीर्थ सिद्ध पुरुषों द्वारा सेवित है। वहाँ स्नान करके मनुष्य शीघ्र ही स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है।।81।। वहीं सिद्धसेवित रेणुकातीर्थ है, जिसमें स्नान करके ब्राह्मण चन्द्रमा के समान निर्मल होता है।।82।। तदनन्तर शौच-सन्तोष आदि नियमों का पालन और नियमित भोजन करते हुए पञ्चनद तीर्थ में जाकर मनुष्य पञ्चमहायज्ञों का फल पाता है जो कि शास्त्रों में क्रमशः बतलाये गये हैं।।83।। राजेन्द्र! वहाँ से भीमा के उत्तम स्थान की यात्रा करे! भरतश्रेष्ठ! वहाँ योनितीर्थ में स्नान करके मनुष्य देवी का पुत्र होता है। उसकी अङ्गकान्ति तपाये हुए सुवर्णकुण्डल के समान होती है। राजन्! उस तीर्थ के सेवन से मनुष्य को सहस्र गोदान का फल मिलता है।।84-85।। त्रिभुवनविख्यात श्रीकुण्ड में जाकर ब्रह्माजी को नमस्कार करने से सहस्र गोदान का फल प्राप्त होता है।।86।। धर्मज्ञ! वहाँ से परम उत्तम विमलतीर्थ की यात्रा करे, जहाँ आज भी सोने और चाँदी के रङ्ग की मछलियाँ दिखायी देती हैं।।87।। उसमें स्नान करने से मनुष्य शीघ्र ही इन्द्रलोक को प्राप्त होता है और सब पापों से शुद्ध हो परमगति प्राप्त कर लेता है।।88।। भारत! वितस्तातीर्थ (झेलम) में जाकर वहाँ देवताओं और पितरों का तर्पण करने से मनुष्य को वाजपेययज्ञ का फल प्राप्त होता है।।89।। काश्मीर में ही नागराज तक्षक का वितस्ता नाम से प्रसिद्ध भवन है, जो सब पापों का नाश करने वाला है।।90।।

तत्र स्नात्वा नरो नूनं वाजपेयमवाप्नुयात्।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेच्च परमां गतिम्॥91।।
ततो गच्छेत वडवां त्रिषु लोकेषु विश्रुताम्।
पश्चिमायां तु सन्ध्यायामुपस्पृश्य यथाविधि॥92।।

चरुं सप्तार्चिषे राजन् यथाशक्ति निवेदयेत्।
पितृणामक्षयं दानं प्रवदन्ति मनीषिणः॥93॥
ऋषयः पितरो देवा गन्धर्वाप्सरसां गणाः।
गुह्यकाः किन्नरा यक्षाः सिद्धा विद्याधरा नराः॥94॥
राक्षसा दितिजा रुद्रा ब्रह्मा च मनुजाधिप।
नियतः परमां दीक्षामास्थायाब्दसहस्रिकीम्॥95॥
विष्णोः प्रसादनं कुर्वंश्चरुं च श्रपयंस्तथा।
सप्तभिः सप्तभिश्चैव ऋग्भिस्तुष्टाव केशवम्॥96॥
ददावष्टगुणैश्वर्यं तेषां तुष्टस्तु केशवः।
यथाभिलषितानन्यान् कामान्दत्त्वा महीपते॥97॥
तत्रैवान्तर्दधे देवो विद्युदभ्रेषु वै यथा।
नाम्ना सप्तचरुं तेन ख्यातं लोकेषु भारत॥98॥
गवां शतसहस्रेण राजसूयशतेन च।
अश्वमेधसहस्रेण श्रेयान् सप्तार्चिषे चरुः॥99॥
ततो निवृत्तो राजेन्द्र रुद्रं पदमथाविशेत्।
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत्॥100॥

वहाँ स्नान करने से मनुष्य निश्चय ही वाजपेययज्ञ का फल प्राप्त करता है और सब पापों से शुद्ध हो उत्तम गति का भागी होता है॥91॥ वहाँ से त्रिभुवन विख्यात वडवातीर्थ को जाय। वहाँ पश्चिम संध्या के समय विधिपूर्वक स्नान और आचमन करके अग्निदेव को यथाशक्ति चरु निवेदन करे। वहाँ पितरों के लिये दिया हुआ दान अक्षय होता है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं॥92-93½॥ राजन्! वहाँ देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, गुह्यक, किन्नर, यक्ष, सिद्ध, विद्याधर, मनुष्य, राक्षस, दैत्य, रुद्र और ब्रह्मा—इन सबने नियमपूर्वक सहस्र वर्षों के लिये उत्तम दीक्षा ग्रहण करके भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिये चरु अर्पण किया। ऋग्वेद के सात-सात मन्त्रों द्वारा सबने चरु की सात-सात आहुतियाँ दीं और भगवान् केशव को प्रसन्न किया॥94-96॥ उन पर प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें अष्टगुण-ऐश्वर्य अर्थात् अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ प्रदान कीं। महाराज! तत्पश्चात् उनकी इच्छा के अनुसार अन्यान्य वर देकर भगवान् केशव वहाँ से उसी प्रकार अन्तर्धान हो गये, जैसे मेघों की घटा में बिजली तिरोहित हो जाती है। भारत! इसलिए वह तीर्थ तीनों लोकों में सप्तचरु के नाम से विख्यात है। वहाँ अग्नि के लिए दिया हुआ चरु एक लाख गोदान, सौ राजसूय यज्ञ और सहस्र अश्वमेध यज्ञ से भी अधिक कल्याणकारी है। राजेन्द्र! वहाँ से लौटकर रुद्रपद नामक तीर्थ में जाय। वहाँ महादेवजी की पूजा करके तीर्थयात्री पुरुष अश्वमेध का फल पाता है॥97-100॥

मणिमन्तं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
एकरात्रोषितो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत्॥101॥
अथ गच्छेत राजेन्द्र देविकां लोकविश्रुताम्।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥102॥

त्रिशूलपाणेः स्थानं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
देविकायां नरः स्नात्वा समभ्यर्च्य महेश्वरम्॥103।।
यथाशक्ति चरुं तत्र निवेद्य भरतर्षभ।
सर्वकामसमृद्धस्य यज्ञस्य लभते फलम्॥104।।
कामाख्यं तत्र रुद्रस्य तीर्थं देवनिषेवितम्।
तत्र स्नात्वा नरः क्षिप्रं सिद्धिं प्राप्नोति भारत॥105।।
यजनं याजनं चैव तथैव ब्रह्म वालुकाम्।
पुष्पाम्भश्च उपस्पृश्य न शोचेन्मरणं गतः॥106।।
अर्धयोजनविस्तारा पञ्चयोजनमायता।
एतावती वेदिका तु पुण्या देवर्षिसेविता॥107।।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ दीर्घसत्रं यथाक्रमम्।
तत्र ब्रह्मादयो देवाः सिद्धाश्च परमर्षयः॥108।।
दीर्घसत्रमुपासन्ते दीक्षिता नियतव्रताः॥109।।
गमनादेव राजेन्द्र दीर्घसत्रमरिन्दम।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं प्राप्नोति भारत॥110।।

राजन्! एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक मणिमान् तीर्थ में जाय और वहाँ एक रात निवास करे। इससे अग्निष्टोम यज्ञ का फल प्राप्त होता है।।101।। भरतवंश-शिरोमणे! राजेन्द्र! वहाँ से लोकविख्यात देविकातीर्थ की यात्रा करे, जहाँ ब्राह्मणों की उत्पत्ति सुनी जाती है।।102।। वहाँ त्रिशूलपाणि भगवान् शिव का स्थान है, जिसकी तीनों लोकों में प्रसिद्धि है। देविका में स्नान करके भगवान् महेश्वर का पूजन और उन्हें यथाशक्ति चरु निवेदन करके सम्पूर्ण कामनाओं से समृद्ध यज्ञ के फल की प्राप्ति होती है।।103-104।। वहाँ भगवन् शङ्कर का देवसेवित कामतीर्थ है। भारत! उसमें स्नान करके मनुष्य शीघ्र मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लेता है।।105।। वहाँ यजन, याजन तथा वेदों का स्वाध्याय करके अथवा वहाँ की बालू, पुष्प एवं जल का स्पर्श करके मृत्यु को प्राप्त हुआ पुरुष शोक से पार हो जाता है।।106।। वहाँ पाँच योजन लम्बी और आधा योजन चौड़ी पवित्र वेदिका है, जिसका देवता तथा ऋषि-मुनि भी सेवन करते हैं।।107।। धर्मज्ञ! यहाँ से क्रमशः 'दीर्घसत्र' नामक तीर्थ में जाय। वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध और महर्षि रहते हैं।।108।। वे नियमपूर्वक व्रत का पालन करते हुए दीक्षा लेकर दीर्घसत्र की उपसना करते हैं।।109।। शत्रुओं का दमन करने वाले भरतवंशी राजेन्द्र! वहाँ की यात्रा करने मात्र से मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के समान फल पाता है।।110।।

ततो विनशनं गच्छेन्नियतो नियताशनः।
गच्छत्यन्तर्हिता यत्र मेरुपृष्ठे सरस्वती॥111।।
चमसेऽथ शिवोद्भेदे नागोद्भेदे च दृश्यते।
स्नात्वा तु चमसोद्भेदे अग्निष्टोमफलं लभेत्॥112।।
शिवोद्भेदे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्।

नागोद्भेदे नरः स्नात्वा नागलोकमवाप्नुयात्॥1113।।
शशयानं च राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम्।
शशरूपप्रतिच्छन्नाः पुष्करा यत्र भारत॥114।।
सरस्वत्यां महाराज अनुसंवत्सरं च ते।
दृश्यन्ते भरतश्रेष्ठ वृत्तां वै कार्तिकीं सदा॥115।।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र द्योतते शशिवत् सदा।
गोसहस्रफलं चैव प्राप्नुयाद् भरतर्षभ॥116।।
कुमारकोटिमासाद्य नियतः कुरुनन्दन।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः॥117।।
गवामयुतमाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ रुद्रकोटिं समाहितः॥118।।
पुरा यत्र महाराज मुनिकोटिः समागता।
हर्षेण महताविष्टा रुद्रदर्शनकाङ्क्षया॥119।।
अहं पूर्वमहं पूर्वं द्रक्ष्यामि वृषभध्वजम्।
एवं सम्प्रस्थिता राजन्नृषयः किल भारत॥120।।

तदनन्तर शौच-सन्तोषादि नियमों का पालन और नियमित आहार ग्रहण करते हुए विनशनतीर्थ में जाय, जहाँ मेरुपृष्ठ पर रहने वाली सरस्वती अदृश्य भाव से बहती है।।111।। वहाँ चमसोद्भेद, शिवोद्भेद और नागोद्भेद तीर्थ में सरस्वती का दर्शन होता है। चमसोद्भेद में स्नान करने से अग्निष्टोमयज्ञ का फल प्राप्त होता है।।112।। शिवोद्भेद में स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता है। नागोद्भेद तीर्थ में स्नान करने से उसे नागलोक की प्राप्ति होती है।।113।। राजेन्द्र! शशयान नामक तीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है। उसमें जाकर स्नान करे। महाराज भारत! वहाँ सरस्वती नदी में प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा को शश (खरगोश) के रूप में छिपे हुए पुष्कर तीर्थ देखे जाते हैं। भरतश्रेष्ठ! नरव्याघ्र! वहाँ स्नान करके मनुष्य सदा चन्द्रमा के समान प्रकाशित होता है। भरतकुलतिलक! उसे सहस्र गोदान का फल भी मिलता है।।114-116।। कुरुनन्दन! वहाँ से कुमारकोटि तीर्थ में जाकर वहाँ नियमपूर्वक स्नान करे और देवता तथा पितरों के पूजन में तत्पर रहे।।117।। ऐसा करने से मनुष्य दस हजार गोदान का फल पाता है और कुल का उद्धार कर देता है। धर्मज्ञ! वहाँ से एकाग्रचित्त हो रुद्रकोटि तीर्थ में जाय। महाराज! रुद्रकोटि वह स्थान है, जहाँ पूर्वकाल में एक करोड़ मुनि बड़े हर्ष में भरकर भगवान् रुद्र के दर्शन की अभिलाषा से आये थे। भारत! 'भगवान् वृषभध्वज का दर्शन पहले मैं करूँगा, मैं करूँगा' ऐसा सङ्कल्प करके वे महर्षि वहाँ के लिए प्रस्थित हुए थे।।118-120।।

ततो योगेश्वरेणापि योगमास्थाय भूपते।
तेषां मन्युप्रणाशार्थमृषीणां भावितात्मनाम्॥121।।
सृष्टा कोटीति रुद्राणामृषीणामग्रतः स्थिता।
मया पूर्वतरं दृष्ट इति ते मेनिरे पृथक्॥122।।
तेषां तुष्टो महादेवो मुनीनां भावितात्मनाम्।

भक्त्या परमया राजन् वरं तेषां प्रदिष्टवान्॥123॥
अद्यप्रभृति युष्माकं धर्मवृद्धिर्भविष्यति।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र रुद्रकोट्यां नरः शुचिः॥124॥
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्।
ततो गच्छेत राजेन्द्र सङ्गमं लोकविश्रुतम्॥125॥
सरस्वत्या महापुण्यं केशवं समुपासते।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः॥126॥
अभिगच्छन्ति राजेन्द्र चैत्रशुक्लचतुर्दशीम्।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विन्देद् बहुसुवर्णकम्।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं च गच्छति॥127॥
ऋषीणां यत्र सत्राणि समाप्तानि नराधिप।
तत्रावसानमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत्॥128॥

राजन्! तप योगेश्वर भगवान् शिव ने भी योग का आश्रय ले, उन शुद्धात्मा महर्षियों के शोक की शान्ति के लिए करोड़ों शिवलिङ्गों की सृष्टि करदी, जो उन सभी ऋषियों के आगे उपस्थित थे; इससे उन सब ने अलग-अलग भगवान् का दर्शन किया है। राजन्! उन शुद्धचेता मुनियों की उत्तम भक्ति से सन्तुष्ट हो महादेव जी ने उन्हें वर दिया॥121-123॥ महर्षियों! आज से तुम्हारे धर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी। नरश्रेष्ठ! उस रुद्रकोटि में स्नान करके शुद्ध हुआ मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और अपने कुल का उद्धार कर देता है॥124॥ राजेन्द्र! तदनन्तर परम पुण्यमय लोकविख्यात सरस्वती सङ्गम तीर्थ में जाय, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता और तपस्या के धनी महर्षि भगवान् केशव की उपासना करते हैं॥125-126॥ राजेन्द्र! वहाँ स्नान करने से प्रचुर सुवर्ण राशि की प्राप्ति होती है और सब पापों से शुद्ध चित्त होकर मनुष्य ब्रह्मलोक को जाता है॥127॥ नरेश्वर! जहाँ ऋषियों के सत्र समाप्त हुए हैं, वहाँ अवसान तीर्थ में जाकर मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता है॥128॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां द्व्यशीतितमोऽध्यायः॥ 82 ॥

इस प्रकार श्री महाभारत वन पर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा पर्व में पुलस्त्यकथित तीर्थयात्रा विषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥82॥

द्वितीयोऽध्याय:

कुरुक्षेत्र की सीमा में स्थित अनेक तीर्थों की महत्ता का वर्णन

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम्।
पापेभ्यो यत्र मुच्यन्ते दर्शनात् सर्वजन्तवः॥1॥
कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम्।

य एवं सततं ब्रूयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥2।।
पांसवोऽपि कुरुक्षेत्रे वायुना समुदीरिताः।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम्॥3।।
दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वती उत्तरेण च।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥4।।
तत्र मासं वसेद्धीरः सरस्वत्यां युधिष्ठिर।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयः सिद्धचारणाः॥5।।
गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्च महीपते।
ब्रह्मक्षेत्रं महापुण्यमभिगच्छन्ति भारत॥6।।
मनसाप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर।
पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति॥7।।
गत्वा हि श्रद्धया युक्तः कुरुक्षेत्रं कुरूद्वह।
फलं प्राप्नोति च तदा राजसूयाश्वमेधयोः॥8।।
ततो मचक्रुकं नाम द्वारपालं महाबलम्।
यक्षं समभिवाद्यैव गोसहस्रफलं लभेत्॥9।।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ विष्णोः स्थानमनुत्तमम्।
सततं नाम राजेन्द्र यत्र सन्निहितो हरिः॥10।।

पुलस्त्यजी कहते हैं—राजेन्द्र! तदनन्तर ऋषियों द्वारा प्रशंसित कुरुक्षेत्र की यात्रा करे, जिसके दर्शन मात्र से सब जीव पापों से मुक्त हो जाते हैं।।1।। 'मैं करुक्षेत्र में जाऊँगा, करुक्षेत्र में निवास करूँगा' इस प्रकार जो सदा कहा करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।।2।। वायु द्वारा उड़ाकर लायी हुई कुरुक्षेत्र की धूल भी शरीर पर पड़ जाय, तो वह पापी मनुष्य को भी परम गति की प्राप्ति करा देती है।।3।। जो सरस्वती के दक्षिण और दृषद्वती के उत्तर कुरुक्षेत्र में वास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोक में ही रहते हैं।।4।।

(नारद जी कहते हैं—)युधिष्ठिर! वहाँ सरस्वती के तट पर धीर पुरुष एक मास तक निवास करे; क्योंकि महाराज! ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, यज्ञ और नाग भी उस परम पुण्यमय ब्रह्मक्षेत्र को जाते हैं।।5-6।। युधिष्ठिर! जो मन से भी कुरुक्षेत्र में जाने की इच्छा करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह ब्रह्मलोक को जाता है।।7।। कुरुश्रेष्ठ! श्रद्धा से युक्त होकर कुरुक्षेत्र की यात्रा करने पर मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का फल पाता है।।8।। तदनन्तर, वहाँ मचक्रुक नाम वाले द्वारपाल महाबली यक्ष को नमस्कार करने मात्र से सहस्र गोदान का फल मिल जाता है।।9।। धर्मज्ञ राजेन्द्र! तत्पश्चात् भगवान् विष्णु के परम उत्तम सतत नामक तीर्थ-स्थान में जाय, जहाँ श्री हरि सदा निवास करते हैं।।10।।

तत्र स्नात्वा च नत्वा च त्रिलोकप्रभवं हरिम्।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति॥11।।
ततः पारिप्लवं गच्छेत् तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं प्राप्नोति भारत॥12।।

पृथिवीतीर्थमासाद्य गोसहस्रफलं लभेत्।
ततः शालूकिनीं गत्वा तीर्थसेवी नराधिप॥13।।
दशाश्वमेधे स्नात्वा च तदेव फलमाप्नुयात्।
सर्पदेवीं समासाद्य नागानां तीर्थमुत्तमम्॥14।।
अग्निष्टोममवाप्नोति नागलोकं च विन्दति।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ द्वारपालं तरन्तुकम्॥15।।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्।
ततः पञ्चनदं गत्वा नियतो नियताशनः॥16।।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत्।
अश्विनोस्तीर्थमासाद्य रूपवानभिजायते॥17।।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ वाराहं तीर्थमुत्तमम्।
विष्णुर्वाराहरूपेण पूर्वं यत्र स्थितोऽभवत्॥18।।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत्।
ततो जयन्त्यां राजेन्द्र सोमतीर्थं समाविशेत्॥19।।
स्नात्वा फलमवाप्नोति राजसूयस्य मानवः।
एकहंसे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥20।।
कृतशौचं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप।
पुण्डरीकमवाप्नोति कृतशौचो भवेच्च सः॥21।।

वहाँ स्नान और त्रिलोकभावन भगवान् श्रीहरि को नमस्कार करने से मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और भगवान् विष्णु के लोक में जाता है। इसके बाद त्रिभुवन-विख्यात पारिप्लव नामक तीर्थ में जाय। भारत! वहाँ स्नान करने से अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञों का फल प्राप्त होता है।।11-12।। महाराज! वहाँ से पृथिवी तीर्थ में जाकर स्नान करने से सहस्र गोदान का फल प्राप्त होता है। राजन्! वहाँ से तीर्थसेवी मनुष्य शालूकिनी में जाकर दशाश्वमेध तीर्थ में स्नान करने से उसी फल का भागी होता है। सर्पदेवी में जाकर उत्तम नागतीर्थ का सेवन करने से मनुष्य अग्निष्टोम का फल पाता और नागलोक में जाता है। धर्मज्ञ! वहाँ से तरन्तुक नामक द्वारपाल के पास जाय। वहाँ एक रात निवास करने से सहस्र गोदान का फल प्राप्त होता है। वहाँ से नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए पञ्चनदतीर्थ में जाय और वहाँ कोटितीर्थ में स्नान करे। इससे अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है। अश्विनीतीर्थ में जाकर स्नान करने से मनुष्य रूपवान् होता है।।13-17।। धर्मज्ञ! वहाँ से परम उत्तम वाराहतीर्थ को जाय, जहाँ भगवान् विष्णु पहले वाराह रूप से स्थित हुए थे। नरश्रेष्ठ! वहाँ स्नान करने से अग्निष्टोम यज्ञ का फल मिलता है। राजेन्द्र! तदनन्तर जयन्ती में सोमतीर्थ के निकट जाय, वहाँ स्नान करने से मनुष्य राजसूय यज्ञ का फल पाता है। एकहंसतीर्थ में स्नान करने से मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता है। नरेश्वर! कृतशौच तीर्थ में जाकर तीर्थसेवी मनुष्य पुण्डरीक याग का फल पाता है और शुद्ध हो जाता है।।20-21।।

ततो मुञ्जवटं नाम स्थाणोः स्थानं महात्मनः।
उपोष्य रजनीमेकां गाणपत्यमवाप्नुयात्॥22॥
तत्रैव च महाराज यक्षिणीं लोकविश्रुताम्।
स्नात्वाभिगम्य राजेन्द्र सर्वान् कामानवाप्नुयात्॥23॥
कुरुक्षेत्रस्य तद्द्वारं विश्रुतं भरतर्षभ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य तीर्थसेवी समाहितः॥24॥
सम्मितं पुष्कराणां च स्नात्वार्च्य पितृदेवताः।
जामदग्न्येन रामेण कृतं तत्सुमहात्मना॥25॥
कृतकृत्यो भवेद् राजन्नश्वमेधं च विन्दति।
ततो रामह्रदान् गच्छेत् तीर्थसेवी समाहितः॥26॥
तत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा।
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदाः पञ्च निवेशिताः॥27॥
पूरयित्वा नरव्याघ्र रुधिरेणेति विश्रुतम्।
पितरस्तर्पिताः सर्वे तथैव प्रपितामहाः॥28॥
ततस्ते पितरः प्रीता राममूचुर्नराधिप।

तदनन्तर महात्मा स्थाणु के मुञ्जवट नामक स्थान में जाय। वहाँ एक रात रहने से मानव गणपति पद प्राप्त करता है॥22॥ महाराज! वहीं लोकविख्यात यक्षिणीतीर्थ है। राजेन्द्र! उसमें जाने से और स्नान करने से सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति होती है॥23॥ भरतश्रेष्ठ! वह कुरुक्षेत्र का विख्यात द्वार है। उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मनुष्य एकाग्रचित्त हो पुष्कर तीर्थ के तुल्य उस तीर्थ में स्नान करके देवताओं और पितरों की पूजा करे। राजन्! इससे तीर्थयात्री कृतकृत्य होता और अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है। उत्तम श्रेणी के महात्मा जमदग्नि-नन्दन परशुराम ने उस तीर्थ का निर्माण किया है। तदनन्तर तीर्थयात्री एकाग्रचित्त हो परशुराम कुण्डों पर जाय॥24-26॥ राजेन्द्र! वहाँ उद्दीप्त तेजस्वी वीरवर परशुराम ने सम्पूर्ण क्षत्रियकुल का वेगपूर्वक संहार करके पाँच कुण्ड स्थापित किये थे॥27॥ पुरुषसिंह! उन कुण्डों को उन्होंने रक्त से भर दिया था, ऐसा सुना जाता है। उसी रक्त से परशुराम जी ने अपने पितरों और प्रपितामहों का तर्पण किया॥28॥ राजन्! तब वे पितर अत्यन्त प्रसन्न हो परशुरामजी से इस प्रकार बोले॥28½॥

पितर ऊचुः

राम राम महाभाग प्रीताः स्म तव भार्गव॥29॥
अनया पितृभक्त्या च विक्रमेण च ते विभो।
वरं वृणीष्व भद्रं ते किमिच्छसि महाद्युते॥30॥
एवमुक्तः स राजेन्द्र रामः प्रहरतां वरः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं पितॄन् स गगने स्थितान्॥31॥
भवन्तो यदि मे प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि।
पितृप्रसादमिच्छेयं तप आप्यायनं पुनः॥32॥

यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया।
ततश्च पापान्मुच्येयं युष्माकं तेजसाप्यहम्॥33।।
ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः।
एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं रामस्य पितरस्तदा॥34।।
प्रत्यूचुः परमप्रीता रामं हर्षसमन्विताः।
तपस्ते वर्धतां भूयः पितृभक्त्या विशेषतः॥35।।
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं त्वया।
ततश्च पापान् मुक्तस्त्वं पतितास्ते स्वकर्मभिः॥36।।
ह्रदाश्च तव तीर्थत्वं गमिष्यन्ति न संशयः।
ह्रदेषु तेषु यः स्नात्वा पितॄन् सन्तर्पयिष्यति॥37।।
पितरस्तस्य वै प्रीता दास्यन्ति भुवि दुर्लभम्।
ईप्सितं च मनःकामं स्वर्गलोकं च शाश्वतम्॥38।।
एवं दत्त्वा वरान् राजन् रामस्य पितरस्तदा।
आमन्त्र्य भार्गवं प्रीत्या तत्रैवान्तर्हितास्ततः॥39।।
एवं रामह्रदाः पुण्या भार्गवस्य महात्मनः।
स्नात्वा ह्रदेषु रामस्य ब्रह्मचारी शुभव्रतः॥40।।
राममभ्यर्च्य राजेन्द्र लभेद्बहुसुवर्णकम्।
वंशमूलकमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह॥41।।
स्ववंशमुद्धरेद्राजन् स्नात्वा वै वंशमूलके।
कायशोधनमासाद्य तीर्थं भरतसत्तम॥42।।
शरीरशुद्धिः स्नातस्य तस्मिंस्तीर्थे न संशयः।
शुद्धदेहश्च संयाति शुभाँल्लोकाननुत्तमान्॥43।।

पितरों ने कहा—महाभाग राम! परशुराम! भृगुनन्दन! विभो! हम तुम्हारी इस पितृभक्ति से और तुम्हारे पराक्रम से भी बहुत प्रसन्न हुए हैं। महाद्युते! तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर माँगो। बोलो, क्या चाहते हो?।।29-30।। राजेन्द्र! उनके ऐसा कहने पर योद्धाओं में श्रेष्ठ परशुराम ने हाथ जोड़कर आकाश में खड़े हुए उन पितरों से कहा—'पितृगण! यदि आप लोग मुझ पर प्रसन्न हैं और यदि मैं आपका अनुग्रह पात्र होऊँ तो मैं आपका कृपा-प्रसाद चाहता हूँ। पुनः मेरी तपस्या पूरी हो जाय'।।31-32।। 'मैंने जो रोष के वशीभूत होकर सारे क्षत्रिय कुल का संहार कर दिया है, आपके प्रभाव से मैं उस पाप से मुक्त हो जाऊँ तथा मेरे ये कुण्ड भूमण्डल में विख्यात तीर्थस्वरूप हो जायं।' परशुरामजी का यह शुभ वचन सुनकर उनके पितर बड़े प्रसन्न हुए और हर्ष में भरकर बोले—'वत्स! तुम्हारी तपस्या इस विशेष पितृभक्ति से पुनः बढ़ जाय।'।।33-35।। 'तुमने जो रोष में भरकर क्षत्रिय कुल का संहार किया है, उस पाप से तुम मुक्त हो गये। वे क्षत्रिय अपने ही कर्म से मरे हैं।।36।। तुम्हारे बनाये हुए ये कुण्ड तीर्थस्वरूप होंगे, इसमें संशय नहीं है। जो इन कुण्डों में नहाकर पितरों का तर्पण करेंगे, उन्हें तृप्त हुए पितर ऐसा वर देंगे, जो इस भूतल पर दुर्लभ है। वे उसके लिए मनोवाञ्छित कामना और सनातन स्वर्गलोक सुलभ कर देंगे'।।37-38।। राजन! इस प्रकार वर देकर परशुरामजी

के पितर प्रसन्नतापूर्वक उनसे अनुमति ले वहीं अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार भृगुनन्दन महात्मा परशुराम के वे कुण्ड बड़े पुण्यमय माने गये हैं। राजन्! जो उत्तम व्रत एवं ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए परशुरामजी के उन कुण्डों में जल में स्नान करके उनकी पूजा करता है, उसे प्रचुर सुवर्ण राशि की प्राप्ति होती है। कुरुश्रेष्ठ! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य वंशमूलक तीर्थ में जाय। राजन्! वंशमूलक में स्नान करके मनुष्य अपने कुल का उद्धार कर देता है। भरतश्रेष्ठ! कायशोधनतीर्थ में जाकर स्नान करने से शरीर की शुद्धि होती है, इसमें संशय नहीं। शरीर शुद्ध होने पर मनुष्य परम उत्तम कल्याणमय लोकों में जाता है।।39-43।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
लोका यत्रोद्धताः पूर्वं विष्णुना प्रभविष्णुना॥44।।
लोकोद्धारं समासाद्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम्।
स्नात्वा तीर्थवरे राजँल्लोकानुद्धरते स्वकान्॥45।।
श्रीतीर्थं च समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः।
अर्चयित्वा पितॄन् देवान् विन्दते श्रियमुत्तमाम्॥46।।
कपिलातीर्थमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् स्वान् दैवतान्यपि॥47।।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः।
सूर्यतीर्थं समासाद्य स्नात्वा नियतमानसः॥48।।
अर्चयित्वा पितॄन् देवानुपवासपरायणः।
अग्निष्टोममवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति॥49।।
गवां भवनमासाद्य तीर्थसेवी यथाक्रमम्।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो गोसहस्रफलं लभेत्॥50।।

धर्मज्ञ! तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात लोकोद्धारतीर्थ में जाय, जो तीनों लोकों में पूजित है। वहाँ पूर्वकाल में सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु ने कितने ही लोकों का उद्धार किया था। राजन्! लोकोद्धार में जाकर उस उत्तम तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य आत्मीय जनों का उद्धार करता है।।44-45।। मन को वश में करके श्रीतीर्थ में जाकर स्नान करके देवताओं और पितरों की पूजा करने से मनुष्य उत्तम सम्पत्ति प्राप्त करता है।।46।। कपिला-तीर्थ में जाकर ब्रह्मचर्य के पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ स्नान और देवता-पितरों का पूजन करके मानव सहस्र कपिला गौओं के दान का फल प्राप्त करता है। मन को वश में करके उपवास करने वाला मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञ का फल पाता और सूर्यलोक में जाता है।।47-49।। तदनन्तर तीर्थसेवी क्रमशः गोभवन तीर्थ में जाकर वहाँ स्नान करे। इससे उसको सहस्र गोदान का फल मिलता है।।50।।

शङ्खिनीतीर्थमासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा लभते रूपमुत्तमम्॥51।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र द्वारपालमरन्तुकम्।
तच्च तीर्थं सरस्वत्यां यक्षेन्द्रस्य महात्मनः॥52।।

तत्र स्नात्वा नरो राजन्नग्निष्टोमफलं लभेत्।
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मावर्तं नरोत्तमः॥53।।
ब्रह्मावर्ते नरः स्नात्वा ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्।
ततो गच्छेत राजेन्द्र सुतीर्थकमनुत्तमम्॥54।।
तत्र सन्निहिता नित्यं पितरो दैवतैः सह।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः॥55।।
अश्वमेधमवाप्नोति पितृलोकं च गच्छति।
ततः अम्बुमत्यां धर्मज्ञ सुतीर्थकमनुत्तमम्॥56।।
काशीश्वरस्य तीर्थेषु स्नात्वा भरतसत्तम।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते॥57।।
मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत।
प्रजा विवर्धते राजन्नतन्वीं श्रियमश्नुते॥58।।
ततः सीतवनं गच्छेन्नियतो नियताशनः।
तीर्थं तत्र महाराज महदन्यत्र दुर्लभम्॥59।।
पुनाति गमनादेव दृष्टमेकं नराधिप।
केशानभ्युक्ष्य वै तस्मिन् पूतो भवति भारत॥60।।

कुरुश्रेष्ठ! तीर्थयात्री पुरुष शङ्खिनी तीर्थ में जाकर वहाँ देवी तीर्थ में स्नान करने से उत्तम रूप प्राप्त करता है।।51।। राजेन्द्र! तदनन्तर अरन्तुक नामक द्वारपाल के पास जाय। महात्मा यक्षराज कुबेर का वह तीर्थ सरस्वती नदी में है। राजन्! वहाँ स्नान करने से मनुष्य को अग्निष्टोमयज्ञ का फल प्राप्त होता है। राजेन्द्र! तदनन्तर श्रेष्ठ मानव ब्रह्मावर्त तीर्थ को जाय। ब्रह्मावर्त में स्नान करके मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। राजेन्द्र! वहाँ से परम उत्तम सुतीर्थ में जाय। वहाँ देवतालोग पितरों के साथ सदा विद्यमान रहते हैं। वहाँ पितरों और देवताओं के पूजन में तत्पर हो स्नान करे। इससे तीर्थयात्री अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और पितृलोक में जाता है। धर्मज्ञ! वहाँ से अम्बुमती में,जो परम उत्तम तीर्थ है, जाय।।52-56।। भरतश्रेष्ठ! काशीश्वर के तीर्थों में स्नान करके मनुष्य सब रोगों से मुक्त हो जाता और ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।।57।। भरतवंशी महाराज! वहीं मातृतीर्थ है, जिसमें स्नान करने वाले पुरुष की संतति बढ़ती है और वह कभी क्षीण न होने वाली सम्पत्ति का उपभोग करता है।।58।। तदनन्तर नियम से रहकर नियमित भोजन करते हुए सीतवन में जाय। महाराज! उसमें केशों को धो लेने मात्र से ही मनुष्य पवित्र हो जाता है।।60।।

तीर्थं तत्र महाराज श्वाविल्लोमापहं स्मृतम्।
यत्र विप्रा नरव्याघ्र विद्वांसस्तीर्थतत्पराः॥61।।
प्रीतिं गच्छन्ति परमां स्नात्वा भरतसत्तम।
श्वाविल्लोमापनयने तीर्थे भरतसत्तम॥62।।
प्राणायामैर्निर्हरन्ति स्वलोमानि द्विजोत्तमाः।
पूतात्मानश्च राजेन्द्र प्रयान्ति परमां गतिम्॥63।।

दशाश्वमेधिकं चैव तस्मिंस्तीर्थे महीपते।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र गच्छेत परमां गतिम्॥64।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोकविश्रुतम्।
यत्र कृष्णमृगा राजन् व्याधेन शरपीडिताः॥65।।
विगाह्य तस्मिन् सरसि मानुषत्वमुपागताः।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः॥66।।
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते।
मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते॥67।।
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेविता।
श्यामाकं भोजने तत्र यः प्रयच्छति मानवः॥68।।
देवान् पितॄन् समुद्दिश्य तस्य धर्मफलं महत्।
एकस्मिन् भोजिते विप्रे कोटिर्भवति भोजिता॥69।।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च वितॄन् वै दैवतानि च।
उषित्वा रजनीमेकामग्निष्टोमफलं लभेत्॥70।।

महाराज! वहाँ श्वाविल्लोमापह नामक तीर्थ है। नरव्याघ्र! उसमें तीर्थपरायण हुए विद्वान् ब्राह्मण स्नान करके बड़े प्रसन्न होते हैं। भरतसत्तम! श्वाविल्लोमापनयन तीर्थ में प्राणायाम (योग की क्रिया) करने से श्रेष्ठ द्विज अपने रोएँ झाड़ देते हैं तथा राजेन्द्र! वे शुद्धचित्त होकर परमगति को प्राप्त होते हैं।।61-63।। भूपाल! वहीं दशाश्वमेधिक तीर्थ भी है। पुरुषसिंह उसमें स्नान करके मनुष्य उत्तम गति प्राप्त करता है।।64।। राजेन्द्र! तदनन्तर लोकविख्यात मानुष तीर्थ में जाय। राजन्! वहाँ व्याध के बाणों से पीड़ित हुए कृष्णमृग उस सरोवर में गोते लगाकर मनुष्य शरीर पा गये थे, इसीलिये उसका नाम मानुष तीर्थ है। ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो उस तीर्थ में स्नान करने वाला मानव सब पापों से मुक्त हो स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है। राजन्! मानुष तीर्थ से पूर्व एक कोस की दूरी पर आपगा नाम से विख्यात एक नदी है, जो सिद्ध पुरुषों से सेवित है। जो मनुष्य वहाँ देवताओं और पितरों के उद्देश्य से भोजन कराते समय श्यामाक (साँवा) नामक अन्न देता है, उसे महान् धर्मफल की प्राप्ति होती है। वहाँ एक ब्राह्मण को भोजन कराने पर एक करोड़ ब्राह्मणों को भोजन कराने का फल मिलता है।।65-69।। वहाँ स्नान करके देवताओं और पितरों के पूजनपूर्वक एक रात निवास करने से अग्निष्टोमयज्ञ का फल मिलता है।।70।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणः स्थानमुत्तमम्।
ब्रह्मोदुम्बरमित्येव प्रकाशं भुवि भारत॥71।।
तत्र सप्तर्षिकुण्डेषु स्नातस्य नरपुङ्गव।
केदारे चैव राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः॥72।।
ब्रह्माणमधिगम्याथ शुचिः प्रयतमानसः।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते॥73।।
कपिलस्य च केदारं समासाद्य सुदुर्लभम्।

अन्तर्धानमवाप्नोति तपसा दग्धकिल्बिषः॥74।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र सरकं लोकविश्रुतम्।
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यामभिगम्य वृषध्वजम्॥75।।
लभेत सर्वकामान् हि स्वर्गलोकं च गच्छति।
तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां सरके कुरुनन्दन॥76।।
रुद्रकोट्यां तथा कूपे ह्रदेषु च महीपते।
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम॥77।।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च दैवतानि पितॄनथ।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजपेयं च विन्दति॥78।।
किंदाने च नरः स्नात्वा किंजप्ये च महीपते।
अप्रमेयमवाप्नोति दानं जप्यं च भारत॥79।।
कलश्यां वार्युपस्पृश्य श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥80।।

भरतवंशी राजेन्द्र! तदनन्तर ब्रह्माजी के उत्तम स्थान में जाय, जो इस पृथ्वी पर ब्रह्मोदुम्बर तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध है।।71।। वहाँ सप्तर्षि कुण्ड है। नरश्रेष्ठ महाराज! उन कुण्डों में तथा महात्मा कपिल के केदारतीर्थ में स्नान करने से पुरुष को महान् पुण्य की प्राप्ति होती है। वह मनुष्य ब्रह्माजी के निकट जाकर उनका दर्शन करने से शुद्ध, पवित्रचित्त एवं सब पापों से रहित होकर ब्रह्मलोक में जाता है। कपिल का केदार भी अत्यन्त दुर्लभ है। वहाँ जाने से तपस्या द्वारा सब पाप नष्ट हो जाने के कारण मनुष्य को अन्तर्धान विद्या की प्राप्ति हो जाती है।।72-74।। राजेन्द्र! तदनन्तर लोकविख्यात सरक तीर्थ में जाय। वहाँ कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को भगवान् शङ्कर का दर्शन करने से मनुष्य सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता और स्वर्गलोक में जाता है। कुरुनन्दन! सरक में तीन करोड़ तीर्थ हैं।।75-76।। राजन्! ये सब तीर्थ रुद्रकोटि में, कूप में और कुण्डों में हैं। भरतशिरोमणे! वहीं इलास्पदतीर्थ है, जिसमें स्नान और देवता-पितरों का पूजन करने से मनुष्य कभी दुर्गति में नहीं पड़ता और वाजपेय यज्ञ का फल पाता है।।77-78।। महीपते! वहाँ किंदान और किंजप्य नामक तीर्थ भी हैं। भारत! उनमें स्नान करने से मनुष्य दान और जप का असीम फल पाता है।।79।। कलशी तीर्थ में जल का आचमन करके श्रद्धालु और जितेन्द्रिय मानव अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है।।80।।

सरकस्य तु पूर्वेण नारदस्य महात्मनः।
तीर्थं कुरुकुलश्रेष्ठ अम्बाजन्मेति विश्रुतम्॥81।।
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा प्राणानुत्सृज्य भारत।
नारदेनाभ्यनुज्ञातो लोकान्प्राप्नोत्यनुत्तमान्॥82।।
शुक्लपक्षे दशम्यां च पुण्डरीकं समाविशेत्।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् पुण्डरीकफलं लभेत्॥83।।
ततस्त्रिविष्टपं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्र वैतरणी पुण्या नदी पापप्रणाशिनी॥84।।

तत्र स्नात्वार्चयित्वा च शूलपाणिं वृषध्वजम्।
सर्वपापविशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम्॥85।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र फलकीवनमुत्तमम्।
तत्र देवाः सदा राजन् फलकीवनमाश्रिताः॥86।।
तपश्चरन्ति विपुलं बहु वर्षसहस्रकम्।
दृषद्वत्यां नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः॥87।।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत।
तीर्थे च सर्वदेवानां स्नात्वा भरतसत्तम॥88।।
गोसहस्रस्य राजेन्द्र फलं विन्दति मानवः।
पाणिखाते नरः स्नात्वा तर्पयित्वा च देवताः॥89।।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति भारत।
राजसूयमवाप्नोति ऋषिलोकं च विन्दति॥90।।

कुरुकुलश्रेष्ठ! सरक तीर्थ के पूर्व में महात्मा नारद का तीर्थ है, जो अम्बाजन्म के नाम से विख्यात है।।81।। भारत! उस तीर्थ में स्नान करके मनुष्य प्राण त्याग के पश्चात् नारद जी की आज्ञा के अनुसार परम उत्तम लोकों में जाता है।।82।। शुक्ल पक्ष की दशमी तिथि को पुण्डरीक तीर्थ में प्रवेश करे। राजन्! वहाँ स्नान करने से मनुष्य को पुण्डरीक याग का फल प्राप्त होता है।।83।। तदनन्तर तीनों लोकों में विख्यात त्रिविष्टप तीर्थ में जाय वहाँ वैतरणी नामक पुण्यमयी पापनाशिनी नदी है।।84।। उसमें स्नान करके शूलपाणि भगवान् शङ्कर की पूजा करने से मनुष्य सब पापों से शुद्धचित्त हो परम गति को प्राप्त होता है।।85।। राजेन्द्र! वहाँ से फलकी वन नामक उत्तम तीर्थ की यात्रा करे। राजन्! देवता लोग फलकी वन में सदा निवास करते हैं और अनेक सहस्र वर्षों तक वहाँ भारी तपस्या में लगे रहते हैं। भारत! दृषद्वती में स्नान करके देवता-पितरों का तर्पण करने से मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञों का फल पाता है। भरतसत्तम राजेन्द्र! सर्वदेवतीर्थ में स्नान करने से मानव सहस्र गोदान का फल पाता है। भारत! पाणिखात तीर्थ में स्नान करके देवता-पितरों का तर्पण करने से मनुष्य अग्निष्टोम और अतिरात्र-यज्ञों से मिलने वाले फल को प्राप्त कर लेता है; साथ ही वह राजसूय यज्ञ का फल पाता एवं ऋषिलोक में जाता है।।86-90।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र मिश्रकं तीर्थमुत्तमम्।
तत्र तीर्थानि राजेन्द्र मिश्रितानि महात्मना॥91।।
व्यासेन नृपशार्दूल द्विजार्थमिति नः श्रुतम्।
सर्वतीर्थेषु स स्नाति मिश्रके स्नाति यो नरः॥92।।
ततो व्यासवनं गच्छेन् नियतो नियताशनः।
मनोजवे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥93।।
गत्वा मधुवटीं चैव देव्यास्तीर्थे नरः शुचिः।
तत्र स्नात्वार्चयित्वा च पितॄन् देवांश्च पूरुषः॥94।।
स देव्या समनुज्ञातो गोसहस्रफलं लभेत्।

कौशिक्याः सङ्गमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत॥95॥
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते।
ततो व्यासस्थली नाम यत्र व्यासेन धीमता॥96॥
पुत्रशोकाभितप्तेन देहत्यागे कृता मतिः।
ततो देवैस्तु राजेन्द्र पुनरुत्थापितस्तदा॥97॥
अभिगत्वा स्थलीं तस्य गोसहस्रफलं लभेत्।
किन्दत्तं कूपमासाद्य तिलप्रस्थं प्रदाय च॥98॥
गच्छेत परमां सिद्धिमृणैर्मुक्तः कुरूद्वह।
वेदीतीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥99॥
अहश्च सुदिनं चैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते।
तयोः स्नात्वा नरव्याघ्र सूर्यलोकमवाप्नुयात्॥100॥

राजेन्द्र! तत्पश्चात् परम उत्तम मिश्रक तीर्थ में जाय। महाराज! वहाँ महात्मा व्यास ने द्विजों के लिए सभी तीर्थों का सम्मिश्रण किया है; यह बात मेरे सुनने में आयी है। जो मनुष्य मिश्रक तीर्थ में स्नान करता है, उसका वह स्नान सभी तीर्थों में स्नान करने के समान है॥91-92॥ तत्पश्चात् नियमपूर्वक रहते हुए मिताहारी होकर व्यास वन की यात्रा करे। वहाँ मनोजव तीर्थ में स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता है॥93॥ मधुवटी में जाकर देवी तीर्थ में स्नान करके पवित्र हुआ मानव वहाँ देवता-पितरों की पूजा करके देवी की आज्ञा के अनुसार सहस्र गोदान का फल पाता है। भारत! कौशिकी और दृषद्वती के सङ्गम में जो नियमित भोजन करते हुए स्नान करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् व्यास स्थली में जाय, जहाँ परम बुद्धिमान् व्यास ने पुत्र शोक से संतप्त हो शरीर त्याग देने का विचार किया था। राजेन्द्र! उस समय उन्हें देवताओं ने पुनः उठाया था। उस स्थल में जाने से सहस्र गोदान का फल मिलता है। किंदत्त नामक कूप के समीप जाकर एक प्रस्थ अर्थात् सोलह मुट्ठी तिल दान करे। कुरुश्रेष्ठ! ऐसा करने से मनुष्य तीनों ऋणों से मुक्त हो परम सिद्धि को प्राप्त होता है। वेदी तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता है॥98-99॥ अहन् और सुदिन—ये दो लोकविख्यात तीर्थ हैं। नरश्रेष्ठ! उन दोनों में स्नान करके मनुष्य सूर्यलोक में जाता है॥100॥

मृगधूमं ततो गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्राभिषेकं कुर्वीत गङ्गायां नृपसत्तम॥101॥
अर्चयित्वा महादेवमश्वमेधफलं लभेत्।
देव्यास्तीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥102॥
ततो वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम्॥103॥
सर्वपापविशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति।
कुलम्पुने नरः स्नात्वा पुनाति स्वकुलं ततः॥104॥
पवनस्य ह्रदे स्नात्वा मरुतां तीर्थमुत्तमम्।

तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र विष्णुलोके महीयते॥105॥
अमराणां ह्रदे स्नात्वा समभ्यर्च्यामराधिपम्।
अमराणां प्रभावेण स्वर्गलोके महीयते॥106॥
शालिहोत्रस्य तीर्थे च शालिसूर्ये यथाविधि।
स्नात्वा नरवरश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत्॥107॥
श्रीकुञ्जं च सरस्वत्यास्तीर्थं भरतसत्तम।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ अग्निष्टोमफलं लभेत्॥108॥
ततो नैमिषकुञ्जं च समासाद्य कुरूद्वह।
ऋषयः किल राजेन्द्र नैमिषेयास्तपस्विनः॥109॥
तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा।
ततः कुञ्जः सरस्वत्याः कृतो भरतसत्तम॥110॥

नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर तीनों लोकों में विख्यात मृगधूम तीर्थ में जाय और वहाँ गङ्गाजी में स्नान करे॥101॥ वहाँ महादेवजी की पूजा करके मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है। देवी तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान का फल मिलता है॥102॥ तत्पश्चात् त्रिलोक विख्यात वामन तीर्थ में जाय। वहाँ विष्णु पद में स्नान और वामन देवता का पूजन करने से मनुष्य सब पापों से शुद्ध हो भगवान् विष्णु के लोक में जाता है। कुलम्पुन तीर्थ में स्नान करके मानव अपने कुल को पवित्र कर देता है॥103-104॥ नरव्याघ्र! तदनन्तर पवनह्रद में स्नान करे। वह मरुद्गणों का उत्तम तीर्थ है। वहाँ स्नान करने से मानव विष्णु लोक में प्रतिष्ठित होता है॥105॥ अमरह्रद में स्नान करके अमरेश्वर इन्द्र का पूजन करे। ऐसा करके मनुष्य अमरों के प्रभाव से स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होता है॥106॥ नरश्रेष्ठ! शालिहोत्र के शालिसूर्य नामक तीर्थ में विधिपूर्वक स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता है॥107॥ भरतसत्तम नरश्रेष्ठ! श्री कुञ्जनामक सरस्वती तीर्थ में स्नानकरने से मानव अग्निष्टोमयज्ञ का फल प्राप्त कर लेता है॥108॥ कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् नैमिषकुञ्ज की यात्रा करे। राजेन्द्र! कहते हैं, नैमिषारण्य के निवासी तपस्वी ऋषि पहले कभी तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग से कुरुक्षेत्र में गये थे। भरतश्रेष्ठ! उसी समय उन्होंने सरस्वती कुञ्ज का निर्माण किया था (वही नैमिषकुञ्ज कहलाता है)॥109-110॥

ऋषीणामवकाशः स्याद् यथा तुष्टिकरोमहान्।
तस्मिन्कुञ्जे नरः स्नात्वा अग्निष्टोमफलं लभेत्॥111॥
ततो गच्छेत धर्मज्ञ कन्यातीर्थमुनुत्तमम्।
कन्यातीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥112॥
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मणस्तीर्थमुत्तमम्।
तत्र वर्णावरः स्नात्वा ब्राह्मण्यं लभते नरः॥113॥
ब्राह्मणश्च विशुद्धात्मा गच्छेत परमां गतिम्।
ततो गच्छेन्नरश्रेष्ठ सोमतीर्थमुनुत्तमम्॥114॥
तत्र स्नात्वा नरो राजन् सोमलोकमवाप्नुयात्।

सप्तसारस्वतं तीर्थं ततो गच्छेन्नराधिप॥115॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धो महर्षिर्लोकविश्रुतः।
पुरा मङ्कणको राजन् कुशाग्रेणेति नः श्रुतम्॥116॥
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत्।
स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान्॥117॥
ततस्तस्मिन् प्रनृत्ते तु स्थावरं जङ्गमं च यत्।
प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम्॥118॥
ब्रह्मादिभिः सुरै राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः।
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरथ नराधिप॥119॥
नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि।
तं प्रनृत्तं समासाद्य हर्षाविष्टेन चेतसा।
सुराणां हितकामार्थमृषिं देवोऽभ्यभाषत॥120॥
भो भो महर्षे धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान्।
हर्षस्थानं किमर्थं वा तवाद्य मुनिपुङ्गव॥121

वह ऋषियों का स्थान है, जो उनके लिये महान् सन्तोषजनक है। उस कुञ्जमें स्नान करके मनुष्य अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है॥111॥ धर्मज्ञ! तदनन्तर परम उत्तम कन्या तीर्थ की यात्रा करे। कन्या तीर्थ में स्नान करने से मानव सहस्र गोदान का फल पाता है॥112॥ राजेन्द्र! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मतीर्थ में जाय। वहाँ स्नान करने से ब्राह्मणेतर वर्ण का मनुष्य भी ब्राह्मणत्व लाभ करता है। ब्राह्मण होने पर शुद्धचित्त हो वह परम गति को प्राप्त कर लेता है। नरश्रेष्ठ! तत्पश्चात् उत्तम सोमतीर्थ की यात्रा करे। राजन्! वहाँ स्नान करने से मानव सोमलोक को जाता है। नरेश्वर! इसके बाद सप्त सारस्वत नामक तीर्थ की यात्रा करे, जहाँ लोकविख्यात महर्षि मङ्कणक को सिद्धि प्राप्त हुई थी। राजन्! हमारे सुनने में आया है कि पहले कभी महर्षि मङ्कणक के हाथ में कुश का अग्र भाग गड़ गया, जिससे उनके हाथ में घाव हो गया। महाराज! उस समय उस हाथ से शाक का रस चूने लगा। शाक का रस चूता देख महर्षि हर्षावेश से मतवाले हो नृत्य करने लगे॥113-117॥ वीर! उनके नृत्य करते समय उनके तेज से मोहित हो सारा चराचर जगत् नृत्य करने लगा॥118॥ राजन्! नरेश्वर! उस समय ब्रह्मा आदि देवता तथा तपोधन महर्षिगण—सबने मङ्कणक मुनि के विषय में महादेवजी से निवेदन किया—'देव! आप कोई ऐसा उपाय करें, जिससे इनका यह नृत्य बंद हो जाय।' महादेवजी देवताओं के हित की इच्छा से हर्षावेश से नाचते हुए मुनि के पास गये और इस प्रकार बोले—'धर्मज्ञ महर्षे! मुनिप्रवर! आप किसलिये नृत्य कर रहे हैं? आज आपके इस हर्षातिरेक का क्या कारण है?'॥119-121॥

ऋषिरुवाच

तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम।
किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्रुतम्॥122॥

यं दृष्ट्वा सम्प्रनृत्तोऽहं हर्षेण महतान्वितः।
तं प्रहस्याब्रवीद्देव ऋषिं रागेण मोहितम्॥123॥
अहं तु विस्मयं विप्र न गच्छामीति पश्य माम्।
एवमुक्त्वा नरश्रेष्ठ महादेवेन धीमता॥124॥
अङ्गुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वाङ्गुष्ठस्ताडितोऽनघ।
ततो भस्म क्षताद् राजन् निर्गतं हिमसन्निभम्॥125॥
तदृष्ट्वा व्रीडितो राजन् स मुनिः पादयोर्गतः।
नान्यद् देवात्परं मेने रुद्रात् परतरं महत्॥126॥
सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृक्।
त्वया सर्वमिदं सृष्टं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥127॥
त्वमेव सर्वान् ग्रससि पुनरेव युगक्षये।
देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया॥128॥
त्वयि सर्वे प्रदृश्यन्ते सुरा ब्रह्मादयोऽनघ।
सर्वस्त्वमसि लोकानां कर्त्ता कारयिता च ह॥129॥
त्वत्प्रसादात्सुराः सर्वे मोदन्तीहाकुतोभयाः।
एवं स्तुत्वा महादेवमृषिर्वचनमब्रवीत्॥130॥
त्वत्प्रसादान् महादेव तपो मे न क्षरेत वै।
ततो देवः प्रहृष्टात्मा ब्रह्मर्षिमिदमब्रवीत्॥131

ऋषि ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! ब्रह्मन्! मैं धर्म के मार्ग पर स्थिर रहने वाला तपस्वी हूँ। मेरे हाथ से यह शाक का रस चू रहा है। क्या आप इसे नहीं देखते? इसीको देखकर मैं हर्ष से नाच रहा हूँ। महर्षि राग से मोहित हो रहे थे। महादेवजी ने उनकी बात सुनकर हँसते हुए कहा—'विप्रवर! मुझे तो यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा है। मेरी ओर देखिये।' नरश्रेष्ठ! निष्पाप राजेन्द्र! ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् महादेवजी ने अङ्गुली के अग्रभाग से अपने अङ्गूठे को ठोंका। राजन्! उनके चोट करने पर उस अङ्गूठे से बर्फ के समान सफेद भस्म गिरने लगा॥122-125॥ महाराज! यह अद्भुत बात देखकर मुनि लज्जित हो महादेवजी के चरणों में पड़ गये और उन्होंने दूसरे किसी देवता को महादेवजी से बढ़कर नहीं मानने का निश्चय किया॥126॥ वे बोले—'भगवन्! देवता और असुरों सहित सम्पूर्ण जगत् के आश्रय आप ही हैं। त्रिशूलधारी महेश्वर! आपने ही चराचर जीवों सहित सम्पूर्ण त्रिलोक को उत्पन्न किया है॥127॥ फिर प्रलयकाल आने पर आप ही सब जीवों को अपना ग्रास बना लेते हैं। देवता भी आपके स्वरूप को नहीं जान सकते, फिर मेरी तो बात ही क्या?॥128॥ अनघ! ब्रह्मा आदि सब देवता आप ही में दिखायी देते हैं। इस जगत् के करने और कराने वाले सब कुछ आप ही हैं॥129॥ आपके प्रसाद से सब देवता यहाँ निर्भय और प्रसन्न रहते हैं।' इस प्रकार स्तुति करके ऋषि ने फिर महादेवजी से कहा—॥130॥ 'महादेव! आपकी कृपा से मेरी तपस्या नष्ट न हो।' तब महादेवजी ने प्रसन्नचित्त हो महर्षि से कहा—॥131॥

तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा।
आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सह महामुने॥132।।
सप्तसारस्वते स्नात्वा अर्चयिष्यन्ति ये तु माम्।
न तेषां दुर्लभं किञ्चिदिहलोके परत्र च॥133।।
सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः।
एवमुक्त्वा महादेवस्तत्रैवान्तरधीयत॥134।।
ततस्त्वौशनसं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः॥135।।
कार्तिकेयश्च भगवांस्त्रिसन्ध्यं किल भारत।
सान्निध्यमकरोन्नित्यं भार्गवप्रियकाम्यया॥136।।
कपालमोचनं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम्।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र सर्वपापैः प्रमुच्यते॥137।।
अग्नितीर्थं ततो गच्छेत्तत्र स्नात्वा नरर्षभ।
अग्निलोकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्॥138।।
विश्वामित्रस्य तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम।
तत्र स्नात्वा नरश्रेष्ठ ब्राह्मण्यमधिगच्छति॥139।।
ब्रह्मयोनिं समासाद्य शुचिः प्रयतमानसः।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र ब्रह्मलोकं प्रपद्यते॥140।।
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं नास्त्यत्र संशयः।
ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्॥141।।
पृथूदकमिति ख्यातं कार्तिकेयस्य वै नृप।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः॥142।।

'ब्रह्मन्! मेरे प्रसाद से आपकी तपस्या हजार गुनी बढ़े। महामुने! मैं तुम्हारे साथ इस आश्रम में रहूँगा।।132।। जो सप्त सारस्वत तीर्थ में स्नान करके मेरी पूजा करेंगे, उनके लिए इह लोक और परलोक में कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होगी।।133।। इतना ही नहीं, वे सरस्वती के लोक में जायेंगे, इसमें संशय नहीं है।' ऐसा कहकर महादेवजी वहीं अन्तर्धान हो गये।।134।। तदनन्तर तीनों लोकों में विख्यात औशनस तीर्थ की यात्रा करे, जहाँ ब्रह्मा आदि देवता तथा तपस्वी ऋषि रहते हैं। भारत! शुक्राचार्यजी का प्रिय करने के लिए भगवान् कार्तिकेय भी वहाँ सदा तीनों संध्याओं के समय उपस्थित रहते हैं।।136।। कपालमोचन तीर्थ सब पापों से छुड़ाने वाला है! नरश्रेष्ठ! वहाँ स्नान करके मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है।।137।। नरश्रेष्ठ! वहाँ से अग्नितीर्थ को जाय। उसमें स्नान करने से मनुष्य अग्निलोक में जाता और अपने कुल का उद्धार कर देता।।138।। भरतसत्तम! वहीं विश्वामित्र तीर्थ है। नरश्रेष्ठ! वहाँ स्नान करने से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती है।।139।। नरश्रेष्ठ! ब्रह्मयोनितीर्थ में जाकर पवित्र एवं जितात्मा पुरुष वहाँ स्नान करने से ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है साथ ही, अपने कुल की सात पीढ़ियों तक को पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है। राजेन्द्र! तदनन्तर कार्तिकेय के त्रिभुवनविख्यात

पृथूदक तीर्थ की यात्रा करें और वहाँ स्नान करके देवताओं तथा पितरों की पूजा में संलग्न रहें।।140-142।।

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि स्त्रिया वा पुरुषेण वा।
यत् किञ्चिदशुभं कर्म कृतं मानुषबुद्धिना॥143।।
तत् सर्वं नश्यते तत्र स्नातमात्रस्य भारत।
अश्वमेधफलं चास्य स्वर्गलोकं च गच्छति॥144।।
पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वती।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम्॥145।।
उत्तमं सर्वतीर्थानां यस्त्यजेदात्मनस्तनुम्।
पृथूदके जप्यपरो नैव श्वो मरणं भवेत्[तपेत्]॥146।।
गीतं सनत्कुमारेण व्यासेन च महात्मना।
एवं स नियतं राजन्नभिगच्छेत् पृथूदकम्॥147।।
पृथूदकात्तीर्थतमं नान्यत्तीर्थं कुरूद्वह।
तन्मेध्यं तत्पवित्रं च पावनं च न संशयः॥148।।
तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति येऽपि पापकृतो नराः।
पृथूदके नरश्रेष्ठ एवमाहुर्मनीषिणः॥149।।
मधुस्रवं च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत्॥150।।

भारत! स्त्री हो या पुरुष, उसने मानव-बुद्धि से अनजान में या जानबूझकर जो कुछ भी पापकर्म किया है, वह सब पृदक तीर्थ में स्नानकरने मात्र से नष्ट हो जाता है और तीर्थसेवी पुरुष को अश्वमेध यज्ञ के फल एवं स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।।143-144।। कुरुक्षेत्र तीर्थ को सबसे पवित्र कहते हैं, कुरुक्षेत्र से भी पवित्र है सरस्वती नदी, सरस्वती से भी पवित्र हैं उसके तीर्थ और उन तीर्थों से भी पवित्र हैं पृथूदक।।145।। वह सब तीर्थों में उत्तम है, जो पृथूदक तीर्थ में जपपरायण होकर अपने शरीर का त्याग करता है, उसे पुनर्मृत्यु का भय नहीं होता।।146।। यह बात भगवान् सनत्कुमार तथा महात्मा व्यास ने कही है। राजन्! इस प्रकार तीर्थयात्री नियमपूर्वक पृथूदक तीर्थ की यात्रा करे।।147।। कुरुश्रेष्ठ! पृथूदक से श्रेष्ठतम तीर्थ दूसरा कोई नहीं है। वही मेध्य, पवित्र और पावन है, इसमें संशय नहीं है।।148।। नरश्रेष्ठ! पापी मनुष्य भी वहाँ पृथूदक तीर्थ में स्नान करने से स्वर्ग लोक में चले जाते हैं, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं।।149।। भरतश्रेष्ठ! वहीं मधुस्रव तीर्थ है। राजन्! उसमें स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान का फल मिलता है।।150।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं मेध्यं यथाक्रमम्।
सरस्वत्यरुणायाश्च सङ्गमं लोकविश्रुतम्॥151।।
त्रिरात्रोपोषितः स्नात्वा मुच्यते ब्रह्महत्यया।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलं विन्दति मानवः॥152।।
आसप्तमं कुलं चैव पुनाति भरतर्षभ।

अर्धकीलं च तत्रैव तीर्थं कुरुकुलोद्वह॥153॥
विप्राणामनुकम्पार्थं दर्भिणा निर्मितं पुरा।
व्रतोपनयनाभ्यां चाप्युपवासेन वाप्युत॥154॥
क्रियामन्त्रैश्च संयुक्तो ब्राह्मणः स्यान्न संशयः।
क्रियामन्त्रविहीनोऽपि तत्र स्नात्वा नरर्षभ।
चीर्णव्रतो भवेद् विद्वान्दृष्टमेतत् पुरातनैः॥155॥
समुद्राश्चापि चत्वारः समानीताश्च दर्भिणा।
तेषु स्नातो नरश्रेष्ठ न दुर्गतिमवाप्नुयात्॥156॥
फलानि गोसहस्राणां चतुर्णां विन्दते च सः।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं शतसहस्रकम्॥157॥
साहस्रकं च तत्रैव द्वे तीर्थे लोकविश्रुते।
उभयोर्हि नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥158॥
दानं वाप्युपवासो वा सहस्रगुणितं भवेत्।
ततो गच्छेत राजेन्द्र रेणुकातीर्थमुत्तमम्॥159॥
तीर्थाभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः।
सर्वपापविशुद्धात्मा अग्निष्टोमफलं लभेत्॥160॥

राजेन्द्र! तदनन्तर क्रमशः लोकविख्यात सरस्वती अरुणासङ्गम नामक पवित्र तीर्थ की यात्रा करे॥151॥ वहाँ स्नान करके तीन रात उपवास करने से ब्रह्म हत्या से छुटकारा मिल जाता है। इतना ही नहीं, वह मनुष्य अग्निहोम और अतिरात्र यज्ञों से मिलने वाले फल को भी पा लेता है। भरतश्रेष्ठ! वह अपने कुल की सात पीढ़ियों को पवित्र कर देता है। कुरुकुलशिरोमणे! वहीं अर्धकील नामक तीर्थ है, जिसे पूर्वकाल में दर्भी मुनि ने ब्राह्मणों पर कृपा करने के लिए प्रकट किया था। वहाँ व्रत, उपनयन और उपवास करने से मनुष्य कर्मकाण्ड और मन्त्रों का ज्ञाता ब्राह्मण होता है, इसमें संशय नहीं है। नरश्रेष्ठ! क्रियाविहीन और मन्त्रहीन पुरुष भी उसमें स्नान करके व्रत का पालन करने से विद्वान् होता है, यह बात प्राचीन महर्षियों ने प्रत्यक्ष देखी है। दर्भी मुनि वहाँ चार समुद्रों को भी ले आये हैं। नरश्रेष्ठ! उसमें स्नान करने वाला मनुष्य कभी दुर्गति में नहीं पड़ता और उसे चार हजार गोदान का भी फल मिलता है। धर्मज्ञ! तदनन्तर वहाँ से शतसहस्र और साहस्रक तीर्थों की यात्रा करे। वे दोनों लोकविख्यात तीर्थ हैं। उनमें स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान का फल प्राप्त होता है। वहाँ किये हुए दान अथवा उपवास का महत्त्व अन्यत्र से सहस्रगुना अधिक है। राजेन्द्र! वहाँ से उत्तम रेणुका तीर्थ की यात्रा करे। पहले उस तीर्थ में स्नान करे; फिर देवताओं और पितरों की पूजा में तत्पर हो जाय। इससे तीर्थयात्री सब पापों से शुद्ध हो अग्निष्टोमयज्ञ का फल पाता है॥152-160॥

विमोचनम्उपस्पृश्य जितमन्युर्जितेन्द्रियः।
प्रतिग्रहकृतैर्दोषैः सर्वैः स परिमुच्यते॥161॥
ततः पञ्चवटीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।

पुण्येन महता युक्तः सतां लोके महीयते॥162।।
यत्र योगेश्वरः स्थाणुः स्वयमेव वृषध्वजः।
तमर्चयित्वा देवेशं गमनादेव सिध्यति॥163।।
तैजसं वारुणं तीर्थं दीप्यमानं स्वतेजसा।
यत्र ब्रह्मादिभिर्देवैरृषिभिश्च तपोधनैः॥164।।
सैनापत्येन देवानामभिषिक्तो गुहस्तदा।
तैजसस्य तु पूर्वेण कुरुतीर्थं कुरूद्वह॥165।।
कुरुतीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोकं प्रपद्यते॥166।।
स्वर्गद्वारं ततो गच्छेन्नियतो नियताशनः।
स्वर्गलोकमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति॥167।।
ततो गच्छेतनरकं तीर्थसेवी नराधिप।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् न दुर्गतिमवाप्नुयात्॥168।।
तत्र ब्रह्मा स्वयं नित्यं देवैः सह महीपते।
अन्वास्ते पुरुषव्याघ्र नारायणपुरोगमैः॥169।।
सान्निध्यं तत्र राजेन्द्र रुद्रपत्न्याः कुरूद्वह।
अभिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात्॥170।।

विमोचन तीर्थ में स्नान और आचमन करके क्रोध और इन्द्रियों को काबू में रखने वाला मनुष्य प्रतिग्रहजनित सारे दोषों से मुक्त हो जाता है।।161।। तदनन्तर ब्रह्मचारी एवं जितेन्द्रिय पुरुष पञ्चवटी तीर्थ में जाकर महान् पुण्य से युक्त हो सत्पुरुषों के लोक में प्रतिष्ठित होता है।।162।। वहाँ योगेश्वर एवं वृषभध्वज स्वयं भगवान् शिव निवास करते हैं। उन देवेश्वर की पूजा करके मनुष्य वहाँ जाने मात्र से सिद्ध हो जाता है।।163।। वहीं तैजस नामक वरुणदेवता सम्बन्धी तीर्थ है, जो अपने तेज से प्रकाशित होता है। जहाँ ब्रह्मा आदि देवताओं तथा तपस्वी ऋषियों ने कार्तिकेय को देवसेनापति के पद पर अभिषिक्त किया था। कुरुश्रेष्ठ! तैजस तीर्थ के पूर्वभाग में कुरुतीर्थ है।।164-165।। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यपालन और इन्द्रियसंयमपूर्वक कुरुतीर्थ में स्नान करता है, वह सब पापों से शुद्ध होकर ब्रह्मलोक में जाता है।।166।। तदनन्तर नियमपरायण हो नियमित भोजन करते हुए स्वर्गद्वार को जाय। उस तीर्थ के सेवन से मनुष्य स्वर्गलोक पाता और ब्रह्मलोक में जाता है।।167।। नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष अनरकतीर्थ में जाय। राजन्! उसमें स्नान करने से मनुष्य कभी दुर्गति में नहीं पड़ता। महीपते! पुरुषसिंह! वहाँ स्वयं ब्रह्मा नारायण आदि देवताओं के साथ नित्य निवास करते हैं।।168-169।। कुरुश्रेष्ठ! महाराज! वहाँ रुद्रपत्नी दुर्गाजी का स्थान भी है। उस देवी के निकट जाने से मनुष्य कभी दुर्गति में नहीं पड़ता।।170।।

तत्रैव च महाराज विश्वेश्वरमुमापतिम्।
अभिगम्य महादेवं मुच्यते सर्वकिल्बिषैः॥171।।

नारायणं चाभिगम्य पद्मनाभमरिन्दम।
राजमानो महाराज विष्णुलोकं च गच्छति॥172।।
तीर्थेषु सर्वदेवानां स्नातः स पुरुषर्षभ।
सर्वदुःखैः परित्यक्तो द्योतते शशिवन्नरः॥173।।
ततः स्वस्तिपुरं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गोसहस्रफलं लभेत्॥174।।
पावनं तीर्थमासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत॥175।।
गङ्गाह्रदः च तत्रैव कूपश्च भरतर्षभ।
तिस्रः कोट्यस्तु तीर्थानां तस्मिन् कूपे महीपते॥176

महाराज! वहीं विश्वनाथ उमावल्लभ महादेवजी का स्थान है। वहाँ की यात्रा करके मनुष्य सब पापों से छूट जाता है।।171।। शत्रुदमन महाराज! पद्मनाभ भगवान् नारायण के निकट जाकर (उनका दर्शन करके) मनुष्य तेजस्वी रूप धारण करके भगवान् विष्णु के लोक में जाता है। पुरुषरत्न! सब देवताओं के तीर्थों में स्नान करके मनुष्य सब दु:खों से मुक्त हो चन्द्रमा के समान प्रकाशित होता है।।172-173।। नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष स्वस्तिपुर में जाय, उसकी परिक्रमा करने से सहस्र गोदान का फल मिलता है।।174।। तत्पश्चात् पावन तीर्थ में जाकर देवताओं और पितरों का तर्पण करे। भारत! ऐसा करने वाले पुरुष को अग्निष्टोमयज्ञ का फल मिलता है।।175।। भरतश्रेष्ठ! वहीं गङ्गाह्रद नामक कूप है। भूपाल! उस कूप में तीन करोड़ तीर्थों का वास है।।176।।

तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं प्रपद्यते।
आपगायां नरः स्नात्वा अर्चयित्वा महेश्वरम्॥177।।
गाणपत्यमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्।
ततः स्थाणुवटं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्॥178।।
तत्रा स्नात्वा स्थितो रात्रिं रुद्रलोकमवाप्नुयात्।
बदरीपाचनं गच्छेद् वसिष्ठस्याश्रमं ततः॥179।।
बदरीं भक्षयेत् तत्र त्रिरात्रोपोषितो नरः।
सम्यग्द्वादशवर्षाणि बदरीं भक्षयेत्तु यः॥180।।
त्रिरात्रोपोषितस्तेन भवेत्तुल्यो नराधिप।
इन्द्रमार्गं समासाद्य तीर्थसेवी नराधिप॥181।।
अहोरात्रोपवासेन शक्रलोके महीयते।
एकरात्रं समासाद्य एकरात्रोषितो नरः॥182।।
नियतः सत्यवादी च ब्रह्मलोके महीयते।
ततो गच्छेत राजेन्द्र तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्॥183।।
आदित्यस्याश्रमो यत्र तेजोराशेर्महात्मनः।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा पूजयित्वा विभावसुम्॥184।।

आदित्यलोकं व्रजति कुलं चैव समुद्धरेत्।
सोमतीर्थे नरः स्नात्वा तीर्थसेवी नराधिप॥185।।
सोमलोकमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ दधीचस्य महात्मनः॥186।।
तीर्थं पुण्यतमं राजन् पावनं लोकविश्रुतम्।
यत्र सारस्वतो यातः सोऽङ्गिरास्तपसो निधिः॥187।।

राजन्! उसमें स्नान करके मानव स्वर्गलोक में जाता है। जो मनुष्य आपगा में स्नान करके महादेवजी की पूजा करता है, वह गणपति पद पाता है और अपने कुल का उद्धार कर देता है। तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात स्थाणुवटतीर्थ में जाय वहाँ स्नान करके रातभर निवास करने वाला मनुष्य रुद्रलोक में जाता है। तदनन्तर बदरीपाचन नाम से प्रसिद्ध वशिष्ठ के आश्रम पर जाय और वहाँ तीन रात उपवासपूर्वक रहकर बेर का फल खाय। जो मनुष्य वहाँ बारह वर्षों तक भलीभाँति त्रिरात्रोपवासपूर्वक बेर का फल खाता है, वह उन्हीं वसिष्ठ के समान होता है। राजन्! नरेश्वर! तीर्थसेवी मनुष्य रुद्रमार्ग में जाकर एक दिन-रात उपवास करे। इससे वह इन्द्रलोक में प्रतिष्ठित होता है। तदनन्तर एकरात्र तीर्थ में जाकर मनुष्य नियमपूर्वक सत्यवादी होकर एक रात निवास करने पर ब्रह्मलोक में पूजित होता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् उस त्रैलोक्य विख्यात तीर्थ में जाय, जहाँ तेजोराशि महात्मा सूर्य का आश्रम है। उसमें स्नान करके सूर्यदेव की पूजा करने से मनुष्य सूर्य के लोक में जाता और अपने कुल का उद्धार करता है। नरेश्वर! सोमतीर्थ में स्नान करके तीर्थसेवी मानव सोमलोक को प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। धर्मज्ञ राजन्! तदनन्तर महात्मा दधीच के लोकविख्यात परम पुण्यमय, पावन तीर्थ की यात्रा करे। जहाँ तपस्या के भण्डार सरस्वतीपुत्र अङ्गिरा का जन्म हुआ।।177-187।।

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत्।
सारस्वतीं गतिं चैव लभते नात्र संशयः॥188।।
ततः कन्याश्रमं गच्छेन्नियतो ब्रह्मचर्यवान्।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् नियतो नियताशनः॥189।।
लभेत् कन्याशतं दिव्यं स्वर्गलोकं च गच्छति।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थं सन्निहतीमपि॥190।।
तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
मासि मासि समायान्ति पुण्येन महतान्विताः॥191।।
सन्निहत्यामुपस्पृश्य राहुग्रस्ते दिवाकरे।
अश्वमेधशतं तेन तत्रेष्टं शाश्वतं भवेत्॥192।।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि अन्तरिक्षचराणि च।
नद्यो ह्रदास्तडागाश्च सर्वप्रस्रवणानि च॥193।।
उदपानानि वाप्यश्च तीर्थान्यायतनानि च।
निःसंशयममावास्यां समेष्यन्ति नराधिप॥194।।

मासि मामि नरव्याघ्र सन्निहत्यां न संशयः।
तीर्थसन्निहनादेव सन्निहत्येति विश्रुता॥195
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च स्वर्गलोके महीयते।
अमावास्यां तु तत्रैव राहुग्रस्ते दिवाकरे॥196।।
यः श्राद्धं कुरुते मर्त्यस्तस्य पुण्यफलं शृणु।
अश्वमेधसहस्रस्य सम्यगिष्टस्य यत्फलम्॥197।।
स्नात एव समाप्नोति कृत्वा श्राद्धं च मानवः।
यत् किञ्चिदुष्कृतं कर्म स्त्रिया वा पुरुषेण वा॥198।।
स्नातमात्रस्य तत्सर्वं नश्यते नात्र संशयः।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते॥199।।
अभिवाद्य ततो यक्षं द्वारपालं मचक्रुकम्।
कोटितीर्थमुपस्पृश्य लभेद्बहुसुवर्णकम्॥200।।

उस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है और सरस्वती लोक को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है।।188।। तदनन्तर नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्य पालन करते हुए कन्याश्रम तीर्थ में जाय। राजन्! वहाँ तीन रात उपवास करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करने से सौ दिव्य कन्याओं की प्राप्ति होती है और वह मनुष्य स्वर्गलोक में जाता है। धर्मज्ञ! तदनन्तर वहाँ से संनिहती तीर्थ की यात्रा करने से सौ दिव्य कन्याओं की प्राप्ति होती है और मनुष्य स्वर्गलोक में जाता है। धर्मज्ञ! तदनन्तर वहाँ से संनिहती तीर्थ की यात्रा करे।।189-190।। उस तीर्थ में ब्रह्मा आदि देवता और तपोधन महर्षि प्रतिमास महान् पुण्य से सम्पन्न होकर जाते हैं।।191।। सूर्यग्रहण के समय संनिहती में स्नान करने से सौ अश्वमेध यज्ञों का अभीष्ट एवं शाश्वत फल प्राप्त होता है।।192।। पृथ्वी पर और आकाश में जितने तीर्थ और मन्दिर हैं, वे प्रत्येक मास की अमावस्या को संनिहती में अवश्य पधारेंगे। तीर्थों का संघातया समूह होने के कारण ही वह संनिहती नाम से विख्यात है।।193-195।। राजन्! उसमें और जलपान करके मनुष्य स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है। जो सूर्यग्रहण के समय अमावस्या को वहाँ पितरों का श्राद्ध करता है, उसके पुण्यफल का वर्णन सुनो—भलीभाँति सम्पन्न किये हुए सहस्र अश्वमेध यज्ञों का जो फल होता है, उसे मनुष्य उस तीर्थ में स्नानमात्र करके अथवा श्राद्ध करके पा लेता है। स्त्री या पुरुष ने जो कुछ भी दुष्कर्म किया हो, वह सब वहाँ स्नान करने मात्र से नष्ट हो जाता है; इसमें संशय नहीं है। वह पुरुष कमल के समान रङ्ग वाले विमान द्वारा ब्रह्मलोक में जाता है।।196-199।। तदनन्तर मचक्रुक नामक द्वारपाल यक्ष को प्रणाम करके कोटितीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को प्रचुर सुवर्ण राशि की प्राप्ति होती है।।200।।

गङ्गाह्रदः च तत्रैव तीर्थं भरतसत्तम।
तत्र स्नायीत धर्मज्ञ ब्रह्मचारी समाहितः॥201।।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः।
पृथिव्यां नैमिषं तीर्थमन्तरिक्षे च पुष्करम्॥202।।
त्रयाणामपि लोकानां कुरुक्षेत्रं विशिष्यते।

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद्वायुना समुदीरिताः॥203॥
अपि दुष्कृतकर्माणां नयन्ति परमां गतिम्।
दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण दृषद्वतीम्॥204॥
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे।
कुरुक्षेत्रे गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम्॥205॥
अप्येकां वाचमुत्सृज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते।
ब्रह्मवेदी कुरुक्षेत्रं पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम्।
तस्मिन् वसन्ति ये मर्त्या न ते शोच्याः कथञ्चन॥207॥
तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च।
एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं
पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते॥208॥

धर्मज्ञ भरतश्रेष्ठ! वहीं गङ्गाह्रद नामक तीर्थ है, उसमें ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो स्नान करे, इससे मनुष्य को राजसूय और अश्वमेध यज्ञों द्वारा मिलने वाले फल की प्राप्ति होती है। भूमण्डल के निवासियों के लिए नैमिष, अन्तरिक्ष निवासियों के लिए पुष्कर और तीनों लोकों के निवासियों के लिए कुरुक्षेत्र विशिष्ट तीर्थ हैं। कुरुक्षेत्र से वायु द्वारा उड़ायी हुई धूल भी पापी-से-पापी मनुष्य पर भी पड़ जाय तो उसे परमगति को पहुँचा देती है। सरस्वती से दक्षिण दृषद्वती से उत्तर कुरुक्षेत्र में जो लोग निवास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोक में बसते हैं। 'मैं कुरुक्षेत्र में जाऊँगा, कुरुक्षेत्र में निवास करूँगा' ऐसी बात एक बार मुँह से कह देने पर भी मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। कुरुक्षेत्र ब्रह्माजी की वेदी है, इस पुण्यक्षेत्र का ब्रह्मर्षिगण सेवन करते हैं। जो मानव उसमें निवास करते हैं, वे किसी प्रकार शोकजनक अवस्था में नहीं पड़ते॥201-207॥ तरन्तुक और अरन्तुक के तथा रामह्रद और मचक्रुक के बीच का जो भाग है, यही कुरुक्षेत्र एवं समन्तपञ्चक है। इसे ब्रह्माजी की उत्तरवेदी कहते हैं॥208॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां त्र्यशीतितमोऽध्यायः॥ 83 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतवनपर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में पुलस्त्यतीर्थ यात्रा विषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥83॥

तृतीयोऽध्यायः

नाना प्रकार के तीर्थों की महिमा

पुलस्त्य उवाच

ततो गच्छेन्महाराज धर्मतीर्थमुनुत्तमम्।
यत्र धर्मो महाभागस्तप्तवानुत्तमं तपः॥1॥

तेन तीर्थं कृतं पुण्यं स्वेन नाम्ना च विश्रुतम्।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् धर्मशीलः समाहितः॥2।।
आसप्तमं कुलं चैव पुनीते नात्र संशयः।
ततो गच्छेत राजेन्द्र ज्ञानपावनमुत्तमम्॥3।।
अग्निष्टोममवाप्नोति मुनिलोकं च गच्छति।
सौगन्धिकवनं राजंस्ततो गच्छेत मानवः॥4।।
तत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
सिद्धचारणगन्धर्वाः किन्नराश्च महोरगाः॥5।।
तद्वनं प्रविशन्नेव सर्वपापैः प्रमुच्यते।
ततश्चापि सरिच्छ्रेष्ठा नदीनामुत्तमा नदी॥6।।
प्लक्षाद्देवी स्रुता राजन् महापुण्या सरस्वती।
तत्राभिषेकं कुर्वीत वल्मीकान्निःसृते जले॥7।।
अर्चयित्वा पितॄन् देवानश्वमेधफलं लभेत्।
ईशानाध्युषितं नाम तत्र तीर्थं सुदुर्लभम्॥8।।
षट्सु शम्यानिपातेषु वल्मीकादिति निश्चयः।
कपिलानां सहस्रं च वाजिमेधं च विन्दति॥9।।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र दृष्टमेतत् पुरातनैः।
सुगन्धां शतकुम्भां च पञ्चयज्ञां च भारत॥10।।
अभिगम्य नरश्रेष्ठ स्वर्गलोके महीयते।
त्रिशूलखातं तत्रैव तीर्थमासाद्य भारत॥11।।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्चने रतः।
गाणपत्यं च लभते देहं त्यक्त्वा न संशयः॥12।।

पुलस्त्यजी कहते हैं—महाराज! तदनन्तर परम उत्तम धर्मतीर्थ की यात्रा करे, जहाँ महाभाग धर्म ने उत्तम तपस्या की थी।।1।। राजन्! उन्होंने ही अपने नाम से विख्यात पुण्य तीर्थ की स्थापना की है। वहाँ स्नान करने से मनुष्य धर्मशील एवं एकाग्रचित्त होता है और अपने कुल की सातवीं पीढ़ी तक के लोगों को पवित्र कर देता है; इसमें संशय नहीं है। राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम ज्ञानपावन तीर्थ में जाय। वहाँ जाने से मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञ का फल पाता और मुनिलोक में जाता है। राजन्! तत्पश्चात् मानव सौगन्धिक वन में जाय।।2-4।। वहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर और बड़े-बड़े नाग निवास करते हैं।।5।। उस वन में प्रवेश करते ही मानव सब पापों से मुक्त हो जाता है। उससे आगे सरिताओं में श्रेष्ठ और नदियों में उत्तम नदी परम पुण्यमयी सरस्वती देवी का उद्गम स्थान है, जहाँ वे प्लक्ष (पाकड़) नामक वृक्ष की जड़ से टपक रही हैं। राजन्! वहाँ बाँबी से निकले हुए जल में स्नान करना चाहिये।।6-7।। वहाँ देवताओं तथा पितरों की पूजा करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। वहीं ईशानाध्युषित नामक परम दुर्लभ तीर्थ है।।8।। जहाँ बाँबी का जल है, वहाँ से इसकी दूरी छै शम्यानिपात (शम्या का अर्थ है डंडा। कोई बलवान् पुरुष

डंडे को खूब जोर लगाकर फेंके तो वह जहाँ गिरे, उतनी दूर के स्थान को एक शम्यानिपात कहते हैं। ऐसे ही छै शम्यानिपात की दूरी समझ लेनी चाहिये।) है। यह निश्चित माप बताया गया है। नरश्रेष्ठ! उस तीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को सहस्र कपिला दान और अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है; इसे प्राचीन ऋषियों ने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। भारत! पुरुषरत्न! सुगन्धा, शतकुम्भा तथा पञ्चयज्ञा तीर्थ में जाकर मानव स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है। भरतकुलतिलक! वहीं त्रिशूलखात नामक तीर्थ है; वहाँ जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरों की पूजा में लग जाय। ऐसा करने वाला मनुष्य देह त्याग के अनन्तर गणपति-पद प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है।।10-12।।

ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम्।
शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता॥13।।
दिव्यं वर्षसहस्रं हि शाकेन किल सुव्रता।
आहारं सा कृतवती मासि मासि नराधिप॥14।।
ऋषयोऽभ्यागतास्तत्र देव्या भक्त्या तपोधनाः।
आतिथ्यं च कृतं तेषां शाकेन किल भारत॥15।।
ततः शाकम्भरीत्येव नाम तस्याः प्रतिष्ठितम्।
शाकम्भरीं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः॥16।।
त्रिरात्रमुषितः शाकं भक्षयित्वा नरः शुचिः।
शाकाहारस्य यत् किञ्चिद्वर्षैर्द्वादशभिः कृतम्॥17।।
तत्फलं तस्य भवति देव्याश्छन्देन भारत।
ततो गच्छेत् सुवर्णाख्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्॥18।।
तत्र विष्णुः प्रसादार्थं रुद्रमाराधयत् पुरा।
वरांश्च सुबहूँल्लोभे दैवतेषु सुदुर्लभान्॥19।।

राजेन्द्र! वहाँ से परम दुर्लभ देवीस्थान की यात्रा करे, वह देवी तीनों लोकों में शाकम्भरी के नाम से विख्यात है।।13।। नरेश्वर! कहते हैं उत्तम व्रत का पालन करने वाली उस देवी ने एक हजार दिव्य वर्षों तक एक-एक महीने पर केवल शाक का आहार किया था। देवी की भक्ति से प्रभावित होकर बहुत-से तपोधन महर्षि वहाँ आये। भारत! उस देवी ने उन महर्षियों का आतिथ्य-सत्कार भी शाक के ही द्वारा किया।।14-15।। भारत! तब से उस देवी का 'शाकम्भरी' ही नाम प्रसिद्ध हो गया। शाकम्भरी के समीप जाकर मनुष्य ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त और पवित्र हो वहाँ तीन रात तक शाक खाकर रहे तो बारह वर्षों तक शाकाहारी मनुष्य को जो पुण्य प्राप्त होता है, वह उसे देवी की इच्छा से (तीन ही दिनों में) मिल जाता है। तदनन्तर त्रिभुवनविख्यात सुवर्ण तीर्थ की यात्रा करे। वहाँ पूर्वकाल में भगवान् विष्णु ने रुद्रदेव की प्रसन्नता के लिए उनकी आराधना की और उनसे अनेक देवदुर्लभ उत्तम वर प्राप्त किये।।16-19।।

उक्तश्च त्रिपुरघ्नेन परितुष्टेन भारत।
अपि च त्वं प्रियतरो लोके कृष्ण भविष्यसि॥20।।

त्वन्मुखं च जगत्सर्वं भविष्यति न संशयः।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र पूजयित्वा वृषध्वजम्॥21॥
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति।
धूमावतीं ततो गच्छेत्त्रिरात्रोपोषितो नरः॥22॥
मनसा प्रार्थितान्कामाँल्लभते नात्र संशयः।
देव्यास्तु दक्षिणार्धेन रथावर्तो नराधिप॥23॥
तत्रारोहेत धर्मज्ञ श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
महादेवप्रसादाद्धि गच्छेत परमां गतिम्॥24॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य गच्छेत भरतर्षभ।
धारां नाम महाप्राज्ञः सर्वपापप्रमोचनीम्॥25॥
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचति नराधिप।
ततो गच्छेत धर्मज्ञ नमस्कृत्य महागिरिम्॥26॥
स्वर्गद्वारेण यत्तुल्यं गङ्गाद्वारं न संशयः।
तत्राभिषेकं कुर्वीत कोटितीर्थे समाहितः॥27॥
पुण्डरीकमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्।
उष्यैकां रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत्॥28॥
सप्तगङ्गे त्रिगङ्गे च शक्रावर्ते च तर्पयन्।
देवान् पितॄंश्च विधिवत् पुण्ये लोके महीयते॥29॥
ततः कनखले स्नात्वा त्रिरात्रोपोषितो नरः।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥30॥

भारत! उस समय सन्तुष्टचित्त त्रिपुरारि शिव ने श्रीविष्णु से कहा—'श्रीकृष्ण! तुम मुझे लोक में अत्यन्त प्रिय होओगे। संसार में सर्वत्र तुम्हारी ही प्रधानता होगी, इसमें संशय नहीं है।' राजेन्द्र! उस तीर्थ में जाकर भगवान् शङ्कर की पूजा करने से मनुष्य अश्वमेधयज्ञ का फल पाता और गणपतिपद प्राप्त कर लेता है। वहाँ से मनुष्य धूमावती तीर्थ को जाय और तीन रात उपवास करे। इससे वह निःसन्देह मनोवाञ्छित कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। नरेश्वर देवी से दक्षिणार्थ भाग में रथावर्त नामक तीर्थ है। धर्मज्ञ! जो श्रद्धालु एवं जितेन्द्रिय पुरुष उस तीर्थ की यात्रा करता है, वह महादेवजी के प्रसाद से परम गति प्राप्त कर लेता है॥20-24॥ भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर महाप्राज्ञ पुरुष उस तीर्थ की परिक्रमा करके धारा की यात्रा करे, जो सब पापों से छुड़ाने वाली है। नरव्याघ्र! नराधिप! वहाँ स्नान करके मनुष्य कभी शोक में नहीं पड़ता है। धर्मज्ञ! वहाँ से महापर्वत हिमालय को नमस्कार करके गङ्गाद्वार (हरिद्वार) की यात्रा करे, जो स्वर्गद्वार के समान है; इसमें संशय नहीं है। वहाँ एकाग्रचित्त हो कोटितीर्थ में स्नान करे॥25-27॥ ऐसा करने वाला मनुष्य पुण्डरीक यज्ञ का फल पाता और अपने कुल का उद्धार कर देता है। वहाँ एक रात निवास करने से सहस्र गोदान का फल मिलता है॥28॥ सप्तगङ्ग, त्रिगङ्ग और शक्रावर्त तीर्थ में विधिपूर्वक देवताओं तथा पितरों का तर्पण करने वाला मनुष्य पुण्यलोक में प्रतिष्ठित होता है॥29॥ तदनन्तर कनखल में स्नान करके तीन रात उपवास करने वाला मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और स्वर्गलोक में जाता है॥30॥

कपिलावटं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप।
उपोष्य रजनीं तत्र गोसहस्रफलं लभेत्॥31।।
नागराजस्य राजेन्द्र कपिलस्य महात्मनः।
तीर्थं कुरुवरश्रेष्ठ सर्वलोकेषु विश्रुतम्॥32।।
तत्राभिषेकं कुर्वीत नागतीर्थे नराधिप।
कपिलानां सहस्रस्य फलं विन्दति मानवः॥33।।
ततो ललितकं गच्छेच्छान्तनोस्तीर्थमुत्तमम्।
तत्र स्नात्वा नरो राजन्न दुर्गतिमवाप्नुयात्॥34।।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये स्नाति यः सङ्गमे नरः।
दशाश्वमेधानाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्॥35।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र सुगन्धां लोकविश्रुताम्।
सर्वपापविशुद्धात्मा ब्रह्मलोके महीयते॥36।।
रुद्रावर्तं ततो गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् स्वर्गलोकं च गच्छति॥37।।
गङ्गायाश्च नरश्रेष्ठ सरस्वत्याश्च सङ्गमे।
स्नात्वाश्वमेधं प्राप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥38।।
भद्रकर्णेश्वरं गत्वा देवमर्च्य यथाविधि।
न दुर्गतिमवाप्नोति नाकपृष्ठे च पूज्यते॥39।।
ततः कुब्जाम्रकं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप।
गोसहस्रमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥40।।

नरेश्वर! उसके बाद तीर्थसेवी मनुष्य कपिलावट तीर्थ में जाय। वहाँ रात भर उपवास करने से उसे सहस्र गोदान का फल मिलता है।।31।। राजेन्द्र! कुरुश्रेष्ठ! वही नागराज महात्मा कपिल का तीर्थ है, जो सम्पूर्ण लोकों में विख्यात है।।32।। महाराज! वहाँ नागतीर्थ में स्नान करना चाहिये। इससे मनुष्य को सहस्र कपिलादान का फल प्राप्त होता है।।33।। तत्पश्चात् शान्तनु के उत्तम तीर्थ ललितक में जाय। राजन्! वहाँ स्नान करने से मनुष्य कभी दुर्गति में नहीं पड़ता।।34।। जो मनुष्य गङ्गा-यमुना के बीच सङ्गम (प्रयाग) में स्नान करता है, उसे दस अश्वमेध यज्ञों का फल मिलता है और वह अपने कुल का उद्धार कर देता है।।35।। राजेन्द्र! तदनन्तर लोकविख्यात सुगन्धा तीर्थ की यात्रा करे। इससे सब पापों से विशुद्धचित्त हुआ मानव ब्रह्मलोक में पूजित होता है।।36।। नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी पुरुष रुद्रावर्त तीर्थ में जाय। राजन्! वहाँ स्नान करके मनुष्य स्वर्गलोक में जाता है।।37।। नरश्रेष्ठ! गङ्गा और सरस्वती के सङ्गम में स्नान करने से मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और स्वर्गलोक में जाता है।।38।। भगवान् भद्रकर्णेश्वर के समीप जाकर विधिपूर्वक उनकी पूजा करने वाला पुरुष कभी दुर्गति में नहीं पड़ता और स्वर्ग लोक में पूजित होता है।।39।। नरेन्द्र! तत्पश्चात् तीर्थसेवी मानव कुब्जाम्रक तीर्थ में जाय। वहाँ उसे सहस्र गोदान का फल मिलता है और अन्त में वह स्वर्गलोक को जाता है।।40।।

अरुन्धतीवटं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप।
सामुद्रकमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी समाहितः॥41॥
अश्वमेधमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः।
गोसहस्रफलं विद्यात् कुलं चैव समुद्धरेत्॥42॥
ब्रह्मावर्तं ततो गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति॥43॥
यमुनाप्रभवं गत्वा समुपस्पृश्य यामुनम्।
अश्वमेधफलं लब्ध्वा स्वर्गलोके महीयते॥44॥
दर्वीसङ्क्रमणं प्राप्य तीर्थं त्रैलोक्यपूजितम्।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥45॥
सिन्धोश्च प्रभवं गत्वा सिद्धगन्धर्वसेवितम्।
तत्रोष्य रजनीः पञ्च विन्देद् बहुसुवर्णकम्॥46॥
अथ वेदीं समासाद्य नरः परमदुर्गमाम्।
अश्वमेधमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥47॥
ऋषिकुल्यां समासाद्य वासिष्ठं चैव भारत।
वासिष्ठीं समतिक्रम्य सर्वे वर्णा द्विजातयः॥48॥
ऋषिकुल्यां समासाद्य नरः स्नात्वा विकल्मषः।
देवान् पितॄंश्चार्चयित्वा ऋषिलोकं प्रपद्यते॥49॥
यदि तत्र वसेन्मासं शाकाहारो नराधिप।
भृगुतुङ्गं समासाद्य वाजिमेधफलं लभेत्॥50॥

नरपते! तत्पश्चात् तीर्थसेवी अरुन्धती-वट के समीप जाय और सामुद्रक तीर्थ में स्नान करके ब्रह्मचर्यपालन पूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात उपवास करे। इससे मनुष्य अवश्वमेध यज्ञ और सहस्र गोदान का फल पाता तथा अपने कुल का उद्धार कर देता है।।41-42।। तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक चित्त को एकाग्र करके ब्रह्मावर्त तीर्थ में जाय। इससे वह अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और सोमलोक को जाता है।।43।। यमुनाप्रभव नामक तीर्थ में जाकर यमुना जल में स्नान करके अश्वमेध यज्ञ का फल पाकर मनुष्य स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।।44।। दर्वीसंक्रमण नामक त्रिभुवनपूजित तीर्थ में जाने से तीर्थयात्री अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और स्वर्गलोक में जाता है।।45।। सिंधु के उद्गम स्थान में, जो सिद्ध-गन्धर्वों द्वारा सेवित है, जाकर पाँच रात उपवास करने से प्रचुर सुवर्ण राशि की प्राप्ति होती है।।46।। तदनन्तर मनुष्य परम दुर्गम वेदी तीर्थ में जाकर अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और स्वर्गलोक में जाता है।।47।। भरतनन्दन! ऋषिकुल्या एवं वासिष्ठतीर्थ में जाकर स्नान आदि करके वासिष्ठी को लाँघ कर जाने वाले क्षत्रिय आदि सभी वर्णों के लोग द्विजाति हो जाते हैं।।48।। ऋषिकुल्या में जाकर स्नान करके पापरहित मानव देवताओं और पितरों की पूजा करके ऋषिलोक में जाता है।।49।। नरेश्वर! यदि मनुष्य भृगुतुङ्ग में जाकर शाकाहारी हो वहाँ एक मास तक निवास करे तो उसे अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है।।50।।

गत्वा वीरप्रमोक्षं च सर्वपापैः प्रमुच्यते।
कृत्तिकामघयोः चैव तीर्थमासाद्य भारत॥51।।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां फलमाप्नोति मानवः।
तत्र सन्ध्यां समासाद्य विद्यातीर्थमुनुत्तमम्॥52।।
उपस्पृश्य च वै विद्यां यत्र तत्रोपपद्यते।
महाश्रमे वसेद् रात्रिं सर्वपापप्रमोचने॥53।।
एककालं निराहारो लोकानावसते शुभान्।
षष्ठकालोपवासेन मासमुष्य महालये॥54।।
सर्वपापविशुद्धात्मा विन्देद् बहुसुवर्णकम्।
दशापरान् दश पूर्वान्ररानुद्धरते कुलम्॥55।।
अथ वेतसिकां गत्वा पितामहनिषेविताम्।
अश्वमेधमवाप्नोति गच्छेदौशनसीं गतिम्॥56।।
अथ सुन्दरिकातीर्थं प्राप्य सिद्धनिषेवितम्।
रूपस्य भागी भवति दृष्टमेतत् पुरातनैः॥57।।
ततो वै ब्राह्मणीं गत्वा ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
पद्मवर्णेन यानेन ब्रह्मलोकं प्रपद्यते॥58।।
ततस्तु नैमिषं गच्छेत् पुण्यं सिद्धनिषेवितम्।
तत्र नित्यं निवसति ब्रह्मा देवगणैः सह॥59।।
नैमिषं मृगयानस्य पापस्यार्धं प्रणश्यति।
प्रविष्टमात्रस्तु नरः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥60।।

वीरप्रमोक्षतीर्थ में जाकर मनुष्य सब पापों से छुटकारा पा जाता है। भारत! कृत्तिका और मघा के तीर्थ में जाकर मानव अग्निष्टोम और अतिरात्र यज्ञों का फल पाता है। वहीं प्रातः-संध्या के समय परम उत्तम विद्यातीर्थ में जाकर स्नान करने से मनुष्य जहाँ-कहीं भी विद्या प्राप्त कर लेता है। जो सब पापों से छुड़ाने वाले महाश्रम तीर्थ में एक समय उपवास करके एक रात वहीं निवास करता है, उसे शुभ लोकों की प्राप्ति होती है। जो छठे समय उपवासपूर्वक एक मास तक महालय तीर्थ में निवास करता है, वह सब पापों से शुद्धचित्त हो प्रचुर सुवर्ण राशि प्राप्त करता है। साथ ही दस पहले की और दस बाद की पीढ़ियों का उद्धार कर देता है।।51-55।। तत्पश्चात् ब्रह्माजी के द्वारा सेवित वेतसिका तीर्थ में जाकर मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और शुक्राचार्य के लोक में जाता है।।56।। तदनन्तर सिद्धसेवित सुन्दरिका तीर्थ में जाकर मनुष्य रूप का भागी होता है, यह बात प्राचीन ऋषियों ने देखी है।।57।। इसके बाद इन्द्रिय संयम और ब्रह्मचर्य के पालनपूर्वक ब्राह्मणी तीर्थ में जाने से मनुष्य कमल के समान कान्ति वाले विमान द्वारा ब्रह्मलोक में जाता है।।58।। तदनन्तर सिद्धसेवित पुण्यमय नैमिष (नैमिषारण्य) तीर्थ में जाय। वहाँ देवताओं के साथ ब्रह्माजी नित्य निवास करते हैं।।59।। नैमिष की खोज करने वाले पुरुष का आधा पाप उसी समय नष्ट हो जाता है और उसमें प्रवेश करते ही वह सारे पापों से छुटकारा पा जाता है।।60।।

तत्र मासं वसेद्धीरो नैमिषे तीर्थतत्परः।
पृथिव्यां यानि तीर्थानि तानि तीर्थानि नैमिषे॥61।।
कृताभिषेकस्तत्रैव नियतो नियताशनः।
गवां मेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति भारत॥62।।
पुनात्यासप्तमं चैव कुलं भरतसत्तम।
यस्त्यजेन्नैमिषे प्राणानुपवासपरायणः॥63।।
स मोदेत् सर्वलोकेषु एवमाहुर्मनीषिणः।
नित्यं मेध्यं च पुण्यं च नैमिषं नृपसत्तम॥64।।
गङ्गोद्भेदं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः।
वाजपेयमवाप्नोति ब्रह्मभूतो भवेत् सदा॥65।।
सरस्वतीं समासाद्य तर्पयेत् पितृदेवताः।
सारस्वतेषु लोकेषु मोदते नात्र संशयः॥66।।
ततश्च बाहुदां गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते॥67।।
देवसत्रस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति कौरव।
ततः क्षीरवतीं गच्छेत् पुण्यां पुण्यतरैर्वृताम्॥68।।
पितृदेवार्चनपरो वाजपेयमवाप्नुयात्।
विमलाशोकमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः॥69।।
तत्रोष्य रजनीमेकां स्वर्गलोके महीयते।
गोप्रतारं ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम्॥70।।
यत्र रामो गतः स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः।
स च वीरो महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा॥71

धीर पुरुष तीर्थ सेवन में तत्पर हो एक मास तक नैमिष में निवास करे। पृथ्वी में जितने तीर्थ हैं, वे सभी नैमिष में विद्यमान हैं।।61।। भारत! जो वहाँ स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करता है, वह गोमेध यज्ञ का फल पाता है।।62।। भरतश्रेष्ठ! अपने कुल की सात पीढ़ियों का भी वह उद्धार कर देता है। जो नैमिष में उपवासपूर्वक प्राणत्याग करता है, वह सब लोकों में आनन्द का अनुभव करता है; ऐसा मनीषी पुरुषों का कथन है। नृपश्रेष्ठ! नैमिषतीर्थ नित्य, पवित्र और पुण्यजनक है।।63-64।। गङ्गोद्भेद तीर्थ में जाकर तीन रात उपवास करने वाला मनुष्य वाजपेय यज्ञ का फल पाता और सदा के लिए ब्रह्मीभूत हो जाता है।।65।। सरस्वती तीर्थ में जाकर देवता और पितरों का तर्पण करे। इससे तीर्थ यात्री सारस्वत लोकों में जाकर आनन्द का भागी होता है; इसमें संशय नहीं है।।66।। तदनन्तर बाहुदा तीर्थ में जाय और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो वहाँ एक रात उपवास करे; इससे वह स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है कुरुनन्दन! उसे देवसत्र यज्ञ का भी फल प्राप्त होता है। वहाँ से क्षीरवती नामक पुण्यतीर्थ में जाय, जो अत्यन्त पुण्यात्मा पुरुषों से भरी हुई है। वहाँ स्नान करके देवता और पितरों के पूजन में लगा हुआ मनुष्य वाजपेय यज्ञ का फल पाता है। वहीं विमलाशोक नामक

उत्तम तीर्थ है, वहाँ जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो एक रात निवास करने से मनुष्य स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है। वहाँ से सरयू के उत्तम तीर्थ गोप्रतार में जाय। महाराज! वहाँ अपने सेवकों, सैनिकों और वाहनों के साथ गोते लगाकर उस तीर्थ के प्रभाव से वीर श्रीरामचन्द्रजी अपने नित्यधाम को पाधारे थे।।67-71।।

रामस्य च प्रसादेन व्यवसायाच्च भारत।
तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिप॥72।।
सर्वपापविशुद्धात्मा स्वर्गलोके महीयते।
रामतीर्थे नरः स्नात्वा गोमत्यां कुरुनन्दन॥73।।
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः।
शतसाहस्रकं तीर्थं तत्रैव भरतर्षभ॥74।।
तत्रोपस्पर्शनं कृत्वा नियतो नियताशनः।
गोसहस्रफलं पुण्यं प्राप्नोति भरतर्षभ॥75।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र भर्तृस्थानमनुत्तमम्।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥76।।
कोटितीर्थे नरः स्नात्वा अर्चयित्वा गुहं नृप।
गोसहस्रफलं विद्यात् तेजस्वी च भवेन्नरः॥77।।
ततो वाराणसीं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम्।
कपिलाह्रदे नरः स्नात्वा राजसूयमवाप्नुयात्॥78।।
अविमुक्तं समासाद्य तीर्थसेवी कुरूद्वह।
दर्शनाद् देवदेवस्य मुच्यते ब्रह्महत्यया॥79।।
प्राणानुत्सृज्य तत्रैव मोक्षं प्राप्नोति मानवः।
मार्कण्डेयस्य राजेन्द्र तीर्थमासाद्य दुर्लभम्॥80।।
गोमतीगङ्गयोः चैव सङ्गमे लोकविश्रुते।
अग्निष्टोममवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्॥81।।

भरतनन्दन! नरेश्वर! उस सरयू के गोप्रतार तीर्थ में स्नान करके मनुष्य श्रीरामचन्द्रजी की कृपा और उद्योग से सब पापों से शुद्ध होकर स्वर्गलोक में सम्मानित होता है। कुरुनन्दन! गोमती के रामतीर्थ में स्नान करके मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और अपने कुल को पवित्र कर देता है। भरतकुलभूषण! वहीं शतसाहस्रकतीर्थ है। उसमें स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए मनुष्य सहस्र गोदान का पुण्यफल प्राप्त करता है।।74-75।। राजेन्द्र! वहाँ से परम उत्तम भर्तृस्थान को जाय। वहाँ जाने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है।।76।। राजन्! मनुष्य कोटि तीर्थ में स्नान करके कार्तिकेयजी का पूजन करने से सहस्र गोदान का फल पाता और तेजस्वी होता है।।77।। तदनन्तर वाराणसी (काशी) तीर्थ में जाकर भगवान् शङ्कर की पूजा करे और कपिलाह्रद में गोता लगाये; इससे मनुष्य को राजसूय यज्ञ का फल प्राप्त होता है।।78।। कुरुश्रेष्ठ! अविमुक्त तीर्थ में जाकर तीर्थसेवी मनुष्य देवदेव महादेवजी का दर्शन मात्र करके ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है। वहीं प्राणोत्सर्ग करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है। राजेन्द्र! गोमती और गङ्गा के

लोकविख्यात सङ्गम के समीप मार्कण्डेयजी का दुर्लभ तीर्थ है। उसमें जाकर मनुष्य अग्निष्टोमयज्ञ का फल पाता और अपने कुल का उद्धार कर देता है।।79-81।।

ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्॥82।।
तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।
तत्र दत्तं पितृभ्यस्तु भवत्यक्षयमुच्यते॥83।।
महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत् पितृदेवताः।
अक्षयान्प्राप्नुयाल्लोकान् कुलं चैव समुद्धरेत्॥84।।
ततो ब्रह्मसरो गत्वा धर्मारण्योपशोभितम्।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति प्रभातामेव शर्वरीम्॥85।।
ब्रह्मणा तत्र सरसि यूपश्रेष्ठः समुच्छ्रितः।
यूपं प्रदक्षिणं कृत्वा वाजपेयफलं लभेत्॥86।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र धेनुकं लोकविश्रुतम्।
एकरात्रोषितो राजन् प्रयच्छेत्तिलधेनुकाम्॥87।।
सर्वपापविशुद्धात्मा सोमलोकं व्रजेद् ध्रुवम्।
तत्र चिह्नं महद्राजन्नद्यापि सुमहद् भृशम्॥88।।
कपिलायाः सवत्सायाश्चरन्त्याः पर्वते कृतम्।
सवत्सायाः पदानि स्म दृश्यन्तेऽद्यापि भारत॥89।।
तेषूपस्पृश्य राजेन्द्र पदेषु नृपसत्तम।
यत् किञ्चिदशुभं कर्म तत्प्रणश्यति भारत॥90।।

तदनन्तर गया तीर्थ में जाकर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और अपने कुल का उद्धार कर देता है।।82।। वहाँ तीनों लोकों में विख्यात अक्षयवट हैं। उनके समीप पितरों के लिए दिया हुआ सब कुछ अक्षय बताया जाता है।।83।। महानदी में स्नान करके जो देवताओं और पितरों का तर्पण करता है, वह अक्षय लोकों को प्राप्त होता और अपने कुल का उद्धार कर देता है।।84।। तदनन्तर धर्मारण्य से सुशोभित ब्रह्म सरोवर की यात्रा करके वहाँ एक रात प्रातःकाल तक निवास करने से मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।।85।। ब्रह्माजी ने उस सरोवर में एक श्रेष्ठ यूप की स्थापना की थी। उसकी परिक्रमा करने से मानव वाजपेय यज्ञ का फल पा लेता है।।86।। राजेन्द्र! वहाँ से लोकविख्यात धेनुतीर्थ में जाय। महाराज! वहाँ एक रात रहकर तिल की गौ का दान करे (तिलों से गौ की आकृति बनाकर उसका दान करे)। इससे तीर्थयात्री पुरुष सब पापों से शुद्धचित्त हो निश्चय ही सोमलोक में जाता है। राजन्! वहाँ एक पर्वत पर चरने वाली बछड़े सहित कपिला गौ का विशाल चरण चिह्न आज भी अङ्कित है। भरतनन्दन! बछड़े सहित उस गौ के चरणचिह्न आज भी वहाँ देखे जाते हैं।।87-89।। भारत! नृपश्रेष्ठ! राजेन्द्र! उन चरणचिह्नों का स्पर्श करके मनुष्य का जो कुछ भी अशुभ कर्म शेष रहता है, वह सब नष्ट हो जाता है।।90।।

ततो गृध्रवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः।
स्नायीत भस्मना तत्र अभिगम्य वृषध्वजम्॥91॥
ब्राह्मणेन भवेच्चीर्णं व्रतं द्वादशवार्षिकम्।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वपापं प्रणश्यति॥92॥
उद्यन्तं च ततो गच्छेत् पर्वतं गीतनादितम्।
सावित्र्यास्तु पदं तत्र दृश्यते भरतर्षभ॥93॥
तत्र सन्ध्यामुपासीत ब्राह्मणः संशितव्रतः।
तेन ह्युपास्ता भवति सन्ध्या द्वादशवार्षिकी॥94॥
योनिद्वारं च तत्रैव विश्रुतं भरतर्षभ।
तत्राभिगम्य मुच्येत पुरुषो योनिसङ्कटात्॥95॥
कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः।
पुनात्यासप्तमं राजन् कुलं नास्त्यत्र संशयः॥96॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥97॥
ततः फल्गुं व्रजेद्राजंस्तीर्थसेवी नराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति सिद्धिं च महतीं व्रजेत्॥98॥
तो गच्छेत राजेन्द्र धर्मप्रस्थं समाहितः।
तत्र धर्मो महाराज नित्यमास्ते युधिष्ठिर॥99॥
तत्र कूपोदकं कृत्वा तेन स्नातः शुचिस्तथा।
पितॄन् देवांस्तु सन्तर्प्य मुक्तपापो दिवं व्रजेत्॥100॥

तदनन्तर परम बुद्धिमान् महादेवजी के गृध्रवट नामक स्थान की यात्रा करे और वहाँ भगवान् शङ्कर के समीप जाकर भस्म में स्नान करे (अपने शरीर में भस्म लगाये)॥91॥ वहाँ यात्रा करने से ब्राह्मण को बारह वर्षोंतक व्रत के पालन करने का फल प्राप्त होता है और अन्य वर्ण के लोगों के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं॥92॥ भरतकुलभूषण! तदनन्तर संगीत की ध्वनि से गूँजते हुए उदयगिरि पर जाय। वहाँ सावित्री का चरणचिह्न आज भी दिखायी देता है॥93॥ उत्तम व्रत का पालन करने वाला ब्राह्मण वहाँ संध्योपासना करे। इससे उसके द्वारा बारह वर्षों तक की संध्योपासना सम्पन्न हो जाती है॥94॥ भरतश्रेष्ठ! वहीं विख्यात योनिद्वार तीर्थ है, जहाँ जाकर मनुष्य योनिसङ्कट से मुक्त हो जाता है—उसका पुनर्जन्म नहीं होता॥95॥ राजन्! जो मानव कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्षों में गया तीर्थ में निवास करता है, वह अपने कुल की सातवीं पीढ़ी तक को पवित्र कर देता है, इसमें संशय नहीं है॥96॥ बहुत-से पुत्रों की इच्छा करे। सम्भव है, उनमें से एक भी गया में जाय या अश्वमेध यज्ञ करे अथवा नील वृष का उत्सर्ग ही करे॥97॥ राजन्! नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी मानव फल्गु तीर्थ में जाय। वहाँ जाने से उसे अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है और बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त होती है॥98॥ महाराज! तदनन्तर एकाग्रचित्त हो मनुष्य धर्मप्रस्थ की यात्रा करे। युधिष्ठिर! वहाँ धर्मराज का नित्य निवास है॥99॥ वहाँ कुएँ का जल लेकर उससे स्नान करके पवित्र हो देवताओं और पितरों का तर्पण करने से मनुष्य के सारे पाप छूट जाते हैं और वह स्वर्गलोक में जाता है॥100॥

मतङ्गस्याश्रमस्तत्र महर्षेर्भावितात्मनः।
तं प्रविश्याश्रमं श्रीमच्छ्रमशोकविनाशनम्॥101।।
गवामयनयज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः।
धर्मं तत्राभिसंस्पृश्य वाजिमेधमवाप्नुयात्॥102।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र ब्रह्मस्थानमनुत्तमम्।
तत्राभिगम्य राजेन्द्र ब्रह्माणं पुरुषर्षभ॥103।।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां फलं विन्दति मानवः।
ततो राजगृहं गच्छेत् तीर्थसेवी नराधिप॥104।।
उपस्पृश्य ततस्तत्र कक्षीवानिव मोदते।
यक्षिण्या नैत्यकं तत्र प्राश्नीत पुरुषः शुचिः॥105।।
यक्षिण्यास्तु प्रसादेन मुच्यते ब्रह्महत्यया।
मणिनागं ततो गत्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥106।।
तैर्थिकं भुञ्जते यस्तु मणिनागस्य भारत।
दष्टस्याशीविषेणापि न तस्य क्रमते विषम्॥107।।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्।
ततो गच्छेत ब्रह्मर्षेर्गौतमस्य वनं प्रियम्॥108।।
अहल्याया ह्रदे स्नात्वा व्रजेत परमां गतिम्।
अभिगम्याश्रमं राजन् विन्दते श्रियमात्मनः॥109।।
तत्रोदपानं धर्मज्ञ त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु वाजिमेधमवाप्नुयात्॥110।।

वहीं भावितात्मा महर्षि मतङ्ग आश्रम है। श्रम और शोक का विनाश करने वाले उस सुन्दर आश्रम में प्रवेश करने से मनुष्य गवायन यज्ञ का फल पाता है। वहाँ धर्म के निकट जा उनके श्रीविग्रह का दर्शन और स्पर्श करने से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है।।101-102।। राजेन्द्र! तदनन्तर परम उत्तम ब्रह्मस्थान को जाय। महाराज! पुरुषोत्तम! वहाँ ब्रह्माजी के समीप जाकर मनुष्य राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का फल पाता है। नरेश्वर! तदनन्तर तीर्थसेवी मनुष्य राजगृह को जाय। वहाँ स्नान करके वह कक्षीवान् के समान प्रसन्न होता है। उस तीर्थ में पवित्र होकर पुरुष यक्षिणी देवी का नैवेद्य भक्षण करे। यक्षिणी के प्रसाद से वह ब्रह्म हत्या से मुक्त हो जाता है। तदनन्तर मणिनाग तीर्थ में जाकर तीर्थयात्री सहस्र गोदान का फल प्राप्त करे।103-106।। भरतनन्दन! जो मणिनाग का तीर्थप्रसाद (नैवेद्य, चरणामृत आदि) का भक्षण करता है, उसे साँप काट ले तो भी उस पर विष का असर नहीं होता। वहाँ एक रात रहने से सहस्र गोदान का फल मिलता है। तत्पश्चात् ब्रह्मर्षि गौतम के प्रिय वन की यात्रा करे। वहाँ अहल्या कुण्ड में स्नान करने से मनुष्य परमगति को प्राप्त होता है। राजन्! गौतम के आश्रम में जाकर मनुष्य अपने लिये लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है।।107-109।। धर्मज्ञ! वहाँ एक त्रिभुवन विख्यात कूप है, जिसमें स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है।।110।।

जनकस्य तु राजर्षेः कूपस्त्रिदशपूजितः।
तत्राभिषेकं कृत्वा तु विष्णुलोकमवाप्नुयात्॥111।।
ततो विनशनं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम्।
वाजपेयमवाप्नोति सोमलोकं च गच्छति॥112।।
गण्डकीं तु समासाद्य सर्वतीर्थजलोद्भवाम्।
वाजपेयमवाप्नोति सूर्यलोकं च गच्छति॥113।।
ततो विशल्यामासाद्य नदीं त्रैलोक्यविश्रुताम्।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥114।।
ततोऽधिवङ्गं धर्मज्ञ समाविश्य तपोवनम्।
गुह्यकेषु महाराज मोदते नात्र संशयः॥115।।
कम्पनां तु समासाद्य नदीं सिद्धनिषेविताम्।
पुण्डरीकमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥116।।
अथ मोहेश्वरीं धारां समासाद्य धराधिप।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्॥117।।
दिवौकसां पुष्करिणीं समासाद्य नराधिप।
न दुर्गतिमवाप्नोति वाजिमेधं च विन्दति॥118।।
अथ सोमपदं गच्छेद् ब्रह्मचारी समाहितः।
माहेश्वरपदे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत्॥119

राजर्षि जनक का एक कूप है, जिसका देवता भी सम्मान करते हैं। वहाँ स्नान करने से मनुष्य विष्णुलोक में जाता है।।111।। तत्पश्चात् सब पापों से छुड़ाने वाले विनशन तीर्थ को जाय, जिससे मनुष्य वाजपेय यज्ञ का फल पाता और सोमलोक को जाता है।।112।। गण्डकी नदी सब तीर्थों के जल से उत्पन्न हुई है। वहाँ जाकर तीर्थयात्री अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और सूर्यलोक में जाता है।।113।। तत्पश्चात् त्रिलोकी में विख्यात विशल्या नदी के तट पर जाकर स्नान करे। इससे वह अग्निष्टोमयज्ञ का फल पाता और स्वर्गलोक में जाता है।।114।। धर्मज्ञ महाराज! तदनन्तर बङ्गदेशीय तपोवन में प्रवेश करके तीर्थयात्री इस शरीर के अन्त में गुह्यलोक में जाकर निःसंदेह आनन्द का भागी होता है।।115।। तत्पश्चात् सिद्धसेवित कम्पना नदी में पहुँच कर मनुष्य पुण्डरीक यज्ञ का फल पाता और स्वर्गलोक में जाता है।।116।। राजन्! तत्पश्चात् माहेश्वरी धारा की यात्रा करने से तीर्थयात्री को अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है और वह अपने कुल का उद्धार कर देता है।।117।। नरेश्वर! फिर देवपुष्करिणी में जाकर मानव कभी दुर्गति में नहीं पड़ता और अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है।।118।। तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो सोमपद तीर्थ में जाय। वहाँ माहेश्वरपद में स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है।।119।।

तत्र कोटिस्तु तीर्थानां विश्रुता भरतर्षभ।
कूर्मरूपेण राजेन्द्र ह्यसुरेण दुरात्मना॥120।।

ह्रियमाणा हृता राजन् विष्णुना प्रभविष्णुना।
तत्राभिषेकं कुर्वीत तीर्थकोट्यां युधिष्ठिर॥121।।
पुण्डरीकमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति।
ततो गच्छेत राजेन्द्र स्थानं नारायणस्य च॥122।।
सदा सन्निहितो यत्र विष्णुर्वसति भारत।
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः॥123।।
आदित्या वसवो रुद्रा जनार्दनमुपासते।
शालग्राम इति ख्यातो विष्णुरद्भुतकर्मकः॥124।।
अभिगम्य त्रिलोकेशं वरदं विष्णुमव्ययम्।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति॥125।।
तत्रोदपानं धर्मज्ञ सर्वपापप्रमोचनम्।
समुद्रास्तत्र चत्वारः कूपे सन्निहिताः सदा॥126।।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र न दुर्गतिमवाप्नुयात्।
अभिगम्य महादेवं वरदं रुद्रमव्ययम्॥127।।
विराजति यथा सोमो मेघैर्मुक्तो नराधिप।
जातिस्मरमुपस्पृश्य शुचिः प्रयतमानसः॥128।।
जातिस्मरत्वमाप्नोति स्नात्वा तत्र न संशयः।
माहेश्वरपुरं गत्वा अर्चयित्वा वृषध्वजम्॥129।।
ईप्सिताल्लंभते कामानुपवासान्न संशयः।
ततस्तु वामनं गत्वा सर्वपापप्रमोचनम्॥130।।
अभिगम्य हरिं देवं न दुर्गतिमवाप्नुयात्।
कुशिकस्याश्रमं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनम्॥131।।

भरतकुलतिलक! वहाँ तीर्थों की विख्यात श्रेणी को एक दुरात्मा असुर कूर्मरूप धारण करके हरकर लिये जाता था। राजन्! यह देख सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु ने उस तीर्थ श्रेणी का उद्धार किया। युधिष्ठिर! वहाँ उस तीर्थ कोटि में स्नान करना चाहिये। ऐसा करने वाले यात्री को पुण्डरीक यज्ञ का फल मिलता है और वह विष्णुलोक को जाता है। राजेन्द्र! तदनन्तर नारायण स्थान को जाय। भरतनन्दन! वहाँ भगवान् विष्णु सदा निवास करते हैं। ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन ऋषि, आदित्य, वसु तथा रुद्र भी वहाँ रहकर जनार्दन की उपासना करते हैं। उस तीर्थ में अद्भुतकर्मा भगवान् विष्णु शालग्राम के नाम से प्रसिद्ध है।।120-124।। तीनों लोकों में स्वामी उन वरदायक अविनाशी भगवान् विष्णु के समीप जाकर मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और विष्णुलोक में जाता है।।125।। धर्मज्ञ! वहाँ एक कूप है, जो सब पापों को दूर करने वाला है। उसमें सदा चारों समुद्र निवास करते हैं।।126।। राजेन्द्र! उसमें निवास करने से मनुष्य कभी दुर्गति में नहीं पड़ता। सबको वर देने वाले अविनाशी महादेव रुद्र के समीप जाकर मनुष्य मेघों के आवरण से मुक्त हुए चन्द्रमा की भाँति सुशोभित होता है। नरेश्वर! वहीं जातिस्मर तीर्थ है; जिसमें स्नान करके मनुष्य पवित्र एवं शुद्धचित्त हो जाता है अर्थात् उसके शरीर

और मन की शुद्धि हो जाती है।।127-128।। उस तीर्थ में स्नान करने से पूर्व जन्म की बातों का स्मरण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, इसमें संशय नहीं है। माहेश्वरपुर में जाकर भगवान् शङ्कर की पूजा और उपवास करने से मनुष्य सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। तत्पश्चात् सब पापों को दूर करने वाले वामन तीर्थ की यात्रा करके भगवान् श्रीहरि के निकट जाय। उनका दर्शन करने से मनुष्य कभी दुर्गति में नहीं पड़ता। इसके बाद सब पापों से छुड़ाने वाले कुशिकाश्रम की यात्रा करे।।129-131।।

कौशिकीं तत्र गच्छेत महापापप्रणाशिनीम्।
राजसूयस्य यज्ञस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥132।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र चम्पकारण्यमुत्तमम्।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्॥133।।
अथ ज्येष्ठिलमासाद्य तीर्थं परमदुर्लभम्।
तत्रोष्य रजनीमेकां गोसहस्रफलं लभेत्॥134।।
तत्र विश्वेश्वरं दृष्ट्वा देव्या सह महाद्युतिम्।
मित्रावरुणयोर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ॥135।।
त्रिरात्रोपोषितस्तत्र अग्निष्टोमफलं लभेत्।
कन्यासंवेद्यमासाद्य नियतो नियताशनः॥136।।
मनोः प्रजापतेर्लोकानाप्नोति पुरुषर्षभ।
कन्यायां ये प्रयच्छन्ति दानमण्वपि भारत॥137।।
तदक्षय्यमिति प्राहुर्ऋषयः संशितव्रताः।
निश्चीरां च समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम्॥138।।
अश्वमेधमवाप्नोति विष्णुलोकं च गच्छति।
ये तु दानं प्रयच्छन्ति निश्चीरासङ्गमे नराः॥139।।
ते यान्ति नरशार्दूल शक्रलोकमनामयम्।
तत्राश्रमो वसिष्ठस्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥140।।

वहीं बड़े-बड़े पापों का नाश करने वाली कौशिकी (कोशी) नदी है। उसके तट पर जाकर स्नान करे। ऐसा करने वाला मानव राजसूय यज्ञ का फल पाता है।।132।। राजेन्द्र! तदनन्तर उत्तम चम्पकारण्य (चम्पारन) की यात्रा करे। वहाँ एक रात निवास करने से तीर्थयात्री को सहस्र गोदान का फल मिलता है।।133।। तत्पश्चात् परम दुर्लभ ज्येष्ठिल तीर्थ में जाकर एक रात निवास करने से मानव सहस्र गोदान का फल पाता है।।134।। पुरुषरत्न! वहाँ पार्वती देवी के साथ महातेजस्वी भगवान् विश्वेश्वर का दर्शन करने से तीर्थयात्री को मित्र और वरुण-देवता के लोकों की प्राप्ति होती है वहाँ तीन रात उपवास करने से अग्निष्टोमयज्ञ का फल मिलता है। पुरुषश्रेष्ठ! इसके बाद नियमपूर्वक नियमित भोजन करते हुए तीर्थयात्री को कन्यासंवेद्य नामक तीर्थ में जाना चाहिये। इससे वह प्रजापति मनु के लोक प्राप्त कर लेता है। भरतनन्दन! जो लोग कन्यासंवेद्य तीर्थ में थोड़ा-सा भी दान देते हैं, उनके उस दान को उत्तम व्रत का पालन करने वाले महर्षि

अक्षय बताते हैं। तदनन्तर त्रिलोकविख्यात निश्चीरा नदी की यात्रा करे। इससे अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है और तीर्थयात्री पुरुष भगवान् विष्णु के लोक में जाता है। नरश्रेष्ठ! जो मानव निश्चीरा सङ्गम में दान देते हैं, वे रोग-शोक से रहित इन्द्रलोक में जाते हैं। वहीं तीनों लोकों में विख्यात वसिष्ठ-आश्रम है।।135-140।।

तत्राभिषेकं कुर्वाणो वाजपेयमवाप्नुयात्।
देवकूटं समासाद्य ब्रह्मर्षिगणसेवितम्॥141।।
अश्वमेधमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्।
ततो गच्छेत राजेन्द्र कौशिकस्य मुनेर्ह्रदम्॥142।।
यत्र सिद्धिं परां प्राप्तो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः।
तत्र मासं वसेद् वीर कौशिक्यां भरतर्षभ॥143।।
अश्वमेधस्य यत् पुण्यं तन्मासेनाधिगच्छति।
सर्वतीर्थवरे चैव यो वसेत महाह्रदे॥144।।
न दुर्गतिमवाप्नोति विन्देद् बहु सुवर्णकम्।
कुमारमभिगम्याथ वीराश्रमनिवासिनम्॥145।।
अश्वमेधमवाप्नोति नरो नास्त्यत्र संशयः।
अग्निधारां समासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुताम्॥146।।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात्।
अधिगम्य महादेवं वरदं विष्णुमव्ययम्॥147।।
पितामहसरो गत्वा शैलराजसमीपतः।
तत्राभिषेकं कुर्वाणो ह्यग्निष्टोममवाप्नुयात्॥148।।
पितामहस्य सरसः प्रसृता लोकपावनी।
कुमारधारा तत्रैव त्रिषु लोकेषु विश्रुता॥149।।
यत्र स्नात्वा कृतार्थोऽस्मीत्यात्मानमवगच्छति।
षष्ठकालोपवासेन मुच्यते ब्रह्महत्यया॥150।।

वहाँ स्नान करने वाला मनुष्य वाजपेय यज्ञ का फल पाता है। तदनन्तर ब्रह्मर्षियों से सेवित देवकूट तीर्थ में जाकर स्नान करे। ऐसा करने वाला पुरुष अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और अपने कुल का उद्धार कर देता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् कौशिक मुनि के कुण्ड में स्नान के लिये जाय जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्र ने उत्तम सिद्धि प्राप्त की थी। वीर! भरतकुलभूषण! उस तीर्थ में कौशिकी नदी के तट पर एक मास तक निवास करे।।141-143।। ऐसा करने से एक मास में ही अश्वमेध यज्ञ का पुण्यफल प्राप्त हो जाता है। जो सब तीर्थों में उत्तम महाह्रद में स्नान करता है, वह कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता और प्रचुर सुवर्ण राशि प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर वीराश्रमनिवासी कुमार कार्तिकेय के निकट जाकर मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। अग्निधारातीर्थ तीनों लोकों में विख्यात है। वहाँ जाकर स्नान करने वाला पुरुष अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है। वहाँ वर देने वाले महान् देवता अविनाशी भगवान् विष्णु के निकट जाकर उनका दर्शन और पूजन करे।।144-147।। गिरिराज हिमालय के निकट

पितामहसरोवर में जाकर स्नान करने वाले पुरुष को अग्निष्टोमयज्ञ का फल मिलता है।।148।। पितामहसरोवर से सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करने वाली एक धारा प्रवाहित होती है, जो तीनों लोकों में कुमारधारा के नाम से विख्यात है।।149।। उसमें स्नान करके मनुष्य अपने आपको कृतार्थ मानने लगता है। वहाँ रहकर छठे समय उपवास करने से मनुष्य ब्रह्महत्या से छुटकारा पा जाता है।।150।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ तीर्थसेवनतत्परः।
शिखरं वै महादेव्या गौर्यास्त्रैलोक्यविश्रुतम्॥151।।
समारुह्य नरश्रेष्ठ स्तनकुण्डेषु संविशेत्।
स्तनकुण्डमुपस्पृश्य वाजपेयफलं लभेत्॥152।।
तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः।
हयमेधमवाप्नोति शक्रलोकं च गच्छति॥153।।
ताम्रारुणं समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमवाप्नोति ब्रह्मलोकं च गच्छति॥154।।
नन्दिन्यां च समासाद्य कूपं देवनिषेवितम्।
नरमेधस्य यत् पुण्यं तदाप्नोति नराधिप॥155।।
कालिकासङ्गमे स्नात्वा कौशिक्यरुणयोर्गतः।
त्रिरात्रोपोषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥156।।
उर्वशीतीर्थमासाद्य ततः सोमाश्रमं बुधः।
कुम्भकर्णाश्रमं गत्वा पूज्यते भुवि मानवः॥157।।
कोकामुखमुपस्पृश्य ब्रह्मचारी यतव्रतः।
जातिस्मरत्वमाप्नोति दृष्टमेतत्पुरातनैः॥158।।
प्राङ्नदीं च समासाद्य कृतात्मा भवति द्विजः।
सर्वपापविशुद्धात्मा शक्रलोकं च गच्छति॥159।।
ऋषभद्वीपमासाद्य मेध्यं क्रौञ्चनिषूदनम्।
सरस्वत्यामुपस्पृश्य विमानस्थो विराजते॥160।।
औद्दालकं महाराज तीर्थं मुनिनिषेवितम्।
तत्राभिषेकं कृत्वा वै सर्वपापैः प्रमुच्यते॥161।।
धर्मतीर्थं समासाद्य पुण्यं ब्रह्मर्षिसेवितम्।
वाजपेयमवाप्नोति विमानस्थश्च पूज्यते॥162।।

धर्मज्ञ! तदनन्तर तीर्थसेवन में तत्पर मानव महादेवी गौरी के शिखर पर जाय, जो तीनों लोकों में विख्यात है।।151।। नरश्रेष्ठ! उस शिखर पर चढ़कर मानव स्तनकुण्ड में स्नान करे। स्तनकुण्ड में अवगाहन करने से वाजपेययज्ञ का फल प्राप्त होता है।।151।। उस तीर्थ में स्नान करके देवताओं और पितरों की पूजा करने वाला पुरुष अश्वमेधयज्ञ का फल पाता है और इन्द्रलोक में पूजित होता है।।153।। तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो ताम्रारुणतीर्थ की यात्रा करने से मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है और ब्रह्मलोक में जाता है। नन्दिनीतीर्थ में देवताओं द्वारा सेवित एक कूप है। नरेश्वर!

वहाँ जाकर स्नान करने से मानव नरमेधयज्ञ का पुण्यफल प्राप्त करता है।।155।। राजन्! कौशिकी-अरुणा-संगम और कालिका-संगम में स्नान करके तीन रात उपवास करने वाला मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है।।156।। तदनन्तर उर्वशीतीर्थ, सोमाश्रम और कुम्भकर्णाश्रम की यात्रा करके मनुष्य इस भूतल पर पूजित होता है।।157।। कोकामुखतीर्थ में स्नान करके ब्रह्मचर्य एवं संयम-नियम का पालन करने वाला पुरुष पूर्वजन्म की बातों को स्मरण करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। यह बात प्राचीन पुरुषों ने प्रत्यक्ष देखी है।।158।। प्राङ्नदी तीर्थ में जाने से द्विज कृतार्थ हो जाता है। वह सब पापों से शुद्धचित्त होकर इन्द्रलोक में जाता है।।159।। तीर्थसेवी मनुष्य पवित्र ऋषभद्वीप और क्रौञ्चनिषूदन तीर्थ में जाकर सरस्वती में स्नान करने से विमान पर विराजमान होता है।।160।। महाराज! मुनियों से सेवित औद्दालक तीर्थ में स्नान करके मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है।।161।। परम पवित्र ब्रह्मर्षि सेवित धर्मतीर्थ में जाकर स्नान करने वाला मनुष्य वाजपेय यज्ञ का फल पाता और विमान पर बैठकर पूजित होता है।।162।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां चतुरशीतितमोऽध्यायः॥ 84 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में पुलस्त्य की तीर्थयात्रा सम्बन्ध रखने वाला चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।84।।

चतुर्थोऽध्यायः

गङ्गासागर, अयोध्या, चित्रकूट, प्रयाग आदि विभिन्न तीर्थों की महिमा का वर्णन और गङ्गा का माहात्म्य

पुलस्त्य उवाच

अथ सन्ध्यां समासाद्य संवेद्यं तीर्थमुत्तमम्।
उपस्पृश्य नरो विद्यां लभते नात्र संशयः॥1।।
रामस्य च प्रभावेण तीर्थं राजन् कृतं पुरा।
तल्लौहित्यं समासाद्य विन्द्याद् बहु सुवर्णकम्॥2।।
करतोयां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः।
अश्वमेधमवाप्नोति प्रजापतिकृतो विधिः॥3।।
गङ्गायास्तत्र राजेन्द्र सागरस्य च सङ्गमे।
अश्वमेधं दशगुणं प्रवदन्ति मनीषिणः॥4।।
गङ्गायास्त्वपरं पारं प्राप्य यः स्नाति मानवः।
त्रिरात्रमुषितो राजन् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥5।।
ततो वैतरणीं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचनीम्।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी॥6।।
प्रतरेच्च कुलं पुण्यं सर्वपापं व्यपोहति।

गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नरः॥7।।
शोणस्य ज्योतिरथ्यायाः सङ्गमे नियतः शुचिः।
तर्पयित्वा पितॄन् देवानग्निष्टोमफलं लभेत्॥8।।
शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभवे कुरुनन्दन।
वंशगुल्म उपस्पृश्य वाजिमेधफलं लभेत्॥9।।

पुलस्त्यजी कहते हैं—भीष्म! तदनन्तर प्रातःसंध्या के समय उत्तम संवेद्य तीर्थ में जाकर स्नान करने से मनुष्य विद्या लाभ करता है; इसमें संशय नहीं है।।1।। राजन्! पूर्वकाल में श्रीराम के प्रभाव से जो तीर्थ प्रकट हुआ, उसका नाम लौहित्य तीर्थ है। उसमें जाकर स्नान करने से मनुष्य को बहुत-सी सुवर्ण राशि प्राप्त होती है।।2।। करतोया में जाकर स्नान करके तीन रात उपवास करने वाला मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है। यह ब्रह्माजी द्वारा की हुई व्यवस्था है।।3।। राजेन्द्र! वहाँ गङ्गासागर सङ्गम में स्नान करने से दस अश्वमेध यज्ञों के फल की प्राप्ति होती है, ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं।।4।। राजन्! जो मानव गङ्गा सागर सङ्गम में गङ्गा के दूसरे पार पहुँच कर स्नान करता है और तीन रात वहाँ निवास करता है, वह सब पापों से छूट जाता है।।5।। तदनन्तर सब पापों से छुड़ाने वाली वैतरणी की यात्रा करे। वहाँ विरज तीर्थ में जाकर स्नान करने से मनुष्य चन्द्रमा के समान प्रकाशित होता है।।6।। उसका पुण्यमय कुल संसार सागर से तर जाता है। वह अपने सब पापों का नाश कर देता है और सहस्र गोदान का फल प्राप्त करके अपने कुल को पवित्र कर देता है।।7।। शोण और ज्योतिरथ्या के सङ्गम में स्नान करके जितेन्द्रिय एवं पवित्र पुरुष यदि देवताओं और पितरों का तर्पण करे तो वह अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है।।8।। कुरुनन्दन! शोण और नर्मदा के उत्पत्तिस्थान वंशगुल्मतीर्थ में स्नान करके तीर्थयात्री अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है।।9।।

ऋषभं तीर्थमासाद्य कोसलायां नराधिप।
वाजपेयमवाप्नोति त्रिरात्रोपोषितो नरः॥10।।
गोसहस्रफलं विन्द्यात् कुलं चैव समुद्धरेत्।
कोसलां तु समासाद्य कालतीर्थमुपस्पृशेत्॥11।।
वृषभैकादशफलं लभते नात्र संशयः।
पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितो नरः॥12।।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नृप।
ततो बदरिकातीर्थं स्नात्वा भरतसत्तम॥13।।
दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति।
अथ चम्पां समासाद्य भागीरथ्यां कृतोदकः॥14।।
दण्डाख्यमभिगम्यैव गोसहस्रफलं लभेत्।
लपेटिकां ततो गच्छेत् पुण्यां पुण्योपशोभिताम्॥15।।
वाजपेयमवाप्नोति देवैः सर्वैश्च पूज्यते।
ततो महेन्द्रमासाद्य जामदग्न्यनिषेवितम्॥16।।

रामतीर्थे नरः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत्।
मतङ्गस्य तु केदारस्तत्रैव कुरुनन्दन॥17।।
तत्र स्नात्वा कुरुश्रेष्ठ गोसहस्रफलं लभेत्।
श्रीपर्वतं समासाद्य नदीतीरमुपस्पृशेत्॥18।।
अश्वमेधमवाप्नोति पूजयित्वा वृषध्वजम्।
श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः॥19।।
न्यवसत् परमप्रीतो ब्रह्मा च त्रिदशैः सह।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा शुचिः प्रयतमानसः॥20।।
अश्वमेधमवाप्नोति परां सिद्धिं च गच्छति।
ऋषभं पर्वतं गत्वा पाण्ड्ये दैवतपूजितम्।
वाजपेयमवाप्नोति नाकपृष्ठे च मोदते॥21।।

नरेश्वर! कोसला (अयोध्या) में ऋषभतीर्थ में जाकर स्नानपूर्वक तीन रात उपवास करने वाला मानव वाजपेय यज्ञ का फल पाता है। इतना ही नहीं, वह सहस्र गोदान का फल पाता और अपने कुल का भी उद्धार कर देता है। कोसला नगरी (अयोध्या) में जाकर कालतीर्थ में स्नान करे ऐसा करने से ग्यारह वृषभ-दान का फल मिलता है, इसमें संशय नहीं है। पुष्पवती में स्नान करके तीन रात उपवास करने वाला मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता और अपने कुल को पवित्र कर देता है। भरतकुलभूषण! तदनन्तर बदरिका तीर्थ में स्नान करके मनुष्य दीर्घायु पाता और स्वर्गलोक में जाता है। तत्पश्चात् चम्पा में जाकर भागीरथ में तर्पण करे और दण्ड नामक तीर्थ में जाकर सहस्र गोदान का फल प्राप्त करे। तदनन्तर पुण्यशोभिता पुण्यमयी लपेटिका में जाकर स्नान करे। ऐसा करने से तीर्थयात्री वाजपेय यज्ञ का फल पाता और सम्पूर्ण देवताओं द्वारा पूजित होता है। इसके बाद परशुरामसेवित महेन्द्रपर्वत पर जाकर वहाँ के रामतीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। कुरुश्रेष्ठ कुरुनन्दन! वहीं मतङ्ग का केदार है, उसमें स्नान करने से मनुष्य को सहस्र गोदान का फल मिलता है। श्रीपर्वत पर जाकर वहाँ की नदी के तट पर स्नान करे। वहाँ भगवान् शङ्कर की पूजा करके मनुष्य को अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है। श्रीपर्वत पर देवी पार्वती के साथ महातेजस्वी महादेवजी बड़ी प्रसन्नता के साथ निवास करते हैं। देवताओं के साथ ब्रह्माजी भी वहाँ रहते हैं। वहाँ देवकुण्ड में स्नान करके पवित्र हो जितात्मा पुरुष अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और परम सिद्धि लाभ करता है। पाड्यदेश में देवपूजित ऋषभ पर्वत पर जाकर तीर्थयात्री वाजपेय यज्ञ का फल पाता और स्वर्गलोक में आनन्दित होता है।।10-21।।

ततो गच्छेत कावेरीं वृतामप्सरसां गणैः।
तत्र स्नात्वा नरो राजन् गोसहस्रफलं लभेत्॥22।।
ततस्तीरे समुद्रस्य कन्यातीर्थमुपस्पृशेत्।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वपापैः प्रमुच्यते॥23।।
अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।

समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम्॥24॥
यत्र ब्रह्मादयो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
भूतयक्षपिशाचाश्च किन्नराः समहोरगाः॥25॥
सिद्धचारणगन्धर्वमानुषाः पन्नगास्तथा।
सरितः सागराः शैला उपासन्त उमापतिम्॥26॥
तत्रेशानं समभ्यर्च्य त्रिरात्रोपोषितो नरः।
अश्वमेधमवाप्नोति गाणपत्यं च विन्दति॥27॥
उष्य द्वादशरात्रं तु पूतात्मा च भवेन्नरः।
तत एव च गायत्र्याः स्थानं त्रैलोक्यपूजितम्॥28॥
त्रिरात्रमुषितस्तत्र गोसहस्रफलं लभेत्।
निदर्शनं च प्रत्यक्षं ब्राह्मणानां नराधिप॥29॥
गायत्रीं पठते यस्तु योनिसङ्करजस्तथा।
गाथा च गाथिका चापि तस्य सम्पद्यते नृप॥30॥

राजन्! तदनन्तर अप्सराओं से आवृत्त कावेरी नदी की यात्रा करे। वहाँ स्नान करने से मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता है॥22॥ राजेन्द्र! तत्पश्चात् समुद्र के तट पर विद्यमान कन्यातीर्थ (कन्याकुमारी) में जाकर स्नान करे। उस तीर्थ में स्नान करते ही मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है॥23॥ महाराज! इसके बाद समुद्र के मध्य में विद्यमान त्रिभुवनविख्यात अखिल लोकवन्दित गोकर्ण तीर्थ में जाकर स्नान करे। जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, तपोधन महर्षि, भूत, यक्ष, पिशाच, किन्नर, महानाग, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, मनुष्य, सर्प, नदी, समुद्र और पर्वत—ये सभी उमावल्लभ भगवान् शङ्कर की उपासना करते हैं॥24-26॥ वहाँ भगवान् शिव की पूजा करके तीन रात उपवास करने वाला मनुष्य अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और गणपति पद प्राप्त कर लेता है॥27॥ वहाँ बारह रात निवास करने से मनुष्य का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। वहीं गायत्री का त्रिलोकपूजित स्थान है॥28॥ वहाँ तीन रात निवास करने वाला पुरुष सहस्र गोदान का फल प्राप्त करता है। नरेश्वर! ब्राह्मणों की पहचान के लिये वहाँ प्रत्यक्ष उदाहरण है॥29॥ राजन्! जो वर्णसङ्कर योनि में उत्पन्न हुआ है, वह यदि गायत्री मन्त्र का पाठ करता है, तो उसके मुख से वह गाथा या गीत की तरह स्वर और वर्णों के नियम से रहित होकर निकलती है अर्थात् वह गायत्री का उच्चारण ठीक नहीं कर सकता॥30॥

अब्राह्मणस्य सावित्रीं पठतस्तु प्रणश्यति।
संवर्तस्य तु विप्रर्षेर्वापीमासाद्य दुर्लभाम्॥31॥
रूपस्य भागी भवति सुभगश्च प्रजापते।
ततो वेणां समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः॥32॥
मयूरहंससंयुक्तं विमानं लभते नरः।
ततो गोदावरीं प्राप्य नित्यं सिद्धनिषेविताम्॥33॥
गवां मेधमवाप्नोति वासुकेर्लोकमुत्तमम्।

वेणायाः सङ्गमे स्नात्वा वाजिमेधफलं लभेत्॥34।।
वरदासङ्गमे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्।
ब्रह्मस्थानं समासाद्य त्रिरात्रोपोषितो नरः॥35।।
गोसहस्रफलं विन्द्यात् स्वर्गलोकं च गच्छति।
कुशप्लवनमासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः॥36।।
त्रिरात्रमुषितः स्नात्वा अश्वमेधफलं लभेत्।
ततो देवह्रदेऽरण्ये कृष्णवेणाजलोद्भवे॥37।।
जातिस्मरह्रदे स्नात्वा भवेज्जातिस्मरो नरः।
यत्र क्रतुशतैरिष्ट्वा देवराजो दिवं गतः॥38।।
अग्निष्टोमफलं विन्द्याद्गमनादेव भारत।
ततः सर्वदेवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥39।।
ततो वापीं महापुण्यां पयोष्णीं सरितां वराम्।
पितृदेवार्चनरतो गोसहस्रफलं लभेत्॥40।।

जो सर्वथा ब्राह्मण नहीं है, ऐसा मनुष्य यदि वहाँ गायत्री मन्त्र का पाठ करे तो वहाँ वह मन्त्र लुप्त हो जाता है अर्थात् उसे भूल जाता है। राजन्! वहाँ ब्रह्मर्षि संवर्त की दुर्लभ बावली है। उसमें स्नान करके मनुष्य सुन्दर रूप का भागी और सौभाग्यशाली होता है। तदनन्तर वेणा नदी के तट पर जाकर तीन रात उपवास करने वाला मनुष्य (मृत्यु के पश्चात्) मोर और हंसों से जुता हुआ विमान को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् सदा सिद्ध पुरुषों से सेवित गोदावरी के तट पर जाकर स्नान करने से तीर्थयात्री गोमेध यज्ञ का फल पाता और वासुकि के लोक में जाता है। वेणासङ्गम में स्नान करके मनुष्य अश्वमेध के फल का भागी होता है।।31-34।। वरदासङ्गम तीर्थ में स्नान करने से सहस्र गोदान का फल मिलता है। ब्रह्मस्थान में जाकर तीन रात उपवास करने वाला मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता और स्वर्गलोक में जाता है। कुशप्लवन तीर्थ में जाकर स्नान करके ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक एकाग्रचित्त हो तीन रात निवास करने वाला पुरुष अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है। तदनन्तर कृष्णवेणा के जल से उत्पन्न हुए रमणीय देवकुण्ड में, जिसे जातिस्मर ह्रद कहते हैं, स्नान करे। वहाँ स्नान करने से मनुष्य जातिस्मर (पूर्वजन्म की बातों को स्मरण करने की शक्ति वाला) होता है। वहीं सौ यज्ञों का अनुष्ठान करके देवराज इन्द्र स्वर्ग के सिंहासन पर आसीन हुए थे। भरतनन्दन! वहाँ जाने मात्र से यात्री अग्निष्टोम यज्ञ का फल पा लेता है। तत्पश्चात् सर्वदेवह्रद में स्नान करने से सहस्र गोदान का फल मिलता है।।35-39।। तदनन्तर परम पुण्यमयी वापी और सरिताओं में श्रेष्ठ पयोष्णी में जाकर स्नान करे और देवताओं तथा पितरों के पूजन में तत्पर रहे, ऐसा करने से तीर्थसेवी को सहस्र गोदान का फल मिलता है।।40।।

दण्डकारण्यमासाद्य पुण्यं राजन्नुपस्पृशेत्।
गोसहस्रफलं तस्य स्नातमात्रस्य भारत॥41।।
शरभङ्गाश्रमं गत्वा शुकस्य च महात्मनः।

न दुर्गतिमवाप्नोति पुनाति च कुलं नरः॥42॥
ततः शूर्पारकं गच्छेज्जामदग्न्यनिषेवितम्।
रामतीर्थं नरः स्नात्वा विन्द्याद् बहुसुवर्णकम्॥43॥
सप्तगोदावरे स्नात्वा नियतो नियताशनः।
महत् पुण्यमवाप्नोति देवलोकं च गच्छति॥44॥
ततो देवपथं गत्वा नियतो नियताशनः।
देवसत्रस्य यत् पुण्यं तदेवाप्नोति मानवः॥45॥
तुङ्गकारण्यमासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
वेदानध्यापयत् तत्र ऋषिः सारस्वतः पुरा॥46॥
तत्र वेदेषु नष्टेषु मुनेरङ्गिरसः सुतः।
ऋषीणामुत्तरीयेषु सूपविष्टो यथासुखम्॥47॥
ओङ्कारेण यथान्यायं सम्यगुच्चारितेन ह।
येन यत् पूर्वमभ्यस्तं तत् सर्वं समुपस्थितम्॥48॥
ऋषयस्तत्र देवाश्च वरुणोऽग्निः प्रजापतिः।
हरिर्नारायणस्तत्र महादेवस्तथैव च॥49॥
पितामहश्च भगवान् देवैः सह महाद्युतिः।
भृगुं नियोजयामास याजनार्थे महाद्युतिम्॥50॥

राजन्! भरतनन्दन! जो दण्डकारण्य में जाकर स्नान करता है, उसे स्नान करने मात्र से सहस्र गोदान का फल प्राप्त होता है॥41॥ शरभङ्ग मुनि तथा महात्मा शुक के आश्रम पर जाने से मनुष्य कभी दुर्गति में नहीं पड़ता और अपने कुल को पवित्र कर देता है॥42॥ तदनन्तर परशुराम सेवित शूर्पारक तीर्थ की यात्रा करे। वहाँ रामतीर्थ में स्नान करने से मनुष्य को प्रचुर सुवर्ण राशि की प्राप्ति होती है॥43॥ सप्तगोदावर तीर्थ में स्नान करके नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करने वाला पुरुष महान् पुण्यलाभ करता और देव लोक में जाता है॥44॥ तत्पश्चात् नियमपालन के साथ-साथ नियमित आहार ग्रहण करने वाला मानव देव पथ में जाकर देवसत्र का जो पुण्य है, उसे पा लेता है॥45॥ तुङ्गकारण्य में जाकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए इन्द्रियों को अपने वश में रखे। प्राचीनकाल में वहाँ सारस्वत ऋषि ने अन्य ऋषियों को वेदों का अध्ययन कराया था॥46॥ एक समय उन ऋषियों को सारा वेद भूल गया। इस प्रकार वेदों के नष्ट होने (भूल जाने) पर अङ्गिरा मुनि का पुत्र ऋषियों के उत्तरीय वस्त्रों (चादरों) में छिपकर सुखपूर्वक बैठ गया (और विधिपूर्वक ॐकार का उच्चारण करने लगा)॥47॥ नियम के अनुसार ॐकार का ठीक-ठीक उच्चारण होने पर, जिसने पूर्वकाल में जिस वेद का अध्ययन एवं अभ्यास किया था, उसे वह सब स्मरण हो आया॥48॥ उस समय वहाँ बहुत-से ऋषि, देवता, वरुण, अग्नि, प्रजापति, भगवान् नारायण और महादेवजी भी उपस्थित हुए। महातेजस्वी भगवान् ब्रह्मा ने देवताओं के साथ जाकर परम कान्तिमान् भृगु को यज्ञ कराने के काम पर नियुक्त किया॥50॥

ततः स चक्रे भगवानृषीणां विधिवत् तदा।
सर्वेषां पुनराधानं विधिदृष्टेन कर्मणा॥51।।
आज्यभागेन तत्राग्निं तर्पयित्वा यथाविधि।
देवाः स्वभवनं याता ऋषयश्च यथाक्रमम्॥52।।
तदरण्यं प्रविष्टस्य तुङ्गकं राजसत्तम।
पापं प्रणश्यत्यखिलं स्त्रियो वा पुरुषस्य वा॥53।।
तत्र मासं वसेद् धीरो नियतो नियताशनः।
ब्रह्मलोकं व्रजेद् राजन् कुलं चैव समुद्धरेत्॥54।।
मेधाविकं समासाद्य पितॄन् देवांश्च तर्पयेत्।
अग्निष्टोममवाप्नोति स्मृतिं मेधां च विन्दति॥55।।
अत्र कालञ्जरं नाम पर्वतं लोकविश्रुतम्।
तत्र देवह्रदे स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥56।।
यो स्नातः साधयेत् तत्र गिरौ कालञ्जरे नृप।
स्वर्गलोके महीयेत नरो नास्त्यत्र संशयः॥57।।
ततो गिरिवरश्रेष्ठे चित्रकूटे विशाम्पते।
मन्दाकिनीं समासाद्य सर्वपापप्रणाशिनीम्॥58।।
तत्राभिषेकं कुर्वाणः पितृदेवार्चने रतः।
अश्वमेधमवाप्नोति गतिं च परमां व्रजेत्॥59।।

तदनन्तर भगवान् भृगु ने वहाँ सब ऋषियों के यहाँ शास्त्रीय विधि के अनुसार पुनः भलीभाँति अग्निस्थापन कराया। उस समय आज्यभाग के द्वारा विधिपूर्वक अग्नि को तृप्त करके सब देवता और ऋषि क्रमशः अपने-अपने स्थान को चले गये।।51-52।। नृपश्रेष्ठ! उस तुङ्गकारण्य में प्रवेश करते ही स्त्री या पुरुष सबके पाप नष्ट हो जाते हैं।।53।। धीर पुरुष को चाहिये कि वह नियमपालनपूर्वक नियमित भोजन करते हुए एक मास तक वहाँ रहे। राजन्! ऐसा करने वाला तीर्थ यात्री ब्रह्मलोक में जाता और अपने कुल का उद्धार कर देता है।।54।। तत्पश्चात् मेधाविक तीर्थ में जाकर देवताओं और पितरों का तर्पण करे; ऐसा करने वाला पुरुष अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता और स्मृति एवं बुद्धि को प्राप्त कर लेता है।।55।। इस तीर्थ में कालञ्जर नामक लोकविख्यात पर्वत है, वहाँ देवह्रद नामक तीर्थ में स्नान करने से सहस्र गोदान का फल मिलता है।।56।। राजन्! जो कालञ्जर पर्वत पर स्नान करके वहाँ साधना करता है, वह मनुष्य स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है; इसमें संशय नहीं है।।57।। राजन्! तदनन्तर पर्वतश्रेष्ठ चित्रकूट में सब पापों का नाश करने वाली मन्दाकिनी के तट पर पहुँच कर उसमें स्नान करे और देवताओं तथा पितरों की पूजा में लग जाय। इससे वह अश्वमेध यज्ञ का फल पाता और परम गति को प्राप्त होता है।।58-59।।

ततो गच्छेत धर्मज्ञ भर्तृस्थानमनुत्तमम्।
यत्र नित्यं महासेनो गुहः सन्निहितो नृप॥60।।

तत्र गत्वा नृपश्रेष्ठ गमनादेव सिध्यति।
कोटितीर्थे नरः स्नात्वा गोसहस्रफलं लभेत्॥61।।
प्रदक्षिणमुपावृत्य ज्येष्ठस्थानं व्रजेन्नरः।
अभिगम्य महादेवं विराजति यथा शशी॥62।।
तत्र कूपे महाराज विश्रुता भरतर्षभ।
समुद्रास्तत्र चत्वारो निवसन्ति युधिष्ठिर॥63।।
तत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र पितृदेवार्चने रतः।
नियतात्मा नरः पूतो गच्छेत परमां गतिम्॥64।।
ततो गच्छेत राजेन्द्र शृङ्गवेरपुरं महत्।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिः पुरा॥65।।
तस्मिंस्तीर्थे महाबाहो स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते।
गङ्गायां तु नरः स्नात्वा ब्रह्मचारी समाहितः॥66।।
विधूतपाप्मा भवति वाजपेयं च विन्दति।
ततो मुञ्जवटं गच्छेत् स्थानं देवस्य धीमतः॥67।।
अभिगम्य महादेवमभिवाद्य च भारत।
प्रदक्षिणमुपावृत्य गाणपत्यमवाप्नुयात्॥68।।
तस्मिंस्तीर्थे तु जाह्नव्यां स्नात्वा पापैः प्रमुच्यते।
ततो गच्छेत राजेन्द्र प्रयागमृषिसंस्तुतम्॥69।।
तत्र ब्रह्मादयो देवा दिशश्च सदिगीश्वराः।
लोकपालाश्च साध्याश्च पितरो लोकसम्मताः॥70।।
सनत्कुमारप्रमुखास्तथैव परमर्षयः।
अङ्गिरःप्रमुखाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः॥71।।
तथा नागाः सुपर्णाश्च सिद्धाः चक्रचराः तथा।
सरितः सागराश्चैव गन्धर्वाप्सरसोऽपि च॥72।।
हरिश्च भगवानास्ते प्रजापतिपुरस्कृतः।
तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जाह्नवी॥73।।
वेगेन समतिक्रान्ता सर्वतीर्थपुरस्कृता।
तपनस्य सुता देवी त्रिषु लोकेषु विश्रुता॥74।।
यमुना गङ्गया सार्धं सङ्गता लोकपावनी।
गङ्गायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम्॥75।।

धर्मज्ञनरेश! तत्पश्चात् तीर्थ यात्री परम उत्तम भर्तृस्थान की यात्रा करे, जहाँ महासेन कार्तिकेयजी निवास करते हैं। नृपश्रेष्ठ! वहाँ जाने मात्र से सिद्धि प्राप्त होती है। कोटि-तीर्थ में स्नान करके मनुष्य सहस्र गोदान का फल पाता है। उसकी परिक्रमा करके तीर्थयात्री मानव ज्येष्ठ स्थान को जाय। वहाँ महादेवजी के दर्शन-पूजन करने से वह चन्द्रमा के समान प्रकाशित होता है।।60-62।। भरतकुलभूषण महाराज युधिष्ठिर! वहाँ एक कूप है, जिसमें चारों समुद्र निवास करते हैं।।63।। राजेन्द्र! उसमें स्नान करके

देवताओं और पितरों के पूजन में तत्पर रहने वाला जितात्मा पुरुष पवित्र हो परमगति को प्राप्त होता है।।64।। राजेन्द्र! वहाँ से महान् शृङ्गवेरपुर की यात्रा करे। महाराज! पूर्वकाल में दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी जी ने वहीं गङ्गा पार की थी।।65।। महाबाहो! उस तीर्थ में स्नान करके मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक एकाग्र हो गङ्गाजी में स्नान करके मनुष्य पापरहित होता तथा वाजपेय यज्ञ का फल पाता है। तदनन्तर तीर्थयात्री परम बुद्धिमान् महादेवजी के मुञ्जवट नामक तीर्थ को जाय। भरतनन्दन! उस तीर्थ में महादेवजी के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके परिक्रमा करने से मनुष्य गणपति पद प्राप्त कर लेता है। उक्त तीर्थ में जाकर गङ्गा में स्नान करने से मनुष्य सब पापों से छुटकारा पा जाता है। राजेन्द्र! तत्पश्चात् महर्षियों द्वारा प्रशंसित प्रयागतीर्थ में जाय। जहाँ ब्रह्मा आदि देवता, दिशा, दिक्पाल, लोकपाल, साध्य, लोकसम्मानित पितर, सनत्कुमार आदि महर्षि, अङ्गिरा आदि निर्मल महर्षि नाग, सुपर्ण, सिद्ध, सूर्य, नदी, समुद्र, गन्धर्व, अप्सरा तथा ब्रह्माजी सहित भगवान् विष्णु निवास करते हैं। वहाँ तीन अग्निकुण्ड हैं, जिनके बीच से सब तीर्थों से सम्पन्न गङ्गा वेगपूर्वक बहती है। त्रिभुवनविख्यात सूर्यपुत्री लोकपावनी यमुनादेवी वहाँ गङ्गाजी के साथ मिली है। गङ्गा और यमुना का मध्यभाग पृथ्वी का जघन माना गया है।।66-75।।

प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृषयो विदुः।
प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरौ तथा॥76।।
तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः।
तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर॥77।।
प्रजापतिमुपासन्ते ऋषयश्च तपोधनाः।
यजन्ते क्रतुभिर्देवास्तथा चक्रधरा नृपाः॥78।।
ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत।
प्रयागं सर्वतीर्थेभ्यः प्रवदन्त्यधिकं विभो॥79।।
गमनात् तस्य तीर्थस्य नामसङ्कीर्तनादपि।
मृत्युकालभयाच्चापि नरः पापात् प्रमुच्यते॥80।।

ऋषियों ने प्रयाग को जघन स्थानीय उपस्थ बताया है। प्रतिष्ठानपुर (झूसी) सहित प्रयाग, कम्बल और अश्वतर नाग तथा भोगवती तीर्थ यह ब्रह्माजी की वेदी है। युधिष्ठिर! उस तीर्थ में वेद और यज्ञ मूर्तिमान् होकर रहते हैं और प्रजापति की उपासना करते हैं। तपोधन ऋषि, देवता तथा चक्रधर नृपतिगण वहाँ यज्ञों द्वारा भगवान् का यजन करते हैं। भरतनन्दन! इसीलिये तीनों लोकों में प्रयाग को सब तीर्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं पुण्यतम बताते हैं। उस तीर्थ में जाने से अथवा उसका नाम लेने मात्र से भी मनुष्य मृत्युकाल के भय और पाप से मुक्त हो जाता है।।76-80।।

तत्राभिषेकं यः कुर्यात्सङ्गमे लोकविश्रुते।
पुण्यं सफलमाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः॥81।।
एषा यजनभूमिर्हि देवानामभिसंस्कृता।
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद् भवति भारत॥82।।

न वेदवचनात् तात न लोकवचनादपि।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति॥83।।
दश तीर्थसहस्राणि षष्टिः कोट्यस्तथापराः।
येषां सान्निध्यमत्रैव कीर्तितं कुरुनन्दन॥84।।
चतुर्विद्ये च यत् पुण्यं सत्यवादिषु चैव यत्।
स्नात एव तदाप्नोति गङ्गायमुनसङ्गमे॥85।।
तत्र भोगवती नाम वासुकेस्तीर्थमुत्तमम्।
तत्राभिषेकं यः कुर्यात् सोऽश्वमेधफलं लभेत्॥86।।
तत्र हंसप्रपतनं तीर्थं त्रैलोक्यविश्रुतम्।
दशाश्वमेधिकं चैव गङ्गायां कुरुनन्दन॥87।।
कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र तत्रावगाहिता।
विशेषो वै कनखले प्रयागे परमं महत्॥88।।
यद्यकार्यशतं कृत्वा कृतं गङ्गाभिषेचनम्।
सर्वं तत् तस्य गङ्गाम्भो दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥89।।
सर्वं कृतयुगे पुण्यं त्रेतायां पुष्करं स्मृतम्।
द्वापरेऽपि कुरुक्षेत्रं गङ्गा कलियुगे स्मृता॥90।।
पुष्करे तु तपस्तप्येद्दानं दद्यान्महालये।
मलये त्वग्निमारोहेद् भृगुतुङ्गे त्वनशनम्॥91।।

वहाँ के विश्वविख्यात सङ्गम में जो स्नान करता है, वह राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का पुण्यफल प्राप्त कर लेता है।।81।। भरतनन्दन! यह देवताओं की संस्कार की हुई यज्ञभूमि है। यहाँ दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् होता है।।82।। तात! तुम्हें किसी वैदिक वचन से या लौकिक वचन से भी प्रयाग में मरने का विचार नहीं त्यागना चाहिये।।83।। कुरुनन्दन! साठ करोड़ दस हजार तीर्थों का निवास केवल इस प्रयाग में ही बताया गया है। चारों विद्याओं के ज्ञान से पुण्य होता है तथा सत्य बोलने वाले व्यक्तियों को जिस पुण्य की प्राप्ति होती है, वह सब गङ्गा-यमुना के सङ्गम में स्नान करने मात्र से प्राप्त हो जाता है।।84-85।। प्रयाग में भोगवती नाम से प्रसिद्ध वासुकि नाम का उत्तम तीर्थ है जो वहाँ स्नान करता है, उसे अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है।।86।। कुरुनन्दन! वहीं त्रिलोकविख्यात हंसप्रपतन नामक तीर्थ है और गङ्गा के तट पर दशाश्वमेधिक तीर्थ है।।87।। गङ्गा में जहाँ कहीं भी स्नान किया जाय, वह कुरुक्षेत्र के समान पुण्यदायिनी है। कनखल में गङ्गा का स्नान विशेष माहात्म्य रखता है और प्रयाग में गङ्गा-स्नान का माहात्म्य सबकी अपेक्षा बहुत अधिक है।।88।। जैसे अग्नि ईंधन को जला देती है, उसी प्रकार सैकड़ों निषिद्ध कर्म करके भी यदि गङ्गा स्नान किया जाय तो उसका जल उन सब पापों को भस्म कर देता है। सत्य युग में सभी तीर्थ पुण्यदायक होते हैं। त्रेता में पुष्कर का महत्त्व है। द्वापर में कुरुक्षेत्र विशेष पुण्यदायक है और कलियुग में गङ्गा की अधिक महिमा बतायी गयी है। पुष्कर में तप करे, महालय में दान दे, मलय पर्वत में अग्नि पर आरूढ हो और भृगुतुङ्ग में उपवास करे।।89-91।।

पुष्करे तु कुरुक्षेत्रे गङ्गायां मध्यमेषु च।
स्नात्वा तारयते जन्तुः सप्तसप्तावरांस्तथा॥92॥
पुनाति कीर्तिता पापं दृष्टा भद्रं प्रयच्छति।
अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥93॥
यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्।
तावत् स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते॥94॥
यथा पुण्यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।
उपास्य पुण्यं लब्ध्वा च भवत्यमरलोकभाक्॥95॥
न गङ्गासदृशं तीर्थं न देवः केशवात् परः।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति एवमाह पितामहः॥96॥
यत्र गङ्गा महाराज स देशस्तत् तपोवनम्।
सिद्धिक्षेत्रं च तज्ज्ञेयं गङ्गातीरसमाश्रितम्॥97॥
इदं सत्यं द्विजातीनां साधूनामात्मजस्य च।
सुहृदां च जपेत् कर्णे शिष्यस्यानुगतस्य च॥98॥
इदं धन्यमिदं मेध्यमिदं स्वर्ग्यमनुत्तमम्।
इदं पुण्यमिदं रम्यं पावनं धर्म्यमुत्तमम्॥99॥
महर्षीणामिदं गुह्यं सर्वपापप्रमोचनम्।
अधीत्य द्विजमध्ये च निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्॥100॥

पुष्कर में, कुरुक्षेत्र में, गङ्गा में तथा प्रयाग आदि मध्यवर्ती तीर्थों में स्नान करके मनुष्य अपने आगे-पीछे की सात-सात पीढ़ियों का उद्धार कर देता है॥92॥ गङ्गाजी का नाम लिया जाय तो वह सारे पापों को धो बहाकर पवित्र कर देती है तथा स्नान और जलपान करने पर वह मनुष्य की सात पीढ़ियों को पावन बना देती है॥93॥ राजन्! मनुष्य की हड्डी जब तक गङ्गाजल का स्पर्श करती है, तब तक वह पुरुष स्वर्गलोक में पूजित होता है॥94॥ जितने पुण्य तीर्थ हैं और जितने पुण्य मन्दिर हैं, उन सबकी उपासना (सेवन) से पुण्यलाभ करके मनुष्य देवलोक का भागी होता है॥95॥ गङ्गा के समान कोई तीर्थ नहीं, भगवान् विष्णु से बढ़कर कोई देवता नहीं और ब्राह्मणों से उत्तम कोई वर्ण नहीं है; ऐसा ब्रह्माजी का कथन है॥96॥ महाराज! जहाँ गङ्गा बहती हैं, वही उत्तम देश है और वही तपोवन है। गङ्गा के तटवर्ती स्थान को सिद्धिक्षेत्र समझना चाहिये॥97॥ इस सत्य सिद्धान्त को ब्राह्मण आदि द्विजों, साधु पुरुषों, पुत्र, सुहृदों, शिष्यवर्ग तथा अपने अनुगत मनुष्यों के कान में कहना चाहिये॥98॥ यह गङ्गा-माहात्म्य धन्य, पवित्र, स्वर्गप्रद और परम उत्तम है। यह पुण्यदायक, रमणीय, पावन, उत्तम, धर्मसङ्गत और श्रेष्ठ है॥99॥ यह महर्षियों का गोपनीय रहस्य है। सब पापों का नाश करने वाला है। द्विजमण्डली में इस गङ्गा-माहात्म्य का पाठ करके मनुष्य निर्मल हो स्वर्गलोक में पहुँच जाता है॥100॥

श्रीमत् स्वर्ग्यं तथा पुण्यं सपत्नशमनं शिवम्।
मेधाजननमग्र्यं वै तीर्थवंशानुकीर्तनम्॥101॥

अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनमाप्नुयात्।
महीं विजयते राजा वैश्यो धनमवाप्नुयात्॥102।।
शूद्रो यथेप्सितान् कामान् ब्राह्मणः पारगः पठन्।
यश्चेदं शृणुयान्नित्यं तीर्थपुण्यं नरः शुचिः॥103।।
जातीः स स्मरते बह्वीर्नाकपृष्ठे च मोदते।
गम्यान्यपि च तीर्थानि कीर्तितान्यगमानि च॥104।।
मनसा तानि गच्छेत सर्वतीर्थसमीक्षया।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः॥105।।
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च स्नातानि सुकृतैषिभिः।
एवं त्वमपि कौरव्य विधिनानेन सुव्रत॥106।।
व्रज तीर्थानि नियतः पुण्यं पुण्येन वर्धयन्।
भावितैः करणैः पूर्वमास्तिक्याच्छ्रुतिदर्शनात्॥107।।
प्राप्यन्ते तानि तीर्थानि सद्भिः शास्त्रानुदर्शिभिः।
नाव्रती नाकृतात्मा च नाशुचिर्न च तस्करः॥108।।
स्नाति तीर्थेषु कौरव्य न च वक्रमतिर्नरः।
त्वया तु सम्यग्वृत्तेन नित्यं धर्मार्थदर्शिना॥109।।
पिता पितामहश्चैव सर्वे च प्रपितामहाः।
पितामहपुरोगाश्च देवाः सर्षिगणा नृप॥110।।
तव धर्मेण धर्मज्ञ नित्यमेवाभितोषिताः।
अवाप्स्यसि त्वं लोकान् वै वसूनां वासवोपम।
कीर्तिं च महतीं भीष्म प्राप्स्यसे भुवि शाश्वतीम्॥111

यह तीर्थ समूहों की महिमा का वर्णन परम उत्तम, सम्पत्तिदायक, स्वर्गप्रद, पुण्यकारक, शत्रुओं का निवारण करने वाला, कल्याणकारक तथा मेधाशक्ति को उत्पन्न करने वाला है।।101।। इस तीर्थ-माहात्म्य का पाठ करने से पुत्रहीन को पुत्र प्राप्त होता है, धनहीन को धन मिलता है, राजा इस पृथ्वी पर विजय पाता है और वैश्य को व्यापार में धन मिलता है।।102।। शूद्र मनोवाञ्छित वस्तुएँ पाता है और ब्राह्मण इसका पाठ करे तो वह समस्त शास्त्रों का पारङ्गत विद्वान् होता है। जो मनुष्य तीर्थों के इस पुण्य माहात्म्य को प्रतिदिन सुनता है, वह पवित्र हो पहले के अनेक जन्मों की बातें याद कर लेता है और देहत्याग के पश्चात् स्वर्गलोक में आनन्द का अनुभव करता है। भीष्म! मैंने यहाँ गम्य और अगम्य सभी प्रकार के तीर्थों का वर्णन किया है।।103-104।। सम्पूर्ण तीर्थों के दर्शन की इच्छा पूर्ण करने के लिए मनुष्य जहाँ जाना सम्भव न हो, उन अगम्य तीर्थों में मन से यात्रा करे अर्थात् मन से उन तीर्थों का चिन्तन करे। वसुगण, साध्यगण, आदित्यगण, मरुद्गण दोनों अश्विनीकुमार तथा देवोपम महर्षियों ने भी पुण्य-लाभ की इच्छा से उन तीर्थों में स्नान किया है। उत्तम व्रत का पालन करने वाले कुरुनन्दन! इसी प्रकार तुम भी विधिपूर्वक शौच-सन्तोषादि नियमों का पालन करते और पुण्य से पुण्य को बढ़ाते हुए उन तीर्थों की यात्रा करो। आस्तिकता और वेदों के अनुशीलन से पहले

अपने इन्द्रियों को पवित्र करके शास्त्रज्ञ साधु पुरुष ही उन तीर्थों को प्राप्त करते हैं। कुरुनन्दन! जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन नहीं करता, जिसने अपने चित्त को वश में नहीं किया, जो अपवित्र आचार-विचार वाला और चोर है, जिसकी बुद्धि वक्र है, ऐसा मनुष्य श्रद्धा न होने के कारण तीर्थों में स्नान नहीं करता। तुम धर्म और अर्थ के ज्ञाता तथा नित्य सदाचार में तत्पर रहने वाले हो। धर्मज्ञ! तुमने पिता-पितामह-प्रपितामह, ब्रह्मा आदि देवता तथा महर्षिगण इन सबको सदा स्वधर्मपालन से सन्तुष्ट किया है, अतः इन्द्र के समान तेजस्वी नरेश! तुम वसुओं के लोक में जाओगे। भीष्म! तुम्हें इस पृथ्वी पर विशाल एवं अक्षय कीर्ति प्राप्त होगी।।105-111।।

नारद उवाच

एवमुक्त्वाभ्यनुज्ञाय पुलस्त्यो भगवानृषिः।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तत्रैवान्तरधीयत॥112।।
भीष्मश्च कुरुशार्दूल शास्त्रतत्त्वार्थदर्शिबान्।
पुलस्त्यवचनाच्चैव पृथिवीं परिचक्रमे॥113।।
एवमेषा महाभाग प्रतिष्ठाने प्रतिष्ठिता।
तीर्थयात्रा महापुण्या सर्वपापप्रमोचनी॥114।।
अनेन विधिना यस्तु पृथिवीं सञ्चरिष्यति।
अश्वमेधशतस्याग्र्यं फलं प्रेत्य स भोक्ष्यति॥115।।
ततश्चाष्टगुणं पार्थ प्राप्स्यसे धर्ममुत्तमम्।
भीष्मः कुरूणां प्रवरो यथापूर्वमवाप्तवान्॥116।।
नेता च त्वमृषीन् यस्मात् तेन तेऽष्टगुणं फलम्।
रक्षोगणविकीर्णानि तीर्थान्येतानि भारत।
न गतानि मनुष्येन्द्रैस्त्वामृते कुरुनन्दन॥117।।
इदं देवर्षिचरितं सर्वतीर्थाभिसंवृतम्।
यः पठेत् कल्यमुत्थाय सर्वपापैः प्रमुच्यते॥118।।
ऋषिमुख्याः सदा यत्र वाल्मीकिस्त्वथ कश्यपः।
आत्रेयः कुण्डजठरो विश्वामित्रोऽथ गौतमः॥119।।
असितो देवलश्चैव मार्कण्डेयोऽथ गालवः।
भरद्वाजो वसिष्ठश्च मुनिरुद्दालकस्तथा॥120।।
शौनकः सह पुत्रेण व्यासश्च तपतां वरः।
दुर्वासाश्च मुनिश्रेष्ठो जाबालिश्च महातपाः॥121।।
एते ऋषिवराः सर्वे त्वत्प्रतीक्षास्तपोधनाः।
एभिः सह महाराज तीर्थान्येतान्यनुव्रज॥122।।

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर भीष्मजी की अनुमति ले सन्तुष्ट हुए भगवान् पुलस्य मुनि प्रसन्न मन से वहीं अन्तर्धानहो गये।।112।। कुरुश्रेष्ठ! शास्त्र के तात्त्विक अर्थ को जानने वाले भीष्म ने महर्षि पुलस्त्य के वचन से (तीर्थ यात्रा के लिए)

सारी पृथ्वी की परिक्रमा की।।113।। महाभाग! इस प्रकार यह सब पापों को दूर करने वाली महापुण्यमयी तीर्थयात्रा प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग में) प्रतिष्ठित है।।114।। जो इस विधि से (तीर्थयात्रा के उद्देश्य से) सारी पृथ्वी की परिक्रमा करेगा, वह सौ अश्वमेध यज्ञों से भी उत्तम पुण्यफल पाकर देहत्याग के पश्चात् उसका उपभोग करेगा।।115।। कुन्तीनन्दन! कुरुप्रवर भीष्म ने पहले जिस प्रकार तीर्थयात्राजनित पुण्य प्राप्त किया था, उससे भी आठगुने उत्तम धर्म की उपलब्धि तुम्हें होगी।।116।। तुम अपने साथ इन सब ऋषियों को ले जाओगे, इसीलिये तुम्हें आठ गुना पुण्यफल प्राप्त होगा। भरतकुलभूषण कुरुनन्दन! इन सभी तीर्थों में राक्षसों के समुदाय फैले हुए हैं। तुम्हारे सिवा, दूसरे नरेशों ने वहाँ की यात्रा नहीं की है।।117।। जो मनुष्य सवेरे उठकर देवर्षि पुलस्त्य द्वारा वर्णित सम्पूर्ण तीर्थों के माहात्म्य से संयुक्त इस प्रसङ्ग का पाठ करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।।118।। महाराज! ऋषिप्रवर वाल्मीकि, कश्यप, आत्रेय, कुण्डजठर, विश्वामित्र, गौतम, असित, देवल, मार्कण्डेय, गालव, भरद्वाज, वसिष्ठ, उद्दालक मुनि, शौनक तथा पुत्रसहित तपोधनप्रवर व्यास, मुनिश्रेष्ठ दुर्वासा और महातपस्वी जाबालि—ये सभी महर्षि, जो तपस्या के धनी हैं, तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इन सबके साथ उक्त तीर्थों में जाओ।119-122।।

एष ते लोमशो नाम महर्षिरमितद्युतिः।
समेष्यति महाराज तेन सार्धमनुव्रज॥123।।
मयापि सह धर्मज्ञ तीर्थान्येतान्यनुक्रमात्।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं यथा राजा महाभिषः॥124।।
यथा ययातिर्धर्मात्मा यथा राजा पुरूरवाः।
तथा त्वं राजशार्दूल स्वेन धर्मेण शोभसे॥125।।
यथा भगीरथो राजा यथा रामश्च विश्रुतः।
तथा त्वं सर्वराजभ्यो भ्राजसे रश्मिवानिव॥126।।
यथा मनुर्यथेक्ष्वाकुर्यथा पूरुर्महायशाः।
यथा वैन्यो महाराज तथा त्वमपि विश्रुतः॥127।।
यथा च वृत्रहा सर्वान् सपत्नान्निर्दहन् पुरा।
त्रैलोक्यं पालयामास देवराड् विगतज्वरः॥128।।
तथा शत्रुक्षयं कृत्वा त्वं प्रजाः पालयिष्यसि।
स्वधर्मविजितामुर्वीं प्राप्य राजीवलोचन।।129।।
ख्यातिं यास्यसि धर्मेण कार्तवीर्यार्जुनो यथा॥130।।

महाराज! ये अमित तेजस्वी महर्षि लोमश तुम्हारे पास आने वाले हैं, उन्हें साथ लेकर यात्रा करो।।123।। धर्मज्ञ! इस यात्रा में मैं भी तुम्हारा साथ दूँगा। प्राचीन राजा महाभिष के समान तुम भी क्रमशः इन तीर्थों में भ्रमण करते हुए महान् यश प्राप्त करोगे।।124।। नृपश्रेष्ठ! जैसे धर्मात्मा ययाति तथा राजा पुरूरवा थे वैसे ही तुम भी अपने धर्म से सुशोभित हो रहे हो। जैसे राजा भगीरथ तथा विख्यात महाराज श्रीराम हो

गये हैं, उसी प्रकार तुम भी सूर्य की भाँति सब राजाओं से अधिक शोभा पा रहे हो।।125-126।। महाराज! जैसे मनु, जैसे इक्ष्वाकु, जैसे महायशस्वी पूरु और जैसे वेननन्दन पृथु हो गये हैं, वैसी ही तुम्हारी भी ख्याति है। पूर्व काल में वृत्रासुरविनाशक देवराज इन्द्र ने जैसे सब शत्रुओं का संहार करते हुए निश्चिन्त होकर तीनों लोकों का पालन किया था, उसी प्रकार तुम भी शत्रुओं का नाश करके प्रजा का पालन करोगे। कमलनयन नरेश! तुम अपने धर्म से जीती हुई पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त करके स्वधर्म पालन द्वारा कार्तवीर्य अर्जुन के समान विख्यात होओगे।।127-130।।

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वास्य राजानं नारदो भगवानृषिः।
अनुज्ञाप्य महाराज तत्रैवान्तरधीयत॥131।।
युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा तमेवार्थं विचिन्तयन्।
तीर्थयात्राश्रितं पुण्यमृषीणां प्रत्यवेदयत्॥132

वैशाम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! देवर्षि नारद इस प्रकार राजा युधिष्ठिर को आश्वासन देकर उनकी आज्ञा ले वहीं अन्तर्धान हो गये।।131।। धर्मात्मा युधिष्ठिर ने भी इसी विषय का चिन्तन करते हुए अपने पास रहने वाले महर्षियों से तीर्थ यात्रा सम्बन्धी महान् पुण्य के विषय में निवेदन किया।।132।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि पुलस्त्यतीर्थयात्रायां नारदवाक्ये पञ्चाशीतितमोऽध्यायः॥ 85 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रापर्व में महर्षि पुलस्त्य की तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में नारदवाक्यविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।84।।

पुलस्त्यगीता सम्पूर्णा

धौम्यगीता

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर का धौम्य मुनि से पुण्य तपोवन, आश्रम एवं नदी आदि के विषय में पूछना

वैशम्पायन उवाच

भ्रातृणां मतमाज्ञाय नारदस्य च धीमतः।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः॥1॥
मया स पुरुषव्याघ्रो जिष्णुः सत्यपराक्रमः।
अस्त्रहेतोर्महाबाहुरमितात्मा विवासितः॥2॥
स हि वीरोऽनुरक्तश्च समर्थश्च तपोधनः।
कृती च भृशमप्यस्त्रे वासुदेव इव प्रभुः॥3॥
अहं ह्येतावुभौ ब्रह्मन् कृष्णावरिविघातिनौ।
अभिजानामि विक्रान्तौ तथा व्यासः प्रतापवान्॥4॥
त्रियुगौ पुण्डरीकाक्षौ वासुदेवधनञ्जयौ।
नारदोऽपि तथा वेद योऽप्यशंसत् सदा मम॥5॥
तथाहमपि जानामि नरनारायणावृषी।
शक्तोऽयमित्यतो मत्वा मया स प्रेषितोऽर्जुनः॥6॥
इन्द्रादनवरः शक्रं सुरसूनुः सुराधिपम्।
द्रष्टुमस्त्राणि चादातुमिन्द्रादिति विवासितः॥7॥
भीष्मद्रोणावतिरथौ कृपो द्रौणिश्च दुर्जयः।
धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण वृता युधि महारथाः॥8॥
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वास्त्रविदुषस्तथा।
योद्धुकामाश्च पार्थे न सततं ये महाबलाः।
स च दिव्यास्त्रवित्कर्णः सूतपुत्रो महारथः॥9॥
योऽस्त्रवेगानिलबलः शरार्चिस्तलनिःस्वनः।
रजोधूमोऽस्त्रसम्पातो धार्तराष्ट्रानिलोद्धतः॥10॥
निसृष्ट इव कालेन युगान्ते ज्वलनो महान्।
मम सैन्यमयं कक्षं प्रधक्ष्यति न संशयः॥11॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने भाइयों तथा परम बुद्धिमान् देवर्षि नारद की सम्मति जानकर राजा युधिष्ठिर ने पितामह के समान प्रभावशाली पुरोहित

धौम्यजी से कहा—।।1।। 'ब्रह्मन्! मैंने अस्त्र प्राप्ति के लिए विजयी सत्पराक्रमी, महामना एवं प्रतापी पुरुषसिंह महाबाहु अर्जुन को निर्वासित कर रखा है।।2।। वह वीर मुझ में अनुराग रखने वाला, सामर्थ्यशाली, तपस्या का धनी, पुण्यात्मा और अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञान में भगवान् श्रीकृष्ण की भाँति प्रभावशाली है।।3।। विप्रवर! मैं इन दोनों कृष्ण नामधारी वीरों को शत्रुओं का संहार करने में समर्थ और पराक्रमी समझता हूँ। महाप्रतापी वेदव्यासजी की भी यह धारणा है।।4।। कमल के समान नेत्रों वाले भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन तीन युगों से सदा साथ रहते आये हैं। नारदजी भी इन दोनों को इसी रूप में जानते हैं और सदा मुझसे इस बात की चर्चा करते रहते हैं।।5।। मैं भी ऐसा ही समझता हूँ कि श्रीकृष्ण और अर्जुन सुप्रसिद्ध नर-नारायण ऋषि हैं। अर्जुन को शक्तिशाली समझकर ही मैंने उसे दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए भेजा है। देवपुत्र अर्जुन इन्द्र से कम नहीं हैं। यह जानकर ही मैंने उसे देवराज इन्द्र का दर्शन करने और उनसे दिव्यास्त्रों को प्राप्त करने के लिए भेजा है। भीष्म और द्रोण अतिरथी वीर हैं। कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा को भी जीतना कठिन है। धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन ने इन सभी महारथियों को युद्ध के लिए वरण कर लिया है।।6-8।। वे सब-के-सब वेदज्ञ, शूरवीर, सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता, महाबली और सदा अर्जुन के साथ युद्ध की अभिलाषा रखने वाले हैं। वह सूतपुत्र महारथी कर्ण भी दिव्यास्त्रों का ज्ञाता है।।9।। काल ने उसे प्रलयकालीन संवर्तक नामक महान् अग्नि के समान उत्पन्न किया है। अस्त्रों का वेग ही उसका वायुतुल्य बल है। बाण ही उसकी ज्वाला हैं। हथेली से होने वाली आवाज ही उस दाहक अग्नि का शब्द है। युद्ध में उठने वाली धूल ही उस कर्णरूपी अग्नि का धूम है। अस्त्रों की वर्षा ही उसकी लपटों का लगना है। धृतराष्ट्र पुत्ररूपी वायु का सहारा पाकर वह और भी उद्धत एवं प्रज्वलित हो उठा है। इसमें सन्देह नहीं कि वह मेरी सेना को सूखे तिनकों की राशि के समान भस्म कर डालेगा।।10-।11।।

तं स कृष्णानिलोद्धूतो दिव्यास्त्रज्वलनो महान्।
श्वेतवाजिबलाकाभृद् गाण्डीवेन्द्रायुधोल्बणः॥12।।
संरब्धः शरधाराभिः सुदीप्तं कर्णपावकम्।
अर्जुनोदीरितो मेघः शमयिष्यति संयुगे॥13।।
स साक्षादेव सर्वाणि शक्रात् परपुरञ्जयः।
दिव्यान्यस्त्राणि बीभत्सुस्ततश्च प्रतिपत्स्यते॥14।।
अलं स तेषां सर्वेषामिति मे धीयते मतिः।
नास्ति त्वतिकृतार्थानां रणेऽरीणां प्रतिक्रिया॥15।।
ते वयं पाण्डवं सर्वे गृहीतास्त्रमरिन्दमम्।
द्रष्टारो न हि बीभत्सुर्भारमुद्यम्य सीदति॥16।।

वयं तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन् द्विपदां वर।
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया॥17॥
भवानन्यद् वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि।
आख्यातु रमणीयं च सेवितं पुण्यकर्मभिः॥18॥
यत्र कश्चिद् वयं कालं वसन्तः सत्यविक्रमम्।
प्रतीक्षामोऽर्जुनं वीरं वृष्टिकामा इवाम्बुदम्॥19॥
विविधानाश्रमान् कांश्चिद् द्विजातिभ्यः प्रतिश्रुतान्।
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान्॥20॥
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन् रोचते तमृतेऽर्जुनम्।
वनेऽस्मिन् काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति॥21॥

उस आग को युद्ध में अर्जुन नामक महामेघ ही बुझा सकेगा। श्रीकृष्णरूपी वायु का सहारा पाकर ही वह मेघ उठेगा। दिव्यास्त्रों का प्रकाश ही उसमें बिजली की चमक होगी। रथ के श्वेत घोड़े ही उसके निकट उड़ने वाली बक पङ्क्तियों की भाँति सुशोभित होंगे। गाण्डीव धनुष ही इन्द्रधनुष के समान दुःसह दृश्य उपस्थित करने वाला होगा। वह क्रोध में भरकर बाण रूपी जल की धारा से कर्ण रूपी प्रज्वलित अग्नि को निश्चय ही शान्त कर देगा। शत्रुओं की राजधानी पर विजय पाने वाला अर्जुन साक्षात् इन्द्र से सारे दिव्यास्त्र प्राप्त करेगा॥12-14॥ धृतराष्ट्र पक्ष के उक्त सभी महारथियों को जीतने के लिए वह अकेला ही पर्याप्त होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। अन्यथा अत्यन्त कृतार्थता का अनुभव करने वाले शत्रुओं को दबाने का और कोई उपाय नहीं है॥15॥ अतः हम शत्रुहन्ता पाण्डुनन्दन अर्जुन को अवश्य ही सब दिव्यास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके आया हुआ देखेंगे; क्योंकि वह वीर किसी कार्यभार को उठाकर उसे पूर्ण किए बिना कभी श्रान्त नहीं होता॥16॥ नरश्रेष्ठ! इस काम्यक वन में वीर अर्जुन के बिना द्रौपदी सहित हम सब पाण्डवों का मन बिल्कुल नहीं लग रहा है॥17॥ इसलिए आप हमें किसी ऐसे रमणीक वन का पता बतायें जो बहुत अच्छा, पवित्र, प्रचुर अन्न और फल से सम्पन्न तथा पुण्यात्मा पुरुषों द्वारा सेवित हो॥18॥ जहाँ हम लोग कुछ काल रहकर सत्य पराक्रमी वीर अर्जुन के आगमन की उसी प्रकार प्रतीक्षा करें, जैसे वृष्टि की इच्छा रखने वाले किसान बादलों की राह देखते हैं॥19॥ ब्रह्मन्! आप दूसरे ब्राह्मणों से सुने हुए नाना प्रकार के कतिपय आश्रमों, सरोवरों, सरिताओं तथा रमणीय पर्वतों का पता बताइये। अर्जुन के बिना अब इस काम्यक वन में रहना हमें अच्छा नहीं लगता; इसलिए अब दूसरी दिशा को चलेंगे'॥20-21॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां
षडशीतितमोऽध्यायः॥ 86 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में धौम्य की तीर्थयात्रा विषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥86॥

द्वितीयोऽध्याय:

धौम्य द्वारा पूर्व दिशा के तीर्थों का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

तान् सर्वानुत्सुकान् दृष्ट्वा पाण्डवान् दीनचेतसः।
आश्वासयंस्तथा धौम्यो बृहस्पतिसमोऽब्रवीत्॥1॥
ब्राह्मणानुमतान् पुण्यानाश्रमान् भरतर्षभ।
दिशस्तीर्थानि शैलांश्च शृणु मे वदतोऽनघ॥2॥
याञ्छ्रुत्वा गदतो राजन् विशोको भवितासि ह।
द्रौपद्या चानया सार्धं भ्रातृभिश्च नरेश्वर॥3॥
श्रवणाच्चैव तेषां त्वं पुण्यमाप्स्यसि पाण्डव।
गत्वा शतगुणं चैव तेभ्य एव नरोत्तम॥4॥
पूर्वं प्राचीं दिशं राजन्राजर्षिगणसेविताम्।
रम्यां ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथास्मृति॥5॥
तस्यां देवर्षिजुष्टायां नैमिषं नाम भारत।
यत्र तीर्थानि देवानां पुण्यानि च पृथक् पृथक्॥6॥
यत्र सा गोमती पुण्या रम्या देवर्षिसेविता।
यज्ञभूमिश्च देवानां शामित्रं च विवस्वतः॥7॥
तस्यां गिरिवरः पुण्यो गयो राजर्षिसत्कृतः।
शिवं ब्रह्मसरो यत्र सेवितं त्रिदशर्षिभिः॥8॥
यदर्थे पुरुषव्याघ्र कीर्तयन्ति पुरातनाः।
एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्॥9॥
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्।
उत्तारयति सन्तत्या दशपूर्वान् दशावरान्॥10॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवों का चित्त अर्जुन के लिए अत्यन्त दीन हो रहा था। वे सब-के-सब उनसे मिलने को उत्सुक थे। उनकी ऐसी अवस्था देख कर बृहस्पति के समान तेजस्वी महर्षि धौम्य ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—"पापरहित भरत कुलभूषण! ब्राह्मण लोग जिन्हें आदर देते हैं, उन पुण्य आश्रमों, दिशाओं, तीर्थों और पर्वतों का मैं वर्णन करता हूँ, सुनो॥1-2॥ नरेश्वर! राजन्! मेरे मुख से उन सबका वर्णन सुनकर तुम द्रौपदी तथा भाइयों के साथ शोकरहित हो जाओगे॥3॥ नरश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन! उनका श्रवण करने मात्र से तुम्हें उनके सेवन का पुण्य प्राप्त होगा और वहाँ जाने से सौगुने पुण्य की प्राप्ति होगी॥4॥ महाराज युधिष्ठिर! मैं अपनी स्मरण शक्ति के अनुसार सबसे पहले राजर्षिगणों द्वारा सेवित रमणीय प्राचीन दिशा का वर्णन करूँगा॥5॥ भरतनन्दन! देवर्षि सेवित प्राची दिशा में नैमिष नामक तीर्थ है, जहाँ भिन्न-भिन्न देवताओं के अलग-अलग पुण्य तीर्थ हैं॥6॥ जहाँ देवर्षि सेवित

परम रमणीय पुण्यमयी गोमती नदी है। देवताओं की यज्ञभूमि और सूर्य का यज्ञ पात्र विद्यमान है।।7।। प्राची दिशा में ही पुण्य पर्वतश्रेष्ठ गय है, जो राजर्षि गय के द्वारा सम्मानित हुआ है। वहाँ कल्याणमय ब्रह्मसरोवर है, जिसका देवर्षिगण सेवन करते हैं।।8।। पुरुषसिंह! उस गया के विषय में ही प्राचीन लोग यह कहा करते हैं कि— बहुत-से पुत्रों की इच्छा करनी चाहिए; सम्भव है, उनमें से एक भी गया जाय या अश्वमेध यज्ञ करे अथवा नीलवृष[1] का उत्सर्ग करे। ऐसा पुरुष अपनी सन्तति द्वारा दस पहले की और दस बाद की पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। राजन्! वहीं महानदी और गयशीर्ष तीर्थ है, जहाँ ब्राह्मणों ने अक्षय वट की स्थिति बतायी है जिसके जड़ और शाखा आदि उपकरण कभी नष्ट नहीं होते।।9-10।।

महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप।
यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः॥11।।
यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गुः नाम महानदी॥12।।
बहुमूलफला चापि कौशिकी भरतर्षभ।
विश्वामित्रोऽध्यगाद् यत्र ब्राह्मणत्वं तपोधनः॥13।।
गङ्गा यत्र नदी पुण्या यस्यास्तीरे भगीरथः।
अयजत् तत्र बहुभिः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः॥14।।
पश्चालेषु च कौरव्य कथयन्त्युत्पलावनम्।
विश्वामित्रोऽयजद् यत्र पुत्रेण सह कौशिकः॥15।।
यत्रानुवंशं भगवाञ्जामदग्न्यस्तथा जगौ।
विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम्॥16।।
कान्यकुब्जेऽपिबत् सोममिन्द्रेण सह कौशिकः।
ततः क्षत्रादपाक्रामद् ब्राह्मणोऽस्मीति चाब्रवीत्॥17।।
पवित्रमृषिभिर्जुष्टं पुण्यं पावनमुत्तमम्।
गङ्गायमुनयोर्वीरं सङ्गमं लोकविश्रुतम्॥18।।
यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद् भरतसत्तम॥19।।
अगस्त्यस्य तु राजेन्द्र तत्राश्रमवरो नृप।
तत् तथा तापसारण्यं तापसैरुपशोभितम्॥20।।

राजन्! वहीं महानदी और गयशीर्ष तीर्थ है, जहाँ ब्राह्मणों ने अक्षयवट की स्थिति बतायी है जिसके जड़ और शाखा आदि उपकरण कभी नष्ट नहीं होते।।11।। प्रभो! वहाँ

---

1. **लोहितो यस्तु वर्णेन पुच्छाग्रेण तु पाण्डुरः।**
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते।।
जिसका रङ्ग तो लाल हो पर पूँछ का अग्रभाग सफेद हो एवं खुर और सींग भी सफेद हों, वह नीलवृष कहा जाता है।

पितरों के लिए दिया हुआ अन्न अक्षय होता है। भरतश्रेष्ठ! वहीं फल्गु नाम वाली पुण्यसलिला महानदी है और वहीं बहुत-से फल-मूलों वाली कौशिकी नदी प्रवाहित होती है जहाँ तपोधन विश्वामित्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे।।12-13।। पूर्व दिशा में ही पुण्य नदी गङ्गा बहती है, जिसके तट पर राजा भगीरथ ने प्रचुर दक्षिणा वाले बहुत-से यज्ञों का अनुष्ठान किया था।।14।। कुरुनन्दन! पञ्चाल देश में ऋषि लोग उत्पलावन बतलाते हैं, जहाँ कुशिकनन्दन विश्वामित्र ने अपने पुत्र के साथ यज्ञ किया था।।15।। उसी यज्ञ में विश्वामित्र का अलौकिक वैभव देखकर जमदग्निनन्दन परशुराम ने उनके वंश के अनुरूप यज्ञ का वर्णन किया था।।16।। विश्वामित्रजी ने कान्यकुब्ज देश में इन्द्र के साथ सोमपान किया; वहीं वे क्षत्रियत्व से ऊपर उठ गये और 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह बात घोषित कर दी।।17।। वीरवर! गङ्गा और यमुना का परम उत्तम पुण्यमय पवित्र सङ्गम सम्पूर्ण जगत् में विख्यात है और बड़े-बड़े महर्षि उसका सेवन करते हैं।।18।। जहाँ समस्त प्राणियों के आत्मा भगवान् ब्रह्माजी ने पहले ही यज्ञ किया था। भरतकुलभूषण! ब्रह्माजी के उस प्रकृष्टयाग से ही उस स्थान का नाम 'प्रयाग' हो गया है।।19।। राजेन्द्र! वहाँ महर्षि अगस्त्य का श्रेष्ठ आश्रम है। इसी प्रकार तापसारण्य तपस्वीजनों से सुशोभित है।।20।।

हिरण्यबिन्दुः कथितो गिरौ कालञ्जरे महान्।
आगस्त्यपर्वतो रम्यः पुण्यो गिरिवरः शिवः॥21।।
महेन्द्रो नाम कौरव्य भार्गवस्य महात्मनः।
अयजत् तत्र कौन्तेय पूर्वमेव पितामहः॥22।।
यत्र भागीरथी पुण्या सरस्यासीद् युधिष्ठिर।
यत्र सा ब्रह्मशालेति पुण्या ख्याता विशाम्पते॥23।।
धूतपाप्मभिराकीर्णा पुण्यं तस्याश्च दर्शनम्।
पवित्रो मङ्कलीयश्च ख्यातो लोके महात्मनः॥24।।
केदारश्च मतङ्गस्य महानाश्रम उत्तमः।
कुण्डोदः पर्वतो रम्यो बहुमूलफलोदकः॥25।।
नैषधस्तृषितो यत्र जलं शर्म च लब्धवान्।
यत्र देववनं पुण्यं तापसैरुपशोभितम्॥26।।
बाहुदा च नदी यत्र नन्दा च गिरिमूर्धनि।
तीर्थानि सरितः शैलाः पुण्यान्यायतनानि च॥27।।
प्राच्यां दिशि महाराज कीर्तितानि मया तव।
तिसृष्वन्यानि पुण्यानि दिक्षु तीर्थानि मे शृणु।
सरितः पर्वतांश्चैव पुण्यान्यायतनानि च॥28।।

कालञ्जर पर्वत पर हिरण्यबिन्दु नाम से प्रसिद्ध महान् तीर्थ बताया गया है। आगस्त्य पर्वत बहुत ही रमणीय, पवित्र, श्रेष्ठ एवं कल्याण स्वरूप है।।21।। कुरुनन्दन! महात्मा भार्गव का निवास स्थान महेन्द्र पर्वत है। कुन्तीनन्दन! वहाँ ब्रह्माजी ने पूर्वकाल में यज्ञ किया था।।22।। युधिष्ठिर! जहाँ पुण्यसलिला भागीरथी गङ्गा सरोवर में स्थित थी।

महाराज! जहाँ पर उन्हें 'ब्रह्मशाला' यह पवित्र नाम दिया गया है। वह पुण्यतीर्थ निष्पाप मनुष्यों से व्याप्त है; उसका दर्शन पुण्यमय बताया गया है। वहीं महात्मा मतङ्ग ऋषि का महान् एवं उत्तम आश्रम केदारतीर्थ है। वह परम पवित्र, मङ्गलकारी और लोक में विख्यात है। कुण्डोद नामक रमणीय पर्वत बहुत फल-मूल और जल से सम्पन्न है, जहाँ प्यासे हुए निषध नरेश को जल और शान्ति की उपलब्धि हुई थी। वहीं तपस्वीजनों से सुशोभित पवित्र देववन नामक पुण्य क्षेत्र है, जहाँ पर्वत के शिखर पर बाहुदा और नन्दा नदी बहती हैं। महाराज! पूर्व दिशा में जो बहुत-से तीर्थ, नदियाँ, पर्वत और पुण्य मन्दिर आदि हैं, उनका मैंने तुमसे (सङ्क्षेप में) वर्णन किया है। अब शेष तीन दिशाओं के सरिताओं, पर्वतों और पुण्य स्थानों का वर्णन करता हूँ, सुनो।।।23-28।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां सप्ताशीतितमोऽध्यायः॥ 87 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में धौम्यतीर्थ विषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।87।।

तृतीयोऽध्यायः

धौम्य मुनि के द्वारा दक्षिण दिशावर्ती तीर्थों का वर्णन

धौम्य उवाच

दक्षिणस्यां तु पुण्यानि शृणु तीर्थानि भारत।
विस्तरेण यथाबुद्धि कीर्त्यमानानि तानि वै॥1।।
यस्यामाख्यायते पुण्या दिशि गोदावरी नदी।
बह्वारामा बहुजला तापसाचरिता शिवा॥2।।
वेणा भीमरथी चैव नद्यौ पापभयापहे।
मृगद्विजसमाकीर्णे तापसालयभूषिते॥3।।
राजर्षेस्तस्य च सरिन्नृगस्य भरतर्षभ।
रम्यतीर्था बहुजला पयोष्णी द्विजसेविता॥4।।
अपि चात्र महायोगी मार्कण्डेयो महायशाः।
अनुवंश्यां जगौ गाथां नृगस्य धरणीपतेः॥5।।
नृगस्य यजमानस्य प्रत्यक्षमिति नः श्रुतम्।
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः॥6।।
पयोष्ण्यां यजमानस्य वाराहे तीर्थ उत्तमे।
उद्भृतं भूतलस्थं वा वायुना समुदीरितम्।
पयोष्ण्या हरते तोयं पापमामरणान्तिकम्॥7।।
स्वर्गादुत्तुङ्गममलं विषाणं यत्र शूलिनः।
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यः शिवपुरं व्रजेत्॥8।।

एकतः सरितः सर्वा गङ्गाद्याः सलिलोच्चयाः।
पयोष्णी चैकतः पुण्या तीर्थेभ्यो हि मता मम॥9॥
माठरस्य वनं पुण्यं बहुमूलफलं शिवम्।
यूपश्च भरतश्रेष्ठ वरुणस्रोतसे गिरौ॥10॥

धौम्यजी कहते हैं—भरतवंशी युधिष्ठिर! अब मैं अपनी बुद्धि के अनुसार दक्षिण दिशावर्ती पुण्य तीर्थों का विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ, सुनो॥1॥ दक्षिण में पुण्यमयी गोदावरी नदी बहुत प्रसिद्ध है, जिसके तट पर अनेक बगीचे सुशोभित हैं। उसके भीतर अगाध जल भरा हुआ है। बहुत-से तपस्वी उसका सेवन करते हैं तथा वह सबके लिए कल्याणस्वरूपा है॥2॥ वेणा और भीमरथी—ये दो नदियाँ भी दक्षिण में ही हैं, जो समस्त पाप भय का नाश करने वाली हैं। उसके दोनों तट अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों से व्याप्त और तपस्वीजनों के आश्रमों से विभूषित हैं॥3॥ भरतकुलभूषण! राजा नृग की नदी पयोष्णी भी उधर ही है, जो रमणीय तीर्थों और अगाध जल से सुशोभित है। द्विज उसका सेवन करते हैं॥4॥ इस विषय में हमारे सुनने में आया है कि महायोगी एवं महायशस्वी मार्कण्डेय ने यजमान राजा नृग के सामने उनके वंश के योग्य यथोगाथा का वर्णन इस प्रकार किया था—पयोष्णी के तट पर उत्तम वराहवतीर्थ में यज्ञ करने वाले राजा नृग के यज्ञ में इन्द्र सोमपान करके मस्त हो गये थे और प्रचुर दक्षिणा पाकर ब्राह्मण लोग भी हर्षोल्लास से पूर्ण हो गये थे। पयोष्णी का जल हाथ से उठाया गया हो या धरती पर पड़ा हो अथवा वायु के वेग से उछलकर अपने ऊपर पड़ गया हो, वह जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किए हुए समस्त पापों को हर लेता है॥5-7॥ जहाँ भगवान् शङ्कर का स्वयं ही अपने लिए बनाया हुआ शृङ्ग नामक वाद्य विशेष स्वर्ग से भी ऊँचा और निर्मल है, उसका दर्शन करके मरणधर्मा मानव शिवधाम में चला जाता है॥8॥ एक ओर अगाध जल राशि से भरी हुई गङ्गा आदि सम्पूर्ण नदियों हों और दूसरी ओर केवल पुण्यसलिला पयोष्णी नदी हो तो वही अन्य सब नदियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है; ऐसा मेरा विचार है॥9॥ भरतश्रेष्ठ! दक्षिण में पवित्र माठर वन है, जो प्रचुर फल-मूल से सम्पन्न और कल्याण स्वरूप है। वहाँ वरुण स्रोतस नामक पर्वत पर माठर (सूर्य के पार्श्ववर्ती देवता) का विजयस्तम्भ सुशोभित होता है॥10॥

प्रवेण्युत्तरमार्गे तु पुण्ये कण्वाश्रमे तथा।
तापसानामरण्यानि कीर्तितानि यथाश्रुति॥11॥
वेदी शूर्पारके तात जमदग्नेर्महात्मनः।
रम्या पाषाणतीर्था च पुनश्चन्द्रा च भारत॥12॥
अशोकतीर्थं तत्रैव कौन्तेय बहुलाश्रमम्।
अगस्त्यतीर्थं पाण्ड्येषु वारुणं च युधिष्ठिर॥13॥
कुमार्यः कथिताः पुण्याः पाण्ड्येष्वेव नरर्षभ।
ताम्रपर्णीं तु कौन्तेय कीर्तयिष्यामि तां शृणु॥14॥
यत्र देवैस्तपस्तप्तं महदिच्छद्भिराश्रमे।

गोकर्ण इति विख्यातस्त्रिषु लोकेषु भारत॥15॥
शीततोयो बहुजलः पुण्यस्तात शिवः शुभः।
ह्रदः परमदुष्प्रापो मानुषैरकृतात्मभिः॥16॥
तत्र वृक्षतृणाद्यैश्च सम्पन्नः फलमूलवान्।
आश्रमोऽगस्त्यशिष्यस्य पुण्यो देवसमो गिरिः॥17॥
वैदूर्यपर्वतस्तत्र श्रीमान् मणिमयः शिवः।
अगस्त्यस्याश्रमश्चैव बहुमूलफलोदकः॥18॥
सुराष्ट्रेष्वपि वक्ष्यामि पुण्यान्यायतनानि च।
आश्रमान् सरितश्चैव सरांसि च नराधिप॥19॥
चमसोद्भेदनं विप्रास्तत्रापि कथयन्त्युत।
प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर॥20॥

यह स्तम्भ प्रवेणी नदी के उत्तरवर्ती मार्ग में कण्व के पुण्यमय आश्रम में है। इस प्रकार जैसा कि मैंने सुन रखा था, तपस्वी महात्माओं के निवास योग्य वनों का वर्णन किया है॥11॥ तात! शूर्पारक क्षेत्र में महात्मा जमदग्नि की वेदी है। भारत! वहीं रमणीय पाषाणतीर्था और पुनश्चन्द्रा नामक तीर्थ विशेष हैं॥12॥ कुन्तीनन्दन! उसी क्षेत्र में अशोक तीर्थ है, जहाँ महर्षियों के बहुत-से आश्रम हैं। युधिष्ठिर! पाण्ड्यदेश में अगस्त्य तीर्थ और वारुणतीर्थ हैं। नरश्रेष्ठ! पाण्ड्यदेश के भीतर पवित्र कुमारी कन्याएँ (कन्याकुमारी तीर्थ) कही गयी हैं। कुन्तीकुमार! अब मैं तुमसे ताम्रपर्णी नदी की महिमा का वर्णन करूँगा, सुनो॥13-14॥ भरतनन्दन! वहाँ मोक्ष पाने की इच्छा से देवताओं ने आश्रम में रहकर बड़ी भारी तपस्या की थी। वहाँ का गोकर्णतीर्थ तीनों लोकों में विख्यात है॥15॥ तात! गोकर्णतीर्थ में शीतल जल भरा रहता है। उसकी जलराशि अनन्त है। वह पवित्र, कल्याणमय और शुभ है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, ऐसे मनुष्यों के लिए गोकर्णतीर्थ अत्यन्त दुर्लभ है॥16॥ वहाँ अगस्त्य के शिष्य का पुण्यमय आश्रम है, जो वृक्षों और तृण आदि से सम्पन्न एवं फल-मूलों से परिपूर्ण है। देवसम नामक पर्वत ही वह आश्रम है॥17॥ वहाँ परम सुन्दर मणिमय वैदूर्य पर्वत है, जो शिवस्वरूप है। उसी पर महर्षि अगस्त्य का आश्रम है, जो प्रचुर फल-मूल और जल से सम्पन्न है॥18॥ नरेश्वर! अब मैं सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) देशीय पुण्य स्थानों, मन्दिरों, आश्रमों, सरिताओं और सरोवरों का वर्णन करता हूँ॥19॥ विप्रगण! वहीं चमसोद्भेद तीर्थ की चर्चा की जाती है। युधिष्ठिर! सुराष्ट्र में ही समुद्र के तट पर प्रभास क्षेत्र है, जो देवताओं का तीर्थ कहा गया है॥20॥

तत्र पिण्डारकं नाम तापसाचरितं शिवम्।
उज्जयन्तश्च शिखरी क्षिप्रं सिद्धिकरो महान्॥21॥
तत्र देवर्षिवर्येण नारदेनानुकीर्तितः।
पुराणः श्रूयते श्लोकस्तं निबोध युधिष्ठिर॥22॥
पुण्ये गिरौ सुराष्ट्रेषु मृगपक्षिनिषेविते।

उज्जयन्ते स्म तप्ताङ्गो नाकपृष्ठे महीयते॥23॥
पुण्या द्वारवती तत्र यत्रासौ मधुसूदनः।
साक्षाद् देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः॥24॥
ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः।
ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम्॥25॥
पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते।
पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम्।
त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः॥26॥
अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः॥27॥

वहीं पिण्डारक नामक तीर्थ है, जो तपस्वी जनों द्वारा सेवित और कल्याणस्वरूप है। उधर ही उज्जयन्त नामक महान् पर्वत है, जो शीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाला है॥21॥ युधिष्ठिर! उसके विषय में देवर्षिप्रवर श्रीनारदजी के द्वारा कहा हुआ एक प्राचीन श्लोक सुना जाता है, उसको मुझसे सुनो॥22॥ सुराष्ट्र देश में मृगों और पक्षियों से सेवित उज्जयन्त नामक पुण्य पर्वत पर तपस्या करने वाला पुरुष स्वर्ग लोक में पूजित होता है॥23॥ उज्जयन्त के ही आस-पास पुण्यमयी द्वारकापुरी है, जहाँ साक्षात् पुराणपुरुष भगवान् मधुसूदन निवास करते हैं। वे ही सनातन धर्म स्वरूप हैं॥24॥ जो वेदवेत्ता और अध्यात्मशास्त्र के विद्वान् ब्राह्मण हैं, वे परमात्मा श्रीकृष्ण को ही सनातन धर्मरूप बताते हैं॥25॥ भगवान् गोविन्द पवित्रों को भी पावन करने वाले परम पवित्र कहे जाते हैं। कमलनयन देवाधिदेव सनातन श्रीहरि अविनाशी परमात्मा, व्ययात्मा (क्षरपुरुष), क्षेत्रज्ञ और परमेश्वर हैं। वे अचिन्त्यस्वरूप भगवान् मधुसूदन वहीं द्वारकापुरी में विराजमान हैं॥26-27॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि
धौम्यतीर्थयात्रायामष्टाशीतितमोऽध्यायः॥ 88 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा पर्व में धौम्य तीर्थ यात्रा विषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥88॥

चतुर्थोऽध्याय:

धौम्य द्वारा पश्चिम दिशा के तीर्थों का वर्णन

धौम्य उवाच

आनर्तेषु प्रतीच्यां वै कीर्तयिष्यामि ते दिशि।
यानि तत्र पवित्राणि पुण्यान्यायतनानि च॥1॥
प्रियङ्ग्वाम्रवणोपेता वानीरफलमालिनी।
प्रत्यक्स्रोता नदी पुण्या नर्मदा तत्र भारत॥2॥
त्रैलोक्ये यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।

सरिद्वनानि शैलेन्द्रा देवाश्च सपितामहाः॥3॥
नर्मदायां कुरुश्रेष्ठ सह सिद्धर्षिचारणैः।
स्नातुमायान्ति पुण्यौघैः सदा वारिषु भारत॥4॥
निकेतः श्रूयते पुण्यो यत्र विश्रवसो मुनेः।
जज्ञे धनपतिर्यत्र कुबेरो नरवाहनः॥5॥
वैदूर्यशिखरो नाम पुण्यो गिरिवरः शिवः।
नित्यपुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदाः॥6॥
तस्य शैलस्य शिखरे सरः पुण्यं महीपते।
फुल्लपद्मं महाराज देवगन्धर्वसेवितम्॥7॥
बह्वाश्चर्यं महाराज दृश्यते तत्र पर्वते।
पुण्ये स्वर्गोपमे चैव देवर्षिगणसेविते॥8॥
ह्रदिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित्।
विश्वामित्रनदी राजन् पुण्या परपुरञ्जय॥9॥
यस्यास्तीरे सतां मध्ये ययातिर्नहुषात्मजः।
पपात स पुनर्लोकाँल्लेभे धर्मान् सनातनान्॥10॥

धौम्यजी कहते हैं—युधिष्ठिर! अब मैं पश्चिम दिशा के आनर्त देश में जो-जो पवित्र तीर्थ और पुण्य स्वरूप देवालय हैं, उन सबका वर्णन करूँगा॥1॥ भरतनन्दन! पश्चिम दिशा में पुण्यमयी नर्मदा नदी प्रवाहित होती है, जिसकी धारा पूर्व से पश्चिम की ओर है। उसके तट पर प्रियङ्गु और आम के वृक्षों का वन है। बेंत तथा फल वाले वृक्षों की श्रेणियाँ भी उसकी शोभा बढ़ाती हैं॥2॥ भरतनन्दन कुरुश्रेष्ठ! त्रिलोकी में जो-जो पुण्यतीर्थ, मन्दिर, नदी, वन, पर्वत, ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध, ऋषि, चारण एवं पुण्यात्माओं के समूह हैं, वे सब सदा नर्मदा के जल में स्नान करने के लिए आया करते हैं॥3-4॥ वही मुनिवर विश्रवा का पवित्र आश्रम सुना जाता है, जहाँ नरवाहन धनाध्यक्ष कुबेर का जन्म हुआ था॥5॥ वैदूर्य शिखर नामक मङ्गलमय पवित्र पर्वत भी नर्मदा तट पर है, वहाँ हरे पत्तों से सुशोभित सदा फल और फूलों के भार से लदे हुए वृक्ष शोभा पाते हैं॥6॥ राजन्! उस पर्वत के शिखर पर एक पुण्य सरोवर है, जिसमें सदा कमल खिले रहते हैं। महाराज! देवता और गन्धर्व भी उस पुण्य तीर्थ का सेवन करते हैं॥7॥ राजन्! देवर्षिगणों से सेवित वह पुण्य पर्वत स्वर्ग के समान सुन्दर एवं सुखद है। वहाँ अनेक आश्चर्य की बातें देखी जाती हैं॥8॥ शत्रुओं की राजधानी पर विजय पाने वाले नरेश! वहाँ राजर्षि विश्वामित्र की तपस्या से प्रकट हुई एक पुण्यमयी नदी है, जो परम पवित्र तीर्थ मानी गई है। उसी के तट पर नहुष नन्दन राजा ययाति स्वर्ग से साधु पुरुषों के बीच में गिरे थे और पुनः सनातन धर्ममय लोकों में चले गये थे॥9-10॥

तत्र पुण्यो ह्रदः ख्यातो मैनाकश्चैव पर्वतः।
बहुमूलफलोपेतस्त्वसितो नाम पर्वतः॥11॥
आश्रमः कक्षसेनस्य पुण्यस्तत्र युधिष्ठिर।

च्यवनस्य आश्रमश्चैव विख्यातस्तत्र पाण्डव॥12।।
तत्राल्पेनैव सिध्यन्ति मानवास्तपसा विभो।
जम्बूमार्गो महाराज ऋषीणां भावितात्मनाम्॥13।।
आश्रमः शाम्यतां श्रेष्ठ मृगद्विजनिषेवितः।
ततः पुण्यतमा राजन् सततं तापसैर्युता॥14।।
केतुमाला च मेध्या च गङ्गाद्वारं च भूमिप।
ख्यातं च सैन्धवारण्यं पुण्यं द्विजनिषेवितम्॥15।।
पितामहसरः पुण्यं पुष्करं नाम नामतः।
वैखानसानां सिद्धानामृषीणामाश्रमः प्रियः॥16।।
अप्यत्र संश्रयार्थाय प्रजापतिरथो जगौ।
पुष्करेषु कुरुश्रेष्ठ गाथां सुकृतिनां वर॥17।।
मनसाप्यभिकामस्य पुष्कराणि मनस्विनः।
विप्रणश्यन्ति पापानि नाकपृष्ठे च मोदते॥18।।

वहाँ पुण्य सरोवर, विख्यात मैनाक पर्वत और प्रचुर जल मूलों से सम्पन्न असित नामक पर्वत है।।11।। युधिष्ठिर! उसी पर्वत पर कच्छसेन का पुण्यदायक आश्रम है। पाण्डुनन्दन! महर्षि च्यवन का सुविख्यात आश्रम भी वहीं है।।12।। प्रभो! वहाँ थोड़ी ही तपस्या से मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। महाराज! पश्चिम दिशा में ही जम्बू मार्ग है, जहाँ शुद्ध अन्तःकरण वाले महर्षियों का आश्रम है। शान्त पुरुषों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! वह आश्रम पशु-पक्षियों से सेवित है। राजन्! उधर ही सदा तपस्वी जनों से भरे हुए पुण्यतम तीर्थ—केतुमाला, मेध्या और गङ्गाद्वार (हरिद्वार) हैं। भूपाल! द्विजों से सेवित सुप्रसिद्ध सैन्धवारण्य भी उधर ही है। ब्रह्माजी का पुण्यदायक सरोवर पुष्कर भी पश्चिम दिशा में ही है, जो वानप्रस्थों, सिद्धों और महर्षियों का प्रिय आश्रम है।।13-16।। पुण्यवानों में प्रधान कुरुश्रेष्ठ! पुष्कर में निवास करने के लिए प्रजापति ब्रह्माजी ने एक गाथा गायी है, जो इस प्रकार है।।17।। जो मनस्वी पुरुष मन से भी पुष्कर तीर्थ में निवास करने की इच्छा करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और वह स्वर्ग लोक में आनन्द भोगता है।।18।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां
एकोननवतितमोऽध्यायः॥ 89 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा पर्व में धौम्य तीर्थ यात्रा विषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।89।।

पञ्चमोऽध्यायः

धौम्य द्वारा उत्तर दिशा के तीर्थों का वर्णन

धौम्य उवाच

उदीच्यां राजशार्दूल दिशि पुण्यानि यानि वै।
तानि ते कीर्तयिष्यामि पुण्यान्यायतनानि च॥1।।

शृणुष्वावहितो भूत्वा मम मन्त्रयतः प्रभो।
कथाप्रतिग्रहो वीर श्रद्धां जनयते शुभाम्॥2।।
सरस्वती महापुण्या ह्रदिनी तीर्थमालिनी।
समुद्रगा महावेगा यमुना यत्र पाण्डव॥3।।
यत्र पुण्यतरं तीर्थं प्लक्षावतरणं शुभम्।
यत्र सारस्वतैरिष्ट्वा गच्छन्त्यवभृथैर्द्विजाः॥4।।
पुण्यं चाख्यायते दिव्यं शिवमग्निशिरोऽनघ।
सहदेवोऽयजद् यत्र शम्याक्षेपेण भारत॥5।।
एतस्मिन्नेव चार्थेऽसाविन्द्रगीता युधिष्ठिर।
गाथा चरति लोकेऽस्मिन् गीयमाना द्विजातिभिः॥6।।
अग्नयः सहदेवेन सेविता यमुनामनु।
ते तस्य कुरुशार्दूल सहस्रशतदक्षिणाः॥7।।
तत्रैव भरतो राजा चक्रवर्ती महायशाः।
विंशतिः सप्त चाष्टौ च हयमेधानुपाहरत्॥8।।
कामकृद् यो द्विजातीनां श्रुतस्तात यथा पुरा।
अत्यन्तमाश्रमः पुण्यः शरभङ्गस्य विश्रुतः॥9।।
सरस्वती नदी सद्भिः सततं पार्थ पूजिता।
बालखिल्यैर्महाराज यत्रेष्टमृषिभिः पुरा॥10।।

धौम्यजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! उत्तर दिशा में जो पुण्यप्रद तीर्थ और देवालय आदि हैं, उनका तुम से वर्णन करता हूँ। प्रभो! तुम सावधान होकर वह सब मेरे मुख से सुनो। वीरवर! तीर्थों की कथा का प्रसङ्ग उनके प्रति मङ्गलमयी श्रद्धा उत्पन्न करता है।।1-2।। तीर्थों की पङ्क्ति से सुशोभित सरस्वती नदी बड़ी पुण्यदायिनी है। पाण्डुनन्दन! समुद्र में मिलने वाली महावेगशालिनी यमुना भी उत्तर दिशा में ही हैं।।3।। उधर ही अत्यन्त पुण्यमय प्लक्षावतरण नामक मङ्गलकारक तीर्थ है; जहाँ ब्राह्मणगण यज्ञ करके सरस्वती के जल से अवभृथ स्नान करते और अपने स्थान को जाते हैं।।4।। उधर ही अग्निशिर नामक दिव्य, कल्याणमय, पुण्यतीर्थ बताया जाता है। निष्पाप भरतनन्दन! उसी तीर्थ में सहदेव ने शमी का डण्डा फेंकवा कर, जितनी दूरी में वह डण्डा पड़ा था उतनी दूरी में, मण्डप बनवाकर उसमें यज्ञ किया।।5।। युधिष्ठिर! इसी विषय में इन्द्र की गायी हुई एक गाथा लोक में प्रचलित है, जिसे ब्राह्मण गाया करते हैं।।6।। कुरुश्रेष्ठ! सहदेव ने यमुना तट पर लाख स्वर्ण मुद्राओं की दक्षिणा देकर अग्नि की उपासना की थी[1]।।7।। वहीं महायशस्वी चक्रवर्ती राजा भरत ने पैंतीस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया।।8।। तात! प्राचीनकाल में राजा भरत ब्राह्मणों की मनोवाञ्छा को पूर्ण करने वाला राजा सुना गया है। उत्तराखण्ड में ही महर्षि शरभङ्ग का अत्यन्त पुण्यदायक आश्रम विख्यात है।।9।।

---

1. ये सहदेव सुप्रसिद्ध राजा सृंजय के पुत्र थे 'सहदेवः सृंजयपुत्रः' इति नीलकण्ठी।

कुन्तीनन्दन! साधु पुरुषों ने सरस्वती नदी की सदा उपासना की है। महाराज! पूर्वकाल में बालखिल्य ऋषियों ने वहाँ यज्ञ किया था।।10।।

दृषद्वती महापुण्या यत्र ख्याता युधिष्ठिर।
न्यग्रोधाख्यस्तु पुण्याख्य: पाञ्चाल्यो द्विपदां वर॥11।।
दाल्भ्यघोषश्च दाल्भ्यश्च धरणीस्थो महात्मन:।
कौन्तेयानन्तयशस: सुव्रतस्यामितौजस:॥12।।
आश्रम: ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुत:।
एतावर्णाववर्णौ च विश्रुतौ मनुजाधिप॥13।।
वेदज्ञौ वेदविद्वांसौ वेदविद्याविदावुभौ।
ईजाते क्रतुभिर्मुख्यै: पुण्यैर्भरतसत्तम॥14।।
समेत्य बहुशो देवा: सेन्द्रा: सवरुणा: पुरा।
विशाखयूपेऽतप्यन्त तेन पुण्यतमश्च स:॥15।।
ऋषिर्महान् महाभागो जमदग्निर्महायशा:।
पलाशकेषु पुण्येषु रम्येष्वयजत प्रभु:॥16।।
यत्र सर्वा: सरिच्छ्रेष्ठा: साक्षात् तमृषिसत्तमम्।
स्वं स्वं तोयमुपादाय परिवार्योपतस्थिरे॥17।।
अपि चात्र महाराज स्वयं विश्वावसुर्जगौ।
इमं श्लोकं तदा वीर प्रेक्ष्य दीक्षां महात्मन:॥18।।
यजमानस्य वै देवाञ्जमदग्नेर्महात्मन:।
आगम्य सरितो विप्रान् मधुना समतर्पयन्॥19।।
गन्धर्वयक्षरक्षोभिरप्सरोभिश्च सेवितम्।
किरातकिन्नरावासं शैलं शिखरिणां वरम्॥20।।
बिभेद तरसा गङ्गा गङ्गाद्वारं युधिष्ठिर।
पुण्यं तत् ख्यायते राजन् ब्रह्मर्षिगणसेवितम्॥21।।

युधिष्ठिर! परम पुण्यमयी द्वषद्वती नदी भी उधर ही बतायी गयी है। मनुष्यों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! वहीं न्यग्रोध, पुण्य, पाञ्चाल्य, दाल्भ्यघोष और दाल्भ्य—ये पाँच आश्रम हैं तथा अनन्तकीर्ति एवं अमित तेजस्वी महात्मा सुव्रत का पुण्य आश्रम भी उत्तराखण्ड में ही बताया जाता है, जो पृथ्वी पर रहकर भी तीनों लोकों में विख्यात है। नरेश्वर! उत्तराखण्ड में ही विख्यात मुनि नर और नारायण हैं, जो एतावर्ण (श्यामवर्ण—साकार) होते हुए भी वास्तव में अवर्ण (निराकार) ही हैं।।11-13।। भरतश्रेष्ठ! ये दोनों मुनि वेदज्ञ, वेद के मर्मज्ञ तथा वेदविद्या के पूर्ण जानकार हैं। इन्होंने पुण्यदायक उत्तम यज्ञों द्वारा शङ्कर का यजन किया है।।14।। पूर्वकाल में इन्द्र, वरुण आदि बहुत-से देवताओं ने मिलकर विशाखयूप नामक स्थान में तप किया था, अत: वह अत्यन्त पुण्यप्रद स्थान है।।15।। महाभाग, महायशस्वी और महाप्रभावशली महर्षि जमदग्नि ने परम सुन्दर तथा पुण्यप्रद पलाश वन में यज्ञ किया था।।16।। जिसमें सब श्रेष्ठ नदियाँ मूर्तिमती हों

अपना-अपना जल लेकर उन मुनिश्रेष्ठ के पास आयीं और उन्हें सब ओर से घेरकर खड़ी हुई थीं।।17।। वीर महाराज! यहाँ महात्मा जमदग्नि की वह यज्ञ दीक्षा देखकर स्वयं गन्धर्वराज विश्वावसु ने इस श्लोक का गान किया था।।18।। महात्मा जमदग्नि जब यज्ञ द्वारा देवताओं का यजन कर रहे थे, उस समय उनके यज्ञ में सरिताओं ने आकर मधु से ब्राह्मणों को तृप्त किया।।19।। युधिष्ठिर! गिरिश्रेष्ठ हिमालय किरातों और किन्नरों का निवास स्थान है। गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और अप्सराएँ उसका सदा सेवन करती हैं। गङ्गाजी अपने वेग से उस शैलराज को फोड़कर जहाँ प्रकट हुई हैं, वह पुण्य स्थान गङ्गाद्वार (हरिद्वार) के नाम से विख्यात है। राजन्! उस तीर्थ का ब्रह्मर्षिगण सदा सेवन करते हैं।।20-21।।

सनत्कुमारः कौरव्य पुण्यं कनखलं तथा।
पर्वतश्च पुरुर्नाम यत्र यातः पुरूरवाः॥22।।
भृगुर्यत्र तपस्तेपे महर्षिगणसेविते।
राजन् स आश्रमः ख्यातो भृगुतुङ्गो महागिरिः॥23।।
यः स भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ।
नारायणः प्रभुर्विष्णुः शाश्वतः पुरुषोत्तमः॥24।।
तस्यातियशसः पुण्यां विशालां बदरीमनु।
आश्रमः ख्यायते पुण्यस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥25।।
उष्णतोयवहा गङ्गा शीततोयवहा पुरा।
सुवर्णसिकता राजन् विशालां बदरीमनु॥26।।
ऋषयो यत्र देवाश्च महाभागा महौजसः।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं प्रभुम्॥27।।
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः।
तत्र कृत्स्नं जगत् सर्वं तीर्थान्यायतनानि च॥28।।
तत्पुण्यं परमं ब्रह्म तत् तीर्थं तत् तपोवनम्।
तत् परं परमं देवं भूतानां परमेश्वरम्॥29।।
शाश्वतं परमं चैव धातारं परमं पदम्।
यं विदित्वा न शोचन्ति विद्वांसः शास्त्रदृष्टयः॥30।।
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः।
आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः॥31।।
पुण्यानामपि तत् पुण्यमत्र ते संशयोऽस्तु मा।
एतानि राजन् पुण्यानि पृथिव्यां पृथिवीपते॥32।।
कीर्तितानि नरश्रेष्ठ तीर्थान्यायतनानि च।
एतानि वसुभिः साध्यैरादित्यैर्मरुदश्विभिः॥33।।
ऋषिभिर्देवकल्पैश्च सेवितानि महात्मभिः।
चरन्नेतानि कौन्तेय सहितो ब्राह्मणर्षभैः।
भ्रातृभिश्च महाभागैरुत्कण्ठां विहरिष्यसि॥34

कुरुनन्दन! पुण्यमय कनखल में पहले सनत्कुमार ने यात्रा की थी। वहीं पुरु नाम से प्रसिद्ध पर्वत है, जहाँ पूर्वकाल में पुरुरवा ने यात्रा की थी।।22।। राजन्! महर्षियों से सेवित जिस महान् पर्वत पर भृगु ने तपस्या की थी, वह भृगुतुङ्ग आश्रम के नाम से विख्यात है।।23।। भरतश्रेष्ठ! भूत, भविष्य और वर्तमान जिनका स्वरूप है, जो सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सनातन एवं पुरुषोत्तम नारायण हैं उन अत्यन्त यशस्वी श्रीहरि की पुण्यमयी विशालापुरी बदरी वन के निकट है। वह नर-नारायण का आश्रम कहा गया है वह पुण्यप्रद बदरिकाश्रम तीनों लोकों में विख्यात है।।24-25।। राजन्! पूर्वकाल से ही विशाला बदरी के समीप गङ्गा कहीं गर्म जल तथा कहीं शीतल जल प्रवाहित करती हैं। उनकी बालू सुवर्ण की भाँति चमकती रहती है।।26।। वहाँ महाभाग एवं महातेजस्वी देवता तथा महर्षि प्रतिदिन जाकर अमित प्रभावशाली भगवान् नारायण को नमस्कार करते हैं। जहाँ सनातन परमात्मा भगवान् नारायण विराजमान हैं। वहाँ सम्पूर्ण जगत् है और समस्त तीर्थ तथा देवालय हैं।।27-28।। वह बदरिकाश्रम पुण्यक्षेत्र और परब्रह्म स्वरूप है। वही तीर्थ है, वही तपोवन है, वही सम्पूर्ण भूतों का परमेदव परमेश्वर है।।29।। वही सनातन परमधाता एवं परमपद है, जिसे जान लेने पर शास्त्रदर्शी विद्वान् कभी शोक नहीं करते हैं। वहीं देवर्षि सिद्ध और समस्त तपोधन महात्मा निवास करते हैं। जहाँ महायोगी आदिदेव भगवान मधुसूदन विराजमान हैं वह स्थान पुण्यों का भी पुण्य है। राजन्! पृथ्वीपते! नरश्रेष्ठ! ये भूमण्डल के पुण्यतीर्थ और आश्रम आदि कहे गये वसु, साध्य, आदित्य, मरुद्गण, अश्विनीकुमार तथा देवोपम महात्मा मुनि इन सब तीर्थों का सेवन करते हैं। कुन्तीनन्दन! तुम श्रेष्ठ ब्राह्मणों और महान् सौभाग्यशाली भाइयों के साथ इन तीर्थों में विचरते रहोगे तो अर्जुन के लिए तुम्हारी मिलने की उत्कट इच्छा अर्थात् विरह व्याकुलता शान्त हो जाएगी।।30-34।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि धौम्यतीर्थयात्रायां
नवतितमोऽध्यायः॥ 90 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा पर्व में धौम्य तीर्थ यात्रा विषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।90।।

धौम्यगीता सम्पूर्णा

अष्टावक्रगीता

प्रथमोऽध्यायः

अष्टावक्र के जन्म का वृत्तान्त और उनका राजा जनक के दरबार में जाना

लोमश उवाच

यः कथ्यते मन्त्रविदग्धबुद्धिरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम्।
तस्याश्रमं पश्य नरेन्द्र पुण्यं सदाफलैरुपपन्नं महीजैः॥1॥
साक्षादत्र श्वेतकेतुर्ददर्श सरस्वतीं मानुषदेहरूपाम्।
वेत्स्यामि वाणीमिति सम्प्रवृत्तां सरस्वतीं श्वेतकेतुर्बभाषे॥2॥
तस्मिन् युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठावास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ।
अष्टावक्रश्चैव कहोडसूनुरौद्दालकिः श्वेतकेतुः पृथिव्याम्॥3॥
विदेहराजस्य महीपतेस्तौ विप्रावुभौ मातुलभागिनेयौ।
प्रविश्य यज्ञायतनं विवादे बन्दिं निजग्राहतुरप्रमेयौ॥4॥
उपास्स्व कौन्तेय सहानुजस्त्वं तस्याश्रमं पुण्यतमं प्रविश्य।
अष्टावक्रं यस्य दौहित्रमाहुर्योऽसौ बन्दिं जनकस्याथ यज्ञे॥5॥
वादी विप्राग्र्यो बाल एवाभिगम्य वादे भङ्क्त्वा मज्जयामास नद्याम्॥6॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु हो गये हैं, जो इस भूतल पर मन्त्रशास्त्र में अत्यन्त निपुण कहे जाते थे, देखो यह पवित्र आश्रम उन्हीं का है। जो सदा फल देने वाले वृक्षों से हरा-भरा दिखायी देता है॥1॥ इस आश्रम में श्वेतकेतु ने मानवरूप धारिणी सरस्वती देवी का प्रत्यक्ष दर्शन किया था और अपने निकट आयी हुई उन सरस्वती से यह कहा था कि मैं 'मैं वाणी स्वरूपा आपके तत्त्व को यथार्थ रूप से जानना चाहता हूँ'॥2॥ उस युग में कहोड़ मुनि के पुत्र अष्टावक्र और उद्दालकनन्दन श्वेतकेतु ये दोनों महर्षि समस्त भूमण्डल के वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ थे। वे आपस में मामा और भानजा लगते थे (इनमें श्वेतकेतु ही मामा था)॥3॥ एक समय वे दोनों मामा भानजे विदेहराज के यज्ञ मण्डप में गये। दोनों ही ब्राह्मण अनुपम विद्वान् थे। वहाँ शास्त्रार्थ होने पर उन दोनों ने अपने (विपक्षी) बन्दी को जीत लिया॥4॥ कुन्तीनन्दन! विप्रशिरोमणि अष्टावक्र वाद-विवाद में बड़े निपुण थे। उन्होंने बाल्यावस्था में महाराज जनक के यज्ञ मण्डप में पधारकर अपने प्रतिवादी बन्दी को पराजित करके नदी में डलवा दिया था। वे अष्टावक्र मुनि जिन महात्मा उद्दालक के दोहित्र (नाती)

बताये जाते हैं, उन्हीं का यह परम पवित्र आश्रम है। तुम अपने भाइयों सहित इसमें प्रवेश करके कुछ देर तक उपासना (भगवच्चिन्तन) करो।।5-6।।

युधिष्ठिर उवाच

कथम्प्रभाव: स बभूव विप्रस्तथाभूतं यो निजग्राह बन्दिम्।
अष्टावक्र: केन चासौ बभूव तत् सर्वं मे लोमश शंस तत्त्वम्॥7

युधिष्ठिर ने पूछा—लोमशजी! उन ब्रह्मर्षि का कैसा प्रभाव था, जिन्होंने बन्दी जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान् को भी जीत लिया। वे किस कारण से अष्टावक्र (आठों अङ्गों से टेढ़े-मेढ़े) हो गये। ये सब बातें मुझे यथार्थ रूप से बताइये।।7।।

लोमश उवाच

उद्दालकस्य नियत: शिष्य एको नाम्ना कहोड इति विश्रुतोऽभूत्।
शुश्रूषुराचार्यवशानुवर्ती दीर्घं कालं सोऽध्ययनं चकार॥8।।
तं वै विप्र: पर्यचरत् सशिष्यस्तां च ज्ञात्वा परिचर्यां गुरु: स:।
तस्मै प्रादात्सद्य एव श्रुतं च भार्यां च वै दुहितरं स्वां सुजाताम्॥9।।
तस्या गर्भ: समभवदग्निकल्प: सोऽधीयानं पितरं चाप्युवाच।
सर्वां रात्रिमध्ययनं करोषि नेदं पित: सम्यगिवोपवर्तते॥10[1]
उपालब्ध: शिष्यमध्ये महर्षि: स तं कोपादुदरस्थं शशाप।
यस्मात् कुक्षौ वर्तमानो ब्रवीषि तस्माद् वक्रो भवितास्यष्टकृत्व:॥11।।
स वै तथा वक्र एवाभ्यजायदष्टावक्र: प्रथितो वै महर्षि:।
अस्यासीद्वै मातुल: श्वेतकेतु: स तेन तुल्यो वयसा बभूव॥12।।

लोमशजी ने कहा—राजन्! महर्षि उद्दालक का कहोड़ नाम से विख्यात एक शिष्य था, जो बड़े संयम-नियम से रहकर आचार्य की सेवा किया करता था। उसने गुरु की आज्ञा के अन्दर रहकर दीर्घ काल तक अध्ययन किया।।8।। विप्रवर 'कहोड़' एक विनीत शिष्य की भाँति उद्दालक मुनि की परिचर्या में संलग्न रहते थे। गुरु ने शिष्य की उस सेवा के महत्त्व को समझ कर शीघ्र ही उन्हें सम्पूर्ण वेदशास्त्रों का ज्ञान करा दिया और अपनी पुत्री सुजाता को भी उन्हें पत्नी रूप से समर्पित कर दिया।।9।। कुछ काल के बाद सुजाता गर्भवती हुई, उसका वह गर्भ अग्नि के समान तेजस्वी था। एक दिन स्वाध्याय में लगे हुए अपने पिता कहोड़ मुनि से उस गर्भस्थ बालक ने कहा, 'पिताजी! आप रात भर वेद पाठ करते हैं तो भी आपका यह अध्ययन अच्छी प्रकार से शुद्ध उच्चारणपूर्वक नहीं हो पाता'।।10।। शिष्यों के बीच में बैठे हुए महर्षि कहोड़ इस प्रकार उलाहना सुनकर अपमान का अनुभव करते हुए कुपित हो उठे और उस गर्भस्थ बालक

---

1. किसी-किसी पुस्तक में यहाँ एक श्लोक अधिक मिलता है, जो इस प्रकार है—
वेदान् साङ्गान् सर्वशास्त्रै: उपेतानधीतवानस्मि तव प्रसादात्।
इहैव गर्भे तेन पित: ब्रवीमि नेदं त्वत्त: सम्यगिवोपवर्तते॥

को शाप देते हुए बोले, 'अरे! तू अभी पेट में रहकर ऐसी टेढ़ी बातें बोलता है, अतः तू आठों अङ्गों से टेढ़ा हो जायगा'।।11।। उस शाप के अनुसार वे महर्षि आठों अङ्गों से टेढ़े होकर पैदा हुए। इसलिए अष्टावक्र नाम से उनकी प्रसिद्धि हुई। श्वेतकेतु उनके मामा थे; परन्तु अवस्था में उन्हीं के बराबर थे।।12।।

सम्पीड्यमाना तु तदा सुजाता सा वर्धमानेन सुतेन कुक्षौ।
उवाच भर्तारमिदं रहोगता प्रसाद्य हीनं वसुना धनार्थिनी॥13।।
कथं करिष्याम्यधुना महर्षे मासश्चायं दशमो वर्तते मे।
नैवास्ति ते वसु किञ्चित्प्रजाता येनाहमेतामापदं निस्तरेयम्॥14।।
उक्तस्त्वेवं भार्यया वै कहोडो वित्तस्यार्थे जनकमथाभ्यगच्छत्।
स वै तदा वादविदा निगृह्य निमज्जितो बन्दिनेहाप्सु विप्रः॥15।।
उद्दालकस्तं तु तदा निशम्य सूतेन वादेऽप्सु निमज्जितं तथा।
उवाच तां तत्र ततः सुजातामष्टावक्रे गूहितव्योऽयमर्थः॥16।।
ररक्ष सा चापि तमस्य मन्त्रं जातोऽप्यसौ नैव शुश्राव विप्रः।
उद्दालकं पितृवच्चापि मेने तथाष्टावक्रो भ्रातृवच्छ्वेतकेतुम्॥17।।
ततो वर्षे द्वादशे श्वेतकेतुरष्टावक्रं पितुरङ्के निषण्णम्।
अपाकर्षद् गृह्य पाणौ रुदन्तं नायं तवाङ्कः पितुरित्युक्तवांश्च॥18।।
यत्तेनोक्तं दुरुक्तं तत् तदानीं हृदि स्थितं तस्य सुदुःखमासीत्।
गृहं गत्वा मातरं सोऽभिगम्य पप्रच्छेदं क्व नु तातो ममेति॥19।।
ततः सुजाता परमार्तरूपा शापाद् भीता सर्वमेवाचचक्षे।
तद् वै तत्त्वं सर्वमाज्ञाय रात्रावित्यब्रवीच्छ्वेतकेतुं स विप्रः॥20।।
गच्छाव यज्ञं जनकस्य राज्ञो बह्वाश्चर्यः श्रूयते तस्य यज्ञः।
श्रोष्यावोऽत्र ब्राह्मणानां विवादमर्थं चाग्र्यं तत्र भोक्ष्यावहे च॥21।।
विचक्षणत्वं च भविष्यते नौ शिवश्च सौम्यश्च हि ब्रह्मघोषः।।22।।
तौ जग्मतुर्मातुलभागिनेयौ यज्ञं समृद्धं जनकस्य राज्ञः।
अष्टावक्रः पथि राज्ञा समेत्य प्रोत्सार्यमाणो वाक्यमिदं जगाद॥23।।

जब पेट में गर्भ बढ़ रहा था, उस समय सुजाता ने उससे पीड़ित होकर एकान्त में अपने निर्धन पति से धन की इच्छा रख कर कहा—।।13।। "महर्षे! यह मेरे गर्भ का दसवाँ महीना चल रहा है। मैं धनहीन नारी खर्च की कैसे व्यवस्था करूँगी। आपके पास थोड़ा-सा भी धन नहीं है, जिससे मैं प्रसवकाल के इस सङ्कट से पार हो सकूँ"।।14।। पत्नी के ऐसा कहने पर कहोड़ मुनि धन के लिए राजा जनक के दरबार में गये। उस समय शास्त्रार्थी पण्डित बन्दी ने उन ब्रह्मर्षि को विवाद में हराकर जल में डुबो दिया।।15।। जब उद्दालक को यह समाचार मिला कि 'कहोड़ मुनि शास्त्रार्थ में पराजित होने पर सूत (बन्दी) के द्वारा जल में डुबो दिये गये।' तब उन्होंने सुजाता से सब कुछ बता दिया और कहा, 'बेटी! अपने बच्चे से इस वृत्तान्त को सदा ही गुप्त रखना'।।16।। सुजाता ने भी अपने पुत्र से उस गोपनीय समाचार को गुप्त ही रखा। इसी से जन्म लेने के

बाद भी उस ब्राह्मण बालक को इसके विषय में कुछ भी पता न लगा। अष्टावक्र अपने नाना उद्दालक को ही पिता के समान मानते थे और श्वेतकेतु को अपने भाई के समान समझते थे।।17।। तदनन्तर एक दिन, जब अष्टावक्र की आयु बारह वर्ष की थी और वे पितृतुल्य उद्दालक मुनि की गोद में बैठे हुए थे, उसी समय श्वेतकेतु वहाँ आये और रोते हुए अष्टावक्र का हाथ पकड़ कर उन्हें दूर खींच ले गये। इस प्रकार अष्टावक्र को दूर हटाकर श्वेतकेतु ने कहा—'यह तेरे बाप की गोदी नहीं है'।।18।। श्वेतकेतु की उस कटूक्ति ने उस समय अष्टावक्र के हृदय में गहरी चोट पहुँचायी। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने घर में माता के पास जाकर पूछा—'माँ! मेरे पिताजी कहाँ हैं?'।।19।। बालक के इस प्रश्न से सुजाता के मन में बड़ी व्यथा हुई, उसने शाप के भय से घबराकर सब बात बता दी। यह सब रहस्य जानकर उन्होंने रात में श्वेतकेतु से इस प्रकार कहा—'हम दोनों राजा जनक के यज्ञ में चलें। सुना जाता है, उस यज्ञ में बड़े आश्चर्य की बातें देखने में आती हैं। हम दोनों वहाँ विद्वान् ब्राह्मणों का शास्त्रार्थ सुनेंगे और वहीं उत्तम पदार्थ भोजन करेंगे'।।20-21।। वहाँ जाने से हम लोगों की प्रवचन शक्ति एवं जानकारी बढ़ेगी और हमें सुमधुर स्वर में वेद-मन्त्रों का कल्याणकारी घोष सुनने का अवसर मिलेगा।।22।। ऐसा निश्चय करके वे दोनों मामा-भानजे राजा जनक के समृद्धिशाली यज्ञ में गये। अष्टावक्र की यज्ञमण्डप के मार्ग में ही राजा से भेंट हो गयी। उस समय राजसेवक उन्हें रास्ते से दूर हटाने लगे, तब वे इस प्रकार बोले।।23।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ 132 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थयात्रा पर्व में लोमश तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में अष्टावक्रीयोपाख्यान विषयक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।132।।

द्वितीयोऽध्याय:

अष्टावक्र का द्वारपाल तथा राजा जनक से वार्तालाप

अष्टावक्र उवाच

अन्धस्य पन्था बधिरस्य पन्थाः स्त्रियः पन्था भारवाहस्य पन्थाः।
राज्ञः पन्था ब्राह्मणेनासमेत्य समेत्य तु ब्राह्मणस्यैव पन्थाः॥1।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! जब तक ब्राह्मण से सामना न हो, तब तक अन्धे का मार्ग, बहरे का मार्ग, स्त्री का मार्ग, बोझ ढोने वाले का मार्ग तथा राजा का मार्ग उस-उस के जाने के लिए छोड़ देना चाहिए; परन्तु यदि ब्राह्मण सामने मिल जाए तो सबसे पहले उसी को मार्ग देना चाहिए।।1।।

राजोवाच

पन्था अयं तेऽद्य मयातिदिष्टो येनेच्छसि तेन कामं व्रजस्व।
न पावको विद्यते वै लघीयानिन्द्रोऽपि नित्यं नमते ब्राह्मणानाम्॥2।।

राजा ने कहा—ब्राह्मण कुमार! लो मैंने तुम्हारे लिए आज यह मार्ग दे दिया है। तुम जिससे जाना चाहो उसी मार्ग से इच्छानुसार चले जाओ। आग कभी छोटी नहीं होती। देवराज इन्द्र भी सदा ब्राह्मणों के आगे मस्तक झुकाते हैं।।2।।

अष्टावक्र उवाच

प्राप्तौ स्व यज्ञं नृप सन्दिदृक्षू कौतूहलं नौ बलवन्नरेन्द्र।
प्राप्ताविहावामतिथी प्रवेशं काङ्क्षावहे द्वारपतेस्तवाज्ञाम्॥3।।
ऐन्द्रद्युम्ने यज्ञदृशाविहावां विवक्षू वै जनकेन्द्रं दिदृक्षू।
तौ वै क्रोधव्याधिना दह्यमानावयं च नौ द्वारपालो रुणद्धि॥4।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! हम दोनों आपका यज्ञ देखने के लिए आये हैं। नरेन्द्र! इसके लिए हम दोनों के हृदय में प्रबल उत्कण्ठा है। हम दोनों यहाँ अतिथि के रूप में उपस्थित हैं और इस यज्ञ में प्रवेश करने के लिए हम तुम्हारे द्वारपाल की आज्ञा चाहते हैं।।3।। इन्द्रद्युम्नकुमार जनक! हम दोनों यहाँ यज्ञ देखने के लिए आये हैं और आप जनकराज से मिलना तथा बात करना चाहते हैं, परन्तु यह द्वारपाल हमें रोकता है; अतः हम क्रोधरूप से व्याधि से दग्ध हो रहे हैं।।4।।

द्वारपाल उवाच

बन्देः समादेशकरा वयं स्म निबोध वाक्यं च मयेर्यमाणम्।
न वै बालाः प्रविशन्त्यत्र विप्रा वृद्धा विदग्धाः प्रविशन्त्यत्र विप्राः॥5

द्वारपाल बोला—ब्राह्मणकुमार! सुनो, हम बन्दी के आज्ञापालक हैं। आप हमारी कही बात सुनिये। इस यज्ञशाला में बालक ब्राह्मण नहीं प्रवेश करने पाते हैं। जो बूढ़े और बुद्धिमान् ब्राह्मण हैं, उन्हीं का यहाँ प्रवेश होता है।।5।।

अष्टावक्र उवाच

यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल।
वयं हि वृद्धाश्चरितव्रताश्च देवप्रभावेण समन्विताश्च॥6।।
शुश्रूषवश्चापि जितेन्द्रियाश्च ज्ञानागमे चापि गताः स्म निष्ठाम्।
न बाल इत्यवमन्तव्यमाहुर्बालोऽप्यग्निर्दहति स्पृश्यमानः॥7

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल! यदि यहाँ वृद्ध ब्राह्मणों के लिए प्रवेश द्वार खुला है, तब तो हमारा प्रवेश होना भी उचित ही है; क्योंकि हम लोग वृद्ध ही हैं, हमने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है तथा हम वेद के प्रभाव से भी सम्पन्न हैं।।6।। साथ ही, हम गुरुजनों के सेवक, जितेन्द्रिय तथा ज्ञानशास्त्र में परिनिष्ठित भी हैं। अवस्था में बालक होने के कारण ही किसी ब्राह्मण को अपमानित करना उचित नहीं बताया गया है; क्योंकि आग की छोटी-सी चिनगारी भी यदि छू जाए तो वह जला डालती है।।7।।

द्वारपाल उवाच

सरस्वतीमीरय वेदजुष्टामेकाक्षरां बहुरूपां विराजम्।
अङ्गात्मानं समवेक्षस्व बालं किं श्लाघसे दुर्लभो वै मनीषी॥8

द्वारपाल ने कहा—ब्राह्मणकुमार! तुम वेद प्रतिपादित, एकाक्षर ब्रह्म का बोध कराने वाली, अनेक रूप वाली, सुन्दर वाणी का उच्चारण करो और अपने आपको बालक ही समझो, स्वयं ही अपनी प्रशंसा क्यों करते हो? इस जगत् में ज्ञानी दुर्लभ हैं।।8।।

अष्टावक्र उवाच

न ज्ञायते कायवृद्ध्या विवृद्धिर्यथाष्ठीला शाल्मलेः सम्प्रवृद्धा।
ह्रस्वोऽल्पकायः फलितो विवृद्धो यश्चाफलस्तस्य न वृद्धभावः॥9

अष्टावक्र बोले—द्वारपाल! केवल शरीर बढ़ जाने से किसी की बढ़ती नहीं समझी जाती है। जैसे सेमल के फल की गाँठ बढ़ने पर भी सारहीन होने के कारण वह व्यर्थ ही है। छोटा और दुबला-पतला वृक्ष भी यदि फलों के भार से लदा है तो उसे ही वृद्ध (बड़ा) जानना चाहिए। जिसमें फल नहीं लगते, उस वृक्ष का बढ़ना भी नहीं के बराबर है।।9।।

द्वारपाल उवाच

वृद्धेभ्य एवेह मतिं स्म बाला गृह्णन्ति कालेन भवन्ति वृद्धाः।
न हि ज्ञानमल्पकालेन शक्यं कस्माद्बालः स्थविर इव प्रभाषसे॥10।।

द्वारपाल ने कहा—बालक बड़े-बूढ़ों से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं और समयानुसार वे भी वृद्ध होते हैं। थोड़े समय में ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है, अत: तुम बालक होकर भी क्यों वृद्ध की-सी बातें करते हो?।।10।।

अष्टावक्र उवाच

न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः।
बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः॥11।।
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥12।।
दिदृक्षुरस्मि सम्प्राप्तो बन्दिनं राजसंसदि।
निवेदयस्व मां द्वाःस्थ राज्ञे पुष्करमालिने॥13।।
द्रष्टास्यद्य वदतोऽस्मान् द्वारपाल मनीषिभिः।
सह वादे विवृद्धे तु बन्दिनं चापि निर्जितम्॥14।।
पश्यन्तु विप्राः परिपूर्णविद्याः सहैव राज्ञा सपुरोधमुख्याः।
उताहो वाप्युच्चतां नीचतां वा तूष्णीम्भूतेष्वेव सर्वेष्वथाद्य॥15।।

अष्टावक्र बोले—अमुक व्यक्ति के सिर के बाल पक गये हैं, इतने ही मात्र से वह बूढ़ा नहीं होता है, अवस्था में बालक होने पर भी जो ज्ञान में बढ़ा-चढ़ा है, उसी को देवगण वृद्ध मानते हैं।।11।। अधिक वर्षों की अवस्था होने से, बाल पकने से, धन बढ़ जाने से और अधिक भाई बन्धु हो जाने से भी कोई बड़ा हो नहीं सकता; ऋषियों ने ऐसा नियम बनाया है कि हम ब्राह्मणों में जो अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेदों का स्वाध्याय करने वाला तथा वक्ता है, वही बड़ा है।।12।। द्वारपाल! मैं राजसभा में बन्दी से मिलने के लिए आया हूँ। तुम कमलपुष्प की माला धारण किए हुए महाराज जनक को मेरे

आगमन की सूचना दे दो।।13।। द्वारपाल! आज तुम हमें विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करते देखोगे, साथ ही विवाद बढ़ जाने पर बन्दी को परास्त हुआ पाओगे।।14।। आज सम्पूर्ण सभासद् चुपचाप बैठे रहें तथा राजा और उनके प्रधान पुरोहितों के साथ पूर्णतः विद्वान् ब्राह्मण मेरी लघुता अथवा श्रेष्ठता को प्रत्यक्ष देखें।।15।।

द्वारपाल उवाच

कथं यज्ञं दशवर्षो विशेस्त्वं विनीतानां विदुषां सम्प्रवेशम्।
उपायतः प्रयतिष्ये तवाहं प्रवेशने कुरु यत्नं यथावत्॥16।।
(एष राजा संश्रवणे स्थितस्ते स्तुह्येनं त्वं वचसा संस्कृतेन।
स चानुज्ञां दास्यति प्रीतियुक्तः प्रवेशने यच्च किञ्चित् तवेष्टम्।।)

द्वारपाल ने कहा—जहाँ सुशिक्षित विद्वानों का प्रवेश होता है; उस यज्ञ मण्डप में तुम जैसे दस वर्ष के बालक का प्रवेश होना कैसे सम्भव है। तथापि मैं किसी उपाय से तुम्हें उसके भीतर प्रवेश कराने का प्रयत्न करूँगा, तुम भी भीतर जाने के लिए यथोचित प्रयत्न करो।।16।। (ये नरेश तुम्हारी बात सुन सकें, इतनी ही दूरी पर यज्ञ मण्डप में स्थित हैं, तुम अपने शुद्ध वचनों द्वारा इनकी स्तुति करो। इससे ये प्रसन्न होकर तुम्हें प्रवेश करने की आज्ञा दे देंगे तथा तुम्हारी और भी कोई कामना हो तो वे पूरी करेंगे।)

अष्टावक्र उवाच

भो भो राजञ्जनकानां वरिष्ठ त्वं वै सम्राट् त्वयि सर्वं समृद्धम्।
त्वं वा कर्ता कर्मणां यज्ञियानां ययातिरेको नृपतिर्वा पुरस्तात्॥17।।
वृद्धान् बन्दी वादविदो निगृह्य वादे भग्नानप्रतिशङ्कमानः।
त्वयाभिसृष्टैः पुरुषैराप्तकृद्भिर्जले सर्वान् मज्जयतीति नः श्रुतम्॥18।।
सोऽहं श्रुत्वा ब्राह्मणानां सकाशाद् ब्राह्माद्वैतं कथयितुमागतोऽस्मि।
क्वासौ बन्दी यावदेनं समेत्य नक्षत्राणीव सविता नाशयामि॥19

अष्टावक्र बोले—राजन्! आप जनकवंश के श्रेष्ठ पुरुष हैं, सम्राट् हैं। आपके यहाँ सभी प्रकार के ऐश्वर्य परिपूर्ण हैं, वर्तमान समय में केवल आप ही उत्तम कर्मों का अनुष्ठान करने वाले हैं अथवा पूर्वकाल में एकमात्र राजा ययाति ऐसे हो चुके हैं।।17।। हमने सुना है कि आपके यहाँ बन्दी नाम से प्रसिद्ध कोई विद्वान् हैं, जो वाद-विवाद के मर्म को जानने वाले कितने ही वृद्ध ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में हरा कर वश में कर लेते हैं और फिर आपके ही दिये हुए विश्वसनीय पुरुषों द्वारा उन सबको निःशङ्क होकर पानी में डुबवा देते हैं।।18।। मैं ब्राह्मणों के समीप यह समाचार सुनकर अद्वैत ब्रह्म के विषय में वर्णन करने के लिए यहाँ आया हूँ। वे बन्दी कहाँ हैं? मैं उनसे मिलकर उनके तेज को उसी प्रकार शान्त कर दूँगा, जैसे सूर्य ताराओं की ज्योति को विलुप्त कर देते हैं।।19।।

राजोवाच

नाशंससे बन्दिनं वै विजेतुमविज्ञाय त्वं वाक्यबलं परस्य।
विज्ञातवीर्यैः शक्यमेवं प्रवक्तुं दृष्टश्चासौ ब्राह्मणैर्वेदशीलैः॥20।।

आशंससे त्वं बन्दिनं वै विजेतुमविज्ञाय तु बलं बन्दिनोऽस्य।
समागता ब्राह्मणास्तेन पूर्वं न शोभन्ते भास्करेणेव ताराः॥21॥
आशंसन्तो बन्दिनं जेतुकामास्तस्यान्तिकं प्राप्य विलुप्तशोभाः।
विज्ञानमत्ता निःसृताश्चैव तात कथं सदस्यैर्वचनं विस्तरेयुः॥22

राजा बोले—ब्राह्मणकुमार! तुम अपने विपक्षी की प्रवचन शक्ति को जाने बिना ही बन्दी को जीतने की इच्छा रखते हो। जो प्रतिवादी के बल को जानते हों, वे ही ऐसी बातें कह सकते हैं। वेदों का अनुशीलन करने वाले बहुत-से ब्राह्मण बन्दी का प्रभाव देख चुके हैं॥20॥ तुम्हें इस बन्दी की शक्ति का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसीलिए उसे जीतने की इच्छा कर रहे हो। आज से पहले कितने ही विद्वान् ब्राह्मण बन्दी से मिले हैं और जैसे सूर्य के सामने ताराओं का प्रकाश फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार वे बन्दी के सामने हतप्रभाव हो गए हैं॥21॥ तात! कितने ही ज्ञानोन्मत्त ब्राह्मण बन्दी को जीतने की अभिलाषा रखकर शास्त्रार्थ की घोषणा करते हुए आये हैं; किन्तु उनके निकट पहुँचते ही उनका प्रभाव नष्ट हो गया है। इतना ही नहीं, वे पराजित एवं तिरस्कृत हो चुपचाप राजसभा से निकल गये हैं। फिर वे अन्य सदस्यों के साथ वार्तालाप ही कैसे कर सकते हैं॥22॥

अष्टावक्र उवाच

विवादितोऽसौ न हि मादृशैर्हि सिंहीकृतस्तेन वदत्यभीतः।
समेत्य मां निहतः शेष्यतेऽद्य मार्गे भग्नं शकटमिवाचलाक्षम्॥23

अष्टावक्र बोले—महाराज! अभी बन्दी को हम जैसों के साथ शास्त्रार्थ करने का अवसर नहीं मिला है, इसीलिए वह सिंह बना हुआ है और निडर होकर बातें करता है। आज मुझसे जब उसकी भेंट होगी, उस समय वह पराजित होकर मुर्दे की भाँति सो जायगा। ठीक उसी तरह, जैसे रास्ते में टूटा हुआ छकड़ा जहाँ का तहाँ पड़ा रह जाता है—उसका पहिया एक पग भी आगे नहीं बढ़ता है॥23॥

राजोवाच

त्रिंशकद्वादशांशस्य चतुर्विंशतिपर्वणः।
यस्त्रिषष्टिशतारस्य वेदार्थं स परः कविः॥24॥

तब राजा ने परीक्षा लेने के लिए कहा—जो पुरुष तीस अवयव, बारह अंश, चौबीस पर्व और तीन सौ साठ अरों वाले पदार्थ को को जानता है—उसके प्रयोजन को समझता है, वह उच्च कोटि का ज्ञानी है॥24॥

अष्टावक्र उवाच

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्नाभि द्वादशप्रधि।
तत्त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदागति॥25॥

अष्टावक्र बोले—राजन्! जिसमें बारह अमावास्या और बारह पूर्णिमारूपी चौबीस पर्व, ऋतु रूप छः नाभि, मास रूप बारह अंश और दिन रूप तीन सौ साठ अरे हैं, वह निरन्तर घूमने वाला संवत्सर रूप कालचक्र आपकी रक्षा करे॥25॥

राजोवाच

वडवे इव संयुक्ते श्येनपाते दिवौकसाम्।
कस्तयोर्गर्भमाधत्ते गर्भं सुषुवतुश्च कम्॥26।।

राजा ने पूछा—जो दो घोड़ियों की भाँति संयुक्त रहती हैं एवं जो बाज पक्षी की भाँति हठात् गिरने वाली हैं, उन दोनों के गर्भ को देवताओं में से कौन धारण करता है तथा वे दोनों किस गर्भ को उत्पन्न करती हैं?।।26।।

अष्टावक्र उवाच

मा स्म ते ते गृहे राजञ्छात्रवाणामपि ध्रुवम्।
वातसारथिरागन्ता गर्भं सुषुवतुश्च तम्॥27।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! वे दोनों तुम्हारे शत्रुओं के घर पर भी कभी न गिरें। वायु जिसका सारथि है, वह मेघ रूप देव ही इन दोनों के गर्भ को धारण करने वाला है और ये दोनों उस मेघ रूप गर्भ को उत्पन्न करने वाले हैं[1]।।27।।

राजोवाच

किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति।
कस्य स्विद्धृदयं नास्ति किं स्विद् वेगेन वर्धते॥28।।

राजा ने पूछा—सोते समय कौन नेत्र नहीं मूंदता, जन्म लेने के बाद किस में गति नहीं होती, किसके हृदय नहीं होता और कौन वेग से बढ़ता है?।।28।।

अष्टावक्र उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते॥29।।

अष्टावक्र बोले—मछली सोते समय भी आँख नहीं मूंदती, अण्डा उत्पन्न होने पर चेष्टा नहीं करता, पत्थर के हृदय नहीं होता और नदी वेग से बढ़ती है।।29।।

राजोवाच

न त्वां मन्ये मानुषं देवसत्त्वं न त्वं बालः स्थविरः सम्मतो मे।
न ते तुल्यो विद्यते वाक्प्रलापे तस्माद् द्वारं वितराम्येष बन्दी॥30।।

---

1. यहाँ अष्टावक्रजी ने परोक्ष रूप में ही प्रश्न का उत्तर दिया है। भाव यह है कि दो तत्त्व, जिनको वैदिक भाषा में रयि और प्राण के नाम से कहा है (देखिये प्रश्नोपनिषद् 1/4) एवं अंग्रेजी में जिनको पोजिटिव (अनुलोम) और निगेटिव (प्रतिलोम) कहते हैं, स्वभाव से ही संयुक्त रहने वाले हैं। इनका ही व्यक्त रूप विद्युत् शक्ति है। उसे गर्भ की भाँति मेघ धारण किए रहता है। संघर्ष से वह प्रकट होती है और आकर्षण होने पर बाज की भाँति गिरती है। जहाँ गिरती है वहाँ सबको भस्म कर देती है; इसलिए यह कहा गया कि वह कभी आपके शत्रुओं के घर पर भी न पड़े। इन दो तत्त्वों की संयुक्त शक्ति से ही मेघ की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह कहा गया कि उस मेघ रूप गर्भ को ये उत्पन्न करते हैं।

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! आपकी शक्ति तो देवताओं के समान है, मैं आपको मनुष्य नहीं मानता; आप बालक भी नहीं हैं। मैं तो आपका वृद्ध ही समझता हूँ। वाद-विवाद करने में आपके समान दूसरा कोई नहीं है, अत: आपको यज्ञ मण्डप में जाने के लिए द्वार प्रदान करता हूँ। यही बन्दी हैं (जिनसे आप मिलना चाहते थे)।।30।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्याय:॥ 133 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत के वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में अष्टावक्रीयोपाख्यानविषय एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।133।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठ का 1 श्लोक मिलाकर कुल 31 श्लोक हैं)

तृतीयोऽध्याय:

बन्दी और अष्टावक्र का शास्त्रार्थ, बन्दी की पराजय तथा समङ्ग में स्नान से अष्टावक्र के अङ्गों का सीधा होना

अष्टावक्र उवाच

अत्रोग्रसेन समितेषु राजन् समागतेष्वप्रतिमेषु राजसु।
नावैमि बन्दिं वरमत्र वादिनां महाजले हंसमिवाददामि॥1।।
न मेऽद्य वक्ष्यस्यतिवादिमानिन् ग्लहं प्रपन्न: सरितामिवागम:।
हुताशनस्येव समिद्धतेजस: स्थिरो भवस्वेह ममाद्य बन्दिन्॥2।।

अष्टावक्र बोले—भयङ्कर सेनाओं से युक्त महाराज जनक! इस सभा में सब ओर से अप्रतिभ प्रभावशाली राजा आकर एकत्र हुए हैं, परन्तु मैं इन सबके बीच में वादियों में प्रधान बन्दी को नहीं पहचान पाता हूँ। यदि पहचान लूँ तो अगाध जल में हंस की भाँति उन्हें अवश्य पकड़ लूँगा।।1।। अपने को अतिवादी मानने वाले बन्दी! तुमने पराजित हुए पण्डितों को पानी में डुबवा देने का नियम कर रखा है, किन्तु आज मेरे सामने तुम्हारी बोली बन्द हो जायगी। जैसे प्रलयकाल के प्रज्वलित अग्नि के समीप नदियों का प्रवाह सूख जाता है, उसी प्रकार मेरे सामने आने पर तुम भी सूख जाओगे—तुम्हारी वाद शक्ति नष्ट हो जायगी। बन्दी! आज मेरे सामने स्थिर होकर बैठो।।2।।

बन्द्युवाच

व्याघ्रं शयानं प्रति मा प्रबोधय आशीविषं सृक्किणी लेलिहानम्।
पदाहतस्येह शिरोऽभिहत्य नादष्टो वै मोक्ष्यसे तन्निबोध॥3।।
यो वै दर्पात् संहननोपपन्न: सुदुर्बल: पर्वतमाविहन्ति।
तस्यैव पाणि: सनखो विदीर्यते न चैव शैलस्य हि दृश्यते व्रण:॥4।।

बन्दी ने कहा—मुझे सोता हुआ सिंह समझ कर न जगाओ (न छेड़ो), अपने जबड़ों को चाटता हुआ विषैला सर्प मानो। तुमने पैरों से ठोकर मारकर मेरे मस्तक को कुचल दिया है। अब जब तक तुम डँस नहीं लिए जाते तब तक तुम्हें छुटकारा नहीं मिल सकता, इस बात को अच्छी तरह समझ लो।।3।। जो देहधारी अत्यन्त दुर्बल होकर भी अहङ्कारवश अपने हाथ से पर्वत पर चोट करता है, उसी के हाथ और नख विदीर्ण हो जाते हैं, उस चोट से पर्वत में घाव होता नहीं देखा जाता है।।4।।

अष्टावक्र उवाच

सर्वे राज्ञो मैथिलस्य मैनाकस्येव पर्वताः।
निकृष्टभूता राजानो वत्सा अनडुहो यथा॥5।।
यथा महेन्द्रः प्रवरः सुराणां नदीषु गङ्गा प्रवरा यथैव।
तथा नृपाणां प्रवरस्त्वमेको बन्दिं समभ्यानय मत्सकाशम्॥6।।

अष्टावक्र बोले—जैसे सब पर्वत मैनाक से छोटे हैं, सारे बछड़े बैलों से लघुतर हैं, उसी प्रकार भूमण्डल के समस्त राजा मिथिला नरेश महाराज जनक की अपेक्षा निम्न श्रेणी में हैं।।5।। राजन्! जैसे देवताओं में महेन्द्र श्रेष्ठ हैं और नदियों में गङ्गा श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सब राजाओं में एकमात्र आप ही उत्तम हैं। अब बन्दी को मेरे निकट बुलवाइये।।6।।

लोमश उवाच

एवमष्टावक्रः समितौ हि गर्जञ्जातक्रोधो बन्दिनमाह राजन्।
उक्ते वाक्ये चोत्तरं मे ब्रवीहि वाक्यस्य चाप्युत्तरं ते ब्रवीमि॥7

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! (बन्दी के सामने आ जाने पर) राजसभा में गर्जते हुए अष्टावक्र ने बन्दी से कुपित होकर इस प्रकार कहा—'मेरी पूछी हुई बात का उत्तर तुम दो और तुम्हारी बात का उत्तर मैं देता हूँ।'।।7।।

बन्द्युवाच

एक एवाग्निर्बहुधा समिध्यध्यते एकः सूर्यः सर्वमिदं विभाति।
एको वीरो देवराजोऽरिहन्ता यमः पितृणामीश्वरश्चैक एव॥8।।

तब बन्दी ने कहा—अष्टावक्र! एक ही अग्नि अनेक प्रकार से प्रकाशित होती है, एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है। शत्रुओं का नाश करने वाला देवराज इन्द्र एक ही वीर है तथा पितरों का स्वामी यमराज भी एक ही है।।8।।

अष्टावक्र उवाच

द्वाविन्द्राग्नी चरतो वै सखायौ द्वौ देवर्षी नारदपर्वतौ च।
द्वावश्विनौ द्वे रथस्यापि चक्रे भार्यापती द्वौ विहितौ विधात्रा॥9।।

अष्टावक्र बोले—जो दो मित्रों की भाँति सदा साथ विचरते हैं, वे इन्द्र और अग्नि दो देवता है। परस्पर मित्र भाव रखने वाले देवर्षि नारद और पर्वत भी दो ही है।

अश्विनीकुमारों की भी संख्या दो ही है, रथ के पहिये भी दो ही होते हैं तथा विधाता ने (एक-दूसरे के जीवन संगी) पति और पत्नी भी दो ही बनाये हैं।।9।।

बन्द्युवाच

त्रिः सूयते कर्मणा वै प्रजेयं त्रयो युक्ता वाजपेयं वहन्ति।
अध्वर्यवस्त्रिसवनानि तन्वते त्रयो लोकास्त्रीणि ज्योतींषि चाहुः॥10।।

बन्दी ने कहा—यह सम्पूर्ण प्रजा कर्मवश देवता, मनुष्य और तिर्यक् रूप तीन प्रकार का जन्म धारण करती है, ऋक्, साम, और यजु—ये तीन वेद ही परस्पर संयुक्त हो बाजपेय आदि यज्ञ कर्मों का निर्वाह करते हैं। अध्वर्यु लोग भी प्रात:सवन, मध्याह्नसवन और सायंसवन के भेद से तीन सवनों (यज्ञों) का ही अनुष्ठान करते हैं। (कर्मानुसार प्राप्त होने वाले भोगों के लिए) स्वर्ग, मृत्यु और नरक—ये लोक भी तीन ही बताये गये हैं और मुनियों ने सूर्य, चन्द्र और अग्निरूप तीन ही प्रकार की ज्योतियाँ बतलायी हैं।।10।।

अष्टावक्र उवाच

चतुष्टयं ब्राह्मणानां निकेतं चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति।
दिशश्चतस्रो वर्णचतुष्टयं च चतुष्पदा गौरपि शश्वदुक्ता॥11।।

अष्टावक्र बोले—ब्राह्मणों के लिए आश्रम[1] चार हैं। वर्ण[2] भी चार ही हैं, जो इस यज्ञ का भार वहन करते हैं। मुख्य दिशाएँ[3] भी चार ही हैं। वर्ण[4] भी चार ही हैं तथा गो अर्थात् वाणी भी सदा चार ही चरणों[5] से युक्त बतायी गयी है।।।11।।

बन्द्युवाच

पञ्चाग्नयः पञ्चपदा च पङ्क्तिर्यज्ञाः पञ्चैवाप्यथ पञ्चेन्द्रियाणि।
दृष्ट्वा वेदे पञ्चचूडाप्सराश्च लोके ख्यातं पञ्चनदं च पुण्यम्॥12।।

बन्दी ने कहा—यज्ञ की अग्नि गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य के भेद से पाँच प्रकार की कही गई हैं। पङ्क्ति[6] छन्द भी पाँच पादों से ही बनता है, यज्ञ भी पाँच ही हैं—देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। इसी प्रकार इन्द्रियों की संख्या भी पाँच ही है।[7] वेद में पाँच वेणी वाली (पञ्चचूडा[8])

---

1. ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास
2. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र।
3. पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर।
4. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और हल्।
5. परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये वाणी के चार पैर हैं।
6. आठ आठ अक्षर के पाँच पादों से पंक्ति छन्द की सिद्धि होती है।
7. त्वचा, श्चोत्र, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।
8. पञ्चचूडा अप्सरा का उल्लेख महाभारत के अनुशासन पर्व में है। 8वें अध्याय में भी आया है।

अप्सरा का वर्णन देखा गया है तथा लोक में पाँच[1] नदियों से विशिष्ट पुण्यमय पञ्चनद प्रदेश विख्यात है।।।12।।

अष्टावक्र उवाच

षडाधाने दक्षिणामाहुरेके षट् चैवेमे ऋतवः कालचक्रम्।
षडिन्द्रियाण्युत षट्कृत्तिकाश्च षट् साद्यस्काः सर्ववेदेषु दृष्टाः॥13।।

अष्टावक्र बोले—कुछ विद्वानों का मत है कि अग्नि की स्थापना के समय दक्षिणा में छः गौ ही देनी चाहिए। ये छः ऋतुएँ ही संवत्सर रूप कालचक्र की सिद्धि करती हैं। मन सहित ज्ञानेन्द्रियाँ भी छः ही हैं। कृत्तिकाओं की संख्या छः ही है तथा सम्पूर्ण वेदों में साद्यस्क नामक यज्ञ भी छः ही देखे गये हैं।।13।।

बन्द्युवाच

सप्त ग्राम्याः पशवः सप्त वन्याः सप्तच्छन्दांसि क्रतुमेकं वहन्ति।
सप्तर्षयः सप्त चाप्यर्हणानि सप्ततन्त्री प्रथिता चैव वीणा॥14।।

बन्दी ने कहा—ग्राम्य पशु सात हैं (जिनके नाम इस प्रकार हैं)—गाय, भैंस, बकरी, भेड़, घोड़ा, कुत्ता और गदहा। जङ्गली पशु भी सात हैं (यथा—सिंह, बाघ, भेड़िया, हाथी, वानर, भालू और मृग[2])। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती—ये सात ही छन्द एक-एक यज्ञ का निर्वाह करते हैं। सप्तर्षि नाम से प्रसिद्ध ऋषियों[3] की संख्या भी सात ही है (यथा—मारीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अङ्गिरा और वसिष्ठ), पूजन के संक्षिप्त उपचार भी सात हैं (यथा—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन और ताम्बूल) तथा वीणा के भी सात ही तार विख्यात हैं।।।14।।

अष्टावक्र उवाच

अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति तथाष्टपादः शरभः सिंहघाती।
अष्टौ वसूञ्शुश्रुम देवतासु यूपश्चाष्टास्रिर्विहितः सर्वयज्ञे॥15।।

अष्टावक्र बोले—तराजू में लगी हुई सन् की डोरियाँ भी आठ ही होती हैं, जो सैकड़ों का मान (तौलती) करती हैं। सिंह को भी मार गिराने वाले शरभ के आठ ही पैर

---

1. विपाशा (व्यास), इरावती (रावी), वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा (चिनाव) और शतद्रु (शतलज) ये ही पञ्चनद प्रदेश की पाँच नदियाँ हैं।
2. हिरन, शूकर, खरगोश, गीदड़ आदि जन्तुओं का ग्रहण मृग नाम से ही हो जाता है।
3. सप्तर्षि ये हैं—
   मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
   वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते।। (महा.शान्ति. 340/69)
   (भगवान् ने स्वयं ब्रह्माजी से कहा है कि) मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—ये सातों महर्षि तुम्हारे (ब्रह्माजी) द्वारा ही अपने मन से रचे हुए हैं।

होते हैं। देवताओं में वसुओं[1] की संख्या भी आठ ही सुनी गई है और सम्पूर्ण यज्ञों में आठ कोठ के ही यूप का निर्माण किया जाता है।।15।।

बन्द्युवाच

नवैवोक्ता: सामिधेन्य: पितृणां तथा प्राहुर्नवयोगं विसर्गम्।
नवाक्षरा बृहती सम्प्रदिष्टा नवयोगो गणनामेति शश्वत्॥16।।

बन्दी ने कहा—पितृयज्ञ में समिधा देकर अग्नि को उद्दीप्त करने के लिए जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उन्हें सामिधेनी ऋचा कहते हैं, उनकी संख्या नौ ही बतायी गयी है। यह जो नाना प्रकार की सृष्टि दिखायी देती है, इसमें प्रकृति, पुरुष, महत्त्वत्त्व, अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्रा—इन नौ पदार्थों का संयोग कारण है, ऐसा विज्ञ पुरुषों का कथन है। बृहती छन्द के प्रत्येक चरण में नौ अक्षर बताये गये हैं और एक से लेकर नौ अङ्कों का योग ही सदा गणना के उपयोग में आता है।।16।।

अष्टावक्र उवाच

दिशो दशोक्ता: पुरुषस्य लोके सहस्रमाहुर्दशपूर्णं शतानि।
दशैव मासान् बिभ्रति शतानि दशैरेका दश दाशा दशार्हा:॥17।।

अष्टावक्र ने कहा—पुरुष के लिए संसार में दस दिशाएँ बतायी गयी हैं। दस सौ मिलकर ही पूरा एक सहस्र कहा जाता है, गर्भवती स्त्रियाँ दस मास तक ही गर्भ धारण करती हैं, निन्दक भी दस[2] ही होते हैं, शरीर की अवस्थाएँ भी दस[3] हैं तथा पूजनीय पुरुष भी दस[4] ही बताये गये हैं।।17।।

बन्द्युवाच

एकादशैकादशिन: पशूनामेकादशैवात्र भवन्ति यूपा:।
एकादश प्राणभृतां विकारा एकादशोक्ता दिवि देवेषु रुद्रा:॥18।।

---

1. धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनल:।
   प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिता:।। (महा.आदि. 66/18)
   धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास—ये आठ वसु कहे गये हैं।
2. यथा रोगी, दरिद्र, शोकार्त्त, राजदण्डित, शठ, खल, वृत्ति से वञ्चित, उन्मत्त, ईर्ष्या परायण और कामी—ये दस निन्दक होते हैं। जैसा कि निम्नांकित श्लोक से सिद्ध होता है—
   आमयी दुर्मत: शोकी दण्डितश्च शठ: खल:।
   नष्टवृत्तिर्मदी चेर्ष्यी कामी च दश निन्दका:।। (इति नीतिशास्त्रोक्ति:)
3. उन दसों अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, कैशोर, यौवन, प्रौढ़, वार्द्धक्य तथा मृत्यु।
4. अध्यापक, पिता, ज्येष्ठ, भ्राता, राजा, मामा, श्वसुर, नाना, दादा अपने से बड़ी अवस्था वाले कुटुम्बी तथा पितृव्य (चाचा-ताऊ)—ये दस पूजनीय पुरुष माने गये हैं। जैसा कि कूर्मपुराण का वचन है—उपाध्याय: पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपति:। मातुल: श्वसुरश्चैव मातामहपितामहौ।। बन्धुर्जेष्ठ: पितृभ्यश्च पुंस्येते गुरवो मता:।।

बन्दी ने कहा—प्राणाधारी पशुओं (जीवों) के लिए ग्यारह विषय[1] हैं। उन्हें प्रकाशित करने वाली इन्द्रियाँ भी ग्यारह ही हैं; यज्ञ, याग आदि में यूप भी ग्यारह ही होते हैं, प्राणियों के विकार[2] भी ग्यारह हैं, तथा स्वर्गीय देवताओं में जो रुद्र[3] कहलाते हैं; उनकी संख्या भी ग्यारह ही है।।18।।

अष्टावक्र उवाच

संवत्सरं द्वादशमासमाहुर्जगत्याः पादो द्वादशैवाक्षराणि।
द्वादशाहः प्राकृतो यज्ञ उक्तो द्वादशादित्यान् कथयन्तीह धीराः॥19।।

अष्टावक्र बोले—एक संवत्सर में बारह महीने बताये गये हैं, जगती छन्द का प्रत्येक पाद बारह अक्षरों का होता है, प्राकृत यज्ञ बारह दिनों का माना गया है, ज्ञानी पुरुष यहाँ बारह[4] आदित्यों का वर्णन करते हैं।।19।।

बन्द्युवाच

त्रयोदशी तिथिरुक्ता प्रशस्ता त्रयोदशद्वीपवती मही च॥

बन्दी ने कहा—त्रयोदशी तिथि उत्तम बतायी गयी है तथा यह पृथ्वी तेरह द्वीपों से युक्त है।

लोमश उवाच

एतावदुक्त्वा विरराम बन्दी श्लोकस्यार्धं व्याजहाराष्टवक्रः॥

लोमशजी कहते हैं—इतना कहकर बन्दी चुप हो गया। तब शेष आधे श्लोक की पूर्ति अष्टावक्र ने इस प्रकार की।

---

1. वाक्य बोलना, ग्रहण करना, चलना-फिरना, मल त्याग करना और मैथुनजनित सुख का अनुभव करना—ये पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और इन सबका मनन मन का विषय है। इस प्रकार कुल मिलाकर ग्यारह विषय हैं।
2. काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, हर्ष-शोक, राग-द्वेष और अहङ्कार—ये ग्यारह विकार होते हैं।
3. एकादश रुद्र ये हैं—
   मृगाव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः।
   अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतपः।।
   दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च महाद्युतिः।
   स्थाणुर्भवश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः।। (महाभारत आदि. 66/2-3)
   मृगाव्याध, सर्प, महायशस्वी निर्ऋति, अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, शत्रु-संतापन पिनाकी, दहन, ईश्वर, परमकान्तिमान् कपाली, स्थाणु और भगवान् भव—ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं।
4. द्वादश आदित्य ये हैं—
   धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च।
   भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा।।
   एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते। (महा.आदि. 65/15-16)
   धाता, मित्र, अर्यमा, इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, दसवें सविता, ग्यारहवें त्वष्टा और बारहवें विष्णु कहे गये हैं।

अष्टावक्र उवाच

त्रयोदशाहानि ससार केशी त्रयोदशादीन्यतिच्छन्दांसि चाहुः।।20।।

अष्टावक्र बोले—केशी नामक दानव ने भगवान् विष्णु के साथ तेरह[1] दिनों तक युद्ध किया था। वेद में जो अतिशब्द विशिष्ट छन्द बताये गये हैं, उनका एक-एक पाद तेरह आदि अक्षरों से सम्पन्न होता है (अर्थात् अतिजगती छन्द का एक पाद तेरह अक्षरों का, अतिशक्वरी का एक पाद पन्द्रह अक्षरों का, अत्यष्टि का प्रत्येक पाद सत्रह अक्षरों का तथा अतिधृतिका हर एक पाद उन्नीस अक्षरों का होता है)।।20।।

लोमश उवाच

ततो महानुदतिष्ठन्निनादस्तूष्णीम्भूतं सूतपुत्रं निशम्य
अधोमुखं ध्यानपरं तदानीमष्टावक्रं चाप्युदीर्यन्तमेव।।21।।
तस्मिंस्तथा सङ्कुले वर्तमाने स्फीते यज्ञे जनकस्योत राज्ञः।
अष्टावक्रं पूजयन्तोऽभ्युपेयुर्विप्राः सर्वे प्राञ्जलयः प्रतीताः॥22।।

लोमशजी कहते हैं—इतना सुनते ही सूतपुत्र बन्दी चुप हो गया और मुँह नीचा किये किसी भारी सोच-विचार में पड़ गया। इधर अष्टावक्र बोलते ही रहे, यह सब देख दर्शकों और श्रोताओं में महान् कोलाहल मच गया।।21।। महाराज जनक के उस समृद्धिशाली यज्ञ में जब कि चारों ओर कोलाहल व्याप्त हो रहा था, सब ब्राह्मण हाथ जोड़े हुए श्रद्धापूर्वक अष्टावक्र के समीप आये और उनका आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया।।22।।

अष्टावक्र उवाच

अनेनैव ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो वादे जित्वा सलिले मज्जिताः प्राक्।
तानेव धर्मानयमद्य बन्दी प्राप्नोतु गृह्याप्सु निमज्जयैनम्॥23।।

तत्पश्चात् अष्टावक्र ने कहा—महाराज! इसी बन्दी ने पहले बहुत-से शास्त्रज्ञ (विद्वान्) ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में पराजित करके पानी में डुबवाया है, अत: इसकी भी वही गति होनी चाहिये, जो इसके द्वारा दूसरों की हुई। इसलिए इसे पकड़कर शीघ्र पानी में डुबवा दीजिये।।23।।

बन्द्युवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञस्तत्रास सत्रं द्वादशवार्षिकं वै।
सत्रेण ते जनक तुल्यकालं तदर्थं ते प्रहिता मे द्विजाग्र्या॥24।।
ते तु सर्वे वरुणस्योत यज्ञं द्रष्टुं गता इह आयान्ति भूयः।
अष्टावक्रं पूजये पूजनीयं यस्य हेतोर्जनितारं समेष्ये॥25।।

---

1. *नृसिंहपुराण* में यही बात कही गयी है—'युयुधे विष्णुना सार्धं त्रयोदश दिनान्यसौ।'

बन्दी बोला—महाराज जनक! मैं राजा वरुण का पुत्र हूँ। मेरे पिता के यहाँ भी आपके इस यज्ञ के समान ही बारह वर्षों में पूर्ण होने वाला यज्ञ हो रहा था। उस यज्ञ के अनुष्ठान के लिए ही (जल में डुबाने के बहाने) कुछ चुने हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणों को मैंने वरुण लोक में भेज दिया था।।24।। वे सब-के-सब वरुण का यज्ञ देखने के लिए गए हैं और अब पुनः लौटकर आ रहे हैं। मैं पूजनीय ब्राह्मण अष्टावक्रजी का सत्कार करता हूँ; जिनके कारण मेरा अपने पिताजी से मिलना होगा।।25।।

अष्टावक्र उवाच

विप्राः समुद्राम्भसि मज्जिता ये वाचा जिता मेधया वा विदानाः।
तां मेधया वाचमथोज्जहार यथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः॥26।।
अग्निर्दहञ्शातवेदाः सतां गृहान् विसर्जयंस्तेजसा न स्म धाक्षीत्।
बालेषु पुत्रेषु कृपणं वदत्सु तथा वाचमवचिन्वन्ति सन्तः॥27।।
श्लेष्मातकी क्षीणवर्चाः शृणोषि उताहो त्वां स्तुतयो मादयन्ति।
हस्तीव त्वं जनक विनुद्यमानो न मामिकां वाचमिमां शृणोषि॥28।।

अष्टावक्र बोले—राजन्! बन्दी ने अपनी जिस वाणी (प्रवचनपटुता अथवा मेधा-बुद्धि बल) से विद्वान् ब्राह्मणों को भी परास्त किया और समुद्र के जल में डुबोया है, उसकी उस वाक् शक्ति को मैंने अपनी बुद्धि से किस प्रकार उखाड़ फेंका है, यह सब इस सभा में बैठे हुए विद्वान् पुरुष मेरी बातें सुनकर ही जान गये होंगे।।26।। अग्नि स्वभाव से ही दहन करने वाला है तो भी वह ज्ञेय विषय को तत्काल जानने में समर्थ है। इस कारण परीक्षा के समय जो सदाचारी और सत्यवादी होते हैं, उनके घरों को (शरीरों को) छोड़ देता है, जलाता नहीं। वैसे ही सन्त लोग भी विनम्र भाव से बोलने वाले बालक पुत्रों के वचनों में से जो सत्य और हितकर बात होती है, उसे चुन लेते हैं—(उसे मान लेते हैं, उनकी अवहेलना नहीं करते)। भाव यह कि तुमको मेरे वचनों का भाव समझ कर उन्हें ग्रहण करना चाहिये।।27।। राजन्! जान पड़ता है, तुमने लसोड़े के पत्तों पर भोजन किया है उसका फल खा लिया है, इसी से तुम्हारा तेज क्षीण हो गया है; अतः तुम बन्दी की बात सुन रहे हो, अथवा इस बन्दी द्वारा की गई स्तुतियाँ तुम्हें उन्मत्त कर रही हैं, यही कारण है कि अङ्कुश की मार खाकर भी न मानने वाले मत वाले हाथी की भाँति तुम मेरी इन बातों को नहीं सुन रहे हो।।28।।

जनक उवाच

शृणोमि वाचं तव दिव्यरूपाममानुषीं दिव्यरूपोऽसि साक्षात्।
अजैषीर्यद् बन्दिनं त्वं विवादे निसृष्ट एष तव कामोऽद्य बन्दी॥29।।

जनक ने कहा—ब्रह्मन्! मैं आपकी दिव्य एवं अलौकिक वाणी सुन रहा हूँ, आप साक्षात् दिव्य स्वरूप हैं, आपने शास्त्रार्थ में बन्दी को जीत लिया है। आपकी इच्छा अभी पूरी की जा रही है। देखिये यह है कि आपके द्वारा जीता हुआ बन्दी।।29।।

अष्टावक्र उवाच

नानेन जीवता कश्चिदर्थो मे बन्दिना नृप।
पिता यद्यस्य वरुणो मज्जयैनं जलाशये॥30॥

अष्टावक्र बोले—महाराज! इस बन्दी के जीवित रहने से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। यदि इसके पिता वरुणदेव हैं तो उनके पास जाने के लिए इसे निश्चय ही जलाशय में डुबो दीजिये॥30॥

बन्द्युवाच

अहं पुत्रो वरुणस्योत राज्ञो न मे भयं विद्यते मज्जितस्य।
इमं मुहूर्तं पितरं द्रक्ष्यतेऽयमष्टावक्रश्चिरनष्टं कहोडम्॥31॥

बन्दी ने कहा—राजन्! मैं वास्तव में राजा वरुण का पुत्र हूँ, अत: जल में डुबाये जाने का मुझे कोई भय नहीं है। ये अष्टावक्र दीर्घकाल से नष्ट हुए अपने पिता कहोड़ को इसी समय देखेंगे॥31॥

लोमश उवाच

ततस्ते पूजिता विप्रा वरुणेन महात्मना।
उदतिष्ठंस्तत: सर्वे जनकस्य समीपत:॥32॥

लोमशजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर महामना वरुण द्वारा पूजित हुए वे समस्त ब्राह्मण (जो बन्दी द्वारा जल में डुबोये गये थे) सहसा राजा जनक के समीप प्रकट हो गये॥32॥

कहोड उवाच

इत्यर्थमिच्छन्ति सुताञ्जना जनक कर्मणा।
यदहं नाशकं कर्तुं तत् पुत्र: कृतवान् मम॥33॥
उताबलस्य बलवानुत बालस्य पण्डित:।
उत वाविदुषो विद्वान् पुत्रो जनक जायते॥34॥
शितेन ते परशुना स्वयमेवान्तको नृप।
शिरांस्यपहरन्नाजौ रिपूणां भद्रमस्तु ते॥35॥
महदौक्थ्यं गीयते साम चाग्र्यं सम्यक् सोम: पीयते चात्र सत्रे।
शुचीन् भगान् प्रतिजगृहुश्च हृष्टा: साक्षाद् देवा जनकस्योत राज्ञ:॥36॥

उस समय कहोड़ ने कहा—जनकराज! लोग इसीलिए अच्छे कर्मों द्वारा पुत्र पाने की इच्छा रखते हैं, क्योंकि जो कार्य मैं नहीं कर सका, उसे मेरे पुत्र ने कर दिखाया॥33॥ जनकराज! कभी-कभी निर्बल के भी बलवान्, मूर्ख के भी पण्डित तथा अज्ञानी के भी ज्ञानी पुत्र उत्पन्न हो जाता है॥34॥ राजन्! आपका कल्याण हो, युद्ध में स्वयं ही यमराज तीखे फरसे से आपके शत्रुओं के मस्तक काटते रहें॥35॥ महाराज

जनक के इस यज्ञ में उत्तम एवं महत्त्वपूर्ण और औक्थ्य[1] साम का गान किया जाता है, विधिपूर्वक सोमरस का पान हो रहा है, देवगण प्रत्यक्ष दर्शन देकर बड़े हर्ष के साथ अपने-अपने पवित्र भाग ग्रहण कर रहे हैं।।36।।

लोमश उवाच

समुत्थितेष्वथ सर्वेषु राजन् विप्रेषु तेष्वधिकं सुप्रभेषु।
अनुज्ञातो जनकेनाथ राज्ञा विवेश तोयं सागरस्योत बन्दी॥37।।
अष्टावक्रः पितरं पूजयित्वा सम्पूजितो ब्राह्मणैस्तैर्यथावत्।
प्रत्याजगामाश्रममेव चाग्र्यं जित्वा सौतिं सहितो मातुलेन॥38।।
ततोऽष्टावक्रमातुरथान्तिके पिता नदीं समङ्गां शीघ्रमिमां विशस्व।
प्रोवाच चैनं स तथा विवेश समैरङ्गैश्चापि बभूव सद्यः॥39।।
नदी समङ्गा च बभूव पुण्या यस्यां स्नातो मुच्यते किल्बिषाद्धि।
त्वमप्येनां स्नानपानावगाहैः सभ्रातृकः सहभार्यो विशस्व॥40।।
अत्र कौन्तेय सहितो भ्रातृभिस्त्वं सुखोषितः सह विप्रैः प्रतीतः।
पुण्यान्यन्यानि शुचिकर्मैकभक्तिर्मया सार्धं चरितस्याजमीढ॥41।।

लोमशजी कहते हैं—राजन्! बन्दी द्वारा जल में डुबोये हुए वे सभी ब्राह्मण जब वहाँ अधिक तेजस्वी रूप से प्रकट हो गये, तब राजा की आज्ञा लेकर बन्दी स्वयं ही समुद्र के जल में समा गया।।37।। अष्टावक्र अपने पिता की पूजा करके स्वयं भी दूसरे ब्राह्मणों द्वारा यथोचित रूप से सम्मानित हुए और इस प्रकार बन्दी पर विजय पाकर पिता एवं मामा के साथ अपने श्रेष्ठ आश्रम पर ही लौट आये।।38।। तदनन्तर पिता कहोड़ ने अष्टावक्र की माता सुजाता के निकट पुत्र अष्टावक्र से कहा—'बेटा! तुम शीघ्र ही इस 'समङ्गा' नदी में स्नान के लिए प्रवेश करो।' पिता की आज्ञा के अनुसार उन्होंने उस नदी में स्नान के लिए प्रवेश किया। उसके जल का स्पर्श होने पर तत्काल ही उनके सब अङ्ग सीधे हो गये।।39।। युधिष्ठिर! इसी से समङ्गा नदी पुण्यमयी हो गयी। इसमें स्नान करने वाला मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। तुम भी स्नान, पान (आचमन) और अवगाहन के लिए अपनी पत्नी और भाइयों के साथ इस नदी में प्रवेश करो।।40।। अजमीढकुलभूषण कुन्तीनन्दन! तुम विश्वासपूर्वक अपने भाइयों और ब्राह्मणों के साथ यहाँ एक रात सुख से रहकर कल से पुनः मेरे साथ पवित्र कर्मों में अविचल श्रद्धा भक्ति रखते हुए दूसरे दूसरे पुण्य तीर्थों की यात्रा करना।।41।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायामष्टावक्रीये चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ 134 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा पर्व में लोमश तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में अष्टावक्रीयोपाख्यान विषयक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।134।।

अष्टावक्रगीता सम्पूर्णा

---

1. उक्थ नाम यज्ञ विशेष में गाये जाने योग्य साम को आक्थ्य कहते हैं।

हनुमद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

भीमसेन का सौगन्धिक कमल लाने के लिए जाना और कदली वन में उनकी हनुमान्‌जी से भेंट

वैशम्पायन उवाच

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः।
षड्रात्रमवसन् वीरा धनञ्जयदिदृक्षवः॥1॥
ततः पूर्वोत्तरे वायुः प्लवमानो यदृच्छया।
सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुपाहरत्॥2॥
तदवैक्षत पाञ्चाली दिव्यगन्धं मनोरमम्।
अनिलेनाहृतं भूमौ पतितं जलजं शुचि॥3॥
तच्छुभा शुभमासाद्य सौगन्धिकमनुत्तमम्।
अतीव मुदिता राजन् भीमसेनमथाब्रवीत्॥4॥
पश्य दिव्यं सुरुचिरं भीम पुष्पमनुत्तमम्।
गन्धसंस्थानसम्पन्नं मनसो मम नन्दनम्॥5॥
इदं च धर्मराजाय प्रदास्यामि परन्तप।
हरेदं मम कामाय काम्यके पुनराश्रमे॥6॥
यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम्॥7॥
एवमुक्त्वा शुभापाङ्गी भीमसेनमनिन्दिता।
जगाम पुष्पमादाय धर्मराजाय तत् तदा॥8॥
अभिप्रायं तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः।
प्रियायाः प्रियकामः स प्रायाद् भीमो महाबलः॥9॥
वातं तमेवाभिमुखो यतस्तत्पुष्पमागतम्।
आजिहीर्षुर्जगामाशु स पुष्पाण्यपराण्यपि॥10॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे पुरुषसिंह वीर पाण्डव अर्जुन के दर्शन के लिए उत्सुक हो वहाँ परम पवित्रता के साथ छः रात रहे॥1॥ तदनन्तर ईशान कोण की ओर से अकस्मात् वायु चली। उसने सूर्य के समान तेजस्वी एक दिव्य सहस्रदल कमल लाकर वहाँ डाल दिया॥2॥ जनमेजय! वह कमल बड़ा मनोरम था, उससे दिव्य सुगन्ध फैल रही थी। शुभ लक्षणा द्रौपदी ने उसे देखा और वायु के द्वारा लाकर पृथ्वी पर डाले हुए

उस पवित्र, शुभ एवं परम उत्तम सौगन्धिक कमल के पास पहुँच कर अत्यन्त प्रसन्न हो भीमसेन से इस प्रकार कहा—।।3-4।। 'भीम! देखो तो, यह दिव्य पुष्प कितना अच्छा और कैसा सुन्दर है! मानो सुगन्ध ही इसका स्वरूप है। यह मेरे मन को आनन्द प्रदान कर रहा है। परन्तप! मैं इसे धर्मराज को भेंट करूँगी। तुम मेरी इच्छा की पूर्ति के लिए काम्यक वन के आश्रम में इसे ले चलो।।5-6।। कुन्तीनन्दन! यदि मेरे ऊपर तुम्हारा (विशेष) प्रेम है, तो मेरे लिए ऐसे ही बहुत-से फूल ले आओ। मैं इन्हें काम्यक वन में अपने आश्रम पर ले चलना चाहती हूँ।।7।। उस समय मनोहर नेत्र प्रान्त वाली अनिन्द्य सुन्दरी (सती-साध्वी) द्रौपदी भीमसेन से ऐसा कहकर और वह पुष्प लेकर धर्मराज युधिष्ठिर को देने के लिए चली गयी।।8।। पुरुष शिरोमणि महाबली भीम अपनी प्यारी रानी के मनोभाव को जानकर उसका प्रिय करने की इच्छा से वहाँ से चल दिए।।9।। वे उसी तरह के और भी फूल ले आने की अभिलाषा से तुरन्त पूर्वोक्त वायु की ओर मुख करके उसी ईशान कोण में आगे बढ़े, जिधर से वह फूल आया था।।10।।

रुक्मपृष्ठं धनुर्गृह्य शरांश्चाशीविषोपमान्।
मृगराडिव सङ्क्रुद्धः प्रभिन्न इव कुञ्जरः।
व्यनदत् स महानादं भीमसेनो महाबलः॥11।।
ददृशुः सर्वभूतानि महाबाणधनुर्धरम्।
न ग्लानिर्न च वैक्लव्यं न भयं न च सम्भ्रमः॥12।।
कदाचिज्जुषते पार्थमात्मजं मातरिश्वनः।
द्रौपद्याः प्रियमन्विच्छन् स बाहुबलमाश्रितः॥13।।
व्यपेतभयसम्मोहः शैलमभ्यपतद् बली।
स ते द्रुमलतागुल्मच्छन्नं नीलशिलातलम्॥14।।
गिरिं चचाररिहरः किन्नराचरितं शुभम्।
नानावर्णधरैश्चित्रं धातुद्रुममृगाण्डजैः॥15।।
सर्वभूषणसम्पूर्णं भूमेर्भुजमिवोच्छ्रितम्।
सर्वत्र रमणीयतेषु गन्धमादनसानुषु॥16।।
सक्तचक्षुरभिप्रायान् हृदयेनानुचिन्तयन्।
पुंस्कोकिलनिनादेषु षट्पदाचरितेषु च॥17।।
बद्धश्रोत्रमनश्चक्षुर्जगामामितविक्रमः।
आजिघ्रन् स महातेजाः सर्वर्तुकुसुमोद्भवम्॥18।।
गन्धमुद्धतमुद्दामो वने मत्त इव द्विपः।
वीज्यमानः सुपुण्येन नानाकुसुमगन्धिना॥19।।
पितुः संस्पर्शशीतेन गन्धमादनवायुना।
ह्रियमाणश्रमः पित्रा सम्प्रहृष्टतनूरुहः॥20।।

उन्होंने हाथ में वह अपना धनुष ले लिया, जिसके पृष्ठ भाग में सुवर्ण जड़ा हुआ था। साथ ही विषधर सर्पों के समान भयङ्कर बाण भी तरकस में रख लिए। फिर क्रोध में

भरे हुए सिंह तथा मद की धारा में बहने वाले मतवाले गजराज की भाँति निर्भय होकर आगे बढ़े। उस महाबली भीमसेन ने महानाद किया।।11।। महान् धनुष-बाण लेकर जाते हुए भीमसेन को उस समय सब प्राणियों ने देखा। उन वायुपुत्र कुन्तीकुमार को कभी ग्लानि, विकलता, भय अथवा घबराहट नहीं होती थी। द्रौपदी का प्रिय करने की इच्छा से अपने बाहुबल का भरोसा करके भय और मोह से रहित बलवान् भीमसेन सामने के शैल-शिखर पर चढ़ गये। वह पर्वत वृक्षों, लताओं और झाड़ियों से आच्छादित था। उसकी शिलाएँ नीले रङ्ग की थीं। वहाँ किन्नर लोग भ्रमण करते थे। शत्रु संहारी भीमसेन उस सुन्दर पर्वत पर विचरने लगे। बहुरङ्गे धातुओं, वृक्षों, मृगों और पक्षियों से उसकी विचित्र शोभा हो रही थी।।12-15।। वह देखने में ऐसा जान पड़ता था, मानो पृथिवी के समस्त आभूषणों से विभूषित ऊँचे उठी हुई भुजा हो। गन्धमादन के शिखर सब ओर से रमणीय थे। वहाँ कोयल पक्षियों की शब्द ध्वनि हो रही थी और झुण्ड के झुण्ड भौंरे मण्डरा रहे थे। भीमसेन उन्हीं में आँखें गड़ाये मन-ही-मन अभिलषित कार्य का चिन्तन करते जाते थे। अमित पराक्रमी भीम के कान, नेत्र और मन उन्हीं शिखरों में अटके रहे अर्थात् उनके कान वहाँ के विचित्र शब्दों को सुनने में लग गये; आँखें वहाँ के अद्भुत दृश्यों को निहारने लगीं और मन वहाँ की अलौकिक विशेषता के विषय में सोचने लगा और वे अपने गन्तव्य स्थान की ओर अग्रसर होते चले गये। वे महातेजस्वी कुन्तीकुमार सभी ऋतुओं के फूलों के उत्कट सुगन्ध का आस्वादन करते हुए वन में उद्दाम गति से विचरने वाले मदोन्मत्त गजराज की भाँति चले जा रहे थे। नाना प्रकार के कुसुमों से सुवासित गन्धमादन की परम पवित्र वायु उन्हें पङ्खा झल रही थी। जैसे पिता को पुत्र का स्पर्श शीतल एवं सुखद जान पड़ता है, वैसा ही सुख भीमसेन को उस पर्वतीय वायु के स्पर्श से मिल रहा था। उनके पिता पवनदेव उनकी सारी थकावट हर लेते थे। उस समय हर्षातिरेक से भीम के शरीर में रोमाञ्च हो रहा था।।16-20।।

स यक्षगन्धर्वसुरब्रह्मर्षिगणसेवितम्।
विलोकयामास तदा पुष्पहेतोररिन्दमः॥21।।
विषमञ्छदैरचितैरनुलिप्त इवाङ्गुलैः।
वलिभिर्धातुविच्छेदैः काञ्चनाञ्जनराजतैः।
सपक्षमिव नृत्यन्तं पार्श्वलग्नैः पयोधरैः॥22।।
मुक्ताहारैरिव चितं च्युतैः प्रस्रवणोदकैः।
अभिरामदरीकुञ्जनिर्झरोदककन्दरम्॥23।।
अप्सरोनूपुरवैः प्रनृत्तवरबर्हिणम्।
दिग्वारणविषाणाग्रैर्घृष्टोपलशिलातलम्॥24।।
स्रस्तांशुकमिवाक्षोभ्यैर्निम्नगानिःसृतैर्जलैः।
सशष्पकवलैः स्वस्थैरदूरपरिवर्तिभिः॥25।।
भयानभिज्ञैर्हरिणैः कौतूहलनिरीक्षितः।
चालयन्नुरुवेगेन लताजालान्यनेकशः॥26।।

आक्रीडमानो हृष्टात्मा श्रीमान् वायुसुतो ययौ।
प्रियामनोरथं कर्तुमुद्यतश्चारुलोचनः॥27।।
प्रांशुः कनकवर्णाभः सिंहसंहननो युवा।
मत्तवारणविक्रान्तो मत्तवारणवेगवान्॥28।।

शत्रुदमन भीमसेन ने उस समय (पूर्वोक्त पुष्प की प्राप्ति के लिए एक बार) यक्ष, गन्धर्व, देवता और ब्रह्मर्षियों से सेवित उस विशाल पर्वत पर (सब ओर) दृष्टिपात किया।।21।। उस समय अनेक धातुओं से रङ्गे हुए सप्तपर्ण (छितवन) के पत्तों द्वारा उनके ललाट में विभिन्न धातुओं के काले, पीले और सफेद रङ्ग लग गये थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था, मानो अङ्गुलियों द्वारा त्रिपुण्ड चन्दन लगाया गया हो। उस पर्वत शिखर के उभय पार्श्व में लगे हुए मेघों से उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो वह पुनः पङ्खधारी होकर नृत्य कर रहा है।।22।। निरन्तर झरने वाले झरनों के जल उस पहाड़ के कण्ठ देश में अवलम्बित मोतियों के हार से प्रतीत हो रहे थे। उस पर्वत की गुफा, गुञ्ज, निर्झर, सलिल और कन्दराएँ सभी मनोहर थे।।23।। वहाँ अप्सराओं के नूपुरों की मधुर ध्वनि के साथ सुन्दर मोर नाच रहे थे। उस पर्वत के एक-एक रत्न और शिला खण्ड पर दिग्गजों के दाँतों की रगड़ का चिह्न अङ्कित था।।24।। निम्नगामिनी नदियों से निकला हुआ क्षोभ रहित जल नीचे की ओर इस प्रकार बह रहा था, मानो उस पर्वत का वस्त्र खिसक कर गिरा जाता हो। भय से अपरिचित और स्वस्थ हरिण मुँह में हरे घास का कौर लिए पास ही खड़े होकर भीमसेन की ओर कौतूहल भरी दृष्टि से देख रहे थे। उस समय मनोहर नेत्रों वाले शोभाशाली वायुपुत्र भीम अपने महान् वेग से अनेक लता समूहों को विचलित करते हुए हर्ष पूर्ण हृदय से खेल सा करते जा रहे थे। वे अपनी प्रिया द्रौपदी का प्रिय मनोरथ पूर्ण करने को सर्वथा उद्यत थे।।25-27।। उनकी कद बहुत ऊँची थी। शरीर का रङ्ग स्वर्ण सा दमक रहा था। उनके सम्पूर्ण अङ्ग सिंह के समान सुदृढ़ थे। उन्होंने युवावस्था में पदार्पण किया था। वे मतवाले हाथी के समान मस्तानी चाल से चलते थे। उनका वेग मदोन्मत्त गजराज के समान था।।28।।

मत्तवारणताम्राक्षो मत्तवारणवारणः।
प्रियपार्श्वोपविष्टाभिर्व्यावृत्ताभिर्विचेष्टतैः॥29।।
यक्षगन्धर्वयोषाभिरदृश्याभिर्निरीक्षितः।
नवावतारो रूपस्य विक्रीडन्निव पाण्डवः॥30।।
चचार रमणीयेषु गन्धमादनसानुषु।
संस्मरन् विविधान् क्लेशान् दुर्योधनकृतान् बहून्॥31।।
द्रौपद्या वनवासिन्याः प्रियं कर्तुं समुद्यतः।
सोऽचिन्तयद् गते स्वर्गमर्जुने मयि चागते॥32।।
पुष्पहेतोः कथं त्वार्यः करिष्यति युधिष्ठिरः।
स्नेहान्नरवरो नूनमविश्वासाद् बलस्य च॥33।।
नकुलं सहदेवं च न मोक्ष्यति युधिष्ठिरः।

कथं तु कुसुमावाप्तिः स्याच्छीघ्रमिति चिन्तयन्॥34।।
प्रतस्थे नरशार्दूलः पक्षिराडिव वेगितः।
सज्जमानमनोदृष्टिः फुल्लेषु गिरिसानुषु॥35।।
द्रौपदीवाक्यपाथेयो भीमः शीघ्रतरं ययौ।
कम्पयन् मेदिनीं पद्भ्यां निर्घात इव पर्वसु॥36।।
त्रासयन् गजयूथानि वातरंहा वृकोदरः।
सिंहव्याघ्रमृगांश्चैव मर्दयानो महाबलः॥37।।
उन्मूलयन् महावृक्षान् पोथयंस्तरसा बली।
लतावल्लीश्च वेगेन विकर्षन् पाण्डुनन्दनः।
उपर्युपरि शैलाग्रमारुरुक्षुरिव द्विपः॥38।।
विनर्दमानोऽतिभृशं सविद्युदिव तोयदः।
तेन शब्देन महता भीमस्य प्रतिबोधिताः॥39।।
गुहां सन्तत्यजुर्व्याघ्रा निलिल्युर्वनवासिनः।
समुत्पेतुः खगास्त्रस्ता मृगयूथानि दुद्रुवुः॥40।।

मतवाले हाथी के समान ही उनकी लाल-लाल आँखें थीं। वे समरभूमि में मदोन्मत्त हाथियों को भी पीछे हटाने में समर्थ थे। अपने प्रियतम के पार्श्वभाग में बैठी हुई यक्ष और गन्धर्वों की युवतियाँ सब प्रकार की चेष्टाओं से निवृत्त हो स्वयं अलक्षित रहकर भीमसेन की ओर देख रही थीं। वे उन्हें सौन्दर्य के नूतन अवतार से प्रतीत होते थे। इस प्रकार पाण्डुनन्दन भीम गन्धमादन के रमणीय शिखरों पर खेल सा करते हुए विचरने लगे। वे दुर्योधन द्वारा दिए गए नाना प्रकार के असंख्य क्लेशों का स्मरण करते हुए वनवासिनी द्रौपदी का प्रिय करने के लिए उद्यत हुए थे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—'अर्जुन स्वर्गलोक में चले गये हैं और मैं फूल लेने के लिए इधर चला आया हूँ। ऐसी दशा में आर्य युधिष्ठिर कोई कार्य कैसे करेंगे? नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर नकुल और सहदेव पर अत्यन्त स्नेह रखते हैं। उन दोनों के बल पर उन्हें विश्वास नहीं है। अत: वे निश्चय ही उन्हें नहीं छोड़ेंगे, अर्थात् कहीं नहीं भेजेंगे। अब कैसे मुझे शीघ्र वह फूल प्राप्त हो जाए'—यह चिन्ता करते हुए नरश्रेष्ठ भीम पक्षिराज गरुड़ के समान वेग से आगे बढ़े। उनके मन और नेत्र फूलों से भरे हुए पर्वतीय शिखरों पर लगे हुए थे।।29- 35।। द्रौपदी का अनुरोध पूर्ण वचन ही उनका पाथेय (मार्ग का कलेवा) था, वे उसी को लेकर शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे। वायु के समान वेगशाली वृकोदर पर्वकाल में होने वाले उत्पात (भूकम्प और बिजली गिरने) के समान अपने पैरों की धमक से पृथ्वी को कम्पित और हाथियों के समूहों को आतङ्कित करते हुए चलने लगे। वे महाबली कुन्तीकुमार सिंहों, व्याघ्रों और मृगों को कुचलते तथा अपने वेग से बड़े-बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ते हुए और विनाश करते हुए आगे बढ़ने लगे। पाण्डुनन्दन भीम अपने वेग से लताओं और वल्लरियों को खींचे लिये जाते थे। वे ऊपर ऊपर जाते हुए ऐसे प्रतीत होते थे, मानो कोई गजराज पर्वत की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़ना चाहता हो।।36- 38।। वे बिजलियों से सुशोभित मेघ की भाँति बड़े जोर से गर्जना करने लगे। भीमसेन की उस भयङ्कर गर्जना से जगे हुए व्याघ्र अपनी गुफा छोड़कर भाग

गये, वनवासी प्राणी वन में ही छिप गये, डरे हुए पक्षी आकाश में उड़ गये और मृगों के झुण्ड दूर तक भागते चले गये।।39-40।।

ऋक्षाश्चोत्ससृजुर्वृक्षांस्तत्यजुर्हरयो गुहाम्।
व्यजृम्भन्त महासिंहा महिषाश्चावलोकयन्॥41।।
तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः।
तद् वनं स परित्यज्य जग्मुरन्यन्महावनम्॥42।।
वराहमृगसङ्घाश्च महिषाश्च वनेचराः।
व्याघ्रगोमायुसङ्घश्च प्रणेदुर्गवयैः सह॥43।।
रथाङ्गसाह्वदात्यूहा हंसकारण्डप्लवाः।
शुकाः पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसञ्ज्ञा भेजिरे दिशः॥44।।
तथान्ये दर्पिता नागाः करेणुशरपीडिताः।
सिंहव्याघ्राश्च सङ्क्रुद्धा भीमसेनमथाद्रवन्॥45।।
शकृन्मूत्रं च मुञ्चाना भयविभ्रान्तमानसाः।
व्यादितास्या महारौद्रा व्यनदन् भीषणान् रवान्॥46।।

रीछों ने वृक्षों का आश्रय छोड़ दिया, सिंहों ने गुफाएँ त्याग दीं, बड़े-बड़े सिंह जँभाई लेने लगे और जङ्गली भैंसे दूर से ही उनकी ओर देखने लगे।।41।। भीमसेन की उस गर्जना से डरे हुए हाथी उस वन को छोड़कर हथिनियों से घिरे हुए दूसरे विशाल वन में चले गये।।42।। सूअर, मृग समूह, जङ्गली भैंसे, बाघों तथा गीदड़ों के समुदाय और गवय—ये सब-के-सब एक साथ चीत्कार करने लगे। चक्रवाक, चातक, हंस, कारण्डव, प्लव, शुक, कोकिल और क्रौञ्च आदि पक्षियों ने अचेत होकर भिन्न-भिन्न दिशाओं की शरण ली।।43-44।। तथा हथिनियों के कटाक्ष बाण से पीड़ित हुए दूसरे बलोन्मत्त गजराज, सिंह और व्याघ्र क्रोध में भरकर भीमसेन पर टूट पड़े। वे मल-मूत्र छोड़ते हुए मन-ही-मन भय से घबरा रहे थे और मुँह बाये हुए अत्यन्त भयानक रूप से भैरव गर्जना कर रहे थे।।45-46।।

ततो वायुसुतः क्रोधात् त्स्वबाहुबलमाश्रितः।
गजेनान्यान्गजाञ्छ्रीमान् सिंहं सिंहेन वा विभुः॥47।।
तलप्रहारैरन्यांश्च व्यहनत् पाण्डवो बली।
ते वध्यमाना भीमेन सिंहव्याघ्रतरक्षवः॥48।।
भयाद् विससृजुर्भीमं शकृन्मूत्रं च सुस्रुवुः।
प्रविवेश ततः क्षिप्रं तानपास्य महाबलः॥49।।
वनं पाण्डुसुतः श्रीमाञ्छब्देनापूरयन् दिशः।
अथापश्यन्महाबाहुर्गन्धमादनसानुषु॥50।।
सुरम्यं कदलीषण्ड बहुयोजनविस्तृतम्।
तमभ्यगच्छद् वेगेन क्षोभयिष्यन् महाबलः॥51।।
महागज इवास्रावी प्रभञ्जन् विविधान् द्रुमान्।

उत्पाट्य कदलीस्तम्भान् बहुतालसमुच्छ्रयान्॥52॥
चिक्षेप तरसा भीमः समन्ताद् बलिनां वरः।
विनदन् सुमहातेजा नृसिंह इव दर्पितः॥53॥
ततः सत्त्वान्युपाक्रामद् बहूनि सुमहान्ति च।
रुरुवानरसिंहांश्च महिषांश्च जलाशयान्॥54॥
तेन शब्देन चैवाथ भीमसेनरवेण च।
वनान्तरगताश्चापि वित्रेसुर्मृगपक्षिणः॥55॥

तब अपने बाहुबल का भरोसा रखने वाले श्रीमान् वायुपुत्र भीम ने कुपित हो एक हाथी से दूसरे हाथियों को और एक सिंह से दूसरे सिंहों को मार भगाया तथा उन महाबली पाण्डुकुमार ने कितनों को तमाचों के प्रहार से मार डाला। भीमसेन की मार खाकर सिंह, व्याघ्र और चीते (बघेरे) भय से उन्हें छोड़कर भाग चले तथा घबराकर मल-मूत्र करने लगे। तदनन्तर महान् शक्तिशाली पाण्डुनन्दन भीमसेन ने शीघ्र उन सबको छोड़कर अपनी गर्जना से सम्पूर्ण दिशाओं को गुंजाते हुए एक वन में प्रवेश किया। इसी समय गन्धमादन के शिखरों पर महाबाहु भीम ने एक परम सुन्दर केले का बगीचा देखा, जो कई योजन दूर तक फैला हुआ था। मद की धारा बहाने वाले महाबली गजराज की भाँति उस कदलीवन में हल चल मचाते और भाँति-भाँति के वृक्षों को तोड़ते हुए वे बड़े वेग से वहाँ गये। वहाँ के केले के वृक्ष खम्भों के समान मोटे थे। उनकी ऊँचाई कई ताड़ों के बराबर थी। बलवानों में श्रेष्ठ भीम ने बड़े वेग से उन्हें उखाड़ उखाड़ कर सब ओर फेंकना आरम्भ किया। वे महान् तेजस्वी तो थे ही, अपने बल और पराक्रम पर गर्व भी रखते थे; अत: भगवान् नृसिंह की भाँति विकट गर्जना करने लगे। तत्पश्चात् और भी बहुत-से बड़े-बड़े जन्तुओं पर आक्रमण किया। रुरु, वानर, सिंह, भैंसे तथा जल-जन्तुओं पर भी धावा किया। उन पशु-पक्षियों एवं भीमसेन के उस भयङ्कर शब्द से दूसरे वन में रहने वाले मृग और पक्षी भी थर्रा उठे॥47-55॥

तं शब्दं सहसा श्रुत्वा मृगपक्षिसमीरितम्।
जलार्द्रपक्षा विहगाः समुत्पेतुः सहस्रशः॥56॥
तानौदकान् पक्षिगणान् निरीक्ष्य भरतर्षभः।
तानेवानुसरन् रम्यं ददर्श सुमहत् सरः॥57॥
काश्चनैः कदलीषण्डैर्मन्दमारुतकम्पितैः।
वीज्यमानमिवाक्षोभ्यं तीरात् तीरविसर्पिभिः॥58॥
तत् सरोऽथावतीर्याशु प्रभूतनलिनोत्पलम्।
महागज इवोद्दामश्चिक्रीड बलवद् बली॥59॥
विक्रीड्य तस्मिन् सुचिरमुत्ततारामितद्युतिः।
ततोऽध्यगन्तुं वेगेन तद्वनं बहुपादपम्॥60॥

मृगों और पक्षियों के उस भय सूचक शब्द को सहसा सुनकर सहस्रों पक्षी आकाश में उड़ने लगे। उन सबकी पाँखें जल से भीगी हुई थीं॥56॥ भरतश्रेष्ठ भीम ने

यह देखकर कि ये तो जल के पक्षी हैं, उन्हीं के पीछे चलने लगे और आगे जाने पर एक अत्यन्त रमणीय विशाल सरोवर देखा।।57।। उस सरोवर के एक तीर से लेकर दूसरे तीर तक फैले हुए सुवर्णमय केले के वृक्ष मन्द वायु से विकम्पित होकर मानो उस आगाध जलाशय को पङ्खा झल रहे थे।।।58।। उसमें प्रचुर कमल और उत्पल खिले हुए थे। बन्धन रहित महान् गज के समान बलवानों में श्रेष्ठ भीमसेन सहसा उस सरोवर में उतर कर जलक्रीड़ा करने लगे।।59।। दीर्घ काल तक उस सरोवर में क्रीड़ा करने के पश्चात् अमित तेजस्वी भीम जल से बाहर निकले और असंख्य वृक्षों से सुशोभित उस कदली वन में वेगपूर्वक जाने को उद्यत हुए।।60।।

दध्मौ च शङ्खं स्वनवत् सर्वप्राणेन पाण्डवः।
आस्फोटयच्च बलवान् भीमः संनादयन् दिशः।।61।।
तस्य शङ्खस्य शब्देन भीमसेनरवेण च।
बाहुशब्देन चोग्रेण नदन्तीव गिरेर्गुहाः।।62।।
तं वज्रनिष्पेषसममास्फोटितमहारवम्।
श्रुत्वा शैलगुहासुप्तैः सिंहैर्मुक्तो महास्वनः।।63।।
सिंहनादभयत्रस्तैः कुञ्जरैरपि भारत।
मुक्तो विरावः सुमहान् पर्वतो येन पूरितः।।64।।
तं तु नादं ततः श्रुत्वा मुक्तं वारणपुङ्गवैः।
भ्रातरं भीमसेनं तु विज्ञाय हनुमान् कपिः।।65।।
दिवंगमं रुरोधाथ मार्गं भीमस्य कारणात्।
अनेन हि पथा मा वै गच्छेदिति विचार्य सः।।66।।
आस्त एकायने मार्गे कदलीषण्डमण्डिते।
भ्रातुर्भीमस्य रक्षार्थं तं मार्गमवरुध्य वै।।67।।
मात्र प्राप्स्यति शापं वा धर्षणां वेति पाण्डवः।
कदलीषण्डमध्यस्थो ह्येवं सञ्चिन्त्य वानरः।।68।।
प्राजृम्भत महाकायो हनुमान् नाम वानरः।
कदलीषण्डमध्यस्थो निद्रावशगतस्तदा।।69।।
जृम्भमाणः सुविपुलं शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम्।
आस्फोटयच्च लाङ्गूलमिन्द्राशनिसमस्वनम्॥70।।

उस समय बलवान् पाण्डुनन्दन भीम ने अपनी सारी शक्ति लगाकर बड़े जोर से शङ्ख बजाया और सम्पूर्ण दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए ताल ठोका। उस शङ्ख की ध्वनि, भीमसेन की गर्जना और उनके ताल ठोकने के भयङ्कर शब्द से मानो पर्वतों की कन्दराएँ गूँज उठीं।।61-62।। पर्वतों पर वज्रपात होने के समान उस ताल ठोकने के भयानक शब्द को सुनकर गुफाओं में सोये हुए सिंहों ने भी जोर-जोर से दहाड़ना आरम्भ किया।।63।। भारत! उन सिंहों का दहाड़ना सुनकर भय से डरे हुए हाथी भी चीत्कार करने लगे, जिससे वह विशाल पर्वत शब्दायमान हो उठा।।64।। बड़े-बड़े

गजराजों का वह चीत्कार सुनकर कपिप्रवर हनुमान्जी, जो उस समय कदलीवन में ही रहते थे, यह समझ गये कि मेरे भाई भीमसेन इधर आये हैं।।65।। तब उन्होंने भीमसेन के हित के लिए स्वर्ग की ओर जाने वाला मार्ग रोक दिया। हनुमान्जी ने यह सोचकर कि भीमसेन इसी मार्ग से स्वर्गलोक ओर न चले जाएँ, एक मनुष्य के आने-जाने योग्य उस संकुचित मार्ग पर बैठ गये। वह मार्ग केले के वृक्षों से घिरा होने के कारण बड़ी शोभा पा रहा था। उन्होंने अपने भाई भीम की रक्षा के लिए ही यह राह रोकी थी।।66-67।। कदलीवन में आये हुए पाण्डुनन्दन भीमसेन को इस मार्ग पर आने के कारण किसी से शाप या तिरस्कार न प्राप्त हो जाए, यह विचारकर ही कपिप्रवर हनुमान्जी उस वन के भीतर स्वर्ग का रास्ता रोककर सो गये। उस समय उन्होंने अपने शरीर को बड़ा कर लिया था। निद्रा के वशीभूत होकर जब वे जँभाई लेते और इन्द्र की ध्वजा के समान ऊँचे तथा विशाल लंगूर को फटकारते, उस समय वज्र की गड़गड़ाहट के समान आवाज होती थी।।68-70।।

तस्य लाङ्गूलनिनदं पर्वतः सुगुहामुखैः।
उद्गारमिव गौर्नर्दन्नुत्ससर्ज समन्ततः॥71।।
लाङ्गूलास्फोटशब्दाच्च चलितः स महागिरिः।
विघूर्णमानशिखरः समन्तात् पर्यशीर्यत॥72।।
स लाङ्गूलरवस्तस्य मत्तवारणनिःस्वनम्।
अन्तर्धाय विचित्रेषु चचार गिरिसानुषु॥73।।
स भीमसेनस्तच्छ्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
शब्दप्रभवमन्विच्छंश्चचार कदलीवनम्॥74।।
कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले।
ददर्श सुमहाबाहुर्वानराधिपतिं तदा॥75।।
विद्युत्सम्पातदुष्प्रेक्षं विद्युत्सम्पातपिङ्गलम्।
विद्युत्सम्पातनिनदं विद्युत्सम्पातचञ्चलम्॥76।।
बाहुस्वस्तिकविन्यस्तपीनह्रस्वशिरोधरम्।
स्कन्धभूयिष्ठकायत्वात् तनुमध्यकटीतटम्॥77।।
किञ्चिच्चाभुग्नशीर्षेण दीर्घरोमाञ्चितेन च।
लाङ्गूलेनोर्ध्वगतिना ध्वजेनेव विराजितम्॥78।।
ह्रस्वौष्ठं ताम्रजिह्वास्यं रक्तकर्णं चलद्भ्रुवम्।
विवृत्तदंष्ट्रादशनं शुक्लतीक्ष्णाग्रशोभितम्॥79।।
अपश्यद् वदनं तस्य रश्मिवन्तमिवोडुपम्।
वदनाभ्यन्तरगतैः शुक्लैर्दन्तैरलङ्कृतम्॥80।।

वह पर्वत उनकी पूँछ की फटकार के उस महान् शब्द को सुन्दर कन्दरा रूपी मुखों द्वारा सब ओर प्रतिध्वनि के रूप में दुहराता था, मानो कोई साँड जोर-जोर से गर्जना कर रहा हो।।71।। पूँछ के फटकारने की आवाज से वह महान् पर्वत हिल उठा। उसके

शिखर झूमते से जान पड़े और वह सब ओर से टूट-फूटकर बिखरने लगा। वह शब्द मतवाले हाथी के चिंघाड़ने की आवाज को भी दबाकर विचित्र पर्वत-शिखरों पर चारों ओर फैल गया।।72-73।। उसे सुनकर भीमसेन के रोंगटे खड़े हो गये और उसके कारण को ढूँढ़ने के लिए वे उस केले के बगीचे में घूमने लगे।।74।। उस समय विशाल भुजाओं वाले भीमसेन ने कदली वन के भीतर ही एक मोटे शिलाखण्ड पर लेटे हुए वानरराज हनुमान्‌जी को देखा।।75।। विद्युत्पात के समान चकाचौंध पैदा करने के कारण उनकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो रहा था। उनकी अङ्गकान्ति गिरती हुई बिजली के समान पिङ्गल वर्ण की थी। उनका गर्जन-तर्जन वज्रपात की गड़गड़ाहट के समान था। वे विद्युत्पात के सदृश चञ्चल प्रतीत होते थे।।76।। उनके कन्धे चौड़े और पुष्ट थे। अतः उन्होंने बाँह के मूल भाग को तकिया बनाकर उसीपर अपनी मोटी और छोटी ग्रीवा को रख छोड़ा था और उनके शरीर का मध्य भाग एवं कटिप्रदेश पतला था। उनकी लंबी पूँछ का अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ था। उसकी रोमावलि घनी थी तथा वह पूँछ ऊपर की ओर उठकर फहराती हुई ध्वजा सी सुशोभित होती थी।।77-78।। उनके ओठ छोटे थे। जीभ और मुख का रङ्ग तांबे के समान था। कान भी लाल रङ्ग के ही थे और भौंहें चञ्चल हो रही थीं। उनके खुले हुए मुख में श्वेत चमकते हुए दाँत और दाढ़ें अपने सफेद और तीखे अग्रभाग के द्वारा अत्यन्त शोभा पा रही थीं। इन सबके कारण उनका मुख किरणों से प्रकाशित चन्द्रमा के समान दिखायी देता था। मुख के भीतर की श्वेत दन्तावलि उसकी शोभा बढ़ाने के लिए आभूषण का काम दे रही थी।।79-80।।

केसरोत्करसम्मिश्रमशोकानामिवोत्करम्।
हिरण्मयीनां मध्यस्थं कदलीनां महाद्युतिम्॥81।।
दीप्यमानेन वपुषा स्वर्चिष्मन्तमिवानलम्।
निरीक्षन्तममित्रघ्नं लोचनैर्मधुपिङ्गलैः॥82।।
तं वानरवरं धीमानतिकायं महाबलम्।
स्वर्गपन्थानमावृत्य हिमवन्तमिव स्थितम्॥83।।
दृष्ट्वा चैनं महाबाहुरेकं तस्मिन् महावने।
अथोपसृत्य तरसा विभीर्भीमस्ततो बली॥84।।
सिंहनादं चकारोग्रं वज्राशनिसमं बली।
तेन शब्देन भीमस्य वित्रेसुर्मृगपक्षिणः॥85।।
हनूमांश्च महासत्त्व ईषदुन्मील्य लोचने।
दृष्ट्वा तमथ सावज्ञं लोचनैमधुपिङ्गलैः।
स्मितेन चैनमासाद्य हनूमानिदमब्रवीत्॥86।।

सुवर्णमय कदली वृक्षों के बीच विराजमान महातेजस्वी हनुमान्‌जी ऐसे जान पड़ते थे, मानो केसरों की क्यारी में अशोक पुष्पों का गुच्छ रख दिया गया हो।।81।। वे शत्रुसूदन वानरवीर अपने कान्तिमान् शरीर से प्रज्वलित अग्नि के समान जान पड़ते थे और अपनी मधु के समान पीली आँखों से इधर-उधर देख रहे थे।।82।। परम बुद्धिमान्

बलवान् महाबाहु भीमसेन उस महान् वन में विशालकाय महाबली वानरराज हनुमान्जी को अकेले ही स्वर्ग का मार्ग रोककर हिमालय के समान स्थित देख निर्भय होकर वेगपूर्वक उनके पास गये और वज्र गर्जना के समान भयङ्कर सिंहनाद करने लगे। भीमसेन के उस सिंहनाद से वहाँ के मृग और पक्षी थर्रा उठे।।83-85।। तब महान् धैर्यशाली हनुमान्जी ने आँखें कुछ खोलकर अपने मधुपिङ्गल नेत्रों द्वारा अवहेलनापूर्वक उनकी ओर देखा और उन्हें निकट पाकर उनसे मुसकराते हुए इस प्रकार कहा—।।86।।

हनूमानुवाच

किमर्थं सरुजस्तेऽहं सुखसुप्तः प्रबोधितः।
ननु नाम त्वया कार्या दया भूतेषु जानता॥87।।
वयं धर्मं न जानीमस्तिर्यग्योनिमुपाश्रिताः।
नरास्तु बुद्धिसम्पन्ना दयां कुर्वन्ति जन्तुषु॥88।।
क्रूरेषु कर्मसु कथं देहवाक्चित्तदूषिषु।
धर्मघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः॥89।।
न त्वं धर्मं विजानासि बुधा नोपासितास्त्वया।
अल्पबुद्धितया बाल्यादुत्सादयसि यन्मृगान्॥90।।
ब्रूहि कस्त्वं किमर्थं वा किमिदं वनमागतः।
वर्जितं मानुषैर्भावैस्तथैव पुरुषैरपि॥91।।
क्व च त्वयाद्य गन्तव्यं प्रब्रूहि पुरुषर्षभ।
अतः परमगम्योऽयं पर्वतः सुदुरारुहः॥92।।
विना सिद्धगतिं वीर गतिरत्र न विद्यते।
देवलोकस्य मार्गोऽयमगम्यो मानुषैः सदा॥93।।
कारुण्यात् त्वामहं वीर वारयामि निबोध मे।
नातः परं त्वया शक्यं गन्तुमाश्वसिहि प्रभो॥94।।
स्वागतं सर्वथैवेह तवाद्य मनुजर्षभ।
इमान्यमृतकल्पानि मूलानि च फलानि च॥95।।
भक्षयित्वा निवर्तस्व मा वृथा प्राप्स्यसे वधम्।
ग्राह्यं यदि वचो मह्यं हितं मनुजपुङ्गव॥96।।

हनुमान्जी बोले—भाई! मैं तो रोगी हूँ और यहाँ सुख से सो रहा था। तुमने क्यों मुझे जगा दिया? तुम समझदार हो। तुम्हें सब प्राणियों पर दया करनी चाहिए।।87।। हम लोग तो पशु-योनि के प्राणी हैं, अत: धर्म की बात नहीं जानते; परन्तु मनुष्य बुद्धिमान् होते हैं, अत: वे सब जीवों पर दया करते हैं।।88।। किन्तु पता नहीं, तुम्हारे जैसे बुद्धिमान् लोग धर्म का नाश करने वाले तथा मन, वाणी और शरीर को भी दूषित कर देने वाले क्रूर कर्मों में कैसे प्रवृत्त होते हैं?।।89।। तुम्हें धर्म का बिल्कुल ज्ञान नहीं है। मालूम होता है, तुमने विद्वानों की सेवा नहीं की है। मन्द बुद्धि होने के कारण अज्ञानवश तुम यहाँ के मृगों को कष्ट पहुँचाते हो।।90।। बोलो तो, तुम कौन हो? इस वन में तुम

क्यों और किसलिए आये हो? यहाँ तो न कोई मानवीय भाव हैं और न मनुष्यों का ही प्रवेश है।।91।। पुरुषश्रेष्ठ! ठीक-ठीक बतलाओ, तुम्हें आज इधर कहाँ तक जाना है? यहाँ से आगे तो यह पर्वत अगम्य है। इस पर चढ़ना किसी के लिए भी अत्यन्त कठिन है।।92।। वीर! सिद्ध पुरुषों के सिवा और किसी की यहाँ गति नहीं है। यह देवलोक का मार्ग है, जो मनुष्य के लिए सदा अगम्य है।।93।। वीरवर! मैं दयावश ही तुम्हें आगे जाने से रोकता हूँ। मेरी बात सुनो। प्रभो! यहाँ से आगे तुम किसी प्रकार जा नहीं सकते। इस पर विश्वास करो।।94।। मानवशिरोमणे! आज यहाँ सब प्रकार से तुम्हारा स्वागत है। ये अमृत के समान मीठे फल-मूल खाकर यहीं से लौट जाओ, अन्यथा व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण सङ्कट में पड़ जाएँगे। नरपुङ्गव! यदि मेरा कथन हितकर जान पड़े,तो इसे अवश्य मानो।।95-96।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां भीमकदलीषण्डप्रवेशे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ 146 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्ग तीर्थ यात्रा पर्व में लोमशतीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में भीमसेन का कदलीवन में प्रवेश विषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।146।।

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीहनुमान् और भीमसेन का संवाद

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य वानरेन्द्रस्य धीमतः।
भीमसेनस्तदा वीरः प्रोवाचामित्रकर्षणः॥1।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय परम बुद्धिमान् वानरराज हनुमान्जी का यह वचन सुनकर शत्रुदलन वीरवर भीमसेन ने इस प्रकार।।1।।

भीम उवाच

को भवान् किं निमित्तं वा वानरं वपुरास्थितः।
ब्राह्मणानन्तरो वर्णः क्षत्रियस्त्वां तु पृच्छति॥2।।
कौरवः सोमवंशीयः कुन्त्या गर्भेण धारितः।
पाण्डवो वायुतनयो भीमसेन इति श्रुतः॥3।।
स वाक्यं कुरुवीरस्य स्मितेन प्रतिगृह्य तत्।
हनूमान् वायुतनयो वायुपुत्रमभाषत॥4।।

भीमसेन ने पूछा—आप कौन हैं? और किसलिए वानर का रूप धारण कर रखा है? मैं ब्राह्मण के बाद का वर्ण—क्षत्रिय हूँ और मैं आपसे आपका परिचय पूछता हूँ।।2।। मेरा परिचय इस प्रकार है—मैं चन्द्रवंशी क्षत्रिय हूँ। मेरा जन्म कुरुकुल में हुआ है। माता कुन्ती ने मुझे गर्भ में धारण किया था। मैं वायुपुत्र पाण्डव हूँ। मेरा नाम भीमसेन

है।।3।। कुरुवीर भीमसेन का वह वचन मन्द मुसकान के साथ सुनकर वायुपुत्र हनुमान्‌जी ने वायु के ही पुत्र भीमसेन से इस प्रकार कहा।।4।।

हनूमानुवाच

वानरोऽहं न ते मार्गं प्रदास्यामि यथेप्सितम्।
साधु गच्छ निवर्तस्व मात्वं प्राप्स्यसि वैशसम्॥5।।

हनुमान्‌जी बोले—भैया! मैं वानर हूँ। तुम्हें तुम्हारी इच्छा के अनुसार मार्ग नहीं दूँगा। अच्छा तो यह होगा कि तुम यहीं से लौट जाओ, नहीं तो तुम्हारे प्राण सङ्कट में पड़ जाएँगे।।5।।

भीमसेन उवाच

वैशसं वास्तु यद्वान्यन्न त्वां पृच्छामि वानर।
प्रयच्छ मार्गमुत्तिष्ठ मा मत्तः प्राप्स्यसे व्यथाम्॥6।।

भीमसेन ने कहा—वानर! मेरे प्राण सङ्कट में पड़ें या और कोई दुष्परिणाम भोगना पड़े, इसके विषय में तुमसे कुछ नहीं पूछता हूँ। उठो और मुझे आगे जाने के लिए रास्ता दो। ऐसा होने पर तुमको मेरे हाथों से किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा।।6।।

हनूमानुवाच

नास्ति शक्तिर्ममोत्थातुं व्याधिना क्लेशितो ह्यहम्।
यद्यवश्यं प्रयातव्यं लङ्घयित्वा प्रयाहि माम्॥7।।

हनुमान्‌जी बोले—भाई! मैं रोग से कष्ट पा रहा हूँ। मुझमें उठने की शक्ति नहीं है। यदि तुम्हें जाना अवश्य है, तो मुझे लाङ्घ कर चले जाओ।।।7।।

भीम उवाच

निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्यावतिष्ठते।
तमहं ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लङ्घये॥8।।
यद्यागमैर्न विद्यां च तमहं भूतभावनम्।
क्रमेयं त्वां गिरिं चैव हनूमानिव सागरम्॥9।।

भीमसेन ने कहा—निर्गुण परमात्मा समस्त प्राणियों के शरीर में व्याप्त होकर स्थित हैं। वे ज्ञान से ही जानने में आते हैं। मैं उनका अपमान या उल्लङ्घन नहीं करूँगा।।।8।। यदि शास्त्रों के द्वारा मुझे उन भूतभावन भगवान् के स्वरूप का ज्ञान न होता, तो मैं तुम्हीं को क्या इस पर्वत को भी उसी प्रकार लाङ्घ जाता, जैसे हनुमान्‌जी समुद्र को लाङ्घ गये थे।।9।।

हनूमानुवाच

क एष हनुमान्नाम सागरो येन लङ्घितः।
पृच्छामि त्वां नरश्रेष्ठ कथ्यतां यदि शक्यते॥10।।

हनुमान्‌जी बोले—नरश्रेष्ठ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, वह हनुमान् कौन था? जो समुद्र को लाङ्घ गया था। उसके विषय में यदि तुम कुछ कह सको तो कहो।।10।।

भीम उवाच

भ्राता मम गुणश्लाघ्यो बुद्धिसत्त्वबलान्वितः।
रामायणेऽतिविख्यातः श्रीमान् वानरपुङ्गवः॥11।।
रामपत्नीकृते येन शतयोजनविस्तृतः।
सागरः प्लवगेन्द्रेण क्रमेणैकेन लङ्घितः॥12।।
स मे भ्राता महावीर्यस्तुल्योऽहं तस्य तेजसा।
बले पराक्रमे युद्धे शक्तोऽहं तव निग्रहे॥13।।
इमं देशमनुप्राप्तः कारणेनास्मि केनचित्।
उत्तिष्ठ देहि मे मार्गं पश्य मे चाद्य पौरुषम्।
मच्छासनमकुर्वाणं त्वां वा नेष्ये यमक्षयम्॥14।।

भीमसेन ने कहा—वानरप्रवर श्रीहनुमान्‌जी मेरे बड़े भाई हैं। वे अपने सद्‌गुणों के कारण सबके लिए प्रशंसनीय हैं। वे बुद्धि, बल, धैर्य एवं उत्साह से युक्त हैं। रामायण में उनकी बड़ी ख्याति है।।11।। वे वानर श्रेष्ठ हनुमान् श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी सीताजी की खोज करने के लिए सौ योजन विस्तृत समुद्र को एक ही छलांग में लाङ्घ गये थे।।12।। वे महापराक्रमी वानरवीर मेरे भाई लगते हैं। मैं भी उन्हीं के समान तेजस्वी, बलवान् और पराक्रमी हूँ तथा युद्ध में तुम्हें परास्त कर सकता हूँ।।13।। उठो और मुझे रास्ता दो तथा आज मेरा पराक्रम अपनी आँखों देख लो। यदि मेरी आज्ञा नहीं मानोगे, तो तुम्हें यमलोक भेज दूँगा।।14।।

वैशम्पायन उवाच

विज्ञाय तं बलोन्मत्तं बाहुवीर्येण दर्पितम्।
हृदयेनावहस्यैनं हनूमान् वाक्यमब्रवीत्॥15।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेन को बल के अभिमान से उन्मत्त तथा अपनी भुजाओं के पराक्रम से घमण्ड में भरा हुआ जान हनुमान्‌जी ने मन-ही-मन उनका उपहास करते हुए उनसे इस प्रकार कहा—।।15।।

हनूमानुवाच

प्रसीद नास्ति मे शक्तिरुत्थातुं जरयानघ।
ममानुकम्पया त्वेतत्पुच्छमुत्सार्य गम्यताम्॥16।।

हनुमान्‌जी बोले—अनघ! मुझ पर कृपा करो। बुढ़ापे के कारण मुझ में उठने की शक्ति नहीं रह गयी है। इसलिए मेरे ऊपर दया करके इस पूँछ को हटा दो और निकल जाओ।।16।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते हनुमता हीनवीर्यपराक्रमम्।
मनसाचिन्तयद् भीमः स्वबाहुबलदर्पितः॥17।।

पुच्छे प्रगृह्य तरसा हीनवीर्यपराक्रमम्।
सालोक्यमन्तकस्यैनं नयाम्यद्येह वानरम्॥18॥
सावज्ञमथ वामेन स्मयञ्ग्राह पाणिना।
न चाशकच्चालयितुं भीमः पुच्छं महाकपेः॥19॥
उच्चिक्षेप पुनर्दोर्भ्यामिन्द्रायुधमिवोच्छ्रितम्।
नोद्धर्तुमशकद् भीमो दोर्भ्यामपि महाबलः॥20॥
उत्क्षिप्तभ्रूर्विवृत्ताक्षः संहतभ्रुकुटीमुखः।
स्विन्नगात्रोऽभवद्भीमो न चोद्धर्तुं शशाक तम्॥21॥
यत्नवानपि तु श्रीमाँल्लाङ्गूलोद्धर धरणोद्धुरः प्रभूर्वि।
कपेः पार्श्वगतो भीमस्तस्थौ व्रीडानताननः॥22॥
प्रणिपत्य च कौन्तेयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
प्रसीद कपिशार्दूल दुरुक्तं क्षम्यतां मम॥23॥
सिद्धो वा यदि वा देवो गन्धर्वो वाथ गुह्यकः।
पृष्टः सन् काम्यया ब्रूहि कस्त्वं वानररूपधृक्॥24॥
न चेद् गुह्यं महाबाहो श्रोतव्यं चेद् भवेन्मम।
शिष्यवत् त्वां तु पृच्छामि उपपन्नोऽस्मि तेऽनघ॥25॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्‌जी के ऐसा कहने पर अपने बाहुबल का घमण्ड रखने वाले भीम ने मन-ही-मन उन्हें बल और पराक्रम से हीन समझा॥17॥ और भीतर ही भीतर यह सङ्कल्प किया 'आज मैं इस बल और पराक्रम से शून्य वानर को वेगपूर्वक इसकी पूँछ पकड़कर यमराज के लोक में भेज देता हूँ'॥18॥ ऐसा सोचकर उन्होंने बड़ी लापरवाही दिखाते और मुसकराते हुए अपने बाएँ हाथ से उस महाकपि की पूँछ पकड़ी, किन्तु वे उसे हिला-डुला भी न सके॥19॥ तब महाबली भीमसेन ने उनकी इन्द्रधनुष के समान ऊँची पूँछ को दोनों हाथों से उठाने का पुनः प्रयत्न किया, परन्तु दोनों हाथ लगा देने पर भी वे उसे उठा न सके॥20॥ फिर तो उनकी भौंहें तन गईं, आँखें फटी सी रह गईं, मुखमण्डल में भ्रुकुटी स्पष्ट दिखायी देने लगी और उनके सारे अङ्ग पसीने से तर हो गये। फिर भी भीमसेन हनुमान्‌जी की पूँछ को किञ्चित् भी हिला न सके॥21॥ यद्यपि श्रीमान् भीमसेन उस पूँछ को उठाने में सर्वथा समर्थ थे और उसके लिए उन्होंने बहुत प्रयत्न भी किया, तथापि सफल न हो सके। इससे उनका मुँह लज्जा से झुक गया और वे कुन्तीकुमार भीम हनुमान्‌जी के पास जाकर उनके चरणों में प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए खड़े होकर बोले—'कपिप्रवर! मैंने जो कठोर बातें कही हों, उन्हें क्षमा कीजिये और मुझ पर प्रसन्न होइये॥22-23॥ आप कोई सिद्ध हैं या देवता? गन्धर्व हैं या गुह्यक? मैं परिचय जानने की इच्छा से पूछ रहा हूँ। बतलाइये, इस प्रकार वानर का रूप धारण करने वाले आप कौन हैं?॥24॥ महाबाहो! यदि कोई गुप्त बात न हो और वह मेरे सुनने योग्य हो, तो बताइये। अनघ! मैं आपकी शरण में आया हूँ और शिष्य भाव से पूछता हूँ। अतः अवश्य बताने की कृपा करें'॥25॥

हनूमानुवाच

यत् ते मम परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम।
तत्सर्वमखिलेन त्वं शृणु पाण्डवनन्दन॥26॥
अहं केसरिणः क्षेत्रे वायुना जगदायुषा।
जातः कमलपत्राक्ष हनूमान् नाम वानरः॥27॥
सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम्।
सर्वे वानरराजानस्तथा वानरयूथपाः॥28॥
उपतस्थुर्महावीर्या मम चामित्रकर्षण।
सुग्रीवेणाभवत् प्रीतिरनिलस्याग्निना यथा॥29॥
निकृतः स ततो भ्रात्रा कस्मिंश्चित् कारणान्तरे।
ऋष्यमूके मया सार्धं सुग्रीवो न्यवसच्चिरम्॥30॥
अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधातलम्॥31॥
स पितुः प्रियमन्विच्छन् सहभार्यः सहानुजः।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दण्डकारण्यमाश्रितः॥32॥
तस्य भार्या जनस्थानाच्छलेनापहृता बलात्।
राक्षसेन्द्रेण बलिना रावणेन दुरात्मना॥33॥
सुवर्णरत्नचित्रेण मृगरूपेण रक्षसा।
वञ्चयित्वा नरव्याघ्रं मारीचेन तदानघ॥34॥

हनुमान्‌जी बोले—शत्रुदमन पाण्डुनन्दन! तुम्हारे मन में मेरा परिचय प्राप्त करने के लिए जो कौतूहल हो रहा है, उसकी शान्ति के लिए सब बातें विस्तारपूर्वक सुनो॥26॥ कमलनयन भीम! मैं वानरश्रेष्ठ केसरी के क्षेत्र में जगत् के प्राणस्वरूप वायुदेव से उत्पन्न हुआ हूँ। मेरा नाम हनुमान् वानर है॥27॥ पूर्वकाल में सभी वानरराज और वानर यूथपति, जो महान् पराक्रमी थे, सूर्यनन्दन सुग्रीव तथा इन्द्रकुमार बाली की सेवा में उपस्थित रहते थे। शत्रुदमन भीम! उन दिनों सुग्रीव के साथ मेरी वैसी ही प्रेमपूर्ण मित्रता थी, जैसी वायु की अग्नि के साथ मानी गई है॥28-29॥ किसी कारणान्तर से बाली ने अपने भाई सुग्रीव को घर से निकाल दिया, तब बहुत दिनों तक वे मेरे साथ ऋष्यमूक पर्वत पर रहे॥30॥ उस समय महाबली वीर दशरथनन्दन श्रीराम, जो साक्षात् भगवान् विष्णु ही थे, मनुष्य रूप धारण करके इस भूतल पर विचर रहे थे॥31॥ वे अपने पिता की आज्ञा पालन करने के लिए पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण के साथ दण्डकारण्य में चले आये। धुनर्धरों में श्रेष्ठ रघुनाथजी सदा धनुष-बाण लिए रहते थे॥32॥ अनघ! दण्कारण्य में आकर वे जनस्थान में रहा करते थे। एक दिन अत्यन्त बलवान् दुरात्मा राक्षसराज रावण माया से सुवर्ण रत्नमय विचित्र मृग का रूप

धारण करने वाले मारीच नामक राक्षस के द्वारा नरश्रेष्ठ राम को धोखे में डालकर उनकी पत्नी सीता को छल-बलपूर्वक हर ले गया।।33-34।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ 147 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा पर्व में लोमश तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में हनुमान्‌जी और भीमसेन का संवाद विषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।147।।

तृतीयोऽध्याय:

हनुमान्‌जी का भीमसेन को सङ्क्षेप में श्रीराम का चरित्र सुनाना

हनूमानुवाच

हृतदारः सह भ्रात्रा पत्नीं मार्गन् स राघवः।
दृष्टवाञ्शैलशिखरे सुग्रीवं वानरर्षभम्॥1।।
तेन तस्याभवत् सख्यं राघवस्य महात्मनः।
स हत्वा वालिनं राज्ये सुग्रीवमभिषिक्तवान्॥2।।
स राज्यं प्राप्य सुग्रीवः सीतायाः परिमार्गणे।
वानरान् प्रेषयामास शतशोऽथ सहस्रशः॥3।।
ततो वानरकोटीभिः सहितोऽहं नरर्षभ।
सीतां मार्गन् महाबाहो प्रयातो दक्षिणां दिशम्॥4।।
ततः प्रवृत्तिः सीताया गृध्रेण सुमहात्मना।
सम्पातिना समाख्याता रावणस्य निवेशने॥5।।
ततोऽहं कार्यसिद्ध्यर्थं रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
शतयोजनविस्तीर्णमर्णवं सहसाऽऽप्लुतः॥6।।
अहं स्ववीर्यादुत्तीर्य सागरं मकरालयम्।
सुतां जनकराजस्य सीतां सुरसुतोपमाम्॥7।।
दृष्ट्वान् भरतश्रेष्ठ रावणस्य निवेशने।
समेत्य तामहं देवीं वैदेहीं राघवप्रियाम्॥8।।
दग्ध्वा लङ्कामशेषेण साट्टप्राकारतोरणाम्।
प्रत्यागतश्चास्य पुनर्नाम तत्र प्रकाश्य वै॥9।।
मद्वाक्यं चावधार्याशु रामो राजीवलोचनः।
स बुद्धिपूर्वं सैन्यस्य बद्ध्वा सेतुं महोदधौ॥10।।
वृतो वानरकोटीभिः समुत्तीर्णो महार्णवम्।
ततो रामेण वीरेण हत्वा तान् सर्वराक्षसान्॥11।।
रणे तु राक्षसगणं रावणं लोकरावणम्।
निशाचरेन्द्रं हत्वा तु सभ्रातृसुतबान्धवम्॥12।।

हनुमान्‌जी कहते हैं—भीमसेन! इस प्रकार स्त्री का अपहरण हो जाने पर अपने भाई के साथ उसकी खोज करते हुए श्रीरघुनाथजी जनस्थान से आगे बढ़े। उन्होंने ऋष्यमूक पर्वत के शिखर पर रहने वाले वानरराज सुग्रीव से भेंट की।।1।। वहाँ सुग्रीव के साथ महात्मा श्रीरघुनाथजी की मित्रता हो गयी। तब उन्होंने बाली को मारकर किष्किन्धा के राज्य पर सुग्रीव का अभिषेक कर दिया।।2।। राज्य पाकर सुग्रीव ने सीताजी की खोज के लिए सौ-सौ तथा हजार हजार वानरों की टोली इधर-उधर भेजी।।3।। नरश्रेष्ठ! महाबाहो! उस समय करोड़ों वानरों के साथ मैं भी सीताजी का पता लगाता हुआ दक्षिण दिशा की ओर गया।।4।। तदनन्तर गृधजातीय महाबुद्धिमान् सम्पाति ने सीताजी के सम्बन्ध में यह समाचार दिया कि वे रावण के नगर में विद्यमान हैं।।5।। तब मैं अनायास ही महान् कर्म करने वाले श्रीरघुनाथजी की कार्यसिद्धि के लिए सहसा सौ योजन विस्तृत समुद्र को लाङ्घ गया।।6।। भरतश्रेष्ठ! मगर और ग्राह आदि से भरे हुए उस समुद्र को अपने पराक्रम से पार करके मैं रावण के नगर में देवकन्या के समान तेजस्विनी जनकराजनन्दिनी सीता से भेंट करके अट्टालिका, चहारदिवारी और नगरद्वार सहित समूची लङ्कापुरी को जलाकर वहाँ श्रीराम नाम की घोषणा करके मैं पुनः लौट आया।।7-9।। मेरी बात मानकर कमलनयन भगवान् श्रीराम ने बुद्धिपूर्वक विचार करके सैनिकों की सलाह से महासागर पर पुल बंधवाया और करोड़ों वानरों से घिरे हुए वे महासमुद्र को पार करके लङ्का पर जा चढ़े। तदनन्तर वीरवर श्रीराम ने उन समस्त राक्षसों को मारकर युद्ध में समस्त लोकों को रुलाने वाले राक्षसराज रावण को भी भाई, पुत्र और बन्धु-बान्धवों सहित मार डाला।।10-12।।

राज्येऽभिषिच्य लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
धार्मिकं भक्तिमन्तं च भक्तानुगतवत्सलम्॥13।।
ततः प्रत्याहृता भार्या नष्टा वेदश्रुतिर्यथा।
तयैव सहितः साध्व्या पत्न्या रामो महायशाः॥14।।
गत्वा ततोऽतित्वरितः स्वां पुरीं रघुनन्दनः।
अध्यावसत् ततोऽयोध्यामयोध्यां द्विषतां प्रभुः॥15।।
ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः।
वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचनः॥16।।
यावद् राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन्।
तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत्॥17।।
सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिन्दम।
उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः॥18।।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
राज्यं कारितवान् रामस्ततः स्वभवनं गतः॥19।।
तदिहाप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदानघ।
तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम्॥20।।

अयं च मार्गो मर्त्यानामगम्यः कुरुनन्दन।
ततोऽहं रुद्धवान् मार्गं तवेमं देवसेवितम्।
त्वामनेन तथा यान्तं यक्षो वा राक्षसोऽपि वा॥21॥
धर्षयेद् वा शपेद् वापि मा कश्चिदिति भारत।
दिव्यो देवपथो ह्येष नात्र गच्छन्ति मानुषाः।
यदर्थमागतश्चासि अत एव सरश्च तत्॥22

तत्पश्चात् धर्मात्मा, भक्तिमान् तथा भक्तों और सेवकों पर स्नेह रखने वाले राक्षसराज विभीषण को लङ्का के राज्य पर अभिषिक्त किया और खोयी हुई वैदिकी श्रुति की भाँति अपनी पत्नी का वहाँ से उद्धार करके महायशस्वी रघुनन्दन श्रीराम अपनी उस साध्वी पत्नी के साथ ही बड़ी उतावली के साथ अपनी अयोध्यापुरी में लौट आये। इसके बाद शत्रुओं को भी वश में करने वाले नृपश्रेष्ठ भगवान् श्रीराम अवध के राज्यसिंहासन पर आसीन हो उस अजेय अयोध्यापुरी में रहने लगे। उस समय मैंने कमलनयन श्रीराम से यह वर माँगा कि 'शत्रुसूदन! जब तक आपकी यह कथा संसार में प्रचलित रहे, तब तक मैं अवश्य जीवित रहूँ।' भगवान् ने 'तथास्तु' कहकर मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली॥13-17॥ शत्रुओं का दमन करने वाले भीमसेन! श्रीसीताजी की कृपा से यहाँ रहते हुए ही मुझे इच्छानुसार सदा दिव्य भोग प्राप्त हो जाते हैं॥18॥ श्रीरामजी ने ग्यारह हजार वर्षों तक इस पृथ्वी पर राज्य किया, फिर वे अपने परमधाम को चले गये॥19॥ निष्पाप भीम! इस स्थान पर गन्धर्व और अप्सराएँ वीरवर रघुनाथजी के चरित्रों को गाकर मुझे आनन्दित करते रहते हैं॥20॥ कुरुनन्दन! यह मार्ग मनुष्य के लिए अगम्य है। अतः इस देवसेवित पथ को मैंने इसीलिए तुम्हारे लिए रोक दिया था, कि इस मार्ग से जाने पर कोई तुम्हारा तिरस्कार न कर दे या शाप न दे दे; क्योंकि यह दिव्य देवमार्ग है। इस पर मनुष्य नहीं जाते हैं। भारत! तुम जहाँ जाने के लिए आये हो, वह सरोवर तो यही है॥21-22॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसंवादे अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ 148॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा पर्व में लोमश तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में हनुमान्जी और भीमसेन का संवाद नामक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥148॥

चतुर्थोऽध्यायः

हनुमान्जी के द्वारा चारों युगों के धर्मों का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान्।
प्रणिपत्य ततः प्रीत्या भ्रातरं हृष्टमानसः॥1॥

उवाच श्लक्ष्णया वाचा हनूमन्तं कपीश्वरम्।
मया धन्यतरो नास्ति यदार्यं दृष्टवानहम्॥2।।
अनुग्रहो मे सुमहांस्तृप्तिश्च तव दर्शनात्।
एकं तु कृतमिच्छामि त्वयाद्य प्रियमात्मनः॥3।।
यत् ते तदाऽऽसीत् प्लवतः सागरं मकरालयम्।
रूपमप्रतिमं वीर तदिच्छामि निरीक्षितुम्॥4।।
एवं तुष्टो भविष्यामि श्रद्धास्यामि च ते वचः।
एवमुक्तः स तेजस्वी प्रहस्य हरिरब्रवीत्॥5।।
न तच्छक्यं त्वया द्रष्टुं रूपं नान्येन केनचित्।
कालावस्था तदा ह्यन्या वर्तते सा न साम्प्रतम्।।6।।
अन्यः कृतयुगे कालस्त्रेतायां द्वापरे परः।
अयं प्रध्वंसनः कालो नाद्य तद् रूपमस्ति मे॥7।।
भूमिर्नद्यो नगाः शैलाः सिद्धा देवा महर्षयः।
कालं समनुवर्तन्ते यथा भावा युगे युगे।।8।।
बलवर्ष्मप्रभावा हि प्रहीयन्त्युद्भवन्ति च।
तदलं बत तद् रूपं द्रष्टुं कुरुकुलोद्वह।
युगं समनुवर्तामि कालो हि दुरतिक्रमः॥9।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्‌जी के ऐसा कहने पर प्रतापी वीर महाबाहु भीमसेन के मन में बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने बड़े प्रेम से अपने भाई वानरराज हनुमान् को प्रणाम करके मधुर वाणी में कहा—'अहा! आज मेरे समान बड़भागी दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि आज मुझें अपने ज्येष्ठ भ्राता का दर्शन हुआ है'।।1-2।। आर्य! आपने मुझ पर बड़ी कृपा की है। आपके दर्शन से मुझे बड़ा सुख मिला है। अब मैं पुनः आपके द्वारा अपना एक और प्रिय कार्य पूर्ण करना चाहता हूँ।।3।। वीरवर! मकरालय समुद्र को लाङ्घते समय आपने जो अनुपम रूप धारण किया था, उसका दर्शन करने की मुझे बड़ी इच्छा हो रही है। उसे देखने से मुझे सन्तोष तो होगा ही, आपकी बात पर श्रद्धा भी हो जाएगी।' भीमसेन के ऐसा कहने पर महातेजस्वी हनुमान्‌जी ने हँसकर कहा—।।4-5।। 'भैया! तुम उस स्वरूप को नहीं देख सकते, कोई दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं देख सकता। उस समय की अवस्था कुछ और ही थी, अब वह नहीं है'।।6।। सत्य युग का समय दूसरा था तथा त्रेता और द्वापर का दूसरा ही है। यह काल सभी वस्तुओं को नष्ट करने वाला है। अब मेरा वह रूप है ही नहीं। पृथ्वी, नदी, वृक्ष, पर्वत, सिद्ध, देवता और महर्षि—ये सभी काल का अनुसरण करते हैं। प्रत्येक युग के अनुसार सभी वस्तुओं के शरीर, बल और प्रभाव में न्यूनाधिकता होती रहती है। अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम उस स्वरूप को देखने का आग्रह न करो। मैं भी युग का अनुसरण करता हूँ, क्योंकि काल का उल्लङ्घन करना किसी के लिए भी अत्यन्त कठिन है'।।7-9।।

भीम उवाच

युगसङ्ख्यां समाचक्ष्व आचारं च युगे युगे।
धर्मकामार्थभावांश्च कर्मवीर्यो भवाभवौ॥10।।

भीमसेन ने कहा—कपिप्रवर! आप मुझे युगों की संख्या बताइये और प्रत्येक युग में जो आचार, धर्म, अर्थ एवं काम के तत्त्व, शुभाशुभ कर्म, उन कर्मों की शक्ति तथा उत्पत्ति और विनाशादि भाव होते हैं, उनका भी वर्णन कीजिये।।10।।

हनूमानुवाच

कृतं नाम युगं तात यत्र धर्मः सनातनः।
कृतमेव न कर्तव्यं तस्मिन् काले युगोत्तमे॥11।।
न तत्र धर्माः सीदन्ति क्षीयन्ते न च वै प्रजाः।
ततः कृतयुगं नाम कालेन गुणतां गतम्॥12।।
देवदानवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः।
नासन् कृतयुगे तात तदा न क्रयविक्रयः॥13।।
न सामऋग्यजुर्वर्णाः क्रिया नासीच्च मानवी।
अभिध्याय फलं तत्र धर्मः सन्न्यास एव च॥14।।
न तस्मिन् युगसंसर्गे व्याधयो नेन्द्रियक्षयः।
नासूया नापि रुदितं न दर्पो नापि वैकृतम्॥15।।
न विग्रहः कुतस्तन्द्री न द्वेषो न च पैशुनम्।
न भयं नापि सन्तापो न चेर्ष्या न च मत्सरः॥16।।
ततः परमकं ब्रह्म सा गतिर्योगिनां परा।
आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा॥17।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः।
कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः॥18।।
समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम्।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन्॥19।।
एकदेवसदायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः॥20।।

हनुमान्जी बोले—तात! सबसे पहला कृतयुग है। उसमें सनातन धर्म की पूर्ण स्थिति रहती है। उसका कृतयुग नाम इसलिए पड़ा है कि उस उत्तम युग के लोग अपना सब कर्त्तव्य कर्म सम्पन्न ही कर लेते थे। उनके लिए कुछ करना शेष नहीं रहता था (अतः 'कृतम् एव सर्वे शुभं यस्मिन् युगे' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह 'कृतयुग' कहलाया)।।11।। उस समय धर्म का ह्रास नहीं होता था। प्रजा का अर्थात् (माता-पिता के रहते हुए) सन्तान का नाश नहीं होता था। तदनन्तर कालक्रम से उसमें गौणता आ गयी।।12।। तात! कृतयुग में देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग नहीं थे अर्थात् ये परस्पर भेद-भाव नहीं रखते थे। उस समय क्रय-विक्रय का व्यवहार भी नहीं

था।।13।। ऋक्, साम और यजुर्वेद के मन्त्र वर्णों का पृथक् पृथक् विभाग नहीं था। कोई मानवी क्रिया (कृषि आदि) भी नहीं होती थी। उस समय चिन्तन करने मात्र से सबको अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती थी। सत्य युग में एक ही धर्म था, स्वार्थ का त्याग।।14।। उस युग में बीमारी नहीं होती थी। इन्द्रियों में भी क्षीणता नहीं आने पाती थी। कोई किसी के गुणों में दोष दर्शन नहीं करता था। किसी को दुःख से रोना नहीं पड़ता था और न किसी में घमण्ड था तथा न कोई अन्य विकार ही होता था।।15।। कहीं लड़ाई झगड़ा नहीं था, आलसी भी नहीं थे। द्वेष, चुगली, भय, सन्ताप, ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं था।[1]।।16।। उस समय योगियों के परम आश्रय और सम्पूर्ण भूतों की अन्तरात्मा परब्रह्म स्वरूप भगवान् नारायण का वर्ण शुक्ल था।।17।। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी शम-दम आदि स्वभाव सिद्ध शुभ लक्षणों से सम्पन्न थे। सत्य युग में समस्त प्रजा अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों में तत्पर रहती थी।।18।। उस समय परब्रह्म परमात्मा ही सबके एकमात्र आश्रय थे। उन्हीं की प्राप्ति के लिए सदाचार का पालन किया जाता था। सब लोग एक परमात्मा का ही ज्ञान प्राप्त करते थे। सभी वर्णों के मनुष्य परब्रह्म परमात्मा के उद्देश्य से ही समस्त सत्कर्मों का अनुष्ठान करते थे और इस प्रकार उन्हें उत्तम धर्म फल की प्राप्ति होती थी।।19।। सब लोग सदा एक परमात्म देव में ही चित्त लगाये रहते थे। सब लोग एक परमात्मा के ही नाम का जप और उन्हीं की सेवा पूजा किया करते थे। सबके वर्णाश्रमानुसार पृथक् पृथक् धर्म होने पर भी वे एकमात्र वेद को ही मानने वाले थे और एक ही सनातन धर्म के अनुयायी थे।।20।।

चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना।
अकामफलसंयोगात् प्राप्नुवन्ति परां गतिम्॥21।।
आत्मयोगसमायुक्तो धर्मोऽयं कृतलक्षणः।
कृते युगे चतुष्पादश्चातुर्वण्यस्य शाश्वतः॥22।।
कामः कामयमाणेषु ब्राह्मणेषु तिरोहितः।
एतत्कृतयुगं नाम त्रैगुण्यपरिवर्जितम्।
त्रेतामपि निबोध त्वं यस्मिन् सत्रं प्रवर्तते॥23।।
पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाच्युतः।
सत्यप्रवृत्ताश्च नराः क्रियाधर्मपरायणाः॥24।।
ततो यज्ञाः प्रवर्तन्ते धर्माश्च विविधाः क्रियाः।
त्रेतायां भावसङ्कल्पाः क्रियादानफलोपगाः॥25।।
प्रचलन्ति न वै धर्मात् तपोदानपरायणाः।
स्वधर्मस्थाः क्रियावन्तो नरास्त्रेतायुगेऽभवन्॥26।।
द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागोनः प्रवर्तते।
विष्णुर्वै पीततां याति चतुर्धा वेद एव च॥27।।

---

1. सत्य युग के मनुष्य आदि प्राणियों में दोषों का अभाव बतलाया है, उसका यह अभिप्राय समझना चाहिए कि अधिकांश में उनमें इन दोषों का अभाव था।

ततोऽन्ये च चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथापरे।
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथापरे॥28॥
एवं शास्त्रेषु भिन्नेषु बहुधा नीयते क्रिया।
तपोदानप्रवृत्ता च राजसी भवति प्रजा॥29॥
एकवेदस्य चाज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्त्वस्य चेह विभ्रंशात् सत्ये कश्चिदवस्थितः॥30॥

सत्य युग के लोग समय-समय पर किए जाने वाले चार आश्रम सम्बन्धी सत्कर्मों का अनुष्ठान करके कर्मफल की कामना और आसक्ति न होने के कारण परम गति प्राप्त कर लेते थे॥21॥ चित्तवृत्तियों को परमात्मा में स्थापित करके उनके साथ एकता की प्राप्ति कराने वाला यह योग नामक धर्म सत्य युग का सूचक है। सत्य युग में चारों वर्णों का यह सनातन धर्म चारों चरणों से सम्पन्न—सम्पूर्ण रूप से विद्यमान था॥22॥ यह तीनों गुणों से रहित सत्य युग का वर्णन हुआ। अब त्रेता का वर्णन सुनो, जिसमें यज्ञ कर्म का आरम्भ होता है॥23॥ उस समय धर्म के एक चरण का ह्रास हो जाता है और भगवान् अच्युत का स्वरूप लाल वर्ण का हो जाता है। लोग सत्य में तत्पर रहते हैं। शास्त्रोक्त यज्ञ क्रिया तथा धर्म के पालन में परायण रहते हैं॥24॥ त्रेतायुग में ही यज्ञ, धर्म तथा नाना प्रकार के सत्कर्म आरम्भ होते हैं। लोगों को अपनी भावना तथा सङ्कल्प के अनुसार वेदोक्त कर्म तथा दान आदि के द्वारा अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है॥25॥ त्रेतायुग के मनुष्य तप और दान में तत्पर रहकर अपने धर्म से कभी विचलित नहीं होते थे। सभी स्वधर्म परायण तथा क्रियावान् थे॥26॥ द्वापर में हमारे धर्म के दो ही चरण रह जाते हैं, उस समय भगवान् विष्णु का स्वरूप पीले वर्ण का हो जाता है और वेद (ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—इन) चार भागों में बँट जाता है॥27॥ उस समय कुछ द्विज चार वेदों के ज्ञाता, कुछ तीन वेदों के विद्वान्, कुछ दो ही वेदों के जानकार, कुछ एक ही वेद के पण्डित और कुछ वेद की ऋचाओं के ज्ञान से सर्वथा शून्य होते हैं॥28॥ इस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों के होने से उनके बताये हुए कर्मों में भी अनेक भेद हो जाते हैं तथा प्रजा तप और दान—इन दो ही धर्मों में प्रवत्त होकर राजसी हो जाती है॥29॥ द्वापर में सम्पूर्ण एक वेद का भी ज्ञान न होने से वेद के बहुत-से विभाग कर लिए गए हैं। इस युग में सात्त्विक बुद्धि का क्षय होने से कोई विरला ही सत्य में स्थित होता है॥30॥

सत्यात् प्रच्यवमानानां व्याधयो बहवोऽभवन्।
कामाश्चोपद्रवाश्चैव तदा वै दैवकारिताः॥31॥
यैरर्द्यमानाः सुभृशं तपस्तप्यन्ति मानवाः।
कामकामाः स्वर्गकामा यज्ञांस्तन्वन्ति चापरे॥32॥
एवं द्वापरमासाद्य प्रजाः क्षीयन्त्यधर्मतः।
पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः॥33॥
तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः।
वेदाचाराः प्रशाम्यन्ति धर्मयज्ञक्रियास्तथा॥34॥
ईतयो व्याधयस्तन्द्री दोषाः क्रोधादयस्तथा।

उपद्रवाः प्रवर्तन्ते आधयः क्षुद्भयं तथा॥35॥
युगेष्वावर्तमानेषु धर्मो व्यावर्तते पुनः।
धर्मे व्यावर्तमाने तु लोको व्यावर्तते पुनः॥36॥
लोके क्षीणे क्षयं यान्ति भावा लोकप्रवर्तकाः।
युगक्षयकृता धर्माः प्रार्थनानि विकुर्वते॥37॥
एतत् कलियुगं नाम अचिराद् यत् प्रवर्तते।
युगानुवर्तनं त्वेतत् कुर्वन्ति चिरजीविनः॥38॥
यच्च ते मत्परिज्ञाने कौतूहलमरिन्दम।
अनर्थकेषु को भावः पुरुषस्य विजानतः॥39॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
युगसङ्ख्यां महाबाहो स्वस्ति प्राप्नुहि गम्यताम्॥40॥

सत्य से भ्रष्ट होने के कारण द्वापर के लोगों में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उनके मन में अनेक प्रकार की कामनाएँ पैदा होती हैं और वे बहुत-से दैवी उपद्रवों से भी पीड़ित हो जाते हैं॥31॥ उन सबसे अत्यन्त पीड़ित होकर लोग तप करने लगते हैं। कुछ लोग भोग और स्वर्ग की कामना से यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं॥32॥ इस प्रकार द्वापर युग के आने पर अधर्म के कारण प्रजा क्षीण होने लगती है (तत्पश्चात् कलियुग का आगमन होता है)। कुन्तीनन्दन! कलियुग में धर्म एक ही चरण से स्थित होता है॥33॥ इस तमोगुणी युग को पाकर भगवान् विष्णु के श्रीविग्रह का रङ्ग काला हो जाता है। वैदिक सदाचार, धर्म तथा यज्ञ कर्म नष्ट हो जाते हैं॥34॥ ईति, व्याधि, आलस्य, क्रोध आदि दोष, मानसिक रोग तथा भूख प्यास का भय—ये सभी उपद्रव बढ़ जाते हैं॥35॥ युगों के परिवर्तन होने पर आने वाले युगों के अनुसार धर्म का भी ह्रास होता जाता है। इस प्रकार धर्म के क्षीण होने से लोक (की सुख-सुविधा) का भी क्षय होने लगता है॥36॥ लोक के क्षीण होने पर उसक प्रवर्तक भावों का भी क्षय हो जाता है। युग क्षय जनित धर्म मनुष्य की अभीष्ट कामनाओं के विपरीत फल देते हैं॥37॥ यह कलियुग का वर्णन किया गया, जो शीघ्र ही आने वाला है। चिरजीवी लोग भी इस प्रकार युग का अनुसरण करते हैं॥38॥ शत्रुदमन! तुम्हें मेरे पुरातन स्वरूप को देखने या जानने के लिए जो कौतूहल हुआ है, वह ठीक नहीं है। किसी भी समझदार मनुष्य का निरर्थक विषयों के लिए आग्रह क्यों होना चाहिये?॥39॥ महाबाहो! तुमने युगों की संख्या के विषय में मुझसे जो प्रश्न किया है, उसके उत्तर में मैने यह सब बातें बतायी हैं। तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम लौट जाओ॥40॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां कदलीषण्डे हनुमद्भीमसंवादे एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ 149 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत लोमश तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में कदलीवन के भीतर हनुमान्‌जी और भीमसेन का संवादि विषयक एक सौ उनचासाँ अध्याय पूरा हुआ॥149॥

पञ्चमोऽध्याय:

हनुमान्‌जी के द्वारा भीमसेन को अपने विशाल रूप का प्रदर्शन और चारों वर्णों के धर्मों का प्रतिपादन

भीमसेन उवाच

पूर्वरूपमदृष्ट्वा ते न यास्यामि कथञ्चन।
यदि तेऽहमनुग्राह्यो दर्शयात्मानमात्मना॥1॥

भीमसेन ने कहा—कपिप्रवर! मैं आपका वह पूर्वरूप देखे बिना किसी प्रकार नहीं जाऊँगा। यदि मैं आपका कृपापात्र होऊँ, तो आप स्वयं अपने आपको मेरे सामने प्रकट कर दीजिये॥1॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन स्मितं कृत्वा प्लवङ्गम:।
तद्रूपं दर्शयामास यद् वै सागरलङ्घने॥2॥
भ्रातु: प्रियमभीप्सन्वै चकार सुमहद् वपु:।
तद्रूपं यातु परा तस्य बभूवौदधिलङ्घने।
देहस्तस्य ततोऽतीव वर्धत्यायामविस्तरै:॥3॥
सद्रुमं कदलीषण्डं छादयन्नमितद्युति:।
गिरेश्चोच्छ्रयमाक्रम्य तस्थौ तत्र च वानर:॥4॥
समुच्छ्रितमहाकायो द्वितीय इव पर्वत:।
ताम्रेक्षणस्तीक्ष्णदंष्ट्रो भृकुटीकुटिलानन:॥5॥
दीर्घलाङ्गूलमाविध्य दिशो व्याप्य स्थित: कपि:।
तद्रूपं महदालक्ष्य भ्रातु: कौरवनन्दन:॥6॥
विसिष्मिये तदा भीमो जहृषे च पुन: पुन:।
तमर्कमिव तेजोभि: सौवर्णमिव पर्वतम्॥7॥
प्रदीप्तमिव चाकाशं दृष्ट्वा भीमो न्यमीलयत्।
आबभाषे च हनुमान् भीमसेनं स्मयन्निव॥8॥
एतावदिह शक्तस्त्वं द्रष्टुं रूपं ममानघ।
वर्धेऽहं चाप्यतो भूयो यावन्मे मनसि स्थितम्।
भीमशत्रुषु चात्यर्थं वर्धते मूर्तिरोजसा॥9॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीमसेन के ऐसा कहने पर हनुमान्‌जी ने मुसकराकर उन्हें अपना वह रूप दिखाया, जो उन्होंने समुद्र लङ्घन के समय धारण किया था॥2॥ उन्होंने अपने भाई का प्रिय करने की इच्छा से अत्यन्त विशाल शरीर धारण किया। उनका शरीर लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई में बहुत बड़ा हो गया। वे अमित तेजस्वी वानरवीर वृक्षों सहित समूचे कदलीवन को आच्छादित करते हुए गन्धमादन पर्वत की ऊँचाई को भी लाङ्घ कर वहाँ खड़े हो गए॥3-4॥ उनका वह उन्नत विशाल

शरीर दूसरे पर्वत के समान प्रतीत होता था। लाल आँखों, तीखी दाढ़ों और टेढ़ी भौंहों से युक्त उनका मुख था।।5।। वे वानरवीर अपनी विशाल पूँछ को हिलाते हुए सम्पूर्ण दिशाओं को घेरकर खड़े थे। भाई के उस विराट् रूप को देखकर कौरवनन्दन भीम को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके शरीर में बार-बार हर्ष से रोमाञ्च होने लगा। हनुमान्‌जी तेज में सूर्य के समान दिखायी देते थे। उनका शरीर सुवर्णमय मेरु पर्वत के समान था और उनकी प्रभा से सारा आकाश मण्डल प्रज्वलित सा जान पड़ता था। उनकी ओर देखकर भीमसेन ने दोनों आँखें बन्द कर लीं। तब हनुमान्‌जी उनसे मुसकराते हुए से बोले—।।6-8।। 'अनघ! तुम यहाँ मेरे इतने ही बड़े रूप को देख सकते हो, परन्तु मैं इससे भी बड़ा हो सकता हूँ। मेरे मन में जितने बड़े स्वरूप की भावना होती है, उतना ही मैं बढ़ सकता हूँ। भयानक शत्रुओं के समीप मेरी मूर्ति अत्यन्त ओज के साथ बढ़ती है'।।9।।

वैशम्पायन उवाच

तदद्भुतं महारौद्रं विन्ध्यपर्वतसन्निभम्।
दृष्ट्वा हनूमतो वर्ष्म सम्भ्रान्तः पवनात्मजः॥10।।
प्रत्युवाच ततो भीमः सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
कृताञ्जलिरदीनात्मा हनूमन्तमवस्थितम्॥11।।
दृष्टं प्रमाणं विपुलं शरीरस्यास्य ते विभो।
संहरस्व महावीर्य स्वयमात्मानमात्मना॥12।।
न हि शक्नोमि त्वां द्रष्टुं दिवाकरमिवोदितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यं मैनाकमिव पर्वतम्॥13।।
विस्मयश्चैव मे वीर सुमहान् मनसोऽद्य वै।
यद् रामस्त्वयि पार्श्वस्थे स्वयं रावणमभ्यगात्॥14।।
त्वमेव शक्तस्तां लङ्कां सयोधां सहवाहनाम्।
स्वबाहुबलमाश्रित्य विनाशयितुमञ्जसा॥15।।
न हि ते किञ्चिदप्राप्यं मारुतात्मज विद्यते।
तव नैकस्य पर्याप्तो रावणः सगणो युधि॥16।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हनुमान्‌जी का वह विन्ध्य पर्वत के समान अत्यन्त भयङ्कर और अद्भुत शरीर देखकर वायुपुत्र भीमसेन घबरा गये। उनके शरीर में रोंगटे खड़े होने लगे। उस समय उदार हृदय भीम ने हाथ जोड़कर अपने सामने खड़े हुए हनुमान्‌जी से कहा—।।10-11।। 'प्रभो! आपके इस शरीर का विशाल प्रमाण प्रत्यक्ष देख लिया। महापराक्रमी वीर! अब आप स्वयं ही अपने शरीर को समेट लीजिये।।12।। आप तो सूर्य के समान उदित हो रहे हैं। मैं आपकी ओर देख नहीं सकता। आप अप्रमेय और दुर्धर्ष मैनाक पर्वत के समान खड़े हैं।।13।। वीर! आज मेरे मन में इस बात को लेकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि आपके निकट रहते हुए भी भगवान् श्रीराम ने स्वयं ही रावण का सामना किया।।14।। आप तो अकेले ही अपने बाहुबल का आश्रय लेकर योद्धाओं और वाहनों सहित समूची लङ्का को अनायास नष्ट कर सकते थे।।15।।

मारुतनन्दन! आपके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। समर भूमि में अपने सैनिकों सहित रावण अकेले आपका ही सामना करने में समर्थ नहीं था'।।16।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीमेन हनूमान् प्लवगोत्तमः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं स्निग्धगम्भीरया गिरा॥17।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीम के ऐसा कहने पर कपिश्रेष्ठ हनुमान्जी ने स्नेहयुक्त गम्भीर वाणी में इस प्रकार उत्तर दिया—।।17।।

हनूमानुवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
भीमसेन न पर्याप्तो ममासौ राक्षसाधमः॥18।।
मया तु निहते तस्मिन् रावणे लोककण्टके।
कीर्तिर्नश्येत् राघवस्य तत एतदुपेक्षितम्॥19।।
तेन वीरेण तं हत्वा सगणं राक्षसाधमम्।
आनीता स्वपुरं सीता कीर्तिश्चाख्यापिता नृषु॥20।।
तद् गच्छ विपुलप्रज्ञ भ्रातुः प्रियहिते रतः।
अरिष्टं क्षेममध्वानं वायुना परिरक्षितः॥21।।
एष पन्थाः कुरुश्रेष्ठ सौगन्धिकवनाय ते।
द्रक्ष्यसे धनदोद्यानं रक्षितं यक्षराक्षसैः॥22।।
न च ते तरसा कार्यः कुसुमावचयः स्वयम्।
दैवतानि हि मान्यानि पुरुषेण विशेषतः॥23।।
बलिहोमनमस्कारैर्मन्त्रैश्च भरतर्षभ।
दैवतानि प्रसादं हि भक्त्या कुर्वन्ति भारत॥24।।
मा तात साहसं कार्षीः स्वधर्मं परिपालय।
स्वधर्मस्थः परं धर्मं बुध्यस्व गमयस्व च॥25।।
न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि॥26।।
अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाधर्मसञ्ज्ञितः।
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः॥27।।
आचारसम्भवो धर्मो धर्मे वेदाः प्रतिष्ठिताः।
वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्ना यज्ञैर्देवाः प्रतिष्ठिताः॥28।।
वेदाचारविधानोक्तैर्यज्ञैर्धार्यन्ति देवताः।
बृहस्पत्युशनःप्रोक्तैर्नयैर्धार्यन्ति मानवाः॥29।।

हनुमान्जी बोले—भारत! महाबाहु भीमसेन! तुम जैसा कहते हो, ठीक ही है। वह अधम राक्षस वास्तव में मेरा सामना नहीं कर सकता था।।18।। किन्तु सम्पूर्ण लोकों को काँटे के समान कष्ट देने वाला रावण यदि मेरे ही हाथों मारा जाता, तो भगवान्

श्रीरामचन्द्रजी की कीर्ति नष्ट हो जाती। इसीलिए मैंने उसकी उपेक्षा कर दी।।19।। वीरवर श्रीरामचन्द्रजी सेना सहित उस अधम राक्षस का वध करके सीताजी को अपनी अयोध्यापुरी में ले आये। इससे मनुष्यों में उनकी कीर्ति का भी विस्तार हुआ।।20।। अच्छा, महाप्राज्ञ! अब तुम अपने भाई के प्रिय एवं हित में तत्पर रहकर वायु देवता से सुरक्षित हो क्लेशरहित मार्ग से कुशलपूर्वक जाओ।।21।। कुरुश्रेष्ठ! यह मार्ग सौगन्धिक वन को जाता है। इससे जाने पर तुम्हें कुबेर का बगीचा दिखायी देगा, जो यक्षों तथा राक्षसों से सुरक्षित है।।22।। वहाँ जाकर तुम जल्दी से स्वयं ही उसके फूल न तोड़ने लगना। मनुष्यों को तो विशेष रूप से देवताओं का सम्मान ही करना चाहिये।।23।। भरतश्रेष्ठ! पूजा, होम, नमस्कार, मन्त्रजप तथा भक्तिभाव से देवता प्रसन्न होकर कृपा करते हैं।।24।। तात! तुम दुःसाहस न कर बैठना, अपने धर्म का पालन करना, स्वधर्म में स्थित रहकर तुम श्रेष्ठ धर्म को समझो और उसका पालन करो।।25।। क्योंकि धर्म को जाने बिना और वृद्ध पुरुषों की सेवा किए बिना बृहस्पति जैसे विद्वानों के लिए भी धर्म और अर्थ के तत्त्व को समझना सम्भव नहीं है।।26।। कहीं अधर्म ही धर्म कहलाता है और कहीं धर्म भी अधर्म कहा जाता है। अतः धर्म और अधर्म के स्वरूप का पृथक् पृथक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बुद्धिहीन लोग इसमें मोहित हो जाते हैं।।27।। आचार से धर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म में वेदों की प्रतिष्ठा है। वेदों से यज्ञ प्रकट हुए हैं और यज्ञों से देवताओं की स्थिति है।।28।। वेदोक्त आचार के विधान से बतलाये हुए यज्ञों द्वारा देवताओं की आजीविका चलती है और बृहस्पति तथा शुक्राचार्य की कही हुई नीतियाँ मनुष्यों के जीवन निर्वाह की आधारभूमि हैं।।29।।

पण्याकरवणिज्याभिः कृष्यागोजाविपोषणैः।
विद्यया धार्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः॥30।।
त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या विजानताम्।
ताभिः सम्यक् प्रयुक्ताभिर्लोकयात्रा विधीयते॥31।।
सा चेद् धर्मकृता न स्यात् त्रयीधर्ममृते भुवि।
दण्डनीतिमृते चापि निर्मर्यादमिदं भवेत्॥32।।
वार्ताधर्मे ह्यवर्तिन्यो विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
सुप्रवृत्तैस्त्रिभिर्ह्येतैर्धर्मं सूयन्ति वै प्रजाः॥33।।
द्विजातीनामृतं धर्मो ह्येकश्चैवैकलक्षणः।
यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः॥34।।
याजनाध्यापनं विप्रे धर्मश्चैव प्रतिग्रहः।
पालनं क्षत्रियाणां वै वैश्यधर्मश्च पोषणम्॥35।।
शुश्रूषा च द्विजातीनां शूद्राणां धर्म उच्यते।
भैक्ष्यहोमव्रतैर्हीनास्तथैव गुरुवासिताः॥36।।
क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम्।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व विनीतो नियतेन्द्रियः॥37।।

वृद्धैः सम्मन्त्र्य सद्भिश्च बुद्धिमद्भिः श्रुतान्वितैः।
आस्थितः शास्ति दण्डेन व्यसनी परिभूयते॥38॥
निग्रहानुग्रहैः सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते।
तदा भवन्ति लोकस्य मर्यादाः सुव्यवस्थिताः॥39॥
तस्माद् देशे च दुर्गे च शत्रुमित्रबलेषु च।
नित्यं चारेण बोद्धव्यं स्थानं वृद्धिः क्षयस्तथा॥40॥

हाट-बाजार करना, कर (लगान या टैक्स) लेना, व्यापार, खेती, गोपालन, भेड़ और बकरों का पोषण तथा विद्या पढ़ना-पढ़ाना—इन धर्मानुकूल वृत्तियों द्वारा द्विजगण सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करते हैं॥30॥ वेदत्रयी, वार्ता (कृषि-वाणिज्य आदि) और दण्ड नीति—ये तीन विद्याएँ हैं (इनमें वेदाध्ययन ब्राह्मण की, वार्ता वैश्य की और दण्डनीति क्षत्रिय की जीविकावृत्ति है)। विज्ञ पुरुषों द्वारा इन वृत्तियों का ठीक-ठीक प्रयोग होने से लोकयात्रा का निर्वाह होता है॥31॥ यदि लोकयात्रा धर्मपूर्वक न चलायी जाय, इस पृथ्वी पर वेदोक्त धर्म का पालन न हो और दण्डनीति भी उठा दी जाय तो यह सारा जगत् मर्यादाहीन हो जाय॥32॥ यदि यह प्रजा वार्ता-धर्म (कृषि, गौरक्षा और वाणिज्य) में प्रवृत्त न हो तो नष्ट हो जायगी। इन तीनों की सम्यक् प्रवृत्ति होने से प्रजा धर्म का सम्पादन करती है॥33॥ द्विजातियों का मुख्य धर्म है सत्य (सत्य भाषण, सत्य व्यवहार, सद्भाव)। यह धर्म का एक प्रधान लक्षण है। यज्ञ, स्वाध्याय और दान—ये तीन धर्म द्विजमात्र के सामान्य धर्म माने गये हैं॥34॥ यज्ञ कराना, वेद और शास्त्रों को पढ़ाना तथा दान ग्रहण करना—यह ब्राह्मण का ही आजीविका प्रधान धर्म है। प्रजापालन क्षत्रियों का और पशु-पालन वैश्यों का धर्म है॥35॥ ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा में रहने वाले शूद्रों के लिये भिक्षा, होम और व्रत मना है॥36॥ कुन्तीनन्दन! सबकी रक्षा करना क्षत्रिय का धर्म है, अतः तुम्हारा धर्म भी यही है। अपने धर्म का पालन करो। विनयशील बने रहे और इन्द्रियों को वश में रखो॥37॥ वेद शास्त्रों के विद्वान्, बुद्धिमान् तथा बड़े-बूढ़े श्रेष्ठ पुरुषों से सलाह करके उनका कृपापात्र बना हुआ राजा ही दण्डनीति के द्वारा शासन कर सकता है। जो राजा दुर्व्यसनों में आसक्त होता है, उसका पराभव हो जाता है॥38॥ जब राजा निग्रह और अनुग्रह के द्वारा प्रजावर्ग के साथ यथोचित बर्ताव करता है, तभी लोक की सम्पूर्ण मर्यादाएँ सुरक्षित होती हैं॥39॥ इसलिए राजा को उचित है कि वह देश और दुर्ग में अपने शत्रु और मित्रों के सैनिकों की स्थिति, वृद्धि और क्षय का गुप्तचरों द्वारा सदा पता लगाता रहे॥40॥

राज्ञामुपायश्चारश्च बुद्धिमन्त्रपराक्रमाः।
निग्रहप्रग्रहौ चैव दाक्ष्यं वै कार्यसाधकम्॥41॥
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनोपेक्षणेन च।
साधनीयानि कर्माणि समासव्यासयोगतः॥42॥
मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ।
सुमन्त्रितेन या सिद्धिस्तां द्विजैः सह मन्त्रयेत्॥43॥

स्त्रिया मूढेन बालेन लुब्धेन लघुनापि वा।
न मन्त्रयीत गुह्यानि येषु चोन्मादलक्षणम्॥44।।
मन्त्रयेत् सह विद्वद्भिः शक्तैः कर्माणि कारयेत्।
स्निग्धैश्च नीतिविन्यासान् मूर्खान् सर्वत्र वर्जयेत्॥45।।
धार्मिकान् धर्मकार्येषु अर्थकार्येषु पण्डितान्।
स्त्रीषु क्लीबान्नियुञ्जीत क्रूरान् क्रूरेषु कर्ममु॥46।।
स्वेभ्यश्चैव परेभ्यश्च कार्याकार्यसमुद्भवा।
बुद्धिः कर्मसु विज्ञेया रिपूणां च बलाबलम्॥47।।
बुद्ध्या स्वप्रतिपन्नेषु कुर्यात् साधुष्वनुग्रहम्।
निग्रहं चाप्यशिष्टेषु निर्मर्यादेषु कारयेत्॥48।।
निग्रहे प्रग्रहे सम्यग् यदा राजा प्रवर्तते।
तदा भवति लोकस्य मर्यादा सुव्यवस्थिता॥49।।
एष तेऽभिहितः पार्थ घोरो धर्मो दुरन्वयः।
तं स्वधर्मविभागेन विनयस्थोऽनुपालय॥50।।
तपोधर्मदमेज्याभिर्विप्रा यान्ति यथा दिवम्।
दानातिथ्यक्रियाधर्मैर्यान्ति वैश्याश्च सद्गतिम्॥51।।
द्विजा शुश्रूषया शूद्रा लभन्ते गतिमुत्तमम्।
क्षत्रं याति तथा स्वर्गं भुवि निग्रहपालनैः॥52।।
सम्यक् प्रणीतदण्डा हि कामद्वेषविवर्जिताः।
अलुब्धा विगतक्रोधाः सतां यान्ति सलोकताम्॥53।।

साम, दान, दण्ड भेद—ये चार उपाय, गुप्तचर, उत्तम बुद्धि, सुरक्षित मन्त्रणा, पराक्रम, निग्रह, अनुग्रह और चतुरता—ये राजाओं के लिए कार्यसिद्धि के साधन हैं।।41।। साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन नीतियों में से एक-दो के द्वारा या सबके एक साथ प्रयोग द्वारा राजाओं को अपने कार्य सिद्ध करने चाहिए।।42।। भरतश्रेष्ठ! सारी नीतियों और गुप्तचरों का मूल आधार है मन्त्रणा को गुप्त रखना। उत्तम मन्त्रणा या विचार से जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसके लिए द्विजों के साथ गुप्त परामर्श करना चाहिए।।43।। स्त्री, मूर्ख, बालक, लोभी और नीच पुरुषों के साथ तथा जिसमें उन्माद का लक्षण दिखायी दे, उसके साथ भी गुप्त परामर्श न करे।।44।। विद्वानों के साथ ही गुप्त मन्त्रणा करनी चाहिये। जो शक्तिशाली हों, उन्हीं से कार्य कराने चाहिये। जो स्नेही (सुहृद्) हों उन्हीं के द्वारा नीति के प्रयोग का काम कराना चाहिये। मूर्खों को तो सभी कार्यों से अलग रखना चाहिये।।45।। राजा को चाहिये कि वह धर्म के कार्यों में धार्मिक पुरुषों को, अर्थ सम्बन्धी कार्यों में अर्थशास्त्र के पण्डितों को, स्त्रियों की देखभाल के लिए नपुंसकों को और कठोर कार्यों में क्रूर स्वभाव के मनुष्यों को लगावे।।46।। बहुत-से कार्यों को आरम्भ करते समय अपने तथा शत्रु पक्ष के लोगों से भी यह सलाह लेनी चाहिये कि अमुक काम करने योग्य है या नहीं। साथ ही, शत्रु की प्रबलता और दुर्बलता को भी जानने का प्रयत्न करना चाहिये।।47।। बुद्धि से सोच-

विचार कर अपनी शरण में आये हुए श्रेष्ठ कर्म करने वाले पुरुषों पर अनुग्रह करना चाहिये और मर्यादा भङ्ग करने वाले दुष्ट पुरुषों को दण्ड देना चाहिये।।48।। जब राजा निग्रह और अनुग्रह में ठीक तौर से प्रवृत्त होता है, तभी लोक की मर्यादा सुरक्षित रहती है।।49।। कुन्तीनन्दन! यह मैंने तुम्हें कठोर राज्य धर्म का उपदेश दिया है। इसके मर्म को समझना अत्यन्त कठिन है। तुम अपने धर्म के विभागानुसार विनीत भाव से इसका पालन करो।।40।। जैसे तपस्या, धर्म, इन्द्रिय संयम और यज्ञानुष्ठान के द्वारा ब्राह्मण उत्तम लोक में जाते हैं तथा जिस प्रकार वैश्य दान और आतिथ्य रूप धर्मों से उत्तम गति प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार इस लोक में निग्रह और अनुग्रह के यथोचित प्रयोग से क्षत्रिय स्वर्गलोक में जाता है। जिनके द्वारा दण्डनीति का उचित रीति से प्रयोग किया गया है, जो राग-द्वेष से रहित, लोभशून्य तथा क्रोधहीन हैं; वे क्षत्रिय सत्पुरुषों को प्राप्त होने वाले लोकों में जाते हैं।।51-52।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां हनुमद्भीमसेनसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ 150 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा पर्व में लोमश तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में हनुमान्‌जी और भीमसेन का संवाद विषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ।।150।।

षष्ठोऽध्याय:

हनुमान्‌जी का भीमसेन को आश्वासन और विदा देकर अन्तर्धान होना

वैशम्पायन उवाच

ततः संहृत्य विपुलं तद्वपुः कामतः कृतम्।
भीमसेनं पुनर्दोर्भ्यां पर्यष्वजत वानरः॥1।।
परिष्वक्तस्य तस्याशु भ्रात्रा भीमस्य भारत।
श्रमो नाशमुपागच्छत् सर्वं चासीत् प्रदक्षिणम्॥2।।
बलं चातिबलो मेने न मेऽस्ति सदृशो महान्।
ततः पुनरथोवाच पर्यश्रुनयनो हरिः॥3।।
भीममाभाष्य सौहार्दाद् वाष्पगद्गदया गिरा।
गच्छ वीर स्वमावासं स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे॥4।।
इहस्थश्च कुरुश्रेष्ठ न निवेद्योऽस्मि कर्हिचित्।
धनदस्यालयाच्चापि विसृष्टानां महाबल॥5।।
देशकाल इहायातुं देवगन्धर्वयोषिताम्।
ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चास्मि राघवम्॥6।।
रामाभिधानं विष्णुं हि जगद्भूदयनन्दनम्।
सीतावक्त्रारविन्दार्कं दशास्यध्वान्तभास्करम्॥7।।
मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह।

तदस्मद्दर्शनं वीर कौन्तेयामोघमस्तु ते॥8॥
भ्रातृत्वं त्वं पुरुस्कृत्य वरं वरय भारत।
यदि तावन्मया क्षुद्रा गत्वा वारणसाह्वयम्॥9॥
धार्तराष्ट्रा निहन्तव्या यावदेतत् करोम्यहम्।
शिलया नगरं वापि मर्दितव्यं मया यदि॥10॥
बद्ध्वा दुर्योधनं चाद्य आनयामि तवान्तिकम्।
यावदेतत् करोम्यद्य कामं तव महाबल॥11॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अपनी इच्छा से बढ़ाये हुए उस विशाल शरीर का उपसंहार कर वानरराज हनुमान्‌जी ने अपनी दोनों भुजाओं द्वारा भीमसेन को हृदय से लगा लिया॥1॥ भारत! भाई का आलिङ्गन प्राप्त होने पर भीमसेन की सारी थकावट तत्काल नष्ट हो गयी और सब कुछ उन्हें अनुकूल प्रतीत होने लगा॥2॥ अत्यन्त बलशाली भीमसेन को यह अनुभव हुआ कि मेरा बल बहुत बढ़ गया। अब मेरे समान दूसरा कोई महान् नहीं है। फिर हनुमान्‌जी ने अपने नेत्रों में आँसू भरकर सौहार्द्र से गद्‌गद वाणी द्वारा भीमसेन को सम्बोधित करके कहा—'वीर! अब तुम अपने निवास स्थान पर जाओ। बातचीत के प्रसङ्ग में कभी मेरा भी स्मरण करते रहना॥3-4॥ कुरुश्रेष्ठ! मैं इस स्थान पर रहता हूँ, यह बात कभी किसी से न कहना। महाबली वीर! अब कुबेर के भवन से भेजी हुई देवाङ्गनाओं तथा गन्धर्व सुन्दरियों के यहाँ आने का समय हो गया है। भीम! तुम्हें देखकर मेरी भी आँखें सफल हो गयीं। तुम्हारे साथ मिलकर तुम्हारे मानव शरीर का स्पर्श करके मुझे उन भगवान् रामचन्द्रजी का स्मरण हो आया है, जो श्रीराम नाम से प्रसिद्ध साक्षात् विष्णु हैं। जगत् के हृदय को आनन्द प्रदान करने वाले, मिथिलेश नन्दिनी सीता के मुखारविन्द को विकसित करने के लिए सूर्य के समान तेजस्वी तथा दशमुख रावण रूपी अन्धकार राशि को नष्ट करने के लिए साक्षात् भुवन भास्कर रूप हैं। वीर कुन्तीकुमार! तुमने जो मेरा दर्शन किया है, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिए॥5-8॥ भारत! तुम मुझे अपना बड़ा भाई समझकर कोई वर माँगो। यदि तुम्हारी इच्छा हो कि मैं हस्तिनापुर में जाकर तुच्छ धृतराष्ट्र पुत्रों को मार डालूँ तो मैं यह भी कर सकता हूँ अथवा यदि तुम चाहो कि मैं पत्थरों की वर्षा से सारे नगर को रौंदकर धूल में मिला दूँ अथवा दुर्योधन को बाँधकर अभी तुम्हारे पास ला दूँ तो यह भी कर सकता हूँ। महाबली वीर! तुम्हारी जो इच्छा हो, वही पूर्ण कर दूँगा'॥9-11॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तद्वाक्यं श्रुत्वा तस्य महात्मनः।
प्रत्युवाच हनूमन्तं प्रहृष्टेनान्तरात्मना॥12॥
कृतमेव त्वया सर्वं मम वानरपुङ्गव।
स्वस्ति तेऽस्तु महाबाहो कामये त्वां प्रसीद मे॥13॥

सनाथाः पाण्डवाः सर्वे त्वया नाथेन वीर्यवन्।
तवैव तेजसा सर्वान् विजेष्यामो वयं परान्॥14।।
एवमुक्तस्तु हनुमान्भीमसेनमभाषत।
भ्रातृत्वात् सौहृदाच्चैव करिष्यामि प्रियं तव॥15।।
चमूं विगाह्य शत्रूणां शरशक्तिसमाकुलाम्।
यदा सिंहरवं वीर करिष्यसि महाबल॥16।।
तदाहं बृंहयिष्यामि स्वरवेण रवं तव।
विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान्मोक्ष्यामि दारुणान्॥17।।
शत्रूणां ये प्राणहराः सुखं येन हनिष्यथ।
एवमाभाष्य हनुमांस्तदा पाण्डवनन्दनम्।
मार्गमाख्याय भीमाय तत्रैवान्तरधीयत॥18।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा हनुमान्जी का यह वचन सुनकर भीमसेन ने हर्षोल्लास पूर्ण हृदय से हनुमान्जी को इस प्रकार उत्तर दिया—'वानरशिरोमणे! आपने मेरा यह सब कार्य कर दिया। आपका कल्याण हो। महाबाहो! अब आपसे मेरी इतनी ही कामना है कि आप मुझ पर प्रसन्न रहिये—मुझ पर आपकी कृपा बनी रहे।।।12-13।। शक्तिशाली वीर! आप जैसे नाथ (संरक्षक) को पाकर सब पाण्डव सनाथ हो गये। आपके ही प्रभाव से हम लोग अपने सब शत्रुओं को जीत लेंगे'।।14।। भीमसेन के ऐसा कहने पर हनुमान्जी ने उनसे कहा—'तुम मेरे भाई और सुदृढ़ हो, इसलिए मैं तुम्हारा प्रिय अवश्य करूँगा।।15।। महाबली वीर! जब तुम बाण और शक्ति के आघात से व्याकुल हुई शत्रुओं की सेना में घुस कर सिंहनाद करोगे, उस समय मैं अपनी गर्जना से तुम्हारे उस सिंहनाद को और बढ़ा दूँगा। उसके सिवा अर्जुन की ध्वजा पर बैठकर मैं ऐसी भीषण गर्जना करूँगा, जो शत्रुओं के प्राणों को हरने वाली होगी, जिससे तुम लोग उन्हें सुगमता से मार सकोगे।' पाण्डवों का आनन्द बढ़ाने वाले भीमसेन से ऐसा कहकर हनुमान्जी ने उन्हें जाने के लिए मार्ग बता दिया और स्वयं वहीं अन्तर्धान हो गये।।16-19।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि तीर्थयात्रापर्वणि लोमशतीर्थयात्रायां गन्धमादनप्रवेशे हनुमद्भीमसंवादे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ 151 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा पर्व में लोमश तीर्थ यात्रा के प्रसङ्ग में गन्धमादन पर्वत पर हनुमान्जी और भीमसेन का संवाद विषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ।।151।।

हनुमद्गीता सम्पूर्णा

आर्ष्टिषेणगीता

प्रथमोऽध्यायः

प्रश्न के रूप में आर्ष्टिषेण का युधिष्ठिर के प्रति उपदेश

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य तपसा दग्धकिल्बिषम्।
अभ्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्तयन्॥1।।
ततः कृष्णा च भीमश्च यमौ च सुतपस्विनौ।
शिरोभिः प्राप्य राजर्षिं परिवार्योपतस्थिरे॥2।।
तथैव धौम्यो धर्मज्ञः पाण्डवानां पुरोहितः।
यथान्यायमुपाक्रान्तस्तमृषिं संशितव्रतम्॥3।।
अन्वजानात् स धर्मज्ञो मुनिर्दिव्येन चक्षुषा।
पाण्डोः पुत्रान्कुरुश्रेष्ठानास्यतामिति चाब्रवीत्॥4।।
कुरूणामृषभं पार्थं पूजयित्वा महातपाः।
सह भ्रातृभिरासीनं पर्यपृच्छदनामयम्॥5।।
नानृते कुरुषे भावं कच्चिद् धर्मे प्रवर्तसे।
मातापित्रोश्च ते वृत्तिः कच्चित् पार्थ न सीदति॥6।।
कच्चित् ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः।
कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु॥7।।
सुकृतं प्रतिकर्तुं च कच्चिद्धातुं च दुष्कृतम्।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न विकत्थसे॥8।।
यथार्हं मानिताः कच्चित्त्वया नन्दन्ति साधवः।
वनेष्वपि वसन् कच्चिद्धर्ममेवानुवर्तसे॥9।।
कच्चिद् धौम्यस्त्वदाचारैर्न पार्थ परितप्यते।
दानधर्मतपःशौचैरार्जवेन तितिक्षया॥10।।
पितृपैतामहं वृत्तं कच्चित्पार्थानुवर्तसे।
कच्चिद्राजर्षियातेन पथा गच्छसि पाण्डव॥11।।
स्वे स्वे किल कुले जाते पुत्रे नप्तरि वा पुनः।
पितरः पितृलोकस्थाः शोचन्ति च हसन्ति च॥12।।
किं तस्य दुष्कृतेऽस्माभिः सम्प्राप्तव्यं भविष्यति।
किञ्चास्य सुकृतेऽस्माभिः प्राप्तव्यमिति शोभनम्॥13।।
पिता माता तथैवाग्निर्गुरुरात्मा च पञ्चमः।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्या लोकावुभौ जितौ॥14।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजर्षि आर्ष्टिषेण ने तपस्या द्वारा अपने सारे पाप दग्ध कर दिये थे। राजा युधिष्ठिर ने उनके पास जाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपना नाम बताते हुए उनके चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया।।1।। तदनन्तर द्रौपदी, भीमसेन और परम तपस्वी नकुल-सहदेव—ये सभी मस्तक झुकरकर उन राजर्षि को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये।।2।। उसी प्रकार पाण्डवों के पुरोहित धर्मज्ञ धौम्यजी कठोर व्रत का पालन करने वाले राजर्षि आर्ष्टिषेण के पास यथोचित शिष्टाचार के साथ उपस्थित हुए।।3।। उन धर्मज्ञ मुनि आर्ष्टिषेण ने अपनी दिव्य दृष्टि से कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों को जान लिया और कहा—'आप सब लोग बैठें'।।4।। महातपस्वी आर्ष्टिषेण ने भाइयों सहित कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर का यथोचित आदर-सत्कार किया और जब वे बैठ गये, तब उनसे कुशल समाचार पूछा—।।5।। 'कुन्तीनन्दन! कभी झूठ की ओर तो तुम्हारा मन नहीं जाता? तुम धर्म में लगे रहते हो न? माता-पिता के प्रति जो तुम्हारी सेवा वृत्ति होनी चाहिये, वह है न? उसमें शिथिलता तो नहीं आयी है?।।6।। क्या तुमने समस्त गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों और विद्वानों का सदा समादार किया है? पार्थ! कभी पाप कर्मों में तो तुम्हारी रुचि नहीं होती?।।7।। कुरुश्रेष्ठ! क्या तुम अपने उपकारी को उसके उपकार का यथोचित बदला देना जानते हो? क्या तुम्हें अपना अपकार करने वाले मनुष्य की उपेक्षा कर देने की कला का ज्ञान है? तुम अपनी बड़ाई तो नहीं करते?।।8।। क्या तुमसे यथायोग्य सम्मानित होकर साधु पुरुष तुम पर प्रसन्न रहते हैं? क्या तुम वन में रहते हुए भी सदा धर्म का ही अनुसरण करते हो?।।9।। पार्थ! तुम्हारे आचार-व्यवहार से पुरोहित धौम्यजी को क्लेश तो नहीं पहुँचता है? कुन्तीनन्दन! क्या तुम दान, धर्म, तप, शौच, सरलता और क्षमा आदि के द्वारा अपने बाप दादों के आचार-व्यवहार का अनुसरण करते हो? पाण्डुनन्दन! प्राचीन राजर्षि जिस मार्ग से गये हैं, उसी पर तुम भी चलते हो न?।।10-11।। कहते हैं, जब-जब अपने-अपने कुल में पुत्र अथवा नाती का जन्म होता है, तब-तब पितृलोक में रहने वाले पितर शोक मग्न होते हैं और हँसते भी हैं। शोक तो उन्हें यह सोचकर होता है कि 'क्या हमें इसके पाप में हिस्सा बंटाना पड़ेगा?' और हँसते इसलिए हैं कि 'क्या हमें इसके पुण्य का कुछ भाग मिलेगा? यदि ऐसा हो तो बड़ी अच्छी बात है।।12-13।। पार्थ! जिसके द्वारा पिता, माता, अग्नि, गुरु और आत्मा—इन पाँचों का आदर होता है, वह यह लोक और परलोक दोनों को जीत लेता है'।।14।।

युधिष्ठिर उवाच

भगवन्नार्य माहैतद् यथावद् धर्मनिश्चयम्।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियते विधिवन्मया।।15।।

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्! आर्यचरण! आपने मुझे यह धर्म का निचोड़ बताया है। मैं अपनी शक्ति के अनुसार यथोचित रीति से विधिपूर्वक इसका पालन करता हूँ।।15।।

आर्ष्टिषेण उवाच

अब्भक्षा वायुभक्षाश्च प्लवमाना विहायसा।
जुषन्ते पर्वतश्रेष्ठमृषय: पर्वसन्धिषु।।16।।

कामिनः सह कान्ताभिः परस्परमनुव्रताः।
दृश्यन्ते शैलशृङ्गस्था यथा किम्पुरुषा नृप॥17॥
अरजांसि च वासांसि वसानाः कौशिकानि च।
दृश्यन्ते बहवः पार्थ गन्धर्वाप्सरसां गणाः॥18॥
विद्याधरगणाश्चैव स्रग्विणः प्रियदर्शनाः।
महोरगगणाश्चैव सुपर्णाश्चोरगादयः॥19॥
अस्य चोपरि शैलस्य श्रूयते पर्वसन्धिषु।
भेरीपणवशङ्खानां मृदङ्गानां च निःस्वनः॥20॥
इहस्थैरेव तत् सर्वं श्रोतव्यं भरतर्षभाः।
न कार्या वः कथञ्चित् स्यात् तत्राभिगमने मतिः॥21॥

आर्ष्टिषेण बोले—पार्थ! पर्वों की सन्धि वेला में (पूर्णिमा तथा प्रतिपदा की सन्धि में) बहुत-से ऋषिगण आकाश मार्ग से उड़ते हुए आते हैं और इस श्रेष्ठ पर्वत का सेवन करते हैं। उनमें से कितने तो केवल जल पीकर जीवन निर्वाह करते हैं और कितने केवल वायु पीकर रहते हैं।।16।। राजन्! कितने ही किम्पुरुष जाति के कामी अपनी कामिनियों के साथ परस्पर अनुरक्त भाव से यहाँ क्रीड़ा के लिए आते हैं और पर्वत के शिखरों पर घूमते दिखायी देते हैं।।17।। कुन्तीकुमार! गन्धर्वों और अप्सराओं के बहुत-से गण यहाँ देखने में आते हैं, उनमें से कितने ही स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और कितने ही रेशमी वस्त्रों से सुशोभित होते हैं।।18।। विद्याधरों के गण भी सुन्दर फूलों के हार पहने अत्यन्त मनोहर दिखायी देते हैं। इनके सिवा बड़े-बड़े नागगण, सुपर्णजातीय पक्षी तथा सर्प आदि भी दृष्टिगोचर होते हैं।।19।। पर्वों की सन्धि वेला में इस पर्वत के ऊपर भेरी, पणव, शङ्ख और मृदङ्गों की ध्वनि सुनायी देती है।।20।। भारतकुलभूषण पाण्डवो! तुम्हें यही रहकर वह सब कुछ देखना या सुनना चाहिये। वहाँ पर्वत के ऊपर जाने का विचार तुम्हें किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिए।।21।।

न चाप्यतः परं शक्यं गन्तुं भरतसत्तमाः।
विहारो ह्यत्र देवानाममानुषगतिस्तु सा॥22॥
ईषच्चपलकर्माणं मनुष्यमिह भारत।
द्विषन्ति सर्वभूतानि ताडयन्ति च राक्षसाः॥23॥
अस्यातिक्रम्य शिखरं कैलासस्य युधिष्ठिर।
गतिः परमसिद्धानां देवर्षीणां प्रकाशते॥24॥
चापलादिह गच्छन्तं पार्थ यानमितः परम्।
अयः शूलादिभिर्घ्नन्ति राक्षसाः शत्रुसूदन॥25॥
अप्सरोभिः परिवृतः समृद्ध्या नरवाहनः।
इह वैश्रवणस्तात पर्वसन्धिषु दृश्यते॥26॥
शिखरस्थं समासीनमधिपं यक्षरक्षसाम्।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि भानुमन्तमिवोदितम्॥27॥

देवदानवसिद्धानां तथा वैश्रवणस्य च।
गिरेः शिखरमुद्यानमिदं भरतसत्तम॥28।।
उपासीनस्य धनदं तुम्बुरोः पर्वसन्धिषु।
गीतसामस्वनस्तात श्रूयते गन्धमादने॥29।।
एतदेवंविधं चित्रमिह तात युधिष्ठिर।
प्रेक्षन्ते सर्वभूतानि बहुशः पर्वसन्धिषु॥30।।
भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च।
वसध्वं पाण्डवश्रेष्ठा यावदर्जुनदर्शनात्॥31।।
न तात चपलैर्भाव्यमिह प्राप्तैः कथञ्चन।
उषित्वेह यथाकामं यथाश्रद्धं विहृत्य च।
ततः शस्त्रजितां तात पृथिवीं पालयिष्यसि॥32।।

भरतश्रेष्ठ! इससे आगे जाना असम्भव है। वहाँ देवताओं की विहार स्थली है। वहाँ मनुष्यों की गति नहीं हो सकती।।22।। भरत! यहाँ थोड़ी-सी भी चलता करने वाले मनुष्य से सब प्राणी द्वेष करते हैं तथा राक्षस लोग उस पर प्रहार कर बैठते हैं।।23।। युधिष्ठिर! इस कैलास के शिखर को लाङ्घ जाने पर परम सिद्ध देवर्षियों की गति प्रकाशित होती है।।24।। शत्रुसूदन पार्थ! चपलतावश इससे आगे के मार्ग पर जाने वाले मनुष्य को राक्षसगण लोहे के शूल आदि से मारते हैं।।25।। तात! पर्वों की सन्धि के समय यहाँ मनुष्यों पर सवार होने वाले कुबेर अप्सराओं से घिरकर अपने अतुल वैभव के साथ दिखायी देते हैं।।26।। यक्षों तथा राक्षसों के अधिपति कुबेर जब इस कैलाश शिखर पर विराजमान होते हैं, उस समय उदित हुए सूर्य की भाँति शोभा पाते हैं। उस अवसर पर सब प्राणी उनका दर्शन करते हैं।।27।। भरतश्रेष्ठ! पर्वत का यह शिखर देवताओं, दानवों, सिद्धों तथा कुबेर का क्रीड़ा कानन है।।28।। तात! पर्व सन्धि के समय गन्धमादन पर्वत पर कुबेर की सेवा में उपस्थित हुए तुम्बुरु गन्धर्व के साम गान का स्वर स्पष्ट सुनायी पड़ता है।।29।। तात युधिष्ठिर! इस प्रकार पर्वसन्धिकाल में सब प्राणी यहाँ अनेक बार ऐसे-ऐसे अद्भुत दृश्यों का दर्शन करते हैं।।30।। श्रेष्ठ पाण्डवो! जब तक तुम्हारी अर्जुन से भेंट न हो, तब तक मुनियों के भोजन करने योग्य सरस फलों का उपभोग करते हुए तुम सब लोग यहाँ (सानन्द) निवास करो।।31।। तात! यहाँ आने वाले लोगों को किसी प्रकार चपल नहीं होना चाहिये। तुम यहाँ अपनी इच्छा के अनुसार रहकर और श्रद्धा के अनुसार घूम-फिर कर लौट जाओगे और शस्त्रों द्वारा जीती हुई पृथ्वी का पालन करोगे।।32।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि यक्षयुद्धपर्वणि आर्ष्टिषेणयुधिष्ठिरसंवादे
एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 159 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत यक्ष युद्ध पर्व में आर्ष्टिषेण-युधिष्ठिर संवाद विषय एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।159।।

आर्ष्टिषेणगीता सम्पूर्णा

नहुषगीता

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर का भीमसेन के पास पहुँचना और सर्परूपधारी नहुष के प्रश्नों का उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमासाद्य सर्पभोगेन वेष्टितम्।
दयितं भ्रातरं धीमानिदं वचनमब्रवीत्॥1।।
कुन्तीमातः कथमिमामापदं त्वमवाप्तवान्।
कश्चायं पर्वताभोगप्रतिमः पन्नगोत्तमः॥2।।
स धर्मराजमालक्ष्य भ्राता भ्रातरमग्रजम्।
कथयामास तत् सर्वं ग्रहणादि विचेष्टितम्॥3।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सर्प के शरीर से बँधे हुए अपने प्रिय भाई भीमसेन के पास पहुँच कर परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने इस प्रकार पूछा—।।1।। 'कुन्तीनन्दन! तुम कैसे इस विपत्ति में फँस गए? और यह पर्वत के समान लम्बा-चौड़ा श्रेष्ठ नाग कौन है?' अपने बड़े भ्राता धर्मराज युधिष्ठिर को वहाँ उपस्थित देखकर भाई भीमसेन ने अपने पकड़े जाने आदि की सारी चेष्टाएँ कह सुनायीं।।2-3।।

भीम उवाच

अयमार्य महासत्त्वो भक्षार्थं मां गृहीतवान्।
नहुषो नाम राजर्षिः प्राणवानिव संस्थितः॥4।।

भीम बोले—आर्य! ये वायुभक्षी सर्प के रूप में बैठे हुए महान् शक्तिशाली साक्षात् राजर्षि नहुष हैं, इन्होंने मुझे अपना आहार बनाने के लिए पकड़ रखा है।।4।।

युधिष्ठिर उवाच

मुच्यतामयमायुष्मन् भ्राता मेऽमितविक्रमः।
वयमाहारमन्यं ते दास्यामः क्षुन्निवारणम्॥5।।

तब युधिष्ठिर ने सर्प से कहा—आयुष्मन्! आप मेरे इस अनन्त पराक्रमी भाई को छोड़ दें। हम लोग आपकी भूख मिटाने के लिए दूसरा भोजन देंगे।।5।।

सर्प उवाच

आहारो राजपुत्रोऽयं मया प्राप्तो मुखागतः।
गम्यतां नेह स्थातव्यं श्वो भवानपि मे भवेत्॥6।।

व्रतमेतन्महाबाहो विषयं मम यो व्रजेत्।
स मे भक्षो भवेत् तात त्वं चापि विषये मम॥7।।
चिरेणाद्य मयाऽऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव।
नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यमभिकाङ्क्षये॥8।।

सर्प बोला—राजन्! यह राजकुमार मेरे मुख के पास स्वयं आकर मुझे आहार रूप में प्राप्त हुआ है। तुम जाओ, यहाँ ठहरना उचित नहीं है; अन्यथा कल तक तुम भी मेरे आहार बन जाओगे।।6।। महाबाहो! मेरा यह नियम है कि मेरी अधिकृत भूमि के भीतर जो भी आ जायगा, वह मेरा भक्ष्य बन जायगा। तात! इस समय तुम भी मेरे अधिकार की सीमा में ही आ गये हो।।7।। दीर्घ काल तक उपवास करने के बाद आज यह तुम्हारा छोटा भाई मुझे आहार रूप में प्राप्त हुआ है, अत: न तो मैं इसे छोडूंगा और न इसके बदले में दूसरा आहार ही लेना चाहता हूँ।।8।।

युधिष्ठिर उवाच

देवो वा यदि वा दैत्य उरगो वा भवान् यदि।
सत्यं सर्प वचो ब्रूहि पृच्छति त्वां युधिष्ठिरः।
किमर्थं च त्वया ग्रस्तो भीमसेनो भुजङ्गम॥9।।
किमाहृत्य विदित्वा वा प्रीतिस्ते स्याद् भुजङ्गम।
किमाहारं प्रयच्छामि कथं मुञ्चेद् भवानिमम्॥10।।

युधिष्ठिर ने कहा—सर्प! तुम कोई देवता हो या दैत्य, अथवा वास्तव में सर्प ही हो? सच बताओ, तुमसे युधिष्ठिर प्रश्न कर रहा है। भुजङ्गम! किसलिए तुमने भीमसेन को ही अपना ग्रास बनाया है?।।9।। बोलो, तुम्हारे लिये क्या ला दिया जाए? अथवा तुम्हें किस बात का ज्ञान करा दिया जाय? जिससे तुम प्रसन्न होओगे। मैं कौन-सा आहार दे दूँ अथवा किसी उपाय का अवलम्बन करूँ, जिससे तुम इन्हें छोड़ सकते हो?।।10।।

सर्प उवाच

नहुषो नाम राजाहमासं पूर्वस्तवानघ।
प्रथितः पञ्चमः सोमादायोः पुत्रो नराधिप॥11।।
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च॥12।।
तदैश्वर्यं समासाद्य दर्पो मामगमत् तदा।
सहस्रं हि द्विजातीनामुवाह शिबिकां मम॥13।।
ऐश्वर्यमदमत्तोऽहमवमन्य ततो द्विजान्।
इमामगस्त्येन दशामानीतः पृथिवीपते॥14।।
न तु मामजहात् प्रज्ञा यावदद्येति पाण्डव।
तस्यैवानुग्रहाद् राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः॥15।।
षष्ठे काले मयाऽहारः प्राप्तोऽयमनुजस्तव।

नाहमेनं विमोक्ष्यामि न चान्यदपि कामये॥16॥
प्रश्नानुच्चारितानद्य व्याहरिष्यसि चेन्मम।
अथ पश्चाद् विमोक्ष्यामि भ्रातरं ते वृकोदरम्॥17॥

सर्प बोला—निष्पाप नरेश! मैं पूर्व जन्म में तुम्हारा विख्यात पूर्वज नहुष नाम का राजा था। चन्द्रमा से पाँचवीं पीढ़ी में जो आयु नामक राजा हुए थे, उन्हीं का मैं पुत्र हूँ॥11॥ मैंने अनेक यज्ञ किये, तपस्या की, स्वाध्याय किया तथा अपने मन और इन्द्रियों के संयम रूप योग का अभ्यास किया। इन सत्कर्मों से तथा अपने पराक्रम से भी मुझे तीनों लोकों का निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त हुआ था॥12॥ तब उस ऐश्वर्य को पाकर मेरा अहङ्कार बढ़ गया। मैंने सहस्रों ब्राह्मणों से अपनी पालकी ढुलवायी। तदनन्तर ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हो मैंने बहुत-से ब्राह्मणों का अपमान किया। पृथ्वीपते! इससे कुपित हुए महर्षि अगस्त्य ने मुझे इस अवस्था को पहुँचा दिया। पाण्डुनन्दन नरेश! उन्हीं महात्मा अगस्त्य की कृपा से आज तक मेरी स्मरण शक्ति मुझे छोड़ नहीं सकी है (मेरी स्मृति ज्यों की त्यों बनी हुई है)॥13-15॥ महर्षि के शाप के अनुसार दिन के छठे भाग में तुम्हारा यह छोटा भाई मुझे भोजन के रूप में प्राप्त हुआ है। अतः मैं न तो इसे छोड़ूंगा और न इसके बदले दूसरा आहार लेना चाहता हूँ॥16॥ परन्तु एक बात है, यदि तुम मेरे पूछे हुए प्रश्नों का अभी उत्तर दे दोगे, तो उसके बाद मैं तुम्हारे भाई भीमसेन को छोड़ दूँगा॥17॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रूहि सर्प यथाकामं प्रतिवक्ष्यामि ते वचः।
अपि चेच्छक्नुयां प्रीतिमाहर्तुं ते भुजङ्गम॥18॥
वेद्यं च ब्राह्मणेनेह तद् भवान् वेत्ति केवलम्।
सर्पराज ततः श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि ते वचः॥19॥

युधिष्ठिर ने कहा—सर्प! तुम इच्छानुसार प्रश्न करो। मैं तुम्हारी बात का उत्तर दूँगा। भुजङ्गम्! यदि हो सका तो तुम्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करूँगा॥18॥ सर्पराज! ब्राह्मण को इस जीवन में जो कुछ जानना चाहिये, वह केवल तत्त्व तुम जानते हो या नहीं। यह सुनकर मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूँगा॥19॥

सर्प उवाच

ब्राह्मणः को भवेद् राजन्वेद्यं किं च युधिष्ठिर।
ब्रवीह्यतिमतिं त्वां हि वाक्यैरनुमिमीमहे॥20॥

सर्प बोला—राजा युधिष्ठिर! यह बताओ कि ब्राह्मण कौन है और उसके लिए जानने योग्य तत्त्व क्या है? तुम्हारी बातें सुनने से मुझे ऐसा अनुमान होता है कि तुम अतिशय बुद्धिमान् हो॥20॥

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥21॥

वेद्यं सर्प परं ब्रह्म निर्दुःखमसुखं च यत्।
यत्र गत्वा न शोचन्ति भवतः किं विवक्षितम्॥22॥

युधिष्ठिर ने कहा—नागराज! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया—ये सद्गुण दिखायी देते हों, वही ब्राह्मण कहा गया है॥21॥ सर्प! जानने योग्य तत्त्व तो परम ब्रह्म ही है, जो दुःख और सुख से परे है तथा जहाँ पहुँच कर अथवा जिसे जानकर मनुष्य शोक के पार हो जाता है। बताओ, तुम्हें अब इस विषय में क्या कहना है?॥22॥

सर्प उवाच

चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर॥23॥
वेद्यं यच्चात्र निर्दुःखमसुखं च नराधिप।
ताभ्यां हीनं पदं चान्यन्न तदस्तीति लक्षये॥24॥

सर्प बोला—युधिष्ठिर! सत्य एवं प्रमाणभूत ब्रह्म तो चारों वर्णों के लिए हितकर है। सत्य, दान, अक्रोध, क्रूरता का अभाव, अहिंसा और दया आदि सद्गुण तो शूद्रों में भी रहते हैं॥23॥ नरेश्वर! तुमने यहाँ जो जानने योग्य तत्त्व को दुःख और सुख से परे बताया है, सो दुःख और सुख से रहित किसी दूसरी वस्तु की सत्ता ही मैं नहीं देखता हूँ॥24॥

युधिष्ठिर उवाच

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥25॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥26॥
यत् पुनर्भवता प्रोक्तं न वेद्यं विद्यतीति च।
ताभ्यां हीनमतोऽन्यत्र पदमस्तीति चेदपि॥27॥
एवमेतन्मतं सर्प ताभ्यां हीनं न विद्यते।
यथा शीतोष्णयोर्मध्ये भवेन्नोष्णं न शीतता॥28॥
एवं वै सुखदुःखाभ्यां हीनमस्ति पदं क्वचित्।
एषा मम मतिः सर्प यथा वा मन्यते भवान्॥29॥

युधिष्ठिर ने कहा—यदि शूद्र में सत्य आदि उपर्युक्त लक्षण हैं और ब्राह्मण में नहीं हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है। सर्प! जिसमें ये सत्य आदि लक्षण मौजूद हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें इन लक्षणों का अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिये॥25-26॥ अब तुमने जो यह कहा कि सुख-दुःख से रहित कोई दूसरा वेद्य तत्त्व है ही नहीं, तो तुम्हारा यह मत ठीक है। सुख-दुःख से शून्य कोई पदार्थ नहीं है। किन्तु एक ऐसा पद है भी। जिस प्रकार बर्फ में ऊष्णता और अग्नि में

शीतलता कहीं नहीं रहती, उसी प्रकार जो वेद्य पद है, वह वास्तव में सुख-दुःख से रहित ही है। नागराज! मेरा तो यही विचार है, फिर आप जैसा माने।।27-29।।

सर्प उवाच

यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः।
वृथा जातिस्तदाऽऽयुष्मन् कृतिर्यावन्न विद्यते॥30।।

सर्प बोला—आयुष्मन् नरेश! यदि आचार से ही ब्राह्मण की परीक्षा की जाय, तब तो जब तक उसके अनुसार कर्म न हो जाति व्यर्थ ही है।।30।।

युधिष्ठिर उवाच

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
सङ्करात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥31।।
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम्॥32।।
इदमार्षं प्रमाणं च ये यजामह इत्यपि।
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥33।।
प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥34।।
तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद् वेदे न जायते।
तस्मिन्नेवं मतिर्द्वैधे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥35।।
कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते।
सङ्करस्त्वत्र नागेन्द्र बलवान् प्रसमीक्षितः॥36।।
यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम॥37।।

युधिष्ठिर ने कहा—महासर्प! महामते! मनुष्यों में जाति की परीक्षा करना बहुत ही कठिन है; क्योंकि इस समय सभी वर्णों का परस्पर सङ्कर (सम्मिश्रण) हो रहा है, ऐसा मेरा विचार है।।31।। सभी मनुष्य सदा सब जातियों की स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं। वाणी, मैथुन तथा जन्म और मरण—ये सब मनुष्यों में एक से देखे जाते हैं। इस विषय में यह आर्ष प्रमाण भी मिलता है—'ये यजामहे' यह श्रुति जाति का निश्चय न होने के कारण ही जो हम लोग यज्ञ कर रहे हैं, ऐसा सामान्य रूप से निर्देश करती है। इसलिए जो तत्त्वदर्शी विद्वान् हैं, वे शील को ही प्रधानता देते हैं और उसे ही अभीष्ट मानते हैं।।32-33।। जब बालक का जन्म होता है, तब नालच्छेदन के पूर्व उसका जातकर्म-संस्कार किया जाता है। उसमें उसकी माता सावित्री कहलाती है और पिता आचार्य।।34।। जब तक बालक का संस्कार करके उसे वेद का स्वाध्याय न कराया जाय, तब तक वह शूद्र ही के समान है। जाति-विषयक संदेह होने पर स्वायम्भुव मनु ने यही निर्णय दिया है। नागराज! यदि वैदिक संस्कार करके वेदाध्ययन करने पर भी

ब्राह्मणादि वर्णों में अपेक्षित शील और सदाचार का उदय नहीं हुआ तो उसमें प्रबल वर्णसंकरता है, ऐसा विचारपूर्वक निश्चय किया गया है।।35-36।।

सर्प उवाच

श्रुतं विदितवेद्यस्य तव वाक्यं युधिष्ठिर।
भक्षयेयमहं कस्माद् भ्रातरं ते वृकोदरम्॥38

सर्प बोला—युधिष्ठिर! तुम जानने योग्य सभी बातें जानते हो। मैंने तुम्हारी बात अच्छी तरह सुन ली। अब मैं तुम्हारे भाई भीमसेन को कैसे खा सकता हूँ।।38।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अजगरपर्वणि युधिष्ठिरसर्पसंवादे
अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 180 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत आजगर पर्व में युधिष्ठिर सर्प संवाद विषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।180।।

द्वितीयोऽध्याय:

युधिष्ठिर द्वारा अपने प्रश्नों का उचित उत्तर पाकर सन्तुष्ट हुए सर्परूपधारी नहुष का भीमसेन को छोड़ देना तथा युधिष्ठिर के साथ वार्तालाप करने के प्रभाव से सर्पयोनि से मुक्त होकर स्वर्ग जाना

युधिष्ठिर उवाच

भवानेतादृशो लोके वेदवेदाङ्गपारगः।
ब्रूहि किं कुर्वतः कर्म भवेद् गतिरनुत्तमा॥1।।

युधिष्ठिर ने पूछा—तुम सम्पूर्ण वेद वेदाङ्गों के पारगामी हो। लोक में तुम्हारी ऐसी ही ख्याति है। बताओ, किस कर्म के आचरण से सर्वोत्तम गति प्राप्त हो सकती है?।।1।।

सर्प उवाच

पात्रे दत्त्वा प्रियाण्युक्त्वा सत्यमुक्त्वा च भारत।
अहिंसानिरतः स्वर्गं गच्छेदिति मतिर्मम॥2।।

सर्प ने कहा—भारत! इस विषय में मेरा विचार यह है कि मनुष्य सत्पात्र को दान देने से, सत्य और प्रिय वचन बोलने से तथा अहिंसा धर्म में तत्पर रहने से स्वर्ग (उत्तम गति) पा सकता है।।2।।

युधिष्ठिर उवाच

दानाद्वा सर्प सत्याद् वा किमतो गुरु दृश्यते।
अहिंसाप्रिययोश्चैव गुरुलाघवमुच्यताम्॥3।।

युधिष्ठिर ने पूछा—नागराज! दान और सत्य में किसका पलड़ा भारी देखा जाता है? अहिंसा और प्रियभाषण—इनमें से किसका महत्त्व अधिक है और किसका कम? यह बताओ।।3।।

सर्प उवाच

दानं च सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेव च।
एषां कार्यगरीयस्त्वाद् दृश्यते गुरुलाघवम्॥4।।
कस्माच्चिद् दानयोगाद्धि सत्यमेव विशिष्यते।
सत्यवाक्याच्च राजेन्द्र किञ्चिद् दानं विशिष्यते॥5।।
एवमेव महेष्वास प्रियवाक्यान्महीपते।
अहिंसा दृश्यते गुर्वी ततश्च प्रियमिष्यते॥6।।
एवमेतद्धवेद्राजन् कार्यापेक्षमनन्तरम्।
यदभिप्रेतमन्यत् ते ब्रूहि यावद् ब्रवीम्यहम्॥7।।

सर्प ने कहा—महाराज! दान, सत्य तत्त्व, अहिंसा और प्रियभाषण—इनकी गुरुता और लघुता कार्य की महत्ता के अनुसार देखी जाती है।।4।। राजेन्द्र! किसी दान से सत्य का महत्त्व बढ़ जाता है और कोई-कोई दान ही सत्य भाषण से अधिक महत्त्व रखता है।।5।। महान् धनुर्धर भूपाल! इसी प्रकार कहीं तो प्रिय वचन की अपेक्षा अहिंसा का गौरव अधिक देखा जाता है और कहीं अहिंसा से भी बढ़कर प्रियभाषण का महत्त्व दृष्टिगोचर होता है।।6।। राजन्! इस प्रकार इनके गौरव लाघव का निश्चय कार्य की अपेक्षा से ही होता है! अब और जो कुछ भी प्रश्न तुम्हें अभीष्ट हो, वह पूछो। मैं यथासाध्य उत्तर देता हूँ।।7।।

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्वर्गे गतिः सर्प कर्मणां च फलं ध्रुवम्।
अशरीरस्य दृश्येत प्रब्रूहि विषयांश्च मे॥8।।

युधिष्ठिर ने पूछा—सर्प! मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति और कर्मों का निश्चय रूप से मिलने वाला फल किस प्रकार देखने में आता है एवं देहाभिमान से रहित पुरुष की गति किस प्रकार होती है? इन विषयों को मुझसे भलीभाँति कहिये।।8।।

सर्प उवाच

तिस्रो वै गतयो राजन् परिदृष्टाः स्वकर्मभिः।
मानुषं स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत्त्रिधा॥9।।
तत्र वै मानुषाल्लोकाद् दानादिभिरतन्द्रितः।
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैः स्वर्गमश्नुते॥10।।
विपरीतैश्च राजेन्द्र कारणैर्मानुषो भवेत्।
तिर्यग्योनिस्तथा तात विशेषश्चात्र वक्ष्यते॥11।।
कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः।

मनुष्यत्वात् परिभ्रष्टस्तिर्यग्योनौ प्रसूयते॥12॥
तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधीयते।
गवादिभ्यस्तथाश्वेभ्यो देवत्वमपि दृश्यते॥13॥
सोऽयमेता गतिस्तात जन्तुश्चरति कार्यवान्।
नित्ये महति चात्मानमवस्थापयते द्विजः॥14॥
जातो जातश्च बलवद् भुङ्क्ते चात्मा स देहवान्।
फलार्थस्तात निष्पृक्तः प्रजापालनभावनः॥15॥

सर्प ने कहा—राजन्! अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीवों की तीन प्रकार की गतियाँ देखी जाती हैं—स्वर्गलोक की प्राप्ति, मनुष्य योनि में जन्म लेना और पशु-पक्षी आदि योनियों में (तथा नरकों में) उत्पन्न होना।[1] बस, ये ही तीन योनियाँ हैं।।9।। इनमें से जो जीव मनुष्य योनि में उत्पन्न होता है, पर यदि आलस्य और प्रमाद का त्याग करके अहिंसा का पालन करते हुए दान आदि शुभ कर्म करता है, तो उसे इन पुण्य कर्मों के कारण स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।।10।। राजेन्द्र! इसके विपरीत कारण उपस्थित होने पर मनुष्य योनि में तथा पशु-पक्षी आदि योनियों में जन्म लेना पड़ता है। तात! पशु-पक्षी आदि योनियों में जन्म लेने का जो विशेष कारण है, उसे भी यहाँ बतलाया जाता है। जो काम, क्रोध, लोभ और हिंसा में तत्पर होकर मानवता से भ्रष्ट हो जाता है, अपनी मनुष्य होने की योग्यता को भी खो देता है, वही पशु-पक्षी आदि योनि में जन्म पाता है।।11-12।। फिर मनुष्य जन्म की प्राप्ति के लिए उसका तिर्यक् योनि से उद्धार होता है। गौओं तथा अश्वों को भी उस योनि से छुटकारा मिलकर देवत्व की प्राप्ति होती है, यह बात देखी जाती है।।13।। तात! प्रयोजनवश वही वह जीव इन्हीं तीन गतियों में भटकता रहता है। कर्मफल को चाहने वाला देहाभिमानी जीव परवशता से बार-बार जन्म लेता और दुःख सुख का उपभोग करता है। किन्तु तात! जो कर्म फल में आसक्त नहीं है, वह प्रजाजनों के पालन की भावना वाला द्विज अपने आत्मा को नित्य परब्रह्म परमात्मा में भलीभाँति स्थित कर देता है।।14-15।।

युधिष्ठिर उवाच

शब्दे स्पर्शे च रूपे च तथैव रसगन्धयोः।
तस्याधिष्ठानमव्यग्रो ब्रूहि सर्प यथातथम्॥16॥
किं न गृह्णाति विषयान् युगपच्च महामते।
एतावदुच्यतां चोक्तं सर्वं पन्नगसत्तम॥17॥

युधिष्ठिर ने पूछा—सर्प! शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इनका आधार क्या है? आप शान्तचित्त होकर इसे यथार्थ रूप से बताइये।।16।। महामते! पन्नगश्रेष्ठ! मन विषयों का एक ही साथ ग्रहण क्यों नहीं करता? इन उपर्युक्त सब बातों को बताइये।।17।।

---

1. ये ही क्रमशः ऊर्ध्वगति, मध्यगति और अधोगति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

सर्प उवाच

यदात्मद्रव्यमायुष्मन् देहसंश्रयणान्वितम्।
करणाधिष्ठितं भोगानुपभुङ्क्ते यथाविधि॥18॥
ज्ञानं चैवात्र बुद्धिश्च मनश्च भरतर्षभ।
तस्य भोगाधिकरणे करणानि निबोध मे॥19॥
मनसा तात पर्येति क्रमशो विषयानिमान्।
विषयायतनस्थो हि भूतात्मा क्षेत्रमास्थितः॥20॥
तत्र चापि नरव्याघ्र मनो जन्तोर्विधीयते।
तस्माद्युगपदत्रास्य ग्रहणं नोपपद्यते॥21॥
स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरन्तरमाश्रितः।
बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम्॥22॥
बुद्धेरुत्तरकाला च वेदना दृश्यते बुधैः।
एष वै राजशार्दूल विधिः क्षेत्रज्ञभावनः॥23॥

सर्प ने कहा—आयुष्मन्! स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का आश्रय लेने वाला और इन्द्रियों से युक्त जो आत्मा नामक द्रव्य है, वही विधिपूर्वक नाना प्रकार के भोगों को भोगता है॥18॥ भरतश्रेष्ठ! ज्ञान, बुद्धि और मन—ये ही शरीर में उसके करण समझो॥19॥ तात! पाँच विषयों के आधारभूत पञ्चभूतों से बने हुए शरीर में स्थित जीवात्मा इस शरीर में स्थित हुआ ही मन के द्वारा क्रमशः इन पाँच विषयों का उपभोग करता है॥20॥ नरश्रेष्ठ! विषयों के उपभोग के समय (बुद्धि के द्वारा) इस जीवात्मा का मन किसी एक ही विषय में नियन्त्रित कर दिया जाता है। इसीलिए उसके द्वारा एक ही साथ अनेक विषयों का ग्रहण सम्भव नहीं हो पाता है॥21॥ पुरुषसिंह! वही आत्मा दोनों भौंहों के बीच स्थित होकर उत्तम अधम बुद्धि को भिन्न-भिन्न द्रव्यों की ओर प्रेरित करता है॥22॥ बुद्धि की क्रिया के उत्तर काल में भी विद्वान् पुरुषों को एक अनुभूति दिखायी देती है। नृपश्रेष्ठ! यही क्षेत्रज्ञ आत्मा को प्रकाशित करने वाली विधि है॥23॥

युधिष्ठिर उवाच

मनसश्चापि बुद्धेश्च ब्रूहि मे लक्षणं परम्।
एतदध्यात्मविदुषां परं कार्यं विधीयते॥24॥

युधिष्ठिर ने कहा—सर्प! मुझे मन और बुद्धि का उत्तम लक्षण बतलाओ। अध्यात्म शास्त्र के विद्वानों के लिए इनको जानना परम कर्त्तव्य कहा गया है॥24॥

सर्प उवाच

बुद्धिरात्मानुगा तात उत्पातेन विधीयते।
तदाश्रिता हि सञ्ज्ञैषा बुद्धिस्तस्यैषिणी भवेत्॥25॥
बुद्धिरुत्पद्यते कार्यान्मनस्तूत्पन्नमेव हि।
बुद्धेर्गुणविधानेन मनस्तद्गुणवद् भवेत्॥26॥

एतद् विशेषणं तात मनोबुद्ध्योर्यदन्तरम्।
त्वमप्यत्राभिसम्बुद्धः कथं वा मन्यते भवान्॥27।।

सर्प ने कहा—तात! आत्मा के भोग और मोक्ष का सम्पादन करना ही बुद्धि का प्रयोजन है तथा आत्मा का आश्रय लेकर ही बुद्धि विषयों की ओर जाती है। इस कारण वह आत्मा का अनुसरण करने वाली मानी जाती है। वह भी आत्मा की चेतन शक्ति के सम्बन्ध से ही है तथा बुद्धि के गुण विधान से अर्थात् उसकी ज्ञान शक्ति के प्रभाव से ही मन उस गुण से सम्पन्न होता है यानी इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। अत: बुद्धि तो कार्य के आरम्भ से ही प्रकट होती है और मन सदैव प्रकट रहता है (कार्य को देखकर ही कारण की सत्ता व्यक्त होती है—यह न्याय है)।।25-26।। तात! मन और बुद्धि की यह विशेषता ही उन दोनों का अन्तर है। तुम भी तो इस विषय के अच्छे ज्ञाता हो, अत: बताओ, तुम्हारी कैसी मान्यता है?।।27।।

युधिष्ठिर उवाच

अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठ शुभा बुद्धिरियं तव।
विदितं वेदितव्यं ते कस्मात् समनुपृच्छसि॥28।।
सर्वज्ञं त्वां कथं मोह आविशत् स्वर्गवासिनम्।
एवमद्भुतकर्माणमिति मे संशयो महान्॥29।।

युधिष्ठिर बोले—बुद्धिमानों में श्रेष्ठ! तुम्हारी यह बुद्धि बड़ी उत्तम है। तुम तो जानने योग्य वस्तु को जान चुके हो। फिर मुझसे क्यों पूछते हो?।।28।। तुम तो सर्वज्ञ तथा स्वर्ग के निवासी थे। तुमने बड़े अद्भुत कर्म किए थे। भला, तुम्हें कैसे मोह हो गया? (अर्थात् ब्राह्मणों का अपमान कैसे कर बैठे?) इस बात को लेकर मेरे मन में बड़ा संशय हो रहा है।।29।।

सर्प उवाच

सुप्रज्ञमपि चेच्छूरमृद्धिर्मोहयते नरम्।
वर्तमानः सुखे सर्वो मुह्यतीति मतिर्मम॥30।।
सोऽहमैश्वर्यमोहेन मदाविष्टो युधिष्ठिर।
पतितःप्रतिसम्बुद्धस्त्वां तु सम्बोधयाम्यहम्॥31।।
कृतं कार्यं महाराज त्वया मम परन्तप।
क्षीणः शापः सुकृच्छ्रो मे त्वया सम्भाष्य साधुना॥32।।
अहं हि दिवि दिव्येन विमानेन चरन् पुरा।
अभिमानेन मत्तः सन् कञ्चिन्नान्यमचिन्तयम्॥33।।
ब्रह्मर्षिदेवगन्धर्वयक्षराक्षसपन्नगाः।
करान् मम प्रयच्छन्ति सर्वे त्रैलोक्यवासिनः॥34।।
चक्षुषा यं प्रपश्यामि प्राणिनं पृथिवीपते।
तस्य तेजो हराम्याशु तद्धि दृष्टेर्बलं मम॥35।।
ब्रह्मर्षीणां सहस्रं हि उवाह शिबिकां मम।

स मामपनयो राजन् भ्रंशयामास वै श्रियः॥36॥
तत्र ह्यगस्त्यः पादेन वहन्स्पृष्टो मया मुनिः।
अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तः सर्पस्त्वं च भवेति ह॥37॥
ततस्तस्माद् विमानाग्र्यात् प्रच्युतश्च्युतलक्षणः।
प्रपतन्बुबुधेऽऽत्मानं व्यालीभूतमधोमुखम्।
आयाचं तमहं विप्रं शापस्यान्तो भवेदिति॥38॥

सर्प ने कहा—राजन्! यह धन सम्पत्ति बड़े-बड़े बुद्धिमान् और शूरवीर मनुष्य को भी मोह में डाल देती है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि सुख विलास में डूबे हुए सभी लोग मोहित हो जाते हैं॥30॥ युधिष्ठिर! इसी तरह मैं भी ऐश्वर्य के मोह से मदोन्मत्त हो गया और मुझे उस समय चेत हुआ, जब कि मेरा अधःपतन हो चुका। अतः अब तुम्हें सचेत कर रहा हूँ॥31॥ परन्तप महाराज! आज तुमने मेरा बहुत बड़ा कार्य किया। इस समय तुम जैसे श्रेष्ठ पुरुष से वार्तालाप करने के कारण मेरा वह अत्यन्त कष्टदायक शाप निवृत्त हो गया॥32॥ पूर्वकाल में (जब मैं स्वर्ग का राजा था) दिव्य विमान पर चढ़कर आकाश में विचरता रहता था। उस समय अभिमान से मत्त होकर मैं दूसरे किसी को कुछ नहीं समझता था॥33॥ ब्रह्मर्षि, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग आदि जो भी इस त्रिलोकी में निवास करने वाले प्राणी थे, वे सब मुझे कर देते थे॥34॥ राजन्! उन दिनों मैं जिस प्राणी की ओर आँख उठाकर देखता था, उसका तेज तत्काल हर लेता था। यह थी मेरी दृष्टि की शक्ति॥35॥ हजारों ही ब्रह्मर्षि मेरी पालकी ढोते थे। महाराज! मेरे इसी अत्याचार ने मुझे स्वर्ग की राज्यलक्ष्मी से भ्रष्ट कर दिया॥36॥ स्वर्ग में मुनिवर अगस्त्य जब मेरी पालकी ढो रहे थे, तब मैंने उन्हें लात मारी, इसलिए उन्होंने मुझे ऐसा कहा कि 'तू निश्चय ही सर्प हो जा'॥37॥ उनके इतना कहते ही मेरे सभी राजचिह्न लुप्त हो गये। मैं (सर्प होकर) उस उत्तम विमान से नीचे गिरा। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैं सर्प होकर नीचे मुँह किये गिर रहा हूँ, तब मैंने शाप का अन्त होने के उद्देश्य से उन ब्रह्मर्षि से याचना करते हुए कहा॥38॥

सर्प उवाच

प्रमादात् सम्प्रमूढस्य भगवन् क्षन्तुमर्हसि।
ततः स मामुवाचेदं प्रपतन्तं कृपान्वितः॥39॥
युधिष्ठिरो धर्मराजः शापात् त्वां मोक्षयिष्यति।
अभिमानस्य घोरस्य पापस्य च नराधिप॥40॥
फले क्षीणे महाराज फलं पुण्यमवाप्स्यसि।
ततो मे विस्मयो जातस्तद् दृष्ट्वा तपसो बलम्॥41॥
ब्रह्म च ब्राह्मणत्वं च येन त्वाहमचूचुदम्।
सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता॥42॥
साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप।
अरिष्ट एष ते भ्राता भीमसेनो महाबलः।

स्वस्ति तेऽस्तु महाराज गमिष्यामि दिवं पुनः।।43।।
(स चायं पुरुषव्याघ्र कालः पुण्य उपागतः।
तदस्मात् कारणात् पार्थ कार्यं मम महत् कृतम्॥)

सर्प ने कहा—भगवन्! मैं प्रमादवश विवेकशून्य हो गया था। इसीलिए मुझसे यह घोर अपराध हुआ है। आप कृपया क्षमा करें। तब मुझे गिरते देख वे महर्षि दया से द्रवित होकर बोले—।।39।। 'राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हें इस शाप से मुक्त करेंगे। महाराज! जब तुम्हारे इस अभिमान और घोर पाप का फल क्षीण हो जायगा, तब तुम्हें फिर तुम्हारे पुण्यों का फल प्राप्त होगा।' उस समय मुझे उनकी तपस्या का महान् बल देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ।।40-41।। राजन्! उनका ब्रह्म ज्ञान और ब्राह्मणत्व देखकर भी मुझे बड़ा विस्मय हुआ। इसीलिए इस विषय में मैंने तुमसे पहले प्रश्न किया था। राजन्! सत्य, इन्द्रियसंयम, तपस्या, दान, अहिंसा और धर्मपरायणता—ये सद्गुण ही सदा मनुष्यों को सिद्धि प्राप्ति कराने वाले हैं, जाति और कुल नहीं। ये रहे तुम्हारे भाई महाबली भीमसेन जो सर्वथा सकुशल हैं। महाराज! तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं पुनः स्वर्गलोक को जाऊँगा।।42।। पुरुषसिंह! पार्थ! तुम्हारे शुभागमन से ही यह पुण्यकाल प्राप्त हुआ है, इस कारण तुमने मेरा बहुत बड़ा कार्य सिद्ध कर दिया।।43।।

वैशम्पायन उवाच

(ततस्तस्मिन् मुहूर्ते तु विमानं कामगामि वै।
अवपातेन महता तत्रावाप तदुत्तमम्॥)
इत्युक्त्वाऽऽजगरं देहं मुक्त्वा स नहुषो नृपः।
दिव्यं वपुः समास्थाय गतस्त्रिदिवमेव ह॥44।।
युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रात्रा भीमेन सङ्गतः।
धौम्येन सहितः श्रीमानाश्रमं पुनरागमत्॥45।।
ततो द्विजेभ्यः सर्वेभ्यः समेतेभ्यो यथातथम्।
कथयामास तत् सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः॥46।।
तच्छ्रुत्वा ते द्विजाः सर्वे भ्रातरश्चास्य ते त्रयः।
आसन् सुव्रीडिता राजन् द्रौपदी च यशस्विनी॥47।।
ते तु सर्वे द्विजश्रेष्ठाः पाण्डवानां हितेप्सया।
मैवमित्यब्रुवन् भीमं गर्हयन्तोऽस्य साहसम्॥48।।
पाण्डवास्तु भयान्मुक्तं प्रेक्ष्य भीमं महाबलम्।
हर्षमाहारयाञ्चक्रुर्विजह्रुश्च मुदा युताः॥49।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर उसी मुहूर्त में एक इच्छानुसार चलने वाला उत्तम विमान बड़े जोर की उड़ान के साथ वहाँ आ पहुँचा। युधिष्ठिर से पूर्वोक्त बातें कहकर राजा नहुष ने अजगर का शरीर त्याग दिया और दिव्य शरीर धारण करके वे पुनः स्वर्गलोक को चले गये।।44।। धर्मात्मा युधिष्ठिर भी भाई भीमसेन से मिलकर उनके और धौम्यमुनि के साथ फिर अपने आश्रम पर लौट आये।।45।। तब

धर्मराज युधिष्ठिर ने वहाँ एकत्र हुए सब ब्राह्मणों को भीमसेन के सर्प के चंगुल से छूटने का वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया।।46।। राजन्! यह सुनकर सब ब्राह्मण, उनके तीनों भाई और यशस्विनी द्रौपदी सब-के-सब बड़े लज्जित हुए।।47।। तब पाण्डवों के हित की इच्छा से वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण भीमसेन को उनके दुःसाहस की निन्दा करते हुए बोले—'अब कभी ऐसा न करना'।।48।। पाण्डव लोग महाबली भीमसेन को भय से मुक्त हुआ देख हर्ष से उल्लसित हो उठे और प्रसन्नतापूर्वक वहाँ विचरने लगे।।49।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि अजगरपर्वणि भीममोचने
एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 181 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत आजगर पर्व में भीमसेन के सर्प के भय से छूटने से सम्बन्ध रखने वाला एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।181।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठक के 2 श्लोक मिलाकर कुल 51 श्लोक हैं।)

नहुषगीता सम्पूर्णा

मार्कण्डेयगीता

प्रथमोऽध्यायः

काम्यक वन में पाण्डवों के पास भगवान् श्रीकृष्ण, मुनिवर मार्कण्डेय तथा नारदजी का आगमन एवं युधिष्ठिर के पूछने पर मार्कण्डेयजी के द्वारा कर्म फल भोग का विवेचन

वैशम्पायन उवाच

काम्यकं प्राप्य कौरव्य युधिष्ठिरपुरोगमाः।
कृतातिथ्या मुनिगणैर्निषेदुः सह कृष्णया॥1॥
ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतः पाण्डुनन्दनान्।
ब्राह्मणा बहवस्तत्र समन्तात्पर्यवारयन्॥2॥
अथाब्रवीद् द्विजः कश्चिदर्जुनस्य प्रियः सखा।
स एष्यति महाबाहुर्वशी शौरिरुदारधीः॥3॥
विदिता हि हरेर्यूयमिहायाताः कुरूद्वहाः।
सदा हि दर्शनाकाङ्क्षी श्रेयोऽन्वेषी च वो हरिः॥4॥
बहुवत्सरजीवी च मार्कण्डेयो महातपाः।
स्वाध्यायतपसा युक्तः क्षिप्रं युष्मान् समेष्यति॥5॥
तथैव ब्रुवतस्तस्य प्रत्यदृश्यत केशवः।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन रथेन रथिनां वरः॥6॥
मघवानिव पौलोम्या सहितः सत्यभामया।
उपायाद् देवकीपुत्रो दिदृक्षुः कुरुसत्तमान्॥7॥
अवतीर्य रथात् कृष्णो धर्मराजं यथाविधि।
ववन्दे मुदितो धीमान्भीमं च बलिनां वरम्॥8॥
पूजयामास धौम्यं च यमाभ्यामभिवादितः।
परिष्वज्य गुडाकेशं द्रौपदीं पर्यसान्त्वयत्॥9॥
स दृष्ट्वा फाल्गुनं वीरं चिरस्य प्रियमागतम्।
पर्यष्वजत दाशार्हः पुनः पुनररिन्दमः॥10॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन जनमेजय! काम्यक वन में पहुँचने पर वहाँ के मुनियों ने युधिष्ठिर आदि पाण्डवों का यथोचित आदर सत्कार किया। फिर वे द्रौपदी के साथ वहाँ रहने लगे। जब वे विश्वास पात्र पाण्डव वहाँ निवास करने लगे, तब बहुत-से ब्राह्मणों ने आकर सब ओर से उन्हें घेर लिया (और उन्हीं के साथ रहने लगे)। तदनन्तर एक दिन एक ब्राह्मण आया। उसने यह सूचना दी कि सबको वश में

रखने वाले उदार बुद्धि महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण, जो अर्जुन के प्रिय सखा हैं, अभी यहाँ पधारेंगे।।1-3 कुरुश्रेष्ठ पाण्डवो! आप लोगों का यहाँ आना भगवान् श्रीकृष्ण को ज्ञात हो चुका है। वे सदा आप लोगों को देखने के लिए उत्सुक रहते हैं और आपके कल्याण की बात सोचते रहते हैं।।4।। एक शुभ समाचार और है, चिरजीवी महातपस्वी मार्कण्डेय मुनि, जो स्वाध्याय और तपस्या में संलग्न रहा करते हैं, शीघ्र ही आप लोगों से मिलेंगे।।5।। ब्राह्मण इस प्रकार की बातें कह ही रहा था कि शैव्य और सुग्रीव नामक अश्वों से जुते हुए रथ द्वारा रथियों में श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण आते हुए दिखायी दिये। जैसे शची के साथ इन्द्र आये हों, उसी प्रकार सत्यभामा के साथ देवकीनन्दन श्रीहरि उन कुरुकुल शिरोमणि पाण्डवों से मिलने वहाँ आये।।6-7।। परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण ने रथ से उतर कर बड़ी प्रसन्नता के साथ धर्मराज युधिष्ठिर तथा बलवानों में श्रेष्ठ भीम को विधिपूर्वक प्रणाम किया।।8।। फिर धौम्य मुनि का पूजन किया। तत्पश्चात् नकुल-सहदेव ने आकर उनके चरणों में मस्तक झुकाये। इसके बाद निद्राविजयी अर्जुन को हृदय से लगाकर श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को भलीभाँति सांत्वना दी। परमप्रिय वीरवर अर्जुन को दीर्घकाल के बाद आया देख शत्रुदमन श्रीकृष्ण ने उन्हें बार-बार हृदय से लगाया।।9-10।।

तथैव सत्यभामापि द्रौपदीं परिषस्वजे।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां कृष्णस्य महिषी प्रिया॥11।।
ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सभार्याः सपुरोहिताः।
आनर्चुः पुण्डरीकाक्षं परिवव्रुश्च सर्वशः॥12।।
कृष्णस्तु पार्थेन समेत्य विद्वान् धनञ्जयेनासुरतर्जनेन।
बभौ यथा भूतपतिर्महात्मा समेत्य साक्षाद्भगवान् गुहेन॥13।।
ततः समस्तानि किरीटमाली वनेषु वृत्तानि गदाग्रजाय।
उक्त्वा यथावत् पुनरन्वपृच्छत् कथं सुभद्रा च स चाभिमन्युः॥14।।
स पूजयित्वा मधुहा यथावत्पार्थं च कृष्णां च पुरोहितं च।
उवाच राजानमभिप्रशंसन् युधिष्ठिरं तत्र सहोपविश्य॥15।।
धर्मः परः पाण्डव राज्यलाभात् तस्यार्थमाहुस्तप एव राजन्।
सत्यार्जवाभ्यां चरता स्वधर्मं जितस्त्वयायं च परश्च लोकः॥16।।
अधीतमग्रे चरता व्रतानि सम्यग् धनुर्वेदमवाप्य कृत्स्नम्।
क्षात्रेण धर्मेण वसूनि लब्ध्वा सर्वे ह्यवाप्ताः क्रतवः पुराणाः॥17।।
न ग्राम्यधर्मेषु रतिस्तवास्ति कामान्न किञ्चित् कुरुषे नरेन्द्र।
न चार्थलोभात् प्रजहासि धर्मं तस्मात् प्रभावादसि धर्मराजः॥18।।
दानं च सत्यं च तपश्च राजन् श्रद्धा च बुद्धिश्च क्षमा धृतिश्च।
अवाप्य राष्ट्राणि वसूनि भोगानेषा परा पार्थ सदा रतिस्ते॥19।।
यदा जनौघः कुरुजाङ्गलानां कृष्णां सभायामवशामपश्यत्।
अपेतधर्मव्यवहारवृत्तं सहेत तत् पाण्डव कस्त्वदन्यः॥20।।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण की प्यारी रानी सत्यभामा ने पाण्डवों की प्रिय पत्नी पाञ्चाली का आलिङ्गन किया।।11।। तदनन्तर पत्नी और पुरोहित सहित समस्त पाण्डवों ने कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण का पूजन किया और सब-के-सब उन्हें घेर कर बैठ गये।।12।। कुन्तीनन्दन अर्जुन से मिलकर उसी प्रकार सुशोभित हुए, जैसे परम महात्मा साक्षात् भगवान् भूतनाथ शङ्कर कार्तिकेय से मिलकर शोभा पाते हैं।।13।। तदनन्तर किरीटधारी अर्जुन ने गद के बड़े भाई भगवान् श्रीकृष्ण को वनवास के सारे वृत्तान्त यथार्थ रूप से बताकर पुन: उनसे पूछा—'सुभद्रा और अभिमन्यु कैसे हैं?'।।14।। भगवान् मधुसूदन ने अर्जुन, द्रौपदी तथा पुरोहित धौम्य का सम्मान करके सबके साथ बैठकर राजा युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए कहा—।।15।। 'राजन्! पाण्डुनन्दन! राज्य लाभ की अपेक्षा धर्म महान् है। धर्म की वृद्धि के लिए तप को ही प्रधान साधन बताया गया है। आप सत्य और सरलता आदि सद्गुणों के साथ-साथ स्वधर्म का पालन करते हैं, अत: आपने इस लोक और परलोक दोनों को जीत लिया है।।16।। आपने सबसे पहले ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन किया है। तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की है। इसके बाद क्षत्रिय धर्म के अनुसार धन का उपार्जन करके समस्त प्राचीन यज्ञों का अनुष्ठान किया है। नरेश्वर! जिसमें गंवारों की आसक्ति हुआ करती है, उस स्त्री सम्बन्धी भोग में आपका अनुराग नहीं है। आप कामना से प्रेरित होकर कुछ नहीं करते हैं और धन के लोभ से धर्म का त्याग नहीं करते हैं। इसी प्रभाव से धर्मराज कहलाते हैं।।17-18।। राजन्! आपने राज्य, धन और भोगों को पाकर भी सदा दान, सत्य, तप, श्रद्धा, बुद्धि, क्षमा तथा धृति—इन सद्गुणों से ही प्रेम किया है।।19।। पाण्डुनन्दन! कुरुजाङ्गल देश की जनता ने द्यूतसभा में द्रौपदी को जिस विवश अवस्था में देखा था और उस समय उसके साथ जो पापपूर्ण बर्ताव किया गया था, उसे आपके सिवा दूसरा कौन सह सकता था?।।20।।

असंशयं सर्वसमृद्धकाम: क्षिप्रं प्रजा: पालयितासि सम्यक्।
इमे वयं निग्रहणे कुरूणां यदि प्रतिज्ञा भवत: समाप्ता।।21।।
धौम्यं च भीमं च युधिष्ठिरं च यमौ च कृष्णां च दशार्हसिंह:।
उवाच दिष्ट्या भवतां शिवेन प्राप्त: किरीटी मुदित: कृतास्त्र:।।22।।
प्रोवाच कृष्णामपि याज्ञसेनीं दशार्हभर्ता सहित: सुहृद्भि:।
दिष्ट्या समग्रासि धनञ्जयेन समागतेत्येवमुवाच कृष्ण:।।23।।
कृष्णे धनुर्वेदरतिप्रधानास्तवात्मजास्ते शिशव: सुशीला:।
सद्भि: सदैवाचरितं सुहृद्भिश्चरन्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि।।24।।
राज्येन राष्ट्रैश्च निमन्त्र्यमाणा: पित्रा च कृष्णे तव सोदरैश्च।
न यज्ञसेनस्य न मातुलानां गृहेषु बाला रतिमाप्नुवन्ति।।25।।
आनर्तमेवाभिमुखा: शिवेन गत्वा धनुर्वेदरतिप्रधाना:।
तवात्मजा वृष्णिपुरं प्रविश्य न दैवतेभ्य: स्पृहयन्ति कृष्णे।।26।।
यथा त्वमेवार्हसि तेषु वृत्तं प्रयोक्तुमार्या च तथैव कुन्ती।

तेष्वप्रमादेन तथा करोति तथैव भूयश्च तथा सुभद्रा॥27॥
यथानिरुद्धस्य यथाभिमन्योर्यथा सुनीथस्य यथैव भानोः।
तथा विनेता च गतिश्च कृष्णे तवात्मजानामपि रौक्मिणेयः॥28॥
गदासिचर्मग्रहणेषु शूरानस्त्रेषु शिक्षासु रथाश्वयाने।
सम्यग् विनेता विनयत्यतन्द्रस्तांश्चाभिमन्युः सततं कुमारः॥29॥
स चापि सम्यक् प्रणिधाय शिक्षां शस्त्राणि चैषां विधिवत् प्रदाय।
तवात्मजानां च तथाभिमन्योः पराक्रमैस्तुष्यति रौक्मिणेयः॥30॥

धर्मराज! अब शीघ्र ही आपके सारे मनोरथ पूर्ण होंगे और आप राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करेंगे, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। यदि आपकी वनवास विषयक प्रतिज्ञा पूरी हो जाय, तो हम सब लोग आपके विरोधी कौरवों को दण्ड देने के लिए उद्यत हैं'॥21॥ तदनन्तर यदुकुलसिंह भगवान् श्रीकृष्ण ने धौम्य, युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी की ओर देखते हुए कहा—'सौभाग्य की बात है कि आप लोगों द्वारा की हुई मङ्गल कामना से किरीटधारी अर्जुन अस्त्र विद्या के पारङ्गत विद्वान् होकर सानन्द लौट आये हैं'॥22॥ इसे बाद दशार्हकुल के स्वामी श्रीकृष्ण, जो अपने सुहृदों से घिरे हुए थे, यज्ञसेनकुमारी द्रौपदी से बोले—'कृष्णे! अर्जुन से मिलकर तेरी सारी कामना सफल हो गयी, यह बड़े आनन्द की बात है। तेरे पुत्र बड़े सुशील हैं। धनुर्वेद में उनका विशेष अनुराग है। वे अपने सुहृदों सहित सत्पुरुषों द्वारा आचरित सदाचार और धर्म का पालन करते हैं॥23-24॥ कृष्णे! तुम्हारे पिता और भाइयों ने राज्य तथा राजकीय उपकरणों—यान-वाहन आदि की सुविधा दिखाकर अनेक बार आमन्त्रित किया, तो भी तुम्हारे बच्चे अपने नाना यज्ञसेन और मामा धृष्टद्युम्न आदि के घरों में रहना पसन्द नहीं करते हैं—वहाँ उनका मन नहीं लगता है॥25॥ कृष्णे! उनका धनुर्वेद में विशेष प्रेम है। वे आनर्त देश में ही कुशलपूर्वक जाकर वृष्णिपुरी द्वारिका में रहते हैं। वहाँ रहकर उन्हें देवताओं के लोक में भी जाने की इच्छा नहीं होती॥26॥ उन बालकों को तुम सदाचार की जैसी शिक्षा दे सकती हो, आर्या कुन्ती भी उन्हें जैसा सदाचार सिखा सकती हैं, वैसी शिक्षा देने की योग्यता सुभद्रा में भी है। वह बड़ी सावधानी के साथ वैसी ही शिक्षा देकर उन सब बालकों को सदाचार में प्रतिष्ठित करती है॥27॥ कृष्णे! रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न जिस प्रकार अनिरुद्ध, अभिमन्यु, सुनीथ और भानु को धनुर्वेद की शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार वे तुम्हारे पुत्रों के भी शिक्षक और संरक्षक हैं॥28॥ शिक्षा देने में निपुण और आलस्य रहित कुमार अभिमन्यु तुम्हारे शूरवीर पुत्रों को गदा और ढाल-तलवार के दाँव पेंच सिखाते हैं। अन्यान्य अस्त्रों की भी शिक्षा देते हैं। साथ ही रथ चलाने और घोड़े हाँकने की कला भी सिखाते हैं। वे सदा उनकी शिक्षा-दीक्षा में संलग्न रहते हैं॥29॥ अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की उत्तम शिक्षा दे उनके लिए उन्होंने विधिपूर्वक नाना प्रकार के शस्त्र भी दे रखे हैं। तुम्हारे पुत्रों और अभिमन्यु के पराक्रम देखकर रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न बहुत सन्तुष्ट रहते हैं॥30॥

यदा विहारं प्रसमीक्षमाणा: प्रयान्ति पुत्रास्तव याज्ञसेनि।
एकैकमेषामनुयान्ति तत्र रथाश्च यानानि च दन्तिनश्च॥31।।
अथाब्रवीद् धर्मराजं तु कृष्णो दशार्हयोधा: कुकुरान्धकाश्च।
एते निदेशं तव पालयन्तस्तिष्ठन्तु यत्रेच्छसि तत्र राजन्॥32।।
आवर्ततां कार्मुकवेगवाता हलायुधप्रग्रहणा मधूनाम्।
सेना तवार्थेषु नरेन्द्र यत्ता ससादिपत्त्यश्वरथा सनागा॥33।।
प्रस्थाप्यतां पाण्डव धार्तराष्ट्र: सुयोधन: पापकृतां वरिष्ठ:।
स सानुबन्ध: ससुहृद्गणश्च भौमस्य सौभाधिपतेश्च मार्गम्॥34।।
कामं तथा तिष्ठ नरेन्द्र तस्मिन् यथा कृतस्ते समय: सभायाम्।
दाशार्हयोधैस्तु हतारियोधं प्रतीक्षतां नागपुरं भवन्तम्॥35।।
व्यपेतमन्युर्व्यपनीतपाप्मा विहृत्य यत्रेच्छसि तत्र कामम्।
तत: प्रसिद्धं प्रथमं विशोक: प्रपत्स्यसे नागपुरं सुराष्ट्रम्॥36।।
ततस्तदाज्ञाय मतं महात्मा यथावदुक्तं पुरुषोत्तमेन।
प्रशस्य विप्रेक्ष्य च धर्मराज: कृताञ्जलि: केशवमित्युवाच॥37।।
असंशयं केशव पाण्डवानां भवान् गतिस्त्वच्छरणा हि पार्था:।
कालोदये तच्च ततश्च भूय: कर्ता भवान् कर्म न संशयोऽस्ति॥38।।
यथाप्रतिज्ञं विहृतश्च काल: सर्वा: समा द्वादश निर्जनेषु।
अज्ञातचर्यां विधिवत् समाप्य भवद्गता: केशव पाण्डवेया:॥39।।
एषैव बुद्धिर्जुषतां सदा त्वां सत्ये स्थिता: केशव पाण्डवेया:।
सदानधर्मा: सजना: सदारा: सबान्धवास्त्वच्छरणा हि पार्था:॥40।।

याज्ञसेनी! तुम्हारे पुत्र जब नगर की शोभा देखने के लिए घूमने निकलते हैं, उस समय उनमें से प्रत्येक के लिए रथ, घोड़े, हाथी और पालकी आदि सवारियाँ पीछे-पीछे जाती हैं'।।31।। तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—'राजन्! दशार्ह, कुकुर और अन्धक वंश के योद्धा जहाँ आप चाहें, वहीं आपकी आज्ञा का पालन करते हुए खड़े रह सकते हैं।।32।। नरेन्द्र! जिसके धनुष का वेग वायु वेग के समान है, हल धारण करने वाले बलरामजी जिसके सेनापति हैं, वह सवारों सहित हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकों से भरी हुई मथुरा प्रान्तवासी गोपों की चतुरङ्गिणी सेना सदा युद्ध के लिए संनद्ध हो आपकी अभीष्ट सिद्धि के लिए निरन्तर तत्पर रहती है।।33।। पाण्डुनन्दन! अब आप पापात्माओं के शिरोमणि धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन को उसके सुहृदों और सम्बन्धियों सहित उसी मार्ग पर भेज दीजिये, जहाँ भौमासुर और शाल्व गये हैं।।34।। महाराज! आप चाहें तो सभा में जो प्रतिज्ञा आपने की है, उसी के पालन में लगे रहें। यदि आपकी आज्ञा हो तो यदुवंशी योद्धा आपके समस्त शत्रुओं को मार डालें और हस्तिनापुर नगर आपके शुभागमन की प्रतीक्षा करता रहे।।35।। राजन्! आप क्रोध, दीनता और दुःख से दूर रहकर जहाँ जहाँ आपकी इच्छा हो वहाँ वहाँ घूम लीजिये। तत्पश्चात् शोकरहित हो अपनी प्रसिद्ध और उत्तम राजधानी हस्तिनापुर में प्रवेश कीजियेगा'।।36।। पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना मत अच्छी तरह व्यक्त

कर दिया था। उसे जानकर महात्मा धर्मराज ने भगवान् केशव की भूरि-भूरि प्रशंसा की और हाथ जोड़कर उनकी ओर देखते हुए कहा—।।37।। 'केशव! इसमें सन्देह नहीं कि आप ही पाण्डवों के अवलम्ब हैं। कुन्ती के हम सभी पुत्र आपकी ही शरण में हैं। जब समय आएगा, तब आप पुनः अपने इस कथन के अनुसार सब कार्य करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है।।38।। भगवन्! हमने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार बारह वर्षों का सारा समय निर्जन वनों में घूमकर बिता दिया है। अब अज्ञातवास की अवधि भी विधिपूर्वक पूर्ण कर लेने पर हम समस्त पाण्डव आपकी आज्ञा के अधीन हो जाएँगे। नाथ! आपकी भी बुद्धि सदा ऐसी ही बनी रहे। ये पाण्डव सदा सत्य के पालन में संलग्न रहे हैं। प्रभो! दान धर्म से युक्त हम सभी कुन्ती पुत्र सेवक, परिजन, स्त्री, पुत्र तथा बन्धु-बान्धवों सहित केवल आपकी ही शरण में हैं'।।39-40।।

वैशम्पायन उवाच

तथा वदति वार्ष्णेये धर्मराजे च भारत।
अथ पश्चात् तपोवृद्धो बहुवर्षसहस्रधृक्॥41।।
प्रत्यदृश्यत धर्मात्मा मार्कण्डेयो महातपाः।
अजरश्चामरश्चैव रूपौदार्यगुणान्वितः॥42।।
व्यदृश्यत तथा युक्तो यथा स्यात् पञ्चविंशकः।
तमागतमृषिं वृद्धं बहुवर्षसहस्रिणम्॥43।।
आनर्चुर्ब्राह्मणाः सर्वे कृष्णश्च सह पाण्डवैः।
तमर्चितं सुविश्वस्तमासीनमृषिसत्तमम्।
ब्राह्मणानां मतेनाह पाण्डवानां च केशवः॥44।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! भगवान् श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार बातें कर रहे थे, उसी समय अनेक सहस्र वर्षों की अवस्था वाले तपोवृद्ध धर्मात्मा महातपस्वी मार्कण्डेय मुनि आते दिखायी दिये। वे रूप और उदारता आदि गुणों से सम्पन्न तथा अजर-अमर थे। वैसे बड़े बूढ़े होने पर भी वे ऐसे दिखायी दे रहे थे, मानो पच्चीस वर्ष की अवस्था के तरुण हों। हजारों वर्षों की अवस्था वाले उन वृद्ध महर्षि के प्रधारने पर पाण्डवों सहित भगवान् श्रीकृष्ण तथा समस्त ब्राह्मणों ने उनका पूजन किया। पूजित होने पर जब वे अत्यन्त विश्वास करने योग्य मुनिश्रेष्ठ आसन पर विराजमान हो गये, तब वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और पाण्डवों की सम्मति से भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा।।41-44।।

कृष्ण उवाच

शुश्रूषवः पाण्डवास्ते ब्राह्मणाश्च समागताः।
द्रौपदी सत्यभामा च तथाहं परमं वचः॥45।।
पुरावृत्ताः कथाः पुण्याः सदाचारान् सनातनान्।
राज्ञां स्त्रीणामृषीणां च मार्कण्डेय विचक्ष्व नः॥46।।

श्रीकृष्ण बोले—मार्कण्डेयजी! आपके उपदेश सुनने की इच्छा से यहाँ पाण्डवों के साथ-साथ बहुत-से ब्राह्मण भी पधारे हुए हैं। द्रौपदी, सत्यभामा तथा मैं, सब लोग आपकी उत्तम वाणी का रसास्वादन करना चाहते हैं। आप प्राचीनकाल के नरेशों, नारियों तथा महर्षियों की पुरातन पुण्य कथाएँ सुनाइये और हम लोगों से सनातन सदाचार का वर्णन कीजिये।।45-46।।

वैशम्पायन उवाच

तेषु तत्रोपविष्टेषु देवर्षिरपि नारदः।
आजगाम विशुद्धात्मा पाण्डवानवलोककः॥47।।
तमप्यथ महात्मानं सर्वे ते पुरुषर्षभाः।
पाद्यार्घ्याभ्यां यथान्यायमुपतस्थुर्मनीषिणः॥48।।
नारदस्त्वथ देवर्षिर्ज्ञात्वा तांस्तु कृतक्षणान्।
मार्कण्डेयस्य वदतस्तां कथामन्वमोदत॥49।।
उवाच चैनं कालज्ञः स्मयन्निव सनातनः।
ब्रह्मर्षे कथ्यतां यत् ते पाण्डवेषु विवक्षितम्॥50।।
एवमुक्तः प्रत्युवाच मार्कण्डेयो महातपाः।
क्षणं कुरुध्वं विपुलमाख्यातव्यं भविष्यति॥51।।
एवमुक्ताः क्षणं चक्रुः पाण्डवाः सह तैर्द्विजैः।
मध्यन्दिने यथाऽऽदित्यं प्रेक्षन्तस्ते महामुनिम्॥52

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे सब लोग वहाँ बैठे ही थे कि विशुद्ध अन्तःकरण वाले देवर्षि नारद भी पाण्डवों से मिलने के लिए वहाँ आये।।47।। तब उन सभी श्रेष्ठ मनीषी और उन महात्मा नारदजी को भी पाद्य और अर्घ्य आदि देकर उनका यथायोग्य सत्कार किया।।48।। तब देवर्षि नारद ने उन सबको कथा सुनने के लिए अवसर निकाल कर तैयार हुआ जान वक्ता मार्कण्डेय मुनि की उस कथा सुनने के विचार का अनुमोदन किया।।49।। उस समय उपर्युक्त अवसर के ज्ञाता सनातन भगवान् श्रीकृष्ण ने मार्कण्डेयजी से मुसकराते हुए कहा—'महर्षे! आप पाण्डवों से जो कुछ कहना चाहते थे, वह कहिये'।।40।। उनके ऐसा कहने पर महातपस्वी मार्कण्डेय मुनि ने कहा—'पाण्डवो! तुम सब लोग क्षण भर के लिए चुप हो जाओ, क्योंकि मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है।।51।। उनके इस प्रकार आज्ञा देने पर उन ब्राह्मणों सहित पाण्डव मध्याह्न काल के सूर्य की भाँति तेजस्वी उन महामुनि को देखते हुए उनके वक्तव्य को सुनने के लिए चुप हो गये।।52।।

वैशम्पायन उवाच

तं विवक्षन्तमालक्ष्य कुरुराजो महामुनिम्।
कथासञ्जननार्थाय चोदयामास पाण्डवः॥53।।
भवान् दैवतदैत्यानामृषीणां च महात्मनाम्।
राजर्षीणां च सर्वेषां चरितज्ञः पुरातनः॥54।।

सेव्यश्चोपासितव्यश्च मतो नः काङ्क्षितश्चिरम्।
अयं च देवकीपुत्रः प्राप्तोऽस्मानवलोककः॥55।।
भवत्येव हि मे बुद्धिर्दृष्ट्वाऽऽत्मानं सुखाच्च्युतम्।
धार्तराष्ट्रांश्च दुर्वृत्तानृध्यतः प्रेक्ष्य सर्वशः॥56।।
कर्मणः पुरुषः कर्ता शुभस्याप्यशुभस्य वा।
स फलं तदुपाश्नाति कथं कर्ता स्विदीश्वरः॥57।।
कुतो वा सुखदुःखेषु नृणां ब्रह्मविदां वर।
इह वा कृतमन्वेति परदेहेऽथ वा पुनः॥58।।
देही च देहं सन्त्यज्य मृग्यमाणः शुभाशुभैः।
कथं संयुज्यते प्रेत्य इह वा द्विजसत्तम॥59।।
ऐहलौकिकमेवेह उताहो पारलौकिकम्।
क्व च कर्माणि तिष्ठन्ति जन्तोः प्रेतस्य भार्गव॥60।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महामुनि मार्कण्डेयजी को बोलने के लिए उद्यत देख कुरुराज पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने कथा प्रारम्भ करने के लिए इस प्रकार प्रेरित किया—।।53।। 'महामुने! आप देवताओं, दैत्यों, ऋषियों, महात्माओं तथा समस्त राजर्षियों के चरित्रों को जानने वाले प्राचीन महर्षि हैं।।54।। हमारे मन में दीर्घकाल से यह इच्छा थी कि आपकी सेवा और सत्सङ्ग का शुभ अवसर मिले। ये देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण भी हमसे मिलने के लिए यहाँ पधारे हैं।।55।। ब्रह्मन्! जब मैं अपने को सुख से वञ्चित पाता हूँ और दुराचारी धृतराष्ट्र पुत्रों को सब प्रकार से समृद्धिशाली होते देखता हूँ, तब स्वभावतः ही मेरे मन में एक विचार उठता है।।56।। मैं सोचता हूँ, शुभ और अशुभ कर्म करने वाला जो पुरुष है, वह अपने उन कर्मों का फल कैसे भोगता है तथा ईश्वर उन कर्म फलों का रचयिता कैसे होता है? ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ मुनीश्वर! सुख और दुःख की प्राप्ति कराने वाले कर्मों में मनुष्यों की प्रवृत्ति कैसे होती है? मनुष्य का किया कर्म इस लोक में ही उसका अनुसरण करता है अथवा पारलौकिक शरीर में भी?।।57-58।। द्विजश्रेष्ठ! देहधारी जीव अपने शरीर का त्याग करके जब परलोक में चला जाता है, तब उसके शुभ और अशुभ कर्म उसको कैसे प्राप्त करते हैं और इहलोक और परलोक में जीव का उन कर्मों के फल से किस प्रकार संयोग होता है।।59।। भृगुनन्दन! कर्मों का फल इसी लोक में प्राप्त होता है या परलोक में? प्राणी की मृत्यु हो जाने पर उसके कर्म कहाँ रहते हैं?'।।60।।

मार्कण्डेय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यथावद् वदतां वर।
विदितं वेदितव्यं ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि॥61।।
अत्र ते कथयिष्यामि तदिहैकमनाः शृणु।
यथेहामुत्र च नरः सुखदुःखमुपाश्नुते॥62।।
निर्मलानि शरीराणि विशुद्धानि शरीरिणाम्।

ससर्ज धर्मतन्त्राणि पूर्वोत्पन्न: प्रजापति:॥63॥
अमोघफलसङ्कल्पा: सुव्रता: सत्यवादिन:।
ब्रह्मभूता नरा: पुण्या: पुराणा: कुरुसत्तम॥64॥
सर्वे देवै: समायान्ति स्वच्छन्देन नभस्तलम्।
ततश्च पुनरायान्ति सर्वे स्वच्छन्दचारिण:॥65॥
स्वच्छन्दमरणाश्चासन् नरा: स्वच्छन्दचारिण:।
अल्पबाधा निरातङ्का: सिद्धार्था निरुपद्रवा:॥66॥
द्रष्टारो देवसङ्घानामृषीणां च महात्मनाम्।
प्रत्यक्षा: सर्वधर्माणां दान्ता विगतमत्सरा:॥67॥
आसन् वर्षसहस्रीयास्तथा पुत्रसहस्रिण:।
तत: कालान्तरेऽन्यस्मिन् पृथिवीतलचारिण:॥68॥
कामक्रोधाभिभूतास्ते मायाव्याजोपजीविन:।
लोभमोहाभिभूताश्च त्यक्ता देहैस्ततो नरा:॥69॥
अशुभै: कर्मभि: पापास्तिर्यङ्निरयगामिन:।
संसारेषु विचित्रेषु पच्यमाना: पुन: पुन:॥70॥

मार्कण्डेयजी बोले—वक्ताओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुम्हारा यह प्रश्न यथार्थ और युक्तिसङ्गत है। तुम्हें जानने योग्य सभी बातों का ज्ञान है, तो भी तुम केवल लोकमर्यादा की रक्षा के लिए यह प्रश्न उपस्थित करते हो॥61॥ मनुष्य इहलोक या परलोक में जिस प्रकार सुख और दु:ख भोगता है, इसके विषय में तुम्हें अपना विचार बताऊँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो॥62॥ सर्वप्रथम प्रजापति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। उन्होंने जीवों के लिए निर्मल तथा विशुद्ध शरीर बनाये। साथ ही धर्म का ज्ञान कराने वाले धर्मशास्त्रों को प्रकट किया॥63॥ उस समय के सब मनुष्य उत्तम व्रत का पालन करने वाले तथा सत्यवादी थे। उनका अभीष्ट फल विषयक सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं होता था। कुरुश्रेष्ठ! वे सभी मनुष्य ब्रह्मस्वरूप, पुण्यात्मा और चिरजीवी थे॥64॥ सभी स्वच्छन्दतापूर्वक आकाश मार्ग से उड़कर देवताओं से मिलने जाते और स्वच्छन्दचारी होने के कारण इच्छा होते ही पुन: वहाँ से लौट आते थे। वे अपनी इच्छा होने पर ही मरते और इच्छा के अनुसार ही जीवित रहते थे। स्वतन्त्रतापूर्वक सर्वत्र विचरण करते थे। उनके मार्ग में बाधाएँ बहुत कम आती थीं। उन्हें कोई भय नहीं होता था। वे उपद्रव शून्य तथा पूर्णकाम थे॥65-66॥ देवताओं तथा महात्मा ऋषियों के समुदाय का उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन होता था। वे सभी धर्मों को प्रत्यक्ष करने वाले, जितेन्द्रिय तथा ईर्ष्या से रहित होते थे॥67॥ उनकी आयु हजारों वर्षों की होती थी और वे हजार हजार पुत्र उत्पन्न करते थे। तदनन्तर कुछ काल के पश्चात् भूतल पर विचरने वाले मनुष्य काम और क्रोध के वशीभूत हो गये। वे छल-कपट और दम्भ से जीविका चलाने लगे। उनके मन को लोभ और मोह ने दबा लिया। इन दोषों के कारण उन्हें इच्छा न होते हुए भी अपना शरीर त्यागने के लिए विवश होना पड़ा॥68-69॥ वे पाप परायण हो अपने अशुभ कर्मों के फलस्वरूप

पशु-पक्षी आदि की योनियों में जाने और नरक में गिरने लगे। विचित्र सांसारिक योनियों में बारम्बार जन्म लेकर दुःख से संतप्त होने लगे।।70।।

मोघेष्टा मोघसङ्कल्पा मोघज्ञाना विचेतसः।
सर्वाभिशङ्किनश्चैव संवृत्ताः क्लेशदायिनः॥71।।
अशुभैः कर्मभिश्चापि प्रायशः परिचिह्निताः।
दौष्कुल्या व्याधिबहुला दुरात्मानोऽप्रतापिनः॥72।।
भवन्त्यल्पायुषः पापा रौद्रकर्मफलोदयाः।
नाथन्तः सर्वकामानां नास्तिका भिन्नचेतसः॥73।।
जन्तोः प्रेतस्य कौन्तेय गतिः स्वैरिह कर्मभिः।
प्राज्ञस्य हीनबुद्धेश्च कर्मकोशः क्व तिष्ठति॥74।।
क्वस्थस्तत् समुपाश्नाति सुकृतं यदि वेतरत्।
इति ते दर्शनं यच्च तत्राप्यनुनयं शृणु॥75।।
अयमादिशरीरेण देवसृष्टेन मानवः।
शुभानामशुभानां च कुरुते सञ्चयं महत्॥76।।
आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम्।
सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभवः॥77।।
तत्रास्य स्वकृतं कर्म छायेवानुगतं सदा।
फलत्यथ सुखार्हो वा दुःखार्हो वाथ जायते॥78।।
कृतान्तविधिसंयुक्तः स जन्तुर्लक्षणैः शुभैः।
अशुभैर्वा निरादानो लक्ष्यते ज्ञानदृष्टिभिः॥79।।
एषा तावदबुद्धीनां गतिरुक्ता युधिष्ठिर।
अतः परं ज्ञानवतां निबोध गतिमुत्तमाम्॥80।।

उनकी कामनाएँ, उनके सङ्कल्प और उनके ज्ञान सभी निष्फल थे। उनकी स्मरण शक्ति क्षीण हो गयी थी। वे सभी परस्पर सन्देह करते हुए एक-दूसरे के लिए क्लेशदायक बन गये।।71।। उनके शरीर में प्रायः उनके अशुभ कर्मों के चिह्न (कोढ़ आदि) प्रकट होने लगे। कोई अधम कुल में जन्म लेते, कोई बहुत-से रोगों के शिकार बने रहते और कोई दुष्ट स्वभाव के हो जाते थे। उनमें से कोई भी प्रतापी नहीं होता था।।72।। इस प्रकार पाप कर्मों में प्रवृत्त होने वाले पापियों की आयु उनके कर्मानुसार बहुत कम हो गयी। उनके पाप कर्मों के भयङ्कर फल प्रकट होने लगे। वे अपनी सभी अभीष्ट वस्तुओं के लिए दूसरों के सामने हाथ फैलाकर याचना करने लगे। कितने ही नास्तिक और विचलित चित्त हो गये।।73।। कुन्तीनन्दन! इस संसार में मृत्यु के पश्चात् जीव की गति उनके अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही होती है। परन्तु मरने के बाद ज्ञानी और अज्ञानी कर्म राशि कहाँ रहती हैं? कहाँ रहकर वह पुण्य अथवा पाप का फल भोगता है? इस दृष्टि से जो तुमने प्रश्न किया है, उसके उत्तर में मैं सिद्धान्त बता रहा हूँ, सुनो।।74-75।। यह मनुष्य ईश्वर के रचे हुए पूर्व शरीर के द्वारा (अन्तःकरण में) शुभ

और अशुभ कर्मों की बहुत बड़ी राशि सञ्चय कर लेता है। फिर आयु पूर्ण होने पर वह इस जरा-जर्जर स्थूल शरीर का त्याग करके उसी क्षण किसी दूसरी योनि (शरीर) में प्रकट होता है। एक शरीर को छोड़ने और दूसरे को ग्रहण करने के बीच में क्षण भर के लिए भी वह असंसारी नहीं होता।।76-77।। वहाँ दूसरे स्थूल शरीर में उसके पूर्वजन्म का किया हुआ कर्म छाया की भाँति सदा उसके पीछे लगा रहता और यथासमय अपना फल देता है। इसलिए जीव सुख अथवा दु:ख भोगने के योग्य होकर जन्म लेता है। यमराज के विधान (पुण्य और पाप के फल भोग) में नियुक्त हुआ जीव अपने शुभ अथवा अशुभ लक्षणों द्वारा अपने को मिले हुए सुख अथवा दु:ख का निवारण करने में असमर्थ है। यह बात ज्ञान दृष्टि वाले महात्मा पुरुषों द्वारा देखी जाती है।।78-79।। युधिष्ठिर! यह तत्त्वज्ञान शून्य मूढ़ मनुष्यों की स्वर्ग-नरक रूप गति बतायी गयी है। अब इसके बाद विवेकी पुरुषों को प्राप्त होने वाली उत्तम गति का वर्णन सुनो।।80।।

मनुष्यास्तप्ततपस: सर्वागमपरायणा:।
स्थिरव्रता: सत्यपरा गुरुशुश्रूषणे रता:॥81।।
सुशीला: शुक्लजातीया: क्षान्ता दान्ता: सुतेजस:।
शुचियोन्यन्तरगता: प्रायश: शुभलक्षणा:॥82।।
जितेन्द्रियत्वाद् वशिन: शुक्लत्वान्मन्दरोगिण:।
अल्पाबाधपरित्रासाद् भवन्ति निरुपद्रवा:॥83।।
च्यवन्तं जायमानं च गर्भस्थं चैव सर्वश:।
स्वमात्मानं परं चैव बुध्यन्ते ज्ञानचक्षुषा॥84।।
ऋषयस्ते महात्मान: प्रत्यक्षागमबुद्धय:।
कर्मभूमिमिमां प्राप्य पुनर्यान्ति सुरालयम्॥85।।
किञ्चिद् दैवाद्धठात् किञ्चित् किञ्चिदेव स्वकर्मभि:।
प्राप्नुवन्ति नरा राजन् मा तेऽस्त्वन्या विचारणा॥86।।
इमामत्रोपमां चापि निबोध वदतां वर।
मनुष्यलोके यच्छ्रेय: परं मन्ये युधिष्ठिर॥87।।
इह वैकस्य नामुत्र अमुत्रैकस्य नो इह।
इह वामुत्र चैकस्य नामुत्रैकस्य नो इह॥88।।
धनानि येषां विपुलानि सन्ति नित्यं रमन्ते सुविभूषिताङ्गा:।
तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको नासौ सदा देहसुखे रतानाम्॥89।।
ये योगयुक्तास्तपसि प्रसक्ता: स्वाध्यायशीला जरयन्ति देहान्।
जितेन्द्रिया: प्राणिवधे निवृत्तास्तेषामसौ नायमरिघ्न लोक:॥90।।

ज्ञानी मनुष्य तपस्वी, सम्पूर्ण शास्त्रों के स्वाध्याय में तत्पर, स्थिरतापूर्वक व्रत का पालन करने वाले, सत्यपरायण, गुरु सेवा में संलग्न, सुशील, शुक्लजातीय (सात्त्विक), क्षमाशील, जितेन्द्रिय और अत्यन्त तेजस्वी होते हैं। वे शुद्ध योनि में जन्म लेते और प्राय: शुभ लक्षणों से सुशोभित होते हैं।।81-82।। जितेन्द्रिय होने के कारण वे मन को

वश में रखते हैं और सात्त्विक अन्तःकरण के होने के कारण नीरोग होते हैं। दुःख और त्रास के क्षीण होने के कारण वे उपद्रव रहित होते हैं। विवेकी पुरुष गर्भ से गिरते, जन्म लेते अथवा गर्भ में ही रहते समय भी ज्ञान दृष्टि से अपने आपका और परमात्मा का सर्वथा यथार्थ अनुभव करते हैं।।83-84।। लौकिक तथा शास्त्रीय ज्ञान को प्रत्यक्ष करने वाले वे महामना ऋषि इस कर्म भूमि में आकर फिर देवलोक में चले जाते हैं।।85।। राजन्! विवेकी मनुष्य कर्मों का कुछ फल प्रारब्धवश प्राप्त करते हैं, कुछ कर्मों का फल हठात् प्राप्त होता है और कुछ कर्मों का फल अपने उद्योग से ही प्राप्त होता है। इस विषय में तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिए।।86।। वक्ताओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! मनुष्य लोक में मैं जिसे परम कल्याण की बात समझता हूँ, उसके विषय में यह उदाहरण सुनो। कोई मनुष्य इस लोक में ही परम सुख पाता है, परलोक में नहीं। किसी को परलोक में ही परम कल्याण की प्राप्ति होती है, इस लोक में नहीं। किसी को इहलोक और परलोक दोनों में परम श्रेय की प्राप्ति होती है तथा किसी को न तो परलोक में उत्तम सुख मिलता है और न इस लोक में ही।।87-88।। जिनके पास बहुत धन होता है, वे अपने शरीर को हर तरह से सजाकर नित्य विषयों में रमण करते अर्थात् विषय सुख भोगते हैं। शत्रुसूदन! सदा अपने शरीर के ही सुख में आसक्त हुए उन मनुष्यों को केवल इसी लोक में सुख मिलता है, परलोक में उनके लिए सुख का सर्वथा अभाव है।।89।। शत्रुसूदन! जो लोग इस लोक में योगसाधन करते हैं, तपस्या में संलग्न होते हैं और स्वाध्याय में तत्पर रहते हैं तथा इस प्रकार प्राणियों की हिंसा से दूर रहकर इन्द्रियों को संयम में रखते हुए (तपस्या द्वारा) अपने शरीर को दुर्बल कर देते हैं, उनके लिए इस लोक में सुख नहीं है। वे परलोक में ही परम कल्याण के भागी होते हैं।।90।।

ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते तेषामयं चैव परश्च लोकः॥91।।
ये नैव विद्यां न तपो न दानं न चापि मूढाः प्रजने यतन्ति।
न चानुगच्छन्ति सुखानि भोगांस्तेषामयं नैव परश्च लोकः॥92।।
सर्वे भवन्तस्त्वतिवीर्यसत्त्वा दिव्यौजसः संहननोपपन्नाः।
लोकादमुष्मादवनिं प्रपन्नाः स्वधीतविद्याः सुरकार्यहेतोः॥93।।
कृत्वैव कर्माणि महान्ति शूरास्तपोदमाचारविहारशीलाः।
देवानृषीन् प्रेतगणांश्च सर्वान् सन्तर्पयित्वा विधिना परेण॥94।।
स्वर्गं परं पुण्यकृतो निवासं क्रमेण सम्प्राप्स्यथ कर्मभिः स्वैः।
मा भूद् विशङ्का तव कौरवेन्द्र दृष्ट्वाऽऽत्मनः क्लेशमिमं सुखार्हम्॥95।।

जो लोग कर्त्तव्य बुद्धि से पहले धर्म का ही आचरण करते हैं और उस धर्म से ही (न्याययुक्त) धन का उपार्जन कर यथासमय स्त्री से विवाह करके उसके साथ यज्ञ-याग और ईश्वर भक्ति आदि का अनुष्ठान करते हैं, उनके लिए इहलोक और परलोक दोनों ही सुखद हैं।।91।। जो मूढ़ न विद्या के लिए, न तप के लिए और न दान के लिए ही प्रयत्न करते हैं एवं न धर्मपूर्वक सन्तानोत्पादन के लिए ही यत्नशील होते हैं, वे न तो

सुख पाते हैं और न भोग ही भोगते हैं। उनके लिए न तो इस लोक में सुख है और न परलोक में।।92।। राजा युधिष्ठिर! तुम सब लोग बड़े पराक्रमी और धैर्यवान् हो। तुममें अलौकिक ओज भरा है। तुम सुदृढ़ शरीर से सम्पन्न हो और देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए परलोक से इस पृथिवी पर अवतीर्ण हुए हो। यही कारण है कि तुमने सभी उत्तम विद्याएँ सीख ली हैं।।93।। तुम सभी शूरवीर तथा तपस्या, इन्द्रिय संयम और उत्तम आचार-व्यवहार में सदा ही तत्पर रहने वाले हो। अत: (इस संसार में बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य करके) देवताओं, ऋषियों और समस्त पितरों को उत्तम विधि से तृप्त करोगे। तत्पश्चात् अपने सत्कर्मों के फलस्वरूप तुम सब लोग क्रम से पुण्यात्माओं के निवास स्थान परम स्वर्गलोक को चले जाओगे। इसलिए कौरवराज! तुम (अपने वर्तमान कष्ट को देखकर) मन में किसी प्रकार की शङ्का को स्थान न दो। यह क्लेश तो तुम्हारे भावी सुख का ही सूचक है।।94-95।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्याय:॥ 183 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।183।।

द्वितीयोऽध्याय:

तपस्वी तथा स्वधर्म परायण ब्राह्मणों का माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयं महात्मानमूचु: पाण्डुसुतास्तदा।
माहात्म्यं द्विजमुख्यानां श्रोतुमिच्छाम कथ्यताम्॥1।।
एवमुक्त: स भगवान्मार्कण्डेयो महातपा:।
उवाच सुमहातेजा: सर्वशास्त्रविशारद:॥2।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय पाण्डुपुत्रों ने महात्मा मार्कण्डेयजी ने कहा—'मुने! हम श्रेष्ठ ब्राह्मणों का माहात्म्य सुनना चाहते हैं, आप उसका वर्णन कीजिये'।।1।। उनके ऐसा कहने पर महातपस्वी, महान् तेजस्वी और सम्पूर्ण शास्त्रों के निपुण विद्वान् भगवान् मार्कण्डेय ने इस प्रकार कहा।।2।।

मार्कण्डेय उवाच

हैहयानां कुलकरो राजा परपुरञ्जय:।
कुमारो रूपसम्पन्नो मृगयां व्यचरद् बली॥3।।
चरमाणस्तु सोऽरण्ये तृणवीरुत्समावृते।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं ददर्श मुनिमन्तिके॥4।।
स तेन निहतोऽरण्ये मन्यमानेन वै मृगम्।

व्यथितः कर्म तत् कृत्वा शोकोपहतचेतनः॥5॥
जगाम हैहयानां वै सकाशं प्रथितात्मनाम्।
राज्ञां राजीवनेत्रोऽसौ कुमारः पृथिवीपतिः।
तेषां च तद् यथावृत्तं कथयामास वै तदा॥6॥
तं चापि हिंसितं तात मुनिं मूलफलाशिनम्।
श्रुत्वा दृष्ट्वा च ते तत्र बभूवुर्दीनमानसाः॥7॥
कस्यायमिति ते सर्वे मार्गमाणास्ततस्ततः।
जग्मुश्चारिष्टनेम्नोऽथ तार्क्ष्यस्याश्रममञ्जसा॥8॥
तेऽभिवाद्य महात्मानं तं मुनिं नियतव्रतम्।
तस्थुः सर्वे स तु मुनिस्तेषां पूजामथाहरत्॥9॥
ते तमूचुर्महात्मानं न वयं सत्क्रियां मुने।
त्वत्तोऽर्हाः कर्मदोषेण ब्राह्मणो हिंसितो हि नः॥10॥

मार्कण्डेयजी बोले—हैहयवंशी क्षत्रियों की वंश परम्परा को बढ़ाने वाला राजा परपुरञ्जय, जो अभी कुमारावस्था में था, बड़ा ही सुन्दर और बलवान् था, एक दिन वन में हिंसक पशुओं को मारने के लिए गया॥3॥ तृण और लताओं से भरे हुए उस वन में घूमते-घूमते उस राजकुमार ने एक मुनि को देखा, जो काले हिंसक पशु के चर्म की ओढ़नी ओढ़े थोड़ी ही दूर पर बैठे थे॥4॥ राजकुमार ने उन्हें हिंसक पशु ही समझा और उस वन में अपने बाणों से उन्हें मार डाला। अज्ञानवश यह पाप कर्म करके वह राजकुमार व्यथित हो शोक से मूर्च्छित हो गया॥5॥ तत्पश्चात् होश में आकर वह सुविख्यात हैहयवंशी राजाओं के पास गया। वहाँ पृथ्वी का पालन करने वाले उस कमलनयन राजकुमार ने उन सबके सामने इस दुर्घटना का यथावत् समाचार कहा॥6॥ तात! फल-मूल का आहार करने वाले एक मुनि की हिंसा हो गयी, यह सुनकर और देखकर वे सभी क्षत्रिय मन-ही-मन बहुत दुःखी हुए॥7॥ फिर वे सब-के-सब जहाँ तहाँ यह पता लगाते हुए कि ये मुनि किसके पुत्र हैं, शीघ्र ही कश्यपनन्दन अरिष्टनेमि के आश्रम पर गये॥8॥ वहाँ नियमपूर्वक उत्तम व्रत का पालन करने वाले उन महात्मा मुनि को प्रणाम करके वे सब खड़े हो गये। तब मुनि ने उनके लिए अर्घ्य आदि पूजन-सामग्री अर्पित की॥9॥ यह देखकर उन्होंने उन महात्मा से कहा—'मुने! हम अपने दूषित कर्म के कारण आपसे सत्कार पाने योग्य नहीं रह गये हैं। हमसे एक ब्राह्मण की हत्या हो गयी है'॥10॥

तानब्रवीत् स विप्रर्षिः कथं वो ब्राह्मणो हतः।
क्व चासौ ब्रूत सहिताः पश्यध्वं मे तपोबलम्॥11॥
ते तु तत् सर्वमखिलमाख्यायास्मै यथातथम्।
नापश्यंस्तमृषिं तत्र गतासुं ते समागताः॥12॥
अन्वेषमाणाः सव्रीडाः स्वप्नवद्गतचेतनाः।
तानब्रवीत् तत्र मुनिस्तार्क्ष्यः परपुरञ्जय॥13॥
स्यादयं ब्राह्मणः सोऽथ युष्माभिर्यो विनाशितः।
पुत्रो ह्ययं मम नृपास्तपोबलसमन्वितः॥14॥

ते च दृष्ट्वैव तमृषिं विस्मयं परमं गताः।
महदाश्चर्यमिति वै ते ब्रुवाणा महीपते॥15॥
मृतो ह्ययमुपानीतः कथं जीवितमाप्तवान्।
किमेतत् तपसो वीर्यं येनायं जीवितः पुनः॥16॥
श्रोतुमिच्छामहे विप्र यदि श्रोतव्यमित्युत।
स तानुवाच नास्माकं मृत्युः प्रभवते नृपाः॥17॥
कारणं वः प्रवक्ष्यामि हेतुयोगसमासतः।
(मृत्युः प्रभवने येन नास्माकं नृपसत्तमाः।
शुद्धाचारा अनलसाः सन्ध्योपासनतत्पराः॥
शुद्धान्नाः शुद्धसुधना ब्रह्मचर्यव्रतान्विताः।)
सत्यमेवाभिजानीमो नानृते कुर्महे मनः।
स्वधर्ममनुतिष्ठामस्तस्मान्मृत्युभयं न नः॥18॥
यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां कथयामहे।
नैषां दुश्चरितं ब्रूमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः॥19॥
अतिथीनन्नपानेन भृत्यानत्यशनेन च।
सम्भोज्य शेषमश्नीमस्तस्मान्मृत्युभयं न नः॥20॥

यह सुनकर उन ब्रह्मर्षि ने कहा—'आप लोगों से ब्राह्मण की हत्या कैसे हुई? और वह मरा हुआ ब्राह्मण कहाँ है? बताइये। फिर सब लोग एक साथ मेरी तपस्या का बल देखियेगा'।।11।। उनके इस प्रकार पूछने पर क्षत्रियों ने मुनि के वध का सारा समाचार उनसे ठीक-ठीक कह सुनाया और उन्हें साथ लेकर सभी उस स्थान पर आये, जहाँ मुनि की हत्या हुई थी। किन्तु उन्होंने वहाँ मरे हुए मुनि की लाश नहीं देखी।।12।। फिर तो वे लज्जित होकर इधर-उधर उसकी खोज करने लगे। स्वप्न की भाँति उनकी चेतना लुप्त हो गयी। तब मुनिवर अरिष्टनेमि ने उनसे कहा—'परपुरञ्जय! तुम लोगों ने जिसे मार डाला था, वह यही ब्राह्मण तो नहीं है? राजाओ! यह मेरा तपोबल सम्पन्न पुत्र है'।।13-14।। राजन्! उन महर्षि को जीवित हुआ देख वे सभी क्षत्रिय बड़े विस्मित हुए और कहने लगे 'यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।।15।। ये मरे हुए मुनि यहाँ कैसे लाये गये और किस प्रकार इन्हें जीवन मिला? क्या यह तपस्या की ही शक्ति है, जिससे फिर ये जीवित हो गये?।।16।। ब्रह्मन्! हम यह सब रहस्य सुनना चाहते हैं। यदि सुनने योग्य हो तो कहिये।' तब महर्षि ने उन क्षत्रियों से कहा—'राजाओ! हम लोगों पर मृत्यु का वश नहीं चलता।।17।। इसका क्या कारण है? यह मैं तर्क और युक्ति के साथ सङ्क्षेप से बता रहा हूँ। श्रेष्ठ नृपतिगण! हम लोगों पर मृत्यु का प्रभाव क्यों नहीं पड़ता—यह बताते हैं, सुनिये हम शुद्ध आचार-विचार से रहते हैं, आलस्य से रहित हैं, प्रतिदिन संध्योपासन के परायण रहते हैं, शुद्ध अन्न खाते हैं और शुद्ध रीति से न्यायपूर्वक धनोपार्जन करते हैं; यही नहीं हम लोग सदा ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में लगे रहते हैं। हम लोग केवल सत्य को ही जानते हैं। कभी झूठ में मन नहीं लगाते और सदा अपने धर्म का पालन करते रहते हैं। इसलिए हमें मृत्यु से भय नहीं है।।18।। ब्रह्मणों के जो शुभ

कर्म हैं, उन्हीं की हम चर्चा करते हैं। उनके दोषों का बखान नहीं करते हैं। इसलिए हमें मृत्यु से भय नहीं है। हम अतिथियों को अन्न और जल से तृप्त करते हैं। हमारे ऊपर जिनके भरण-पोषण का भार है, उन्हें हम पूरा भोजन देते हैं और उन्हें भोजन कराने से बचा हुआ अन्न हम स्वयं भोजन करते हैं, अतः हमें मृत्यु से भय नहीं है।।19-20।।

शान्ता दान्ताः क्षमाशीलास्तीर्थदानपरायणाः।
पुण्यदेशनिवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः।
तेजस्विदेशवासाच्च तस्मान्मृत्युभयं न नः॥21।।
एतद् वै लेशमात्रं वः समाख्यातं विमत्सराः।
गच्छध्वं सहिताः सर्वे न पापाद् भयमस्ति वः॥22।।
एवमस्त्विति ते सर्वे प्रतिपूज्य महामुनिम्।
स्वदेशमगमन् हृष्टा राजानो भरतर्षभ॥23।।

हम सदा शम, दम, क्षमा, तीर्थ सेवन और दान में तत्पर रहने वाले हैं तथा पवित्र देश में निवास करते हैं। इसलिए भी हमें मृत्यु से भय नहीं है। इतना ही नहीं, हम लोग तेजस्वी पुरुषों के देश में निवास करते हैं अर्थात् सत्पुरुषों के समीप रहा करते हैं। इस कारण से भी हमें मृत्यु से भय नहीं होता है।।21।। ईर्ष्या रहित राजाओ! ये सब बातें मैंने तुम्हें सङ्क्षेप से सुनायी हैं। अब तुम सब लोग एक साथ यहाँ से जाओ, तुम्हें ब्रह्म हत्या के पाप से भय नहीं रहा।।22।। भरतश्रेष्ठ! यह सुनकर उन हैहयवंशी क्षत्रियों ने 'एवमस्तु' कहकर महामुनि अरिष्टनेमि का सम्मान एवं पूजन किया और प्रसन्न होकर अपने स्थान को चले गये।।23।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमहात्म्यकथने चतुशरीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 184 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में ब्राह्मण माहात्म्य वर्णन विषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।184।।

तृतीयोऽध्यायः

ब्राह्मण की महिमा के विषय में अत्रि मुनि तथा राजा पृथु की प्रशंसा

मार्कण्डेय उवाच

भूय एव महाभाग्यं ब्राह्मणानां निबोध मे।
वैन्यो नामेह राजर्षिरश्वमेधाय दीक्षितः॥1।।
तमत्रिर्गन्तुमारेभे वित्तार्थमिति नः श्रुतम्।
भूयोऽर्थं नानुरुध्यत् स धर्मव्यक्तिनिदर्शनात्॥2।।
स विचिन्त्य महातेजा वनमेवान्वरोचयत्।
धर्मपत्नीं समाहूय पुत्रांश्चेदमुवाच ह॥3।।
प्राप्स्यामः फलमत्यन्तं बहुलं निरुपद्रवम्।

अरण्यगमनं क्षिप्रं रोचतां वो गुणाधिकम्॥4॥
तं भार्या प्रत्युवाचाथ धर्ममेवानुतन्वती।
वैन्यं गत्वा महात्मानमर्थयस्व धनं बहु॥5॥
स ते दास्यति राजर्षिर्यजमानोऽर्थितो धनम्।
तत आदाय विप्रर्षे प्रतिगृह्य धनं बहु॥6॥
भृत्यान् सुतान् संविभज्य ततो व्रज यथेप्सितम्।
एष वै परमो धर्मो धर्मविद्भिरुदाहृतः॥7॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणों का और भी माहात्म्य मुझसे सुनो। पूर्वकाल में वेन के पुत्र राजर्षि पृथु ने, जो यहाँ वैन्य के नाम से प्रसिद्ध थे, किसी समय अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा ली॥1॥ उन दिनों महात्मा अत्रि ने धन माँगने की इच्छा से उनके पास जाने का विचार किया, यह बात हमारे सुनने में आयी है; परन्तु ऐसा करने से उनको अपना धर्मात्मापन प्रकट करना पड़ता। इसलिए फिर उन्होंने धर्म के लिए अनुरोध नहीं किया॥2॥ महातेजस्वी अत्रि ने मन-ही-मन कुछ सोच-विचार कर (तपस्या के लिए) वन में ही जाने का निश्चय किया और अपनी धर्मपत्नी तथा पुत्रों को बुलाकर इस प्रकार कहा—॥3॥ 'हम लोग वन में रहकर (तप द्वारा) धर्म का बहुत अधिक उपद्रव शून्य फल पा सकते हैं। अत: शीघ्र वन में चलने का विचार तुम सब लोगों को रुचिकर होना चाहिये; क्योंकि ग्राम्य जीवन की अपेक्षा वन में रहना अधिक लाभप्रद है'॥4॥ अत्रि की पत्नी भी धर्म का ही अनुसरण करने वाली थी। उसने यज्ञ-यागादि के रूप में धर्म के ही विस्तार पर दृष्टि रखकर पति को उत्तर दिया—'प्राणनाथ! आप धर्मात्मा राजा वैन्य के पास जाकर अधिक धन की याचना कीजिये॥5॥ वे राजर्षि इन दिनों यज्ञ कर रहे हैं, अत: इस अवसर पर यदि आप उनसे मांगेंगे तो वे आपको अधिक धन देंगे। ब्रह्मर्षे! वहाँ से प्रचुर धन लाकर भरण-पोषण करने योग्य इन पुत्रों को बाँट दीजिये; फिर इच्छानुसार वन को चलिये। धर्मज्ञ महात्माओं ने यही परम धर्म बताया है'॥6-7॥

अत्रिरुवाच

कथितो मे महाभागो गौतमेन महात्मना।
वैन्यो धर्मार्थसंयुक्तः सत्यव्रतसमन्वितः॥8॥
द्वेष्टारः किन्तु नः सन्ति वसन्तस्तत्र वै द्विजाः।
यथा मे गौतमः प्राह ततो न व्यवसाम्यहम्॥9॥
तत्र स्म वाचं कल्याणीं धर्मकामार्थसंहिताम्।
मयोक्तामन्यथा ब्रूयुस्ततस्ते वै निरर्थिकाम्॥10॥
गमिष्यामि महाप्राज्ञे रोचते मे वचस्तव।
गाश्च मे दास्यते वैन्यः प्रभूतं चार्थसञ्चयम्॥11॥
एवमुक्त्वा जगामाशु वैन्ययज्ञं महातपाः।
गत्वा च यज्ञायतनमत्रिस्तुष्टाव तं नृपम्॥12॥
वाक्यैर्मङ्गलसंयुक्तैः पूजयानोऽब्रवीद्वचः।

अत्रि बोले—'महाभागे! महात्मा गौतम ने मुझसे कहा है कि—वेनपुत्र राजा पृथु धर्म और अर्थ के साधन में संलग्न रहते हैं। वे सत्यव्रती हैं।।8।। परन्तु एक बात विचारणीय है। वहाँ उनके यज्ञ में जितने ब्राह्मण रहते हैं, वे सभी मुझसे द्वेष रखते हैं, यही बात गौतम ने भी कही है। इसीलिए मैं वहाँ जाने का विचार नहीं कर रहा हूँ।।9।। यदि मैं वहाँ जाकर धर्म, अर्थ और काम से युक्त कल्याणमयी वाणी भी बोलूँगा तो उसे धर्म और अर्थ के विपरीत ही बतायेंगे; निरर्थक सिद्ध करेंगे।।10।। तथापि महाप्राज्ञे! मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा, मुझे तुम्हारी बात ठीक जँचती है। राजा पृथु मुझे बहुत-सी गौएँ तो देंगे ही, पर्याप्त धन भी देंगे'।।11।। ऐसा कहकर महातपस्वी अत्रि शीघ्र ही राजा पृथु के यज्ञ में गये। यज्ञ मण्डप में पहुँचकर उन्होंने उस राजा का माङ्गलिक वचनों द्वारा स्तवन किया और उनका समादर करते हुए इस प्रकार कहा—।।12½।।

अत्रिरुवाच

राजन् धन्यस्त्वमीशश्च भुवि त्वं प्रथमो नृपः।।13।।
स्तुवन्ति त्वां मुनिगणास्त्वदन्यो नास्ति धर्मवित्।
तमब्रवीदृषिः क्रुद्धो वचनं वै महातपाः॥14।।

अत्रि बोले—राजन्! तुम इस भूतल के सर्वप्रथम राजा हो; अतः धन्य हो, सब प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो।।13।। महर्षिगण तुम्हारी स्तुति करते हैं। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नरेश धर्म का ज्ञाता नहीं है। उनकी यह बात सुनकर महातपस्वी गौतम मुनि ने कुपित होकर कहा—।।14।।

गौतम उवाच

मैवमत्रे पुनर्ब्रूया न ते प्रज्ञा समाहिता।
अत्र नः प्रथमं स्थाता महेन्द्रो वै प्रजापतिः॥15।।
अथात्रिरपि राजेन्द्र गौतमं प्रत्यभाषत।
अयमेव विधाता हि यथैवेन्द्रः प्रजापतिः।
त्वमेव मुह्यसे मोहान्न प्रज्ञानं तवास्ति ह॥16।।

गौतम बोले—अत्रे! फिर कभी ऐसी बात मुँह से न निकालना। तुम्हारी बुद्धि एकाग्र नहीं है। यहाँ हमारे प्रथम प्रजापति के रूप में साक्षात् इन्द्र उपस्थित हैं।।15।। राजेन्द्र! तब अत्रि ने भी गौतम को उत्तर देते हुए कहा—'मुने! ये पृथु ही विधाता हैं, ये ही प्रजापति इन्द्र के समान हैं। तुम्हीं मोह से मोहित हो रहे हो; तुम्हें उत्तम बुद्धि नहीं प्राप्त है'।।16।।

गौतम उवाच

जानामि नाहं मुह्यामि त्वमेवात्र विमुह्यते।
स्तौषि त्वं दर्शनप्रेप्सू राजानं जनसंसदि॥17।।
न वेत्थ परमं धर्मं न चावैषि प्रयोजनम्।
बालस्त्वमसि मूढश्च वृद्धः केनापि हेतुना॥18।।
विवदन्तौ तथा तौ तु मुनीनां दर्शने स्थितौ।

ये तस्य यज्ञे संवृत्तास्तेऽपृच्छन्त कथं त्विमौ॥19॥
प्रवेशः केन दत्तोऽयमुभयोर्वैन्यसंसदि।
उच्चैः समभिभाषन्तौ केन कार्येण धिष्ठितौ॥20॥
ततः परमधर्मात्मा काश्यपः सर्वधर्मवित्।
विवादिनावनुप्राप्तौ तावुभौ प्रत्यवेदयत्॥21॥
अथाब्रवीत् सदस्यांस्तु गौतमो मुनिसत्तमान्।
आवयोर्व्याहृतं प्रश्नं शृणुत द्विजसत्तमाः॥22॥
वैन्यं विधातेत्याहात्रिरत्र नौ संशयो महान्।
श्रुत्वैव तु महात्मानो मुनयोऽभ्यद्रवन् द्रुतम्॥23॥
सनत्कुमारं धर्मज्ञं संशयच्छेदनाय वै।
स च तेषां वचः श्रुत्वा यथातत्त्वं महातपाः।
प्रत्युवाचाथ तानेव धर्मार्थसहितं वचः॥24॥

गौतम बोले—मैं नहीं मोह में पड़ा हूँ, तुम्हीं यहाँ आकर मोहित हो रहे हो। मैं खूब समझता हूँ, तुम राजा से मिलने की इच्छा लेकर ही भरी सभा में स्वार्थवश उनकी स्तुति कर रहे हो॥17॥ उत्तम धर्म का तुम्हें बिल्कुल ज्ञान नहीं है। तुम धर्म का प्रयोजन भी नहीं समझते हो। मेरी दृष्टि में तुम मूढ़ हो, बालक हो; किसी विशेष कारण से बूढ़े बने हुए हो अर्थात् केवल अवस्था से बूढ़े हो॥18॥ मुनियों के सामने खड़े होकर जब वे दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उस समय उन्हें देखकर जिनका यज्ञ में पहले से वरण हो चुका था, वे ब्राह्मण पूछने लगे—'ये दोनों कैसे लड़ रहे हैं?॥19॥ किसने इन दोनों को महाराज पृथु के यज्ञ मण्डप में घुसने दिया है? ये दोनों जोर-जोर से बातें करते और झगड़ते यहाँ किस काम से खड़े हैं?' उस समय परम धर्मात्मा एवं सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता कणाद ने सब सदस्यों को बताया कि ये दोनों किसी विषय को लेकर परस्पर विवाद को लेकर परस्पर विवाद कर रहे हैं और उसी के निर्णय के लिए यहाँ आये हैं'॥20-21॥ तब गौतम ने सदस्य रूप से बैठे हुए उन श्रेष्ठ मुनियों से कहा—'श्रेष्ठ ब्राह्मणो! हम दोनों के प्रश्न को आप लोग सुनें। अत्रि ने राजा पृथु को विधाता कहा है। इस बात को लेकर हम दोनों में महान् संशय एवं विवाद उपस्थित हो गया है।' यह सुनकर वे महात्मा मुनि उक्त संशय का निवारण करने के लिए तुरन्त ही धर्मज्ञ सनत्कुमारजी के पास दौड़े गये। उन महातपस्वी ने इनकी सब बातें यथार्थ रूप से सुनकर उनसे यह धर्म एवं अर्थयुक्त वचन कहा॥22-24॥

सनत्कुमार उवाच

ब्रह्म क्षत्रेण सहितं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह।
संयुक्तौ दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ॥25॥
राजा वै प्रथितो धर्मः प्रजानां पतिरेव च।
स एव शक्रः शुक्रश्च स धाता च बृहस्पतिः॥26॥
प्रजापतिर्विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।

य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति॥27॥
पुरायोनिर्युधाजिच्च अभिया मुदितो भवः।
स्वर्णेता सहजिद् बभ्रुरिति राजाभिधीयते॥28॥
सत्ययोनिः पुराविच्च सत्यधर्मप्रवर्तकः।
अधर्मादृषयो भीता बलं क्षत्रे समादधन्॥29॥
आदित्यो दिवि देवेषु तमो नुदति तेजसा।
तथैव नृपतिर्भूमावधर्मान्नुदते भृशम्॥30॥
ततो राज्ञः प्रधानत्वं शास्त्रप्रामाण्यदर्शनात्।
उत्तरः सिद्ध्यते पक्षो येन राजेति भाषितम्॥31॥

सनत्कुमार बोले—ब्राह्मण क्षत्रिय से और क्षत्रिय ब्राह्मण से संयुक्त हो जाएँ तो वे दोनों मिलकर शत्रुओं को उसी प्रकार दग्ध कर डालते हैं, जैसे अग्नि और वायु परस्पर सहयोगी होकर कितने ही वनों को भस्म कर डालते हैं। राजा धर्म रूप से विख्यात है। वही प्रजापति, इन्द्र, शुक्राचार्य, धाता और बृहस्पति भी है॥25-26॥ जिस राजा की प्रजापति, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति, नृप आदि शब्दों द्वारा स्तुति की जाती है, उसकी पूजा कौन नहीं करेगा? पुरायोनि (प्रथम कारण), युधाजित् (संग्रामविजयी), अभिया (रक्षा के लिए सर्वत्र गमन करने वाला), मुदित (प्रसन्न), भव (ईश्वर), स्वर्णेता (स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाला), सहजित् (तत्काल विजय करने वाला) तथा बभ्रु (विष्णु)—इन नामों द्वारा राजा का वर्णन किया जाता है। राजा सत्य का कारण, प्राचीन बातों को जानने वाला तथा सत्यधर्म में प्रवृत्त कराने वाला है। अधर्म से डरे हुए ऋषियों ने अपना ब्राह्मबल भी क्षत्रियों में स्थापित कर दिया था॥27-29॥ जैसे देवलोक में सूर्य अपने तेज से सम्पूर्ण अन्धकार का नाश करता है, उसी प्रकार राजा इस पृथ्वी पर रहकर अधर्मों को सर्वथा हटा देता है॥30॥ अतः शास्त्र प्रमाण पर दृष्टिपात करने से राजा की प्रधानता सूचित होती है। इसलिए जिसने राजा को प्रजापति बतलाया है, उसी का पक्ष उत्कृष्ट सिद्ध होता है॥31॥

मार्कण्डेय उवाच

ततः स राजा संहृष्टः सिद्धे पक्षे महामनाः।
तमत्रिमब्रवीत् प्रीतः पूर्वं येनाभिसंस्तुतः॥32॥
यस्मात् पूर्वं मनुष्येषु ज्यायांसं मामिहाब्रवीः।
सर्वदेवैश्च विप्रर्षे सम्मितं श्रेष्ठमेव च॥33॥
तस्मात् तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसु भूरि च।
दासीसहस्रं श्यामानां सुवस्त्राणामलङ्कृतम्॥34॥
दशकोटीर्हिरण्यस्य रुक्मभारांस्तथा दश।
एतद् ददामि विप्रर्षे सर्वज्ञस्त्वं मतो हि मे॥35॥
तदत्रिर्न्यायतः सर्वं प्रतिगृह्याभिसत्कृतः।
प्रत्युज्जगाम तेजस्वी गृहानेव महातपाः॥36॥

प्रदाय च धनं प्रीतः पुत्रेभ्यः प्रयतात्मवान्।
तपः समभिसन्धाय वनमेवान्वपद्यत॥37।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तदनन्तर एक पक्ष की उत्कृष्टता सिद्ध हो जाने पर महामना राजा पृथु बड़े प्रसन्न हुए और जिन्होंने उनकी पहले स्तुति की थी, उन अत्रि मुनि से इस प्रकार बोले—'ब्रह्मर्षे! आपने यहाँ मुझे मनुष्यों में प्रथम (भूपाल), श्रेष्ठ, ज्येष्ठ तथा सम्पूर्ण देवताओं के समान बताया है, इसलिए मैं आपको प्रचुर मात्रा में नाना प्रकार के रत्न और धन दूँगा, सुन्दर वस्त्राभूषणों से विभूषित, सहस्रों युवती दासियाँ अर्पित करूँगा तथा दस करोड़ स्वर्णमुद्रा और दस भार सोना भी दूँगा। विप्रर्षे! ये सब वस्तुएँ आपको अभी दे रहा हूँ, मैं समझता हूँ, आप सर्वज्ञ हैं'।।32-35।। तब महान् तपस्वी और तेजस्वी अत्रि मुनि राजा से समादृत हो न्यायपूर्वक मिले हुए उस सम्पूर्ण धन को लेकर अपने घर को चले गये।।36।। फिर मन पर संयम रखने वाले वे महामुनि पुत्रों को प्रसन्नतापूर्वक वह सारा धन बाँट कर तपस्या का शुभ सङ्कल्प मन में लेकर वन में ही चले गये।।37।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 185 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में ब्राह्मण माहात्म्य विषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।185।।

सरस्वतीगीता

चतुर्थोऽध्यायः

ताक्ष्र्य मुनि और सरस्वती का संवाद

मार्कण्डेय उवाच

अत्रैव च सरस्वत्या गीतं परपुरञ्जय।
पृष्टया मुनिना वीर शृणु ताक्ष्र्येण धीमता॥1।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—शत्रुओं की राजधानी पर विजय पाने वाले पाण्डुनन्दन! इसी विषय में परम बुद्धिमान् ताक्ष्र्य मुनि ने सरस्वती देवी से कुछ प्रश्न किया था, उसके उत्तर में सरस्वती देवी ने जो कुछ कहा था, वह तुम्हें सुनाता हूँ, सुनो।।1।।

ताक्ष्र्य उवाच

किं नु श्रेयः पुरुषस्येह भद्रे कथं कुर्वन्न च्यवते स्वधर्मात्।
आचक्ष्व मे चारुसर्वाङ्गि कुर्यां त्वया शिष्टो न च्यवेयं स्वधर्मात्॥2।।
कथं वाग्निं जुहुयां पूजये वा कस्मिन् काले केन धर्मो न नश्येत्।

एतत् सर्वं सुभगे प्रब्रवीहि यथा लोकान् विरजाः सञ्चरेयम्॥3।।

ताक्ष्यं मुनि ने पूछा—भद्रे! इस संसार में मनुष्य का कल्याण करने वाली वस्तु क्या है? किस प्रकार आचरण करने वाला पुरुष अपने धर्म से भ्रष्ट नहीं होता है? सर्वाङ्ग सुन्दरी देवि! तुम मुझसे इसका वर्णन करो। मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा। मुझे विश्वास है कि तुमसे उपदेश ग्रहण करके मैं अपने धर्म से गिर नहीं सकता।।2।। मैं कैसे और किस समय अग्नि में हवन अथवा उसका पूजन करूँ? क्या करने से धर्म का नाश नहीं होता है? सुभगे! तुम ये सारी बातें मुझसे बताओ। जिससे मैं रजोगुण रहित होकर सम्पूर्ण लोकों में विचरण करूँ।।3।।

मार्कण्डेय उवाच

एवं पृष्टा प्रीतियुक्तेन तेन शुश्रूषुमीक्ष्योत्तमबुद्धियुक्तम्।
ताक्ष्यं विप्रं धर्मयुक्तं हितं च सरस्वती वाक्यमिदं बभाषे॥4।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! उनके इस प्रकार प्रेमपूर्वक पूछने पर सरस्वती देवी ने ब्रह्मर्षि ताक्ष्यं को धर्मात्मा, उत्तम बुद्धि से युक्त एवं श्रवण के लिए उत्सुक देखकर उनसे यह हितकर वचन कहा।।4।।

सरस्वत्युवाच

यो ब्रह्म जानाति यथाप्रदेशं स्वाध्यायनित्यः शुचिरप्रमत्तः।
स वै पारं देवलोकस्य गन्ता सहामरैः प्राप्नुयात्प्रीतियोगम्॥5।।
तत्र स्म रम्या विपुला विशोकाः सुपुष्पिताः पुष्करिण्यः सुपुण्याः।
अकर्दमा मीनवत्यः सुतीर्था हिरण्मयैरावृताः पुण्डरीकैः॥6।।
तासां तीरेष्वासते पुण्यभाजो महीयमानाः पृथगप्सरोभिः।
सुपुण्यगन्धाभिरलङ्कृताभिर्हिरण्यवर्णाभिरतीव हृष्टाः॥7।।
परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति दत्त्वानड्वाहं सूर्यलोकं व्रजन्ति।
वासो दत्त्वा चान्द्रमसं तु लोकं दत्त्वा हिरण्यममरत्वमेति॥8।।
धेनुं दत्त्वा सुप्रभां सुप्रदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षाण्यासते देवलोके॥9।।
अनड्वाहं सुव्रतं यो ददाति हलस्य वोढारमनन्तवीर्यम्।
धुरन्धरं बलवन्तं युवानं प्राप्नोति लोकान् दश धेनुदस्य॥10।।
ददाति यो वै कपिलां सचैलां कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः।
तैस्तैर्गुणैः कामदुहाथ भूत्वा नरं प्रदातारमुपैति सा गौः॥11।।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति धेन्वास्तावत् फलं भवति गोप्रदाने।
पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्वमासप्तमं तारयते परत्र॥12।।
सदक्षिणां काञ्चनचारुशृङ्गीं कांस्योपदोहां द्रविणैरुत्तरीयैः।
धेनुं तिलानां ददतो द्विजाय लोका वसूनां सुलभा भवन्ति॥13।।
स्वकर्मभिर्दानवसन्निरुद्धे तीव्रान्धकारे नरके सम्पतन्तम्।
महार्णवे नौरिव वातयुक्ता दानं गवां तारयते परत्र॥14।।

यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां भूमिप्रदानं च करोति विप्रे।
ददाति दानं विधिना च यश्च स लोकमाप्नोति पुरन्दरस्य॥15।।
यः सप्त वर्षाणि जुहोति तार्क्ष्य हव्यं त्वग्नौ नियतः साधुशीलः।
सप्तावरान् सप्त पूर्वान् पुनाति पितामहानात्मना कर्मभिः स्वैः॥16।।

सरस्वती बोली—मुने! जो प्रमाद छोड़कर पवित्र भाव से नित्य स्वाध्याय करता है और अर्चि आदि मार्गों से प्राप्त होने योग्य सगुण ब्रह्म को जान लेता है, वह देवलोक से उठकर ब्रह्मलोक में जाता है और देवताओं के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।।5।। वहाँ सुन्दर, विशाल, शोकरहित, अत्यन्त पवित्र तथा सुन्दर पुष्पों से सुशोभित छोटे-छोटे सरोवर हैं। उनमें कीचड़ का नाम नहीं है। उनमें मछलियाँ निवास करती हैं। उन सरोवरों में उतरने के लिए मनोहर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और वे सभी सरोवर सुवर्णमय कमल पुष्पों से आच्छादित रहते हैं।।6।। उनके तटों पर पूजनीय पुण्यात्मा पुरुष पृथक् पृथक् अप्सराओं के साथ सानन्द प्रतिष्ठित होते हैं। वे अप्सराएँ अत्यन्त पवित्र सुगन्ध से सुवासित, विविध आभूषणों से विभूषित तथा स्वर्ण की-सी कान्ति से प्रकाशित होती हैं।।7।। गोदान करने वाले मनुष्य उत्तम लोक में जाते हैं। छकड़े ढोने वाले बलवान् बैलों का दान करने से दाताओं को सूर्यलोक की प्राप्ति होती है। वस्त्रदान से चन्द्रलोक और सुवर्ण दान से अमरत्व की प्राप्ति होती है।।8।। जो अच्छे रङ्ग की हो, सुगमता से दूध दुहा लेती हो, सुन्दर बछड़े देने वाली हो और बन्धन तुड़ाकर भागने वाली न हो, ऐसी गौ का जो लोग दान करते हैं, वे गौ के शरीर में जितने रोएँ हों, उतने वर्ष तक देवलोक में निवास करते हैं।।9।। जो मनुष्य अच्छे स्वभाव वाले, अत्यन्त शक्तिशाली, हल खींचने वाले, गाड़ी का बोझ ढोने में समर्थ, बलवान् और तरुण अवस्था वाले बैल का दान करता है, वह धेनुदान करने वाले पुरुष से दस गुने पुण्यलोक प्राप्त करता है।।10।। जो काँसे की दोहनी, वस्त्र, उत्तर कालिक दक्षिणा द्रव्य के साथ कपिला गौ का दान करता है, उसकी दी हुई वह गौ उन-उन गुणों के साथ कामधेनु बनकर परलोक में दाता के पास पहुँच जाती है।।11।। उस धेनु के शरीर में जितने रोएँ होते हैं, उतने वर्षों तक दाता गोदान के पुण्य फल का उपभोग करता है। साथ ही वह गौ परलोक में दाता के पुत्रों, पौत्रों एवं सात पीढ़ी तक के समूचे कुल का उद्धार करती है।।12।। जो सोने के बने हुए सुन्दर सींग, काँसे के दुग्ध पात्र, द्रव्य तथा ओढ़ने के वस्त्र और दक्षिणा सहित तिल की धेनु का ब्राह्मण को दान करता है, उसके लिए वसुओं के लोक सुलभ हो जाते हैं। जैसे महासागर में डूबते हुए मनुष्य को अनुकूल वायु के सहयोग से चलने वाली नाव बचा लेती है, उसी प्रकार जो अपने कर्मों द्वारा काम, क्रोध आदि दानवों से घिरे हुए घोर अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण नरक में गिर रहा है, उसे गोदानजनित पुण्य परलोक में उबार लेता है।।13-14।। जो ब्राह्म विवाह की विधि से दान करने योग्य कन्या का (श्रेष्ठ वर को) दान करता है, ब्राह्मण को भूदान देता है और विधिपूर्वक अन्यान्य वस्तुओं का दान सम्पन्न करता है, वह इन्द्रलोक में जाता है।।15।। तार्क्ष्य! जो सदाचारी पुरुष संयम-नियम का पालन करते हुए सात वर्षों तक अग्नि में आहुति देता है, वह अपने सत्कर्मों

द्वारा अपने साथ ही सात पीढ़ी तक की भावी सन्तानों को और सात पीढ़ी पूर्व तक के पितामहों को भी पवित्र कर देता है।।16।।

तार्क्ष्य उवाच

किमग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणमाचक्ष्व मे पृच्छतश्चानुरूपे।
त्वयानुशिष्टोऽहमिहाद्य विद्यां यदग्निहोत्रस्य व्रतं पुराणम्॥17।।

तार्क्ष्य ने पूछा—मनोहर रूप वाली देवि! मैं पूछता हूँ कि अग्निहोत्र का प्राचीन नियम क्या है? यह बताओ। तुम्हारे उपदेश करने पर आज मुझे यहाँ अग्निहोत्र के प्राचीन नियम का ज्ञान हो जाय।।17।।

सरस्वत्युवाच

न चाशुचिर्नाप्यनिर्णिक्तपाणिर्नाब्रह्मविज्जुहुयान्नाविपश्चित्।
बुभुत्सवः शुचिकामा हि देवा नाश्रद्दधानाद्धि हविर्जुषन्ति॥18।।
नाश्रोत्रियं देवहव्ये नियुञ्ज्यान्मोघं पुरा सिञ्चति तादृशो हि।
अपूर्वमश्रोत्रियमाह तार्क्ष्य न वै तादृग्जुहुयादग्निहोत्रम्॥19।।
कृशाश्च ये जुह्वति श्रद्दधानाः सत्यव्रता हुतशिष्टाशिनश्च।
गवां लोकं प्राप्य ते पुण्यगन्धं पश्यन्ति देवं परमं चापि सत्यम्॥20।।

सरस्वती ने कहा—मुने! जो अपवित्र है, जिसने हाथ-पैर (भी) नहीं धोये हैं, जो वेद के ज्ञान से वञ्चित है, जिसे वेदार्थ का कोई अनुभव नहीं है, ऐसे पुरुष को अग्नि में आहुति नहीं देनी चाहिये। देवता दूसरों के मनोभाव को जानने की इच्छा रखते हैं, वे पवित्रता चाहते हैं, अतः श्रद्धाहीन मनुष्य के दिये हुए हविष्य को ग्रहण नहीं करते हैं।।18।। वेद मन्त्रों का ज्ञान न रखने वाले पुरुष को देवताओं के लिए हविष्य प्रदान करने के कार्य में नियुक्त न करे; क्योंकि वैसा मनुष्य जो हवन करता है, वह व्यर्थ हो जाता है। तार्क्ष्य! अश्रोत्रिय पुरुष को वेद में अपूर्व (कुल-शील से अपरिचित) कहा गया है।[1] अतः वैसा पुरुष अग्निहोत्र का अधिकारी नहीं है।।19।। जो तप से कृश हो सत्य व्रत का पालन करते हुए प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक हवन करते हैं और हवन से बचे हुए अन्न का भोजन करते हैं, वे पवित्र सुगन्ध से भरे हुए गौओं के लोक में जाते हैं और वहाँ परम सत्य परमात्मा का दर्शन करते हैं।।20।।

तार्क्ष्य उवाच

क्षेत्रज्ञभूतां परलोकभावे कर्मोदये बुद्धिमतिप्रविष्टाम्।
प्रज्ञां च देवीं सुभगे विमृश्य पृच्छामि त्वां का ह्यसि चारुरूपे॥21।।

तार्क्ष्य ने पूछा—सुन्दर रूप वाली सौभाग्यशालिनी देवि! तुम आत्म स्वरूपा हो तथा परलोक के विषय एवं कर्म फल के विचार में प्रविष्ट हुई अत्यन्त उत्कृष्ट बुद्धि हो।

---

1. जैसे मनुष्य अपरिचित पुरुष का दिया हुआ अन्न नहीं खाता, उसी प्रकार अश्रोत्रिय का दिया हुआ हविष्य देवता नहीं स्वीकार करते हैं

प्रज्ञा देवी भी तुम्हीं हो। तुम्हीं को इन दोनों रूपों में जानकर मैं पूछता हूँ—बताओ, वास्तव में तुम क्या हो?।।21।।

सरस्वत्युवाच

अग्निहोत्रादहमभ्यागतास्मि विप्रर्षीणां संशयच्छेदनाय।
त्वत्संयोगादहमेतमब्रुवं भावे स्थिता तथ्यमर्थं यथावत्॥22।।

सरस्वती बोली—मुने! मैं (विद्यारूपा सरस्वती हूँ और) श्रेष्ठ ब्राह्मणों के अग्निहोत्र से यहाँ तुम्हारे संशय का निवारण करने के लिए आयी हूँ। (तुम श्रद्धालु हो) तुम्हारा सान्निध्य पाकर ही मैंने यहाँ ये पूर्वोक्त सत्य बातें यथार्थ रूप से बतायी हैं; क्योंकि आन्तरिक श्रद्धा भाव में ही मेरी स्थिति है।।22।।

तार्क्ष्य उवाच

न हि त्वया सदृशी काचिदस्ति विभ्राजसे ह्यतिमात्रं यथा श्रीः।
रूपं च ते दिव्यमनन्तकान्ति प्रज्ञां च देवीं सुभगे बिभर्षि॥23।।

तार्क्ष्य ने पूछा—सुभगे! तुम्हारी जैसी दूसरी कोई नारी नहीं है। तुम साक्षात् लक्ष्मीजी की भाँति अत्यन्त प्रकाशमान दिखायी देती हो। तुम्हारा यह परम कान्तिमान् स्वरूप अत्यन्त दिव्य है। साथ ही तुम दिव्य प्रज्ञा भी धारण करती हो (इसका क्या कारण है?)।।23।।

सरस्वत्युवाच

श्रेष्ठानि यानि द्विपदां वरिष्ठ यज्ञेषु विद्वन्नुपपादयन्ति।
तैरेव चाहं सम्प्रवृद्धा भवामि चाप्यायिता रूपवती च विप्र॥24।।
यच्चापि द्रव्यमुपयुज्यते ह वानस्पत्यमायसं पार्थिवं वा।
दिव्येन रूपेण च प्रज्ञया च तेनैव सिद्धिरिति विद्धि विद्वन्॥25।।

सरस्वती बोली—नरश्रेष्ठ! विद्वन्! याज्ञिक लोग यज्ञों में जो श्रेष्ठ कार्य करते हैं अथवा श्रेष्ठ वस्तुओं का सङ्कलन करते हैं, उन्हीं से मेरी पुष्टि तथा तृप्ति होती है और विप्रवर! उन्हीं से मैं रूपवती होती हूँ।।24।। विद्वन्! उन यज्ञों में जो समिधा स्रुवा आदि वृक्ष से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ, सुवर्ण आदि तैजस वस्तुएँ तथा व्रीहि आदि पार्थिव वस्तुएँ उपयोग में लायी जाती हैं, उन्हीं के द्वारा दिव्य रूप तथा प्रज्ञा से सम्पन्न मेरे स्वरूप की पुष्टि होती है, यह बात तुम अच्छी तरह समझ लो।।25।।

तार्क्ष्य उवाच

इदं श्रेयः परमं मन्यमाना व्यायच्छन्ते मुनयः सम्प्रतीताः।
आचक्ष्व मे तं परमं विशोकं मोक्षं परं यं प्रविशन्ति धीराः।
सांख्या योगा परमं यं विदन्ति परं पुराणं तमहं न वेद्मि॥26।।

तार्क्ष्य ने पूछा—देवि! जिसे परम कल्याण स्वरूप मानते हुए मुनिजन अत्यन्त विश्वासपूर्वक इन्द्रियों आदि का निग्रह करते हैं तथा जिस परम मोक्ष स्वरूप में धीर पुरुष प्रवेश करते हैं, उस शोक रहित परम मोक्ष पद का वर्णन करो; क्योंकि जिस परम

मोक्ष पद को सांख्ययोगी और कर्मयोगी जानते हैं, उस सनातन मोक्ष तत्त्व को मैं नहीं जानता।।26।।

सरस्वत्युवाच

तं वै परं वेदविदः प्रपन्नाः परं परेभ्यः प्रथितं पुराणम्।
स्वाध्यायवन्तो व्रतपुण्ययोगैस्तपोधना वीतशोका विमुक्ताः॥27।।
तस्याथ मध्ये वेतसः पुण्यगन्धः सहस्रशाखो विपुलो विभाति।
तस्य मूलात् सरितः प्रस्रवन्ति मधूदकप्रस्रवणाः सुपुण्याः॥28।।
शाखां शाखां महानद्यः संयान्ति सिकताशयाः।
धानापूपा मांसशाकाः सदा पायसकर्दमाः॥29।।
यस्मिन्नग्निमुखा देवाः सेन्द्राः सहमरुद्गणाः।
ईजिरे क्रतुभिः श्रेष्ठैस्तत्पदं परमं मम॥30।।

सरस्वती बोली—स्वाध्याय रूप योग में लगे हुए तथा तप को ही धन मानने वाले योगी व्रत-पुण्य और योग के साधनों से जिस प्रख्यात, परात्पर एवं पुरातन पद को प्राप्त कर शोकरहित तथा मुक्त हो जाते हैं, वही सनातन ब्रह्मपद है। वेदवेत्ता उसी परमपद का आश्रय लेते हैं।।27।। उस परब्रह्म में ब्रह्माण्ड रूपी एक विशाल बेंत का वृक्ष है, जो भोग स्थान रूपी अनन्त शाखाओं से युक्त तथा शब्दादि विषयरूपी पवित्र सुगन्ध से सम्पन्न है (उस ब्रह्माण्ड रूपी वृक्ष का मूल अविद्या है)। उस अविद्या रूपी मूल से भोग-वासना मयी निरन्तर बहने वाली अनन्त नदियाँ उत्पन्न होती हैं। वे नदियाँ ऊपर से तो रमणीय और पवित्र सुवास से युक्त प्रतीत होती हैं तथा मधु के समान मधुर एवं जल के समान तृप्ति कारक विषयों को बहाया करती हैं।।28।। परन्तु वास्तव में सब भूने हुए जौ के समान फल देने में असमर्थ, पूओं के समान अनेक छिद्रों वाली, हिंसा से मिल सकने वाली अर्थात् मांस के समान अपवित्र, सूखे शाक के समान सारशून्य और खीर के समान रुचिकर लगने वाली होने पर भी कीचड़ के समान चित्त में मलिनता उत्पन्न करने वाली हैं। बालू के कणों के समान परस्पर विलग एवं ब्रह्माण्ड रूपी बेंत के वृक्ष की शाखाओं में बहने वाली हैं।।29।। मुने! इन्द्र, अग्नि और पवन आदि मरुद्गणों के साथ देवता लोग जिस ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ यज्ञों द्वारा उसका पूजन करते हैं, वह मेरा परमपद है।।30।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि सरस्वतीताक्ष्यसंवादे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 186 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में सरस्वती-ताक्ष्य संवाद विषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।186।।

सरस्वतीगीता सम्पूर्णा

मत्स्योपाख्यानगीता

पञ्चमोऽध्याय:

वैवस्वत मनु का चरित्र तथा मत्स्यावतार की कथा

वैशम्पायन उवाच

ततः स पाण्डवो विप्रं मार्कण्डेयमुवाच ह।
कथयस्वेति चरितं मनोर्वैवस्वतस्य च॥1।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसके बाद पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने मार्कण्डेयजी से कहा—'अब आप हमसे वैवस्वत मनु के चरित्र कहिये'।।1।।

मार्कण्डेय उवाच

विवस्वतः सुतो राजन् महर्षिः सुप्रतापवान्।
बभूव नरशार्दूल प्रजापतिसमद्युतिः॥2।।
ओजसा तेजसा लक्ष्म्या तपसा च विशेषतः।
अतिचक्राम पितरं मनुः स्वं च पितामहम्॥3।।
ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां बदर्यां स नराधिप।
एकपादस्थितस्तीव्रं चकार सुमहत् तपः॥4।।
अवाक्शिरास्तथा चापि नेत्रैरनिमिषैर्दृढम्।
सोऽतप्यत तपो घोरं वर्षाणामयुतं तदा॥5।।
तं कदाचित् तपस्यन्तमार्द्रचीरजटाधरम्।
चीरिणीतीरमागम्य मत्स्यो वचनमब्रवीत्॥6।।
भगवन्क्षुद्रमत्स्योऽस्मि बलवद्भ्यो भयं मम।
मत्स्येभ्यो हि ततो मां त्वं त्रातुमर्हसि सुव्रत॥7।।
दुर्बलं बलवन्तो हि मत्स्या मत्स्यं विशेषतः।
आस्वदन्ति सदा वृत्तिर्विहिता नः सनातनी॥8।।
तस्माद् भयौघान् महतो मज्जन्तं मां विशेषतः।
त्रातुमर्हसि कर्तास्मि कृते प्रतिकृतं तव॥9।।
स मत्स्यवचनं श्रुत्वा कृपयाभिपरिप्लुतः।
मनुर्वैवस्वतोऽगृह्णात् तं मत्स्यं पाणिना स्वयम्॥10।।
उदकान्तमुपानीय मत्स्यं वैवस्वतो मनुः।
अलिञ्जरे प्राक्षिपत्तं चन्द्रांशुसदृशप्रभम्॥11।।

मार्कण्डेयजी बोले—नरश्रेष्ठ नरेश! विवस्वान् (सूर्य) के एक अत्यन्त प्रतापी पुत्र हुआ, जो प्रजापति के समान कान्तिमान् और महान् ऋषि था।।2।। वह बालक मनु

ओज, तेज, कान्ति और विशेषतः तपस्या द्वारा अपने पिता भगवान् सूर्य तथा पितामह महर्षि कश्यप से भी आगे बढ़ गया।।3।। महाराज! उसने बदरिकाश्रम में जाकर दोनों बाँहें ऊपर उठाये एक पैर से खड़ा हो दस हजार वर्षों तक बड़ी भारी तपस्या की। उस समय उसका सिर नीचे की ओर झुका हुआ था और वह एकटक नेत्रों से निरन्तर देखता रहता था। इस प्रकार बड़ी दृढ़ता के साथ उस बालक ने घोर तप किया।।4-5।। (वही बालक वैवस्वत मनु के नाम से प्रसिद्ध हुआ) एक दिन की बात है, मनु भीगे चीर और जटा धारण किए चीरिणी नदी के तट पर तपस्या कर रहे थे। उस समय एक मत्स्य आकर इस प्रकार बोला—।।6।। 'भगवन्! मैं एक छोटा-सा मत्स्य हूँ। मुझे (अपनी जाति के) बलवान् मत्स्यों से बराबर भय बना रहता है। अतः उत्तम व्रत का पालन करने वाले महर्षे! आप उससे मेरी रक्षा करें।।7।। बलवान् मत्स्य विशेषतः दुर्बल मत्स्य को अपना आहार बना लेते हैं, यह सदा से हमारी मत्स्य जाति की नियत वृत्ति है।।8।। इसलिए भय के महान् समुद्र में मैं डूब रहा हूँ। आप विशेष प्रयत्न करके मुझे बचाने का कष्ट करें। आपके इस उपकार के बदले मैं भी प्रत्युपकार करूँगा'।।9।। मत्स्य की यह बात सुनकर वैवस्वत मनु को बड़ी दया आयी। उन्होंने स्वयं अपने हाथ से चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत रङ्ग वाले उस मत्स्य को उठा लिया और पानी के बाहर लाकर मटके में डाल दिया।।10-11।।

स तत्र ववृधे राजन् मत्स्यः परमसत्कृतः।
पुत्रवत् स्वीकरोत् तस्मै मनुर्भावं विशेषतः॥12।।
अथ कालेन महता स मत्स्यः सुमहानभूत्।
अलिञ्जरे यथा चैव नासौ समभवत् किल॥13।।
अथ मत्स्यो मनुं दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत।
भगवन् साधु मेऽद्यान्यत् स्थानं सम्प्रतिपादय॥14।।
उद्धृत्यालिञ्जरात्तस्मात्ततः स भगवान् मनुः।
तं मत्स्यमनयद् वापीं महतीं स मनुस्तदा॥15।।
तत्र तं प्राक्षिपच्चापि मनुः परपुरञ्जय।
अथावर्धत मत्स्यः स पुनर्वर्षगणान्बहून्॥16।।
द्वियोजनायता वापी विस्तृता चापि योजनम्।
तस्यां नासौ समभवन्मत्स्यो राजीवलोचन॥17।।
विचेष्टितुं च कौन्तेय मत्स्यो वाप्यां विशाम्पते।
मनुं मत्स्यस्ततो दृष्ट्वा पुनरेवाभ्यभाषत॥18।।
नय मां भगवन् साधो समुद्रमहिषीं प्रियाम्।
गङ्गां तत्र निवत्स्यामि यथा वा तात मन्यसे॥19।।
निदेशे हि मया तुभ्यं स्थातव्यमनसूयता।
वृद्धिर्हि परमा प्राप्ता त्वत्कृते हि मयानघ ॥20।।

राजन्! वहाँ उन्होंने बड़े आदर के साथ उसका पालन-पोषण किया और वह दिन-दिन बढ़ने लगा। मनु ने उसके प्रति पुत्र के समान विशेष वात्सल्य भाव प्रकट किया। तदनन्तर दीर्घकाल बीतने पर वह मत्स्य इतना बड़ा हो गया कि मटके में रहना असम्भव हो गया।।12-13।। तब एक दिन मत्स्य ने मनु को देखकर फिर कहा—'भगवन्! अब आप मेरे लिए इससे अच्छा कोई दूसरा स्थान दीजिये'।।14।। तब वे भगवान् मनु उस मत्स्य को उस मटके से निकालकर एक बहुत बड़ी बावली के पास ले गये।।15।। शत्रुविजयी युधिष्ठिर! मनु ने उसे वहीं डाल दिया। अब वह मत्स्य अनेक वर्षों तक उसी में क्रमश: बढ़ता रहा।।16।। कमलनयन! उस बावली की लम्बाई दो योजन और चौड़ाई एक योजन की थी; परन्तु उसमें भी उस मत्स्य का रहना कठिन हो गया।।17।। नराधिप कुन्तीनन्दन! वह उस बावली में हिल-डुल भी नहीं पाता था। अत: मनु को देखकर वह पुन: बोला।।18।। 'भगवन्! साधुबाबा! अब आप मुझे समुद्र की प्यारी पटरानी गङ्गाजी में ले चलिये। मैं वहीं निवास करूँगा। अथवा तात! आप जहाँ उचित समझें, ले चलें। अनघ! मुझे दोष दृष्टि का परित्याग करके सदा आपके आज्ञापालन में स्थिर रहना है; क्योंकि आपके कारण ही मैं भलीभाँति पुष्ट होकर इतना बड़ा हुआ हूँ'।।19-20।।

एवमुक्तो मनुर्मत्स्यमनयद् भगवान् वशी।
नदीं गङ्गां तत्र चैनं स्वयं प्राक्षिपदच्युत:॥21।।
स तत्र ववृधे मत्स्य: किञ्चित्कालमरिन्दम।
तत: पुनर्मनुं दृष्ट्वा मत्स्यो वचनमब्रवीत्॥22।।
गङ्गायां हि न शक्नोमि बृहत्त्वाच्चेष्टितुं प्रभो।
समुद्रं नय मामाशु प्रसीद भगवन्निति॥23।।
उद्धृत्य गङ्गासलिलात् ततो मत्स्यं मनु: स्वयम्।
समुद्रमनयत् पार्थ तत्र चैनमवासृजत्॥24।।
सुमहानपि मत्स्यस्तु स मनोर्नयतस्तदा।
आसीद् यथेष्टहार्यश्च स्पर्शगन्धसुखस्य वै॥25।।
यदा समुद्रे प्रक्षिप्त: स मत्स्यो मनुना तदा।
तत एनमिदं वाक्यं स्मयमान इवाब्रवीत्॥26।।
भगवन् हि कृता रक्षा त्वया सर्वा विशेषत:।
प्राप्तकालं तु यत् कार्यं त्वया तच्छ्रूयतां मम॥27।।
अचिराद् भगवन् भौममिदं स्थावरजङ्गमम्।
सर्वमेव महाभाग प्रलयं वै गमिष्यति॥28।।
सम्प्रक्षालनकालोऽयं लोकानां समुपस्थित:।
तस्मात् त्वां बोधयाम्यद्य यत् ते हितमनुत्तमम्॥29।।
त्रसानां स्थावराणां च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति।
तस्य सर्वस्य सम्प्राप्त: काल: परमदारुण:॥30।।

मत्स्य के ऐसा कहने पर जितेन्द्रिय, अपनी मर्यादा से कभी च्युत न होने वाले भगवान् मनु ने उसे स्वयं ले जाकर गङ्गा में डाल दिया।।21।। शत्रुदमन! फिर वह मत्स्य वहाँ कुछ काल तक बढ़ता रहा। फिर एक दिन मनु को देखकर उसने कहा—'प्रभो! मेरा शरीर अब इतना बड़ा हो गया है कि मैं गङ्गाजी में हिल डुल नहीं सकता। अतः मुझे शीघ्र ही समुद्र में ले चलिये। भगवन्! आप प्रसन्न होकर मुझ पर इतनी कृपा अवश्य कीजिये।' कुन्तीनन्दन! तब मनु ने स्वयं उस मत्स्य को गङ्गाजी के जल से निकाल कर समुद्र तक पहुँचाया और उसमें छोड़ दिया।।22-24।। राजन्! यद्यपि वह मत्स्य बहुत विशाल था, तो भी जब मनु उसे ले जाने लगे, तब वह ऐसा बन गया, जिससे आसानी से ले जाया जा सके। उसका स्पर्श और गन्ध दोनों मनु के लिए बड़े सुखकर थे।।25।। जब मनु ने उस मत्स्य को समुद्र में डाल दिया, तब इसने उनसे मुसकराते हुए से कहा—।।26।। 'भगवन्! आपने विशेष मनोयोग के साथ सब प्रकार से मेरी रक्षा की है, अब आपके लिए जिस कार्य का अवसर प्राप्त हुआ है, वह बताता हूँ, सुनिये—।।27।। भगवन्! यह सारा का सारा चराचर पार्थिव जगत् शीघ्र ही नष्ट होने वाला है। महाभाग! सम्पूर्ण जगत् का प्रलय हो जायगा।।28।। यह सब लोकों के सम्प्रक्षालन (एकार्णव के जल से धुलकर नष्ट होने) का समय आ गया है। इसलिए मैं आपको सचेत करता हूँ और आपके लिए जो परम उत्तम हित की बात है, उसे बताता हूँ।।29।। सम्पूर्ण जङ्गमों तथा स्थावर पदार्थों में जो हिल डुल सकते हैं और जो हिलने डुलने वाले नहीं हैं, उन सबके लिए अत्यन्त भयङ्कर समय आ पहुँचा है।।30।।

नौश्च कारयितव्या ते दृढा युक्तवटारका।
तत्र सप्तर्षिभिः सार्धमारुहेथा महामुने॥31।।
बीजानि चैव सर्वाणि यथोक्तानि द्विजैः पुरा।
तस्यामारोहयेर्नावि सुसङ्गुप्तानि भागशः॥32।।
नौस्थश्च मां प्रतीक्षेथास्ततो मुनिजनप्रिय।
आगमिष्याम्यहं शृङ्गी विज्ञेयस्तेन तापस॥33।।
एवमेतत् त्वया कार्यमापृष्टोऽसि व्रजाम्यहम्।
ता न शक्या महत्यो वै आपस्तर्तुं मया विना॥34।।
नाभिशङ्क्यमिदं चापि वचनं मे त्वया विभो।
एवं करिष्य इति तं स मत्स्यं प्रत्यभाषत॥35।।
जग्मतुश्च यथाकाममनुज्ञाप्य परस्परम्।
ततो मनुर्महाराज यथोक्तं मत्स्यकेन ह॥36।।
बीजान्यादाय सर्वाणि सागरं पुप्लुवे तदा।
नौकया शुभया वीर महोर्मिणमरिन्दम॥37।।
चिन्तयामास च मनुस्तं मत्स्यं पृथिवीपते।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा मत्स्यः परपुरञ्जय॥38।।
शृङ्गी तत्राजगामाशु तदा भरतसत्तम।
तं दृष्ट्वा मनुजव्याघ्र मनुर्मत्स्यं जलार्णवे॥39।।

शृङ्गिणं तं यथोक्तेन रूपेणाद्रिमिवोच्छ्रितम्।
वटारकमयं पाशमथ मत्स्यस्य मूर्धनि॥40॥

आपको एक मजबूत नाव बनवानी चाहिये, जिसमें (मजबूत) रस्सी जुटी हो। महामुने! फिर आप सप्तर्षियों के साथ उस नाव पर बैठ जाइये॥31॥ पूर्व काल में ब्राह्मणों ने जो सब प्रकार के बीज बताये हैं, उनका पृथक् पृथक् संग्रह करके उन्हें सुरक्षित रूप से उस नाव पर रख लें॥32॥ मुनिजनों के प्रेमी तपस्वी नरेश! उस नाव में बैठे रहकर आप मेरी प्रतीक्षा कीजियेगा। मैं आपके पास अपने मस्तक में सींग धारण किये आऊँगा। उसी से आप मुझे पहचान लेंगे। इस प्रकार यह सब कार्य आपको करना है। अब मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ और यहाँ से जाता हूँ। उस महान् जल राशि को आप लोग मेरी सहायता के बिना पार नहीं कर सकेंगे॥33-34॥ प्रभो! आप मेरी इस बात में तनिक भी सन्देह न करें।' तब राजा ने उस मत्स्य से कहा—'बहुत अच्छा! मैं ऐसा ही करूँगा'॥35॥ शत्रुदमन! वे दोनों एक-दूसरे से विदा लेकर इच्छानुसार वहाँ से चले गये। महाराज! तदनन्तर मनु मत्स्य भगवान् के कथनानुसार सम्पूर्ण बीज लेकर एक सुन्दर नौका द्वारा उत्ताल तरङ्गों से भरे हुए महासागर में तैरने लगे॥36-37॥ शत्रुनगरविजयी नरेश्वर! तदनन्तर मनु ने भगवान् मत्स्य का चिन्तन किया। यह जानकर शृङ्गधारी भगवान् मत्स्य वहाँ शीघ्र आ पहुँचे। नरश्रेष्ठ भरतकुलशिरोमणे! समुद्र में अपने पूर्वकथित रूप से ऊँचे पर्वत की भाँति शृङ्गधारी मत्स्य भगवान् को आया देख उनके मस्तकवर्ती सींग में उन्होंने बँटी हुई रस्सी बाँध दी॥38-40॥

मनुर्मनुजशार्दूल तस्मिन् शृङ्गे न्यवेशयत्।
संयतस्तेन पाशेन मत्स्यः परपुरञ्जय॥41॥
वेगेन महता नावं प्राकर्षल्लवणाम्भसि।
स च तांस्तारयन् नावा समुद्रं मनुजेश्वर॥42॥
नृत्यमानमिवोर्मीभिर्गर्जमानमिवाम्भसा।
क्षोभ्यमाणा महावातैः सा नौस्तस्मिन् महोदधौ॥43॥
घूर्णते चपलेव स्त्री मत्ता परपुरञ्जय।
नैव भूमिर्न च दिशः प्रदिशो वा चकाशिरे॥44॥
सर्वमाम्भसमेवासीत् खं द्यौश्च नरपुङ्गव।
एवम्भूते तदा लोके सङ्कुले भरतर्षभ॥45॥
अदृश्यन्तर्षयः सप्त मनुर्मत्स्यस्तथैव च।
एवं बहून् वर्षगणांस्तां नावं सोऽथ मत्स्यकः॥46॥
चकर्षातन्द्रितो राजंस्तस्मिन् सलिलसञ्चये।
ततो हिमवतः शृङ्गं यत्परं भरतर्षभ॥47॥
तत्राकर्षत् ततो नावं स मत्स्यः कुरुनन्दन।
अथाब्रवीत्तदा मत्स्यस्तानृषीन् प्रहसन् शनैः॥48॥
अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत मा चिरम्।
सा बद्धा तत्र तैस्तूर्णमृषिभिर्भरतर्षभ॥49॥

नौर्मत्स्यस्य वचः श्रुत्वा शृङ्गे हिमवतस्तदा।
तच्च नौबन्धनं नाम शृङ्गं हिमवतः परम्॥50॥

शत्रु की राजधानी पर विजय पाने वाले पुरुषसिंह! मनु ने वह नाव उस सींग में अटका दी। रस्सी से बँधे हुए मत्स्य भगवान् उन सबको नौका द्वारा पार उतारने के लिए उस खारे पानी के समुद्र में बड़े वेग से नाव खींचने लगे। मनुजेश्वर! उस समय समुद्र अपनी लहरों से नृत्य करता सा जान पड़ता था। पानी के हिलोरों से भयङ्कर गर्जना सी कर रहा था। शत्रुविजयी नरेश्वर! उस महासागर में प्रचण्ड वायु के झोंकों से विक्षुब्ध होकर हिलती-डुलती हुई वह नौका चञ्चल चित्त वाली मतवाली स्त्री के समान झूम रही थी। उस समय न तो भूमि का पता लगता था और न दिशाओं तथा विदिशाओं का ही भान होता था॥41-44॥ भरतकुलभूषण नरेश्वर! आकाश और द्युलोक सब कुछ जलमय ही प्रतीत होता था। इस प्रकार जब सारा विश्व एकार्णव के जल में डूबा हुआ था, उस समय केवल सप्तर्षि, मनु और मत्स्य भगवान्—ये ही नौ व्यक्ति दृष्टिगोचर होते थे। राजन्! इस तरह बहुत वर्षों तक भगवान् मत्स्य आलस्य रहित होकर उस अगाध जलराशि में उस नौका को खींचते रहे। भरतकुलतिलक! तदनन्तर हिमालय का जो सर्वोच्च शिखर था, वहाँ मत्स्य भगवान् उस नाव को खींचकर ले गये। कुरुनन्दन! तब वे धीरे-धीरे हँसते हुए उन समस्त ऋषियों से बोले—'आप लोग हिमालय के इस शिखर में इस नाव को शीघ्र बाँध दें।' भरतश्रेष्ठ! मत्स्य का वचन सुनकर उन महर्षियों ने तुरन्त वहाँ हिमालय के शिखर में वह नौका बाँध दी। तभी से हिमालय का वह उत्तम शिखर 'नौका बन्धन' के नाम से विख्यात हुआ॥45-50॥

ख्यातमद्यापि कौन्तेय तद् विद्धि भरतर्षभ।
अथाब्रवीदनिमिषस्तानृषीन्सहितस्तदा॥51॥
अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते।
मत्स्यरूपेण यूयं च मयास्मान्मोक्षिता भयात्॥52॥
मनुना च प्रजाः सर्वाः सदेवासुरमानुषाः।
स्रष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति॥53॥
तपसा चा पि तीव्रेण प्रतिभास्य भविष्यति।
मत्प्रसादात् प्रजासर्गे न च मोहं गमिष्यति॥54॥
इत्युक्त्वा वचनं मत्स्यः क्षणेनादर्शनं गतः।
स्रष्टुकामः प्रजाश्चापि मनुर्वैवस्वतः स्वयम्॥55॥
प्रमूढोऽभूत्प्रजासर्गे तपस्तेपे महत्ततः।
तपसा महता युक्तः सोऽथ स्रष्टुं प्रचक्रमे॥56॥
सर्वाः प्रजा मनुः साक्षाद् यथावद् भरतर्षभ।
इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम्॥57॥
आख्यानमिदमाख्यातं सर्वपापहरं मया।
य इदं शृणुयान् नित्यं मनोश्चरितमादितः।
स सुखी सर्वपूर्णार्थः सर्वलोकमियान्नरः॥58॥

भरतश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन! तुम्हें मालूम होना चाहिए कि वह शिखर आज भी उसी नाम से प्रसिद्ध है। तदनन्तर एकटक दृष्टि वाले भगवान् मत्स्य एक साथ उन सब ऋषियों से बोले—॥51॥ 'मैं प्रजापति ब्रह्मा हूँ। मुझसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं उपलब्ध होती। मैंने ही मत्स्य रूप धारण करके इस महान् भय से तुम लोगों की रक्षा की है। अब मनु को चाहिये कि ये देवता, असुर और मनुष्य आदि समस्त प्रजा की, सब लोकों की और सम्पूर्ण चराचर की सृष्टि करें'॥52-53॥ इन्हें तीव्र तपस्या के द्वारा जगत् की सृष्टि करने की प्रतिभा प्राप्त हो जाएगी। मेरी कृपा से प्रजा की सृष्टि करते समय इन्हें मोह नहीं होगा'॥54॥ ऐसा कहकर भगवान् मत्स्य क्षण भर में अदृश्य हो गये। तदनन्तर स्वयं वैवस्वत मनु को प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा हुई, किन्तु प्रजा की सृष्टि करने में उनकी बुद्धि मोहाच्छन्न हो गयी थी। तब उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की और महान् तपोबल से सम्पन्न होकर उन्होंने सृष्टि का कार्य प्रारम्भ किया॥55-56॥ भरतकुलभूषण! फिर वे पूर्वकल्प के अनुसार सारी प्रजा की यथावत् सृष्टि करने लगे। इस प्रकार यह सङ्क्षेप से मत्स्य पुराण का वृत्तान्त बताया गया है॥57॥ मेरे द्वारा वर्णित यह उपाख्यान सब पापों को नष्ट करने वाला है। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रारम्भ से ही मनु के इस चरित्र को सुनता है, वह सुखी हो सम्पूर्ण मनोरथों को पा लेता और सब लोकों में जा सकता है॥58॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि मत्स्योपाख्याने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 187 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में मत्स्योपाख्यान विषयक एक सौ सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥187॥

मत्स्योपाख्यानगीता सम्पूर्णा।

मार्कण्डेयगीता

षष्ठोऽध्याय:

चारों युगों की वर्ष संख्या एवं कलियुग के प्रभाव का वर्णन, प्रलयकाल का दृश्य और मार्कण्डेयजी को बालमुकुन्दजी के दर्शन, मार्कण्डेयजी का भगवान् के उदर में प्रवेश कर ब्रह्माण्ड दर्शन करना और फिर बाहर निकल कर उनसे वार्तालाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततः स पुनरेवाथ मार्कण्डेयं यशस्विनम्।
पप्रच्छ विनयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः॥1॥
नैके युगसहस्रान्तास्त्वया दृष्ट्वा महामुने।
न चापीह समः कश्चिदायुष्मान् दृश्यते तव॥2॥

वर्जयित्वा महात्मानं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
न तेऽस्ति सदृशः कश्चिदायुषा ब्रह्मवित्तम॥3।।
अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन् देवदानववर्जिते।
त्वमेव प्रलये विप्र ब्रह्माणमुपतिष्ठसे॥4।।
प्रलये चापि निर्वृत्ते प्रबुद्धे च पितामहे।
त्वमेकः सृज्यमानानि भूतानीह प्रपश्यसि॥5।।
चतुर्विधानि विप्रर्षे यथावत् परमेष्ठिना।
वायुभूता दिशः कृत्वा विक्षिप्यापस्ततस्ततः॥6।।
त्वया लोकगुरुः साक्षात् सर्वलोकपितामहः।
आराधितो द्विजश्रेष्ठ तत्परेण समाधिना॥7।।
स्वप्रमाणमथो विप्र त्वया कृतमनेकशः।
घोरेणाविश्य तपसा वेधसो निर्जितास्त्वया॥8।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर विनयशील धर्मराज युधिष्ठिर ने यशस्वी मार्कण्डेय मुनि से पुनः इस प्रकार प्रश्न किया—।।1।। 'महामुने! आपने हजार हजार युगों के अन्त में होने वाले अनेक महाप्रलय के दृश्य देखे हैं। इस संसार में आपके समान बड़ी आयु वाला दूसरा कोई पुरुष नहीं दिखायी देता।।।2।। ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ महर्षे! परमेष्ठी महात्मा ब्रह्माजी को छोड़कर दूसरा कोई आपके समान दीर्घायु नहीं है।।3।। ब्रह्मन्! जब यह संसार देवता, दानव और अन्तरिक्ष आदि लोकों से शून्य हो जाता है उस प्रलयकाल में केवल आप ही ब्रह्माजी के पास रहकर उनकी उपासना करते हैं।।4।। ब्रह्मर्षे! फिर प्रलयकाल व्यतीत होने पर जब पितामह ब्रह्मा जागते हैं, तब सम्पूर्ण दिशाओं में वायु को फैलाकर उसके द्वारा समस्त जलराशि को इधर-उधर छितराकर (सूखे स्थानों में) ब्रह्माजी के द्वारा जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज नामक चार प्रकार के प्राणी रचे जाते हैं, उन्हें एकमात्र आप ही (सबसे पहले) अच्छी तरह देख पाते हैं।।5-6।। द्विजश्रेष्ठ! आपने तत्परतापूर्वक चित्तवृत्तियों का निरोध करके सम्पूर्ण लोकों के पितामह साक्षात् लोकगुरु ब्रह्माजी की आराधना की है। विप्रवर! आपने अनेक बार इस जगत् की प्रारम्भिक सृष्टि को प्रत्यक्ष किया है और घोर तपस्या द्वारा (मरीचि आदि) प्रजापतियों को भी जीत लिया है।।7-8।।

नारायणाङ्कप्रख्यस्त्वं साम्परायेऽतिपठ्यसे।
भगवाननेकशः कृत्वा त्वया विष्णोश्च विश्वकृत्॥9।।
कर्णिकोद्धरणं दिव्यं ब्रह्मणः कामरूपिणः।
रत्नालङ्कारयोगाभ्यां दृग्भ्यां दृष्टस्त्वया पुरा॥10।।
तस्मात् तवान्तको मृत्युर्जरा वा देहनाशिनी।
न त्वां विशति विप्रर्षे प्रसादात् परमेष्ठिनः॥11।।
यदा नैव रविर्नाग्निर्न वायुर्न च चन्द्रमाः।
नैवान्तरिक्षं नैवोर्वी शेषं भवति किञ्चन॥12।।

तस्मिन्नेकार्णवे लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टे देवासुरगणे समुत्सन्नमहोरगे॥13।।
शयानममितात्मानं पद्मोत्पलनिकेतनम्।
त्वमेकः सर्वभूतेशं ब्रह्माणमुपतिष्ठसि॥14।।
एतत् प्रत्यक्षतः सर्वं पूर्वं वृत्तं द्विजोत्तम।
तस्मादिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वहेत्वात्मिकां कथाम्॥15।।
अनुभूतं हि बहुशस्त्वयैकेन द्विजोत्तम।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चित् सर्वलोकेषु नित्यदा॥16।।

आप भगवान् नारायण के समीप रहने वाले भक्तों में सबसे श्रेष्ठ हैं। परलोक में आपकी महिमा का सर्वत्र गान होता है। आपने पहले स्वेच्छा से प्रकट होने वाले सर्वव्यापक ब्रह्म की उपलब्धि के स्थानभूत हृदयकमल की कर्णिका का (योग की कला से) अलौकिक उद्घाटन कर वैराग्य और अभ्यास से प्राप्त हुई दिव्य दृष्टि का विश्वरचयिता भगवान् का अनेक बार साक्षात्कार किया है।।9-10।। इसीलिए सबको मारने वाली मृत्यु तथा शरीर को जर्जर बना देने वाली जरा आपका स्पर्श नहीं करती है। ब्रह्मर्षे! इसमें भगवान् परमेष्ठी का कृपाप्रसाद ही कारण है।।11।। (महाप्रलय के समय) जब सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष और पृथ्वी आदि में से कोई भी शेष नहीं रह जाता, समस्त चराचर जगत् उस एकार्णव के जल में डूबकर अदृश्य हो जाता है, देवता और असुर नष्ट हो जाते हैं तथा बड़े-बड़े नागों का संहार हो जाता है, उस समय कमल और उत्पल में निवास तथा शयन करने वाले सर्वभूतेश्वर अमितात्मा ब्रह्माजी के पास रहकर केवल आप ही उनकी उपासना करते हैं।।12-14।। द्विजोत्तम! यह सारा पुरातन इतिहास आपका प्रत्यक्ष देखा हुआ है। इसलिए मैं आपके मुख से सबके हेतुभूत काल का निरूपण करने वाली कथा सुनना चाहता हूँ।।15।। विप्रवर! केवल आपने ही अनेक कल्पों की श्रेष्ठ रचना का बहुत बार अनुभव किया है। सम्पूर्ण लोकों में कभी कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आपको ज्ञात न हो'।।16।।

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते वर्णयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयम्भुवे।
पुरुषाय पुराणाय शाश्वतायाव्ययाय च॥17।।
अव्यक्ताय सुसूक्ष्माय निर्गुणाय गुणात्मने।
स एष पुरुषव्याघ्र पीतवासा जनार्दनः॥18।।
एष कर्ता विकर्ता च भूतात्मा भूतकृत् प्रभुः।
अचिन्त्यं महदाश्चर्यं पवित्रमिति चोच्यते॥19।।
अनादिनिधनं भूतं विश्वमव्ययमक्षयम्।
एष कर्ता न क्रियते कारणं चापि पौरुषे॥20।।
यद्येष पुरुषो वेद वेदा अपि न तं विदुः।
सर्वमाश्चर्यमेवैतन्निर्वृत्तं राजसत्तम॥21।।

आदितो मनुजव्याघ्र कृत्स्नस्य जगतः क्षये।
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्॥22।।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः।
त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगमिहोच्यते॥23।।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च ततः परम्।
तथा वर्षसहस्रे द्वे द्वापरं परिमाणतः॥24।।
तस्यापि द्विशती सन्ध्या सन्ध्यांश्च तथाविधः।
सहस्रमेकं वर्षाणां ततः कलियुगं स्मृतम्॥25।।
तस्य वर्षशतं सन्धिः सन्ध्यांशश्च ततः परम्।
सन्धिसन्ध्यांशयोस्तुल्यं प्रमाणमुपधारय॥26।।

मार्कण्डेय उवाच—राजन्! मैं स्वयं प्रकट होने वाले सनातन, अविनाशी, अव्यक्त, सूक्ष्म, निर्गुण एवं गुण स्वरूप पुराणपुरुष को नमस्कार करके तुम्हें वह कथा अभी सुनाता हूँ। पुरुषसिंह! ये जो हम लोगों के पास बैठे हुए पीताम्बरधारी भगवान् जनार्दन हैं, ये ही संसार की सृष्टि और संहार करने वाले हैं। ये ही भगवान् समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी आत्मा और उनके रचयिता हैं। ये पवित्र, अचिन्त्य एवं महान् आश्चर्यमय तत्त्व कहे जाते हैं।।17-19।। इनका न आदि है, न अन्त। ये सर्वभूत स्वरूप, अव्यय और अक्षय हैं। ये ही सबके कर्त्ता हैं, इनका कोई कर्त्ता नहीं है। पुरुषार्थ की प्राप्ति में भी ये ही कारण हैं।।20।। ये अन्तर्यामी आत्मा होने से सबको जानते हैं, परन्तु इन्हें वेद भी नहीं जानते हैं। नृपशिरोमणे! नरश्रेष्ठ! सम्पूर्ण जगत् का प्रलय होने के पश्चात् इन आदिभूत परमेश्वर से ही यह सम्पूर्ण आश्चर्यमय जगत् पुनः उत्पन्न हो जाता है। चार हजार दिव्य वर्षों का सत्ययुग बताया गया है, उतने ही सौ वर्ष उसकी संध्या और संध्यांश के होते हैं (इस प्रकार कुल अड़तालीस सौ दिव्य वर्ष सत्ययुग के हैं)। तीन हजार दिव्य वर्षों का त्रेतायुग बताया जाता है, उसकी संध्या और संध्यांश के भी उतने ही (तीन तीन) सौ दिव्य वर्ष होते हैं (इस तरह यह युग छत्तीस सौ दिव्य वर्षों का होता है)। द्वापर का मान दो हजार दिव्य वर्ष है तथा उतने ही सौ दिव्य वर्ष उसकी संध्या और संध्यांश के हैं (अतः सब मिलकर चौबीस सौ दिव्य वर्ष द्वापर के हैं)। तदनन्तर एक हजार दिव्य वर्ष कलियुग का मान कहा गया है, सौ वर्ष उसकी संध्या के और सौ वर्ष संध्यांश के बताये गये हैं (इस प्रकार कलियुग बारह सौ दिव्य वर्षों का होता है)। संध्य और संध्यांश का मान बराबर बराबर ही समझो।।21-26।।

क्षीणे कलियुगे चैव प्रवर्तेत कृतं युगम्।
एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्त्तिता॥27।।
एतत् सहस्रपर्यन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम्।
विश्वं हि ब्रह्मभवने सर्वतः परिवर्त्तते॥28।।
लोकानां मनुजव्याघ्र प्रलयं तं विदुर्बुधाः।
अल्पावशिष्टे तु तदा युगान्ते भरतर्षभ॥29।।

सहस्रान्ते नरा: सर्वे प्रायशोऽनृतवादिन:।
यज्ञप्रतिनिधि: पार्थ दानप्रतिनिधिस्तथा॥30।।
व्रतप्रतिनिधिश्चैव तस्मिन् काले प्रवर्तते।
ब्राह्मणा: शूद्रकर्माणस्तथा शूद्रा धनार्जका:॥31।।
क्षत्रधर्मेण वाप्यत्र वर्तयन्ति गते युगे।
निवृत्तयज्ञस्वाध्याया दण्डाजिनविवर्जिता:॥32।।
ब्राह्मणा: सर्वभक्षाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे।
अजपा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपपरायणा:॥33।।
विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत्।
बहवो म्लेच्छराजान: पृथिव्यां मनुजाधिप॥34।।
मृषानुशासिन: पापा मृषावादपरायणा:।
आन्ध्रा: शका: पुलिन्दाश्च यवनाश्च नराधिपा:॥35।।
काम्बोजा बाह्लिका: शूरास्तथाऽऽभीरा नरोत्तम।
न तदा ब्राह्मण: कश्चित् स्वधर्ममुपजीवति॥36।।

कलियुग के क्षीण हो जाने पर पुन: सत्ययुग का आरम्भ होता है। इस तरह बारह हजार दिव्य वर्षों की एक चतुर्युगी बतायी गयी है।।27।। नरश्रेष्ठ! एक हजार चतुर्युग बीतने पर ब्रह्माजी का एक दिन होता है। यह सारा जगत् ब्रह्मा के दिन भर ही रहता है (और वह दिन समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है)। इसी को विद्वान् पुरुष लोकों का प्रलय मानते हैं। भरतश्रेष्ठ! सहस्र युग की समाप्ति में जब थोड़ा-सा ही समय शेष रह जाता है, उस समय कलियुग के अन्तिम भाग में प्राय: सभी मनुष्य मिथ्यावादी हो जाते हैं। पार्थ! उस समय यज्ञ, दान और व्रत के प्रतिनिधि कर्म चालू हो जाते हैं अर्थात् यज्ञ, दान, तप मुख्य विधि से न होकर गौण विधि नाममात्र होने लगते हैं। युग की समाप्ति के समय ब्राह्मण शूद्रों के कर्म करते हैं और शूद्र वैश्यों की भाँति धनोपार्जन करने लगते हैं अथवा क्षत्रियों के कर्म से जीविका चलाने लगते हैं। (सहस्र चतुर्युग के अन्तिम) कलियुग के अन्तिम भाग में ब्राह्मण यज्ञ, स्वाध्याय, दण्ड और मृगचर्म का त्याग कर देंगे और (भक्ष्याभक्ष्य का विचार छोड़कर) सब कुछ खाने-पीने वाले हो जाएँगे। तात! ब्राह्मण तो जप से दूर भागेंगे और शूद्र वैदिक मन्त्रों के जप में संलग्न होंगे।।।28-33।। नरेश्वर! इस प्रकार जब लोगों के विचार और व्यवहार विपरीत हो जाते हैं, तब प्रलय का पूर्व रूप आरम्भ हो जाता है। उस समय इस पृथ्वी पर बहुत-से म्लेच्छ राजा राज्य करने लगते हैं।।34।। छल से शासन करने वाले, पापी और असत्यवादी आन्ध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाह्लीक तथा शौर्य सम्पन्न आभीर इस देश के राजा होंगे। नरश्रेष्ठ! उस समय कोई ब्राह्मण अपने धर्म के अनुसार जीविका चलाने वाला न होगा।।35-36।।

क्षत्रियाश्चापि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप।
अल्पायुष: स्वल्पबला: स्वल्पवीर्यपराक्रमा:॥37।।

अल्पसाराल्पदेहाश्च तथा सत्याल्पभाषिणः।
बहुशून्या जनपदा मृगव्यालावृता दिशः॥38॥
युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मवादिनः।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चार्यवादिनः॥39॥
युगान्ते मनुजव्याघ्र भवन्ति बहुजन्तवः।
न तथा घ्राणयुक्ताश्च सर्वगन्धा विशाम्पते॥40॥
रसाश्च मनुजव्याघ्र न तथा स्वादुयोगिनः।
बहुप्रजा ह्रस्वदेहाः शीलाचारविवर्जिताः।
मुखे भगाः स्त्रियो राजन्भविष्यन्ति युगक्षये॥41॥
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः।
केशशूलाः स्त्रियो राजन् भविष्यन्ति युगक्षये॥42॥
अल्पक्षीरास्तथा गावो भविष्यन्ति जनाधिप।
अल्पपुष्पफलाश्चापि पादपा बहुवायसाः॥43॥
ब्रह्मवध्यानुलिप्तानां तथा मिथ्याभिशंसिनाम्।
नृपाणां पृथिवीपाल प्रतिगृह्णन्ति वै द्विजाः॥44॥
लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मध्वजावृताः।
भिक्षार्थं पृथिवीपाल चरिष्यन्ते द्विजैर्दिशः॥45॥

नरेश्वर! क्षत्रिय और वैश्य भी अपना-अपना धर्म छोड़कर दूसरे वर्णों के कर्म करने लगेंगे। सबकी आयु कम होगी, सबके बल, वीर्य और पराक्रम घट जाएँगे॥37॥ मनुष्य नाटे कद के होंगे। उनकी शारीरिक शक्ति बहुत कम हो जायगी और उनकी बातों में सत्य का अंश बहुत कम होगा। बहुधा सारे जनपद जनशून्य होंगे। सम्पूर्ण दिशाएँ पशुओं और सर्पों से भरी होंगी। युगान्तकाल उपस्थित होने पर अधिकांश मनुष्य (अनुभव न होते हुए भी) वृथा ही ब्रह्म ज्ञान की बातें कहेंगे। शूद्र द्विजातियों को भो (ऐ) कहकर पुकारेंगे और ब्राह्मण लोग शूद्रों को आर्य अर्थात् आप कहकर सम्बोधन करेंगे॥38-39॥ पुरुषसिंह राजन्! युगान्त काल में बहुत-से जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाएँगे। सब प्रकार के सुगन्धित पदार्थ नासिका को उतने गन्धयुक्त नहीं प्रतीत होंगे॥40॥ नरव्याघ्र! इसी प्रकार रसीले पदार्थ भी जैसे चाहिये वैसे स्वादिष्ट नहीं होंगे। राजन्! उस समय की स्त्रियाँ नाटे कद की और बहुत सन्तान (बच्चा) पैदा करने वाली होंगी। उनमें शील और सदाचार का अभाव होगा। युगान्त काल में स्त्रियाँ मुख से भग सम्बन्धी यानी व्यभिचार की ही बातें करने वाली होंगी। राजन्! युगान्त काल में हर देश के लोग अन्न बेचने वाले होंगे। ब्राह्मण वेद बेचने वाले तथा (प्रायः) स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति को अपनाने वाली होंगी[1]॥41-42॥ जनेश्वर! युगान्त काल में गायों के थनों में बहुत कम दूध होगा। वृक्ष पर फल और फूल बहुत कम होंगे और उन पर (अच्छे पक्षियों की

---

1. अट्टमन्नं शिवो वेदो ब्राह्मणाश्च चतुष्पथाः।
केशो भगं समाख्यातं शूलं तद्विक्रयं विदुः॥ (नीलकण्ठ कृत टीका)

अपेक्षा) कौए ही अधिक बसेरे लेंगे। भूपाल! ब्राह्मण लोग (लोभवश) ब्रह्म हत्या जैसे पापों से लिप्त और मिथ्यावादी नरेशों से ही दान-दक्षिणा लेंगे।।43-44।। राजन्! वे ब्राह्मण लोभ और मोह में फँस कर झूठे धर्म का ढोंग रचने वाले होंगे, इतना ही नहीं, वे भिक्षा के लिए सारी दिशाओं के लोगों को पीड़ित करते रहेंगे।।45।।

करभारभयाद् भीता गृहस्थाः परिमोषकाः।
मुनिच्छद्माकृतिच्छन्ना वाणिज्यमुपजीविनः॥46।।
मिथ्या च नखरोमाणि धारयन्ति तदा द्विजाः।
अर्थलोभान् नरव्याघ्र तथा च ब्रह्मचारिणः॥47।।
आश्रमेषु वृथाचाराः पानपा गुरुतल्पगाः।
इह लौकिकमीहन्ते मांसशोणितवर्धनम्॥48।।
बहुपाषण्डसङ्कीर्णाः परान्नगुणवादिनः।
आश्रमा मनुजव्याघ्र भविष्यन्ति युगक्षये॥49।।
यथर्तुवर्षी भगवान् न तथा पाकशासनः।
न चापि सर्वबीजानि सम्यग् रोहन्ति भारत॥50।।
हिंसाभिरामश्च जनस्तथा सम्पद्यतेऽशुचिः।
अधर्मफलमत्यर्थं तदा भवति चानघ॥51।।
तदा च पृथिवीपाल यो भवेद् धर्मसंयुतः।
अल्पायुः स हि मन्तव्यो न हि धर्मोऽस्ति कश्चन॥52।।
भूयिष्ठं कूटमानैश्च पण्यं विक्रीणते जनाः।
वणिजश्च नरव्याघ्र बहुमाया भवन्त्युत॥53।।
धर्मिष्ठाः परिहीयन्ते पापीयान् वर्धते जनः।
धर्मस्य बलहानिः स्यादधर्मश्च बली तथा॥54।।
अल्पायुषो दरिद्राश्च धर्मिष्ठा मानवास्तथा।
दीर्घायुषः समृद्धाश्च विधर्माणो युगक्षये॥55।।
नगराणां विहारेषु विधर्माणो युगक्षये।
अधर्मिष्ठैरुपायैश्च प्रजा व्यवहरन्त्युत॥56

गृहस्थ लोग कर के भार से डरकर लुटेरे बन जाएँगे। ब्राह्मण मुनियों जैसी कपटपूर्ण आकृति धारण किए वैश्य वृत्ति से जीविका चलाएँगे और झूठे दिखावे के लिए नख तथा दाढ़ी मूँछ धारण करेंगे। नरश्रेष्ठ धन के लोभ से ब्रह्मचारी भी आश्रमों में दम्भपूर्ण आचार को अपनायेंगे और मद्यपान करके गुरुपत्नी गमन करेंगे। लोग अपने शरीर के मांस और रक्त बढ़ाने वाले इहलौकिक कर्मों में ही लगे रहेंगे।।46-48।। नरश्रेष्ठ! युगान्त काल में सभी आश्रम अनेक प्रकार के पाखण्डों से व्याप्त और दूसरों से मिले हुए भोजन का ही गुणगान करने वाले होंगे।।49।। भगवान् इन्द्र भी ठीक वर्षा ऋतु के समय जल की वर्षा नहीं करेंगे। भारत! भूमि में बोये हुए सभी बीज ठीक से नहीं जमेंगे।।50।। कलियुग में सब लोग हिंसा में ही सुख मानने वाले तथा अपवित्र रहेंगे।

निष्पाप! उस समय अधर्म का फल बहुत अधिक मात्रा में मिलेगा।।51।। भूपाल! उस समय जो भी धर्म में तत्पर रहेगा, उसकी आयु बहुत थोड़ी देखने में आयेगी; क्योंकि उस समय कोई भी धर्म टिक नहीं सकेगा।।52।। लोग बाजार में झूठे माप-तौल बनाकर बहुत-सा माल बेचते रहेंगे। नरश्रेष्ठ! उस समय के बनिये भी बहुत माया जानने वाले (धूर्त) होंगे।।53।। धर्मात्मा पुरुष हानि उठाते दीखेंगे और बड़े-बड़े पापी लौकिक दृष्टि से उन्नतिशील होंगे। धर्म का बल घटेगा और अधर्म बलवान् होगा।।54।। युगान्त काल में धर्मिष्ठ मानव अल्पायु तथा दरिद्र देखे जाएँगे और अधर्मी मनुष्य दीर्घायु तथा समृद्धिशाली देखे जाएँगे।।55।। युगान्त के समय नगरों के उद्यानों में पापी पुरुष अड्डा जमायेंगे और पापपूर्ण उपायों द्वारा प्रजा के साथ दुर्व्यवहार करेंगे।।56।।

सञ्चयेन तथाल्पेन भवन्त्याढ्यमदान्विताः।
धनं विश्वासतो न्यस्तं मिथो भूयिष्ठशो नराः॥57।।
हर्तुं व्यवसिता राजन् पापाचारसमन्विताः।
नैतदस्तीति मनुजा वर्तन्ते निरपत्रपाः॥58।।
पुरुषादानि सत्त्वानि पक्षिणोऽथ मृगास्तथा।
नगराणां विहारेषु चैत्येष्वपि च शेरते॥59।।
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च स्त्रियो गर्भधरा नृप।
दशद्वादशवर्षाणां पुंसां पुत्रः प्रजायते॥60।।
भवन्ति षोडशे वर्षे नराः पलितिनस्तथा।
आयुः क्षयो मनुष्याणां क्षिप्रमेव प्रपद्यते॥61।।
क्षीणायुषो महाराज तरुणा वृद्धशीलिनः।
तरुणानां च यच्छीलं तद् वृद्धेषु प्रजायते॥62।।
विपरीतास्तदा नार्यो वञ्चयित्वार्हतः पतीन्।
व्युच्चरन्त्यपि दुःशीला दासैः पशुभिरेव च॥63।।
वीरपत्न्यस्तथा नार्यः संश्रयन्ति नरान् नृप।
भर्तारमपि जीवन्तमन्यान् व्यभिचरन् त्युत॥64।।
तस्मिन् युगसहस्रान्ते सम्प्राप्ते चायुषः क्षये।
अनावृष्टिर्महाराज जायते बहुवार्षिकी॥65।।
ततस्तान्यल्पसाराणि सत्त्वानि क्षुधितानि वै।
प्रलयं यान्ति भूयिष्ठं पृथिव्यां पृथिवीपते॥66।।

राजन्! थोड़े-से धन का संग्रह हो जाने पर लोग धनाढ्यता के मद से उन्मत्त हो उठेंगे। यदि किसी ने विश्वास करके अपने धन को धरोहर के रूप में रख दिया तो अधिकांश पापाचारी और निर्लज्ज मनुष्य उस धरोहर को हड़प लेने की चेष्टा करेंगे और उससे साफ कह देंगे कि हमारे यहाँ तुम्हारा कुछ भी नहीं है।।57-58।। मनुष्य का मांस खाने वाले हिंसक जीव तथा पशु-पक्षी नागरिकों के बगीचों और देवालयों में भी शयन करेंगे।।59।। राजन्! युगान्त काल में सात आठ वर्ष की स्त्रियाँ गर्भ धारण करेंगी और

दस बारह वर्ष की अवस्था वाले पुरुषों के भी पुत्र होंगे।।60।। सोलहवें वर्ष में मनुष्यों के बाल पक जाएँगे और उनकी आयु शीघ्र ही समाप्त हो जायगी।।61।। महाराज! उस समय के तरुणों की आयु क्षीण होगी और उनका शील स्वभाव बूढ़ों का-सा हो जायगा और तरुणों का जो शील स्वभाव होना चाहिये, वह बूढ़ों में प्रकट होगा।।62।। उस समय की विपरीत स्वभाव वाली स्त्रियाँ अपने योग्य पतियों को भी धोखा देकर बुरे शील स्वभाव की हो जाएंगी और सेवकों तथा पशुओं के साथ भी व्यभिचार करेंगी।।63।। राजन्! वीर पुरुषों की पत्नियाँ भी परपुरुषों का आश्रय लेंगी और पति के जीते हुए भी दूसरों से व्यभिचार करेंगी।।64।। महाराज! इस प्रकार आयु को क्षीण करने वाले सहस्र युगों के अन्तिम भाग की समाप्ति होने पर बहुत वर्षों तक वृष्टि बन्द हो जाती है।।65।। पृथ्वीपते! इससे भूतल के थोड़ी शक्ति वाले अधिकांश प्राणी भूख से व्याकुल होकर मर जाते हैं।।66।।

ततो दिनकरैर्दीप्तैः सप्तभिर्मनुजाधिप।
पीयते सलिलं सर्वं समुद्रेषु सरित्सु च॥67।।
यच्च काष्ठं तृणं चापि शुष्कं चार्द्रं च भारत।
सर्वं तद्भस्मसाद् भूतं दृश्यते भरतर्षभ॥68।।
ततः संवर्तको वह्निर्वायुना सह भारत।
लोकमाविशते पूर्वमादित्यैरुपशोषितम्॥69।।
ततः स पृथिवीं भित्त्वा प्रविश्य च रसातलम्।
देवदानवयक्षाणां भयं जनयते महत्॥70।।
निर्दहन्नागलोकं च यच्च किञ्चित् क्षिताविह।
अधस्तात्पृथिवीपाल सर्वं नाशयते क्षणात्॥71।।
ततो योजनविंशानां सहस्राणि शतानि च।
निर्दहत्यशिवो वायुः स च संवर्तकोऽनलः॥72।।
सदेवासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्।
ततो दहति दीप्तः स सर्वमेव जगद् विभुः॥73।।
ततो गजकुलप्रख्यास्तडिन्मालाविभूषिताः।
उत्तिष्ठन्ति महामेघा नभस्यद्भुतदर्शनाः॥74।।
केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित् कुमुदसन्निभाः।
केचित् किञ्जल्कसङ्काशाः केचित् पीताः पयोधराः॥75।।
केचिद्धारिद्रसङ्काशाः कारण्डवनिभास्तथा।
केचित् कमलपत्राभाः केचिद्धिङ्गुलसप्रभाः॥76।।

नरेश्वर! तदनन्तर प्रचण्ड तेज वाले सात सूर्य उदित होकर सरिताओं और समुद्रों का सारा जल सोख लेते हैं।।67।। भरतकुलभूषण! उस समय जो भी तृण-काष्ठ अथवा सूखे-गीले पदार्थ होते हैं, वे सभी भस्मीभूत दिखायी देने लगते हैं।।68।। भारत! इसके बाद 'संवर्तक' नाम की प्रलयकालीन अग्नि वायु के साथ उन सम्पूर्ण लोकों में फैल जाती है, जहाँ का जल पहले सात सूर्यों द्वारा सोख लिया गया है।।69।। तत्पश्चात्

पृथ्वी का भेदन कर वह अग्नि रसातल तक पहुँच जाती है तथा देवता, दानव और यक्षों के लिए महान् भय उपस्थित कर देती है।।70।। राजन्! वह नागलोक को जलाती हुई इस पृथ्वी के नीचे जो कुछ भी है, उस सबको क्षण भर में नष्ट कर देती है।।71।। इसके बाद वह अमङ्गलकारी प्रचण्ड वायु और वह संवर्तक अग्नि बाईस हजार योजन तक के लोगों को भस्म कर डालती है।।72।। इस प्रकार सर्वत्र फैली हुई वह प्रज्वलित अग्नि देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा राक्षसों सहित सम्पूर्ण विश्व को भस्म कर डालती है।।73।। इसके बाद आकाश में महान् मेघों की घोर घटा घिर आती है, जो अद्भुत दिखायी देती है। उनमें से प्रत्येक मेघ समूह हाथियों के झुण्ड की भाँति विशालकाय और श्याम वर्ण तथा बिजली की मालाओं से विभूषित होता है।।74।। कुछ बादल नीलकमल के समान श्याम और कुछ कुमुद-कुसुम के समान सफेद होते हैं। कुछ जलधरों की कान्ति केसरों के समान दिखायी देती है। कुछ मेघ हल्दी के सदृश पीले और कुछ कारण्डव पक्षी के समान दृष्टिगोचर होते हैं। कोई-कोई कमल दल के समान और कुछ हिंगुल जैसे जान पड़ते हैं।।75-76।।

केचित् पुरवराकाराः केचिद्गजकुलोपमाः।
केचिदञ्जनसङ्काशाः केचिन्मकरसन्निभाः॥77।।
विद्युन्मालापिनद्धाङ्गाः समुत्तिष्ठन्ति वै घनाः।
घोररूपा महाराज घोरस्वननिनादिताः।
ततो जलधराः सर्वे व्याप्नुवन्ति नभस्तलम्॥78।।
गर्जन्तः पृथिवीपालं पृथिवीधरसन्निभाः।
तैरियं पृथिवी सर्वा सपर्वतवनाकरा।
आपूर्यते महाराज सलिलौघपरिप्लुता॥79।।
ततस्ते जलदा घोरा राविणः पुरुषर्षभ।
सर्वतः प्लावयन्त्याशु चोदिताः परमेष्ठिना॥80।।
वर्षमाणा महत् तोयं पूरयन्तो वसुन्धराम्।
सुघोरमशिवं रौद्रं नाशयन्ति च पावकम्॥81।।
ततो द्वादशवर्षाणि पयोदास्त उपप्लवे।
धाराभिः पूरयन्तो वै चोद्यमाना महात्मना॥82।।
ततः समुद्रः स्वां वेलामतिक्रामति भारत।
पर्वताश्च विदीर्यन्ते मही चाप्सु निमज्जति॥83।।
सर्वतः सहसा भ्रान्तास्ते पयोदा नभस्तलम्।
संवेष्टयित्वा नश्यन्ति वायुवेगपराहताः॥84।।
ततस्तं मारुतं घोरं स्वयम्भूर्मनुजाधिप।
आदिः पद्मालयो देवः पीत्वा स्वपिति भारत॥85।।

कुछ श्रेष्ठ नगरों के समान, कुछ हाथियों के झुण्ड जैसे, कुछ काजल के रङ्ग वाले और कुछ मगरों की-सी आकृति वाले होते हैं।।77।। ये सभी बादल विद्युन्मालाओं से

अलङ्कृत होकर घिर आते हैं। महाराज! भयङ्कर गर्जना करने के कारण उनका स्वरूप बड़ा भयानक जान पड़ता है। धीरे-धीरे वे सभी जलधर समूचे आकाश मण्डल को ढक लेते हैं।।78।। महाराज! उनके वर्षा करने पर पर्वत, वन और खानों सहित यह सारी पृथ्वी अगाध जलराशि में डूबकर सब ओर से भर जाती है।।79।। पुरुषरत्न! तदनन्तर विधाता से प्रेरित हो गर्जन तर्जन करने वाले वे भयङ्कर मेघ शीघ्र सब ओर वर्षा करके सबको जल से आप्लावित कर देते हैं।।80।। महान् जल समूह की वर्षा करके वसुन्धरा को जल में डुबोने वाले वे समस्त मेघ उस अत्यन्त घोर, अमङ्गलकारी और भयानक अग्नि को बुझा देते हैं।।81।। तदनन्तर प्रलय काल के वे पयोधर महात्मा ब्रह्माजी की प्रेरणा पाकर पृथ्वी को परिपूर्ण करने के लिए बारह वर्षों तक धारावाहिक वृष्टि करते हैं।।82।। भारत! तदनन्तर समुद्र अपनी सीमा को लाङ्घ जाता है, पर्वत फट जाते हैं और पृथ्वी पानी में डूब जाती है।।83।। तत्पश्चात् समस्त आकाश को घेरकर सब ओर फैले हुए वे मेघ वायु के प्रचण्ड वेग से छिन्न-भिन्न होकर सहसा अदृश्य हो जाते हैं।।84।। नरेश्वर! इसके बाद कमल में निवास करने वाले आदिदेव स्वयं ब्रह्माजी उस भयङ्कर वायु को पीकर सो जाते हैं।।85।।

तस्मिन्नेकार्णवे घोरे नष्टे स्थावरजङ्गमे।
नष्टे देवासुरगणे यक्षराक्षसवर्जिते॥86।।
निर्मनुष्ये महीपाल नि:श्वापदमहीरुहे।
अनन्तरिक्षे लोकेऽस्मिन् भ्रमाम्येकोऽहमाहत:॥87।।
एकार्णवे जले घोरे विचरन् पार्थिवोत्तम।
अपश्यन् सर्वभूतानि वैक्लव्यमगमं तत:॥88।।
तत: सुदीर्घं गत्वाहं प्लवमानो नराधिप।
श्रान्त: क्वचिन्न शरणं लभाम्यहमतन्द्रित:॥89।।
तत: कदाचित् पश्यामि तस्मिन् सलिलसञ्चये।
न्यग्रोधं सुमहान्तं वै विशालं पृथिवीपते॥90।।
शाखायां तस्य वृक्षस्य विस्तीर्णायां नराधिप।
पर्यङ्के पृथिवीपाल दिव्यास्तरणसंस्तृते॥91।।
उपविष्टं महाराज पद्मेन्दुसदृशाननम्।
फुल्लपद्मविशालाक्षं बालं पश्यामि भारत॥92।।
ततो मे पृथिवीपाल विस्मय: सुमहानभूत्।
कथं त्वयं शिशु: शेते लोके नाशमुपागते॥93।।
तपसा चिन्तयंश्चापि तं शिशुं नोपलक्षये।
भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि नराधिप॥94।।
अतसीपुष्पवर्णाभ: श्रीवत्सकृतभूषण:।
साक्षाल्लक्ष्म्या इवावास: स तदा प्रतिभाति मे॥95।।

इस प्रकार चराचर प्राणियों, देवताओं तथा असुर आदि के नष्ट हो जाने पर यक्ष, राक्षस, मनुष्य, हिंसक जीव, वृक्ष तथा अन्तरिक्ष से शून्य उस घोर एकार्णव मय जगत् में मैं अकेला ही इधर-उधर मारा-मारा फिरता हूँ।।86-87।। नृपश्रेष्ठ! एकार्णव के उस भयङ्कर जल में विचरते हुए जब मैंने किसी भी प्राणी को नहीं देखा, तब मुझे बड़ी व्याकुलता हुई।।88।। नरेश्वर! उस समय आलस्यशून्य होकर सुदीर्घ काल तक तैरता हुआ मैं दूर जाकर बहुत थक गया। परन्तु कहीं भी मुझे कोई आश्रय नहीं मिला।।89।। राजन्! तदनन्तर एक दिन एकार्णव की उस अगाध जलराशि में मैंने एक बहुत विशाल बरगद का वृक्ष देखा।।90।। नराधिप! उस वृक्ष की चौड़ी शाखा पर एक पलङ्ग था, जिसके ऊपर दिव्य बिछौने बिछे हुए थे। महाराज! उस पलङ्ग पर एक सुन्दर बालक बैठा दिखायी दिया, जिसका मुख कमल के समान कमनीय शोभा धारण करने वाला तथा चन्द्रमा के समान नेत्रों को आनन्द देने वाला था। उसके नेत्र प्रफुल्ल पद्मदल के समान विशाल थे।।91-92।। पृथ्वीनाथ! उसे देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। मैं सोचने लगा—'सारे संसार के नष्ट हो जाने पर भी यह बालक यहाँ कैसे सो रहा है?'।।93।। नरेश्वर! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञाता होने पर भी तपस्या से भलीभाँति चिन्तन करता (ध्यान लगाता) रहा, तो भी उस शिशु के विषय में कुछ न जान सका।।94।। उसकी अङ्ग कान्ति अलसी के फूल की भाँति श्याम थी। उसका वक्षःस्थल श्रीवत्स चिह्न से विभूषित था। वह उस समय मुझे साक्षात् लक्ष्मी का निवासस्थान सा प्रतीत होता था।।95।।

ततो मामब्रवीद् बालः स पद्मनिभलोचनः।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् वाक्यं श्रुतिसुखावहम्॥96।।
जानामि त्वां परिश्रान्तं ततो विश्रामकाङ्क्षिणम्।
मार्कण्डेय इहास्स्व त्वं यावदिच्छसि भार्गव॥97।।
अभ्यन्तरं शरीरे मे प्रविश्य मुनिसत्तम।
आस्स्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया॥98।।
ततो बालेन तेनैवमुक्तस्यासीत् तदा मम।
निर्वेदो जीविते दीर्घे मनुष्यत्वे च भारत॥99।।
ततो बालेन तेनास्यं सहसा विवृतं कृतम्।
तस्याहमवशो वक्त्रे दैवयोगात् प्रवेशितः॥100।।
ततः प्रविष्टस्तत्कुक्षिं सहसा मनुजाधिप।
सराष्ट्रनगराकीर्णां कृत्स्नां पश्यामि मेदिनीम्॥101।।
गङ्गां शतद्रुं सीतां च यमुनामथ कौशिकीम्।
चर्मण्वतीं वेत्रवतीं चन्द्रभागां सरस्वतीम्॥102।।
सिन्धुं चैव विपाशां च नदीं गोदावरीमपि।
वस्वोकसारां नलिनीं नर्मदां चैव भारत॥103।।
नदीं ताम्रां च वेणां च पुण्यतोयां शुभावहाम्।

सुवेणां कृष्णवेणां च इरामां च महानदीम्॥104।।
वितस्तां च महाराज कावेरीं च महानदीम्।
(तुङ्गभद्रां कृष्णवेणीं कमलाञ्च महानदीम्।)
शोणं च पुरुषव्याघ्र विशल्यां किम्पुनामपि॥105।।
एताश्चान्याश्च नद्योऽहं पृथिव्यां या नरोत्तम।
परिक्रामन् प्रपश्यामि तस्य कुक्षौ महात्मनः॥106।।

मुझे विस्मय में पड़ा देख कमल के समान नेत्र वाले उस श्रीवत्सधारी कान्तिमान् बालक ने मुझे इस प्रकार श्रवण सुखद वचन कहा—'भृगुवंशी मार्कण्डेय! मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम बहुत थक गये हो और विश्राम चाहते हो। तुम्हारी जब तक इच्छा हो यहाँ बैठो।।96-97।। मुनिश्रेष्ठ! मैंने तुम पर कृपा की है। तुम मेरे शरीर के भीतर प्रवेश करके विश्राम करो। वहाँ तुम्हारे रहने के लिए व्यवस्था की गई है'।।98।। उस बालक के ऐसा कहने पर उस समय मुझे अपने दीर्घ जीवन और मानव शरीर पर बड़ा खेद और वैराग्य हुआ।।99।। तदनन्तर उस बालक ने सहसा अपना मुख खोला और मैं दैवयोग से परवश की भाँति उसमें प्रवेश कर गया।।100।। राजन्! उसमें प्रवेश करते ही मैं सहसा उस बालक के उदर में जा पहुँचा। वहाँ मुझे समस्त राष्ट्रों और नगरों से भरी हुई यह सारी पृथ्वी दिखायी दी।।101।। नरश्रेष्ठ! फिर तो मैं उस महात्मा बालक के उदर में घूमने लगा। घूमते हुए मैंने वहाँ गङ्गा, सतलज, सीता, यमुना, कोसी, चम्बल, वेत्रवती, चिनाव, सरस्वती, सिन्धु, व्यास, गोदावरी, वस्वोकसारा, नलिनी, नर्मदा, ताम्रपर्णी, वेणा, शुभदायिनी, पुण्यतोया, सुवेणा, कृष्णवेणा, महानदी इरामा, वितस्ता (झेलम), महानदी कावेरी, तुङ्गभद्रा, कृष्णवेणी, महानदी कमला, शोणभद्र, विशल्या तथा किम्पुना—इन सबको तथा इस पृथ्वी पर जो अन्य नदियाँ हैं, उनको भी देखा।।102-106।।

ततः समुद्रं पश्यामि यादोगणनिषेवितम्।
रत्नाकरममित्रघ्न पयसो निधिमुत्तमम्॥107।।
तत्र पश्यामि गगनं चन्द्रसूर्यविराजितम्।
जाज्वल्यमानं तेजोभिः पावकार्कसमप्रभम्॥108।।
पश्यामि च महीं राजन् काननैरुपशोभिताम्।
(सपर्वतवनद्वीपां निमग्नाशतसङ्कुलाम्।)
यजन्ते हि तदा राजन् ब्राह्मणा बहुभिर्मखैः॥109।।
क्षत्रियाश्च प्रवर्तन्ते सर्ववर्णानुरञ्जनैः।
वैश्याः कृषिं यथान्यायं कारयन्ति नराधिप॥110।।
शुश्रूषायां च निरता द्विजानां वृषलास्तदा।
ततः परिपतन् राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः॥111।।
हिमवन्तं च पश्यामि हेमकूटं च पर्वतम्।
निषधं चापि पश्यामि श्वेतं च रजतान्वितम्॥112।।

पश्यामि च महीपाल पर्वतं गन्धमादनम्।
मन्दरं मनुजव्याघ्र नीलं चापि महागिरिम्॥113॥
पश्यामि च महाराज मेरुं कनकपर्वतम्।
महेन्द्रं चैव पश्यामि विन्ध्यं च गिरिमुत्तमम्॥114॥
मलयं चापि पश्यामि पारियात्रं च पर्वतम्।
एते चान्ये च बहवो यावन्तः पृथिवीधराः॥115॥
तस्योदरे मया दृष्टाः सर्वे रत्नविभूषिताः।
सिंहान् व्याघ्रान् वराहांश्च पश्यामि मनुजाधिप॥116॥

शत्रुसूदन! इसके बाद जल जन्तुओं से भरे हुए अगाध जल के भण्डार परम उत्तम रत्नाकर समुद्र को भी देखा॥107॥ वहाँ मुझे चन्द्रमा और सूर्य से सुशोभित आकाश मण्डल दिखायी दिया, जो अनन्त तेज से प्रज्वलित तथा अग्नि एवं सूर्य के समान देदीप्यमान था॥108॥ राजन्! वहाँ की भूमि विविध काननों से सुशोभित, पर्वत, वन और द्वीपों से उपलक्षित तथा सैकड़ों सरिताओं से संयुक्त दिखायी देती थी। ब्राह्मण लोग नाना प्रकार के यज्ञों द्वारा भगवान् यज्ञपुरुष की आराधना करते थे॥109॥ नरेश्वर! क्षत्रिय राजा सब वर्णों की प्रजा का अनुरञ्जन करते—सबको सुखी और प्रसन्न रखते थे। वैश्य न्यायपूर्वक खेती का काम और व्यापार करते थे॥110॥ शूद्र तीनों द्विजातियों की सेवा शुश्रूषा में लगे रहते थे। राजन्! यह सब देखते हुए जब मैं उस महात्मा बालक के उदर में भ्रमण करता आगे बढ़ा, तब हिमवान्, हेमकूट, निषध, रजतयुक्त श्वेतगिरि, गन्धमादन, मन्दराचल, महागिरि नील, सुवर्णमय पर्वत मेरु, महेन्द्र, उत्तम विन्ध्यगिरि, मलय तथा पारियात्र पर्वत देखे। ये तथा और भी बहुत-से पर्वत मुझे उस बालक के उदर में दिखायी दिये। वे सब-के-सब नाना प्रकार के रत्नों से विभूषित थे। राजन्! वहाँ घूमते हुए मैंने सिंह, व्याघ्र और वाराह आदि पशु भी देखे॥111-116॥

पृथिव्यां यानि चान्यानि सत्त्वानि जगतीपते।
तानि सर्वाण्यहं तत्र पश्यन् पर्यचरं तदा॥117॥
कुक्षौ तस्य नरव्याघ्र प्रविष्टः सञ्चरन्दिशः।
शक्रादींश्चापि पश्यामि कृत्स्नान् देवगणानहम्॥118॥
साध्यान् रुद्रांस्तथाऽऽदित्यान्गुह्यकान्पितरस्तदा।
सर्पान् नागान् सुपर्णांश्च वसूनप्यश्विनावपि॥119॥
गन्धर्वाप्सरसो यक्षानृषींश्चैव महीपते।
दैत्यदानवसङ्घांश्च नागांश्च मनुजाधिप॥120॥
सिंहिकातनयांश्चापि ये चान्ये सुरशत्रवः।
यच्च किञ्चिन्मया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥121॥
सर्वं पश्याम्यहं राजंस्तस्य कुक्षौ महात्मनः।
चरमाणः फलाहारः कृत्स्नं जगदिदं विभो॥122॥
अन्तःशरीरे तस्याहं वर्षाणामधिकं शतम्।

न च पश्यामि तस्याहं देहस्यान्तं कदाचन॥123।।
सततं धावमानश्च चिन्तयानो विशाम्पते।
(भ्रमंस्तत्र महीपाल यदा वर्षगणान् बहून्।)
आसादयामि नैवान्तं तस्य राजन् महात्मनः॥124।।
ततस्तमेव शरणं गतोऽस्मि विधिवत् तदा।
वरेण्यं वरदं देवं मनसा कर्मणैव च॥125।।
ततोऽहं सहसा राजन् वायुवेगेन निःसृतः।
महात्मनो मुखात् तस्य विवृतात् पुरुषोत्तम॥126।।

पृथ्वीपते! भूमण्डल में जितने प्राणी हैं, उन सबको देखते हुए मैं उस समय उस बालक के उदर में विचरता रहा।।117।। नरश्रेष्ठ! उस शिशु के उदर में प्रविष्ट हो सम्पूर्ण दिशाओं में भ्रमण करते हुए मुझे इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओं के भी दर्शन हुए।।118।। पृथ्वीपते! साध्य, रुद्र, आदित्य, गुह्यक, पितर, सर्प, नाग, सुपर्ण, वसु, अश्विनीकुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष तथा ऋषियों का भी मैंने दर्शन किया। दैत्य दानव समूह, नाग, सिंहिका के पुत्र (राहु आदि) तथा अन्य देव शत्रुओं को भी देखा। राजन्! इस लोक में मैंने जो कुछ भी स्थावर जङ्गम पदार्थ देखे थे, वे सब मुझे उस महात्मा की कुक्षि में दृष्टिगोचर हुए। महाराज! मैं प्रतिदिन फलाहार करता और इस सम्पूर्ण जगत् में घूमता रहता।।119-122।। उस बालक के शरीर के भीतर मैं सौ वर्ष से अधिक काल तक घूमता रहा, तो भी कभी उसके शरीर का अन्त नहीं दिखायी दिया।।123।। युधिष्ठिर! मैं निरन्तर दौड़ लगाता और चिन्ता में पड़ा रहता था। महाराज! जब बहुत वर्षों तक भ्रमण करने पर भी उस महात्मा के शरीर का अन्त नहीं मिला, तब मैंने मन, वाणी और क्रिया द्वारा उन वरदायक एवं वरेण्य देवता की ही विधिपूर्वक शरण ली।।124-125।। पुरुषरत्न युधिष्ठिर! उनकी शरण लेते ही मैं वायु के समान वेग से उक्त महात्मा बालक के खुले हुए मुख की राह से सहसा बाहर निकल आया।।126।।

ततस्तस्यैव शाखायां न्यग्रोधस्य विशाम्पते।
आस्ते मनुजशार्दूल कृत्स्नमादाय वै जगत्॥127।।
तेनैव बालवेषेण श्रीवत्सकृतलक्षणम्।
आसीनं तं नरव्याघ्र पश्याम्यमिततेजसम्॥128।।
ततो मामब्रवीद् बालः स प्रीतः प्रहसन्निव।
श्रीवत्सधारी द्युतिमान् पीतवासा महाद्युतिः॥129।।
अपीदानीं शरीरेऽस्मिन् मामके मुनिसत्तम।
उषितस्त्वं सुविश्रान्तो मार्कण्डेय ब्रवीहि मे॥130।।
मुहूर्तादथ मे दृष्टिः प्रादुर्भूता पुनर्नवा।
यया निर्मुक्तमात्मानमपश्यं लब्धचेतसम्॥131।।
तस्य ताम्रतलौ तात चरणौ सुप्रतिष्ठितौ।
सुजातौ मृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिर्विराजितौ॥132।।

प्रयत्नेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिवन्दितौ।
दृष्ट्वा परिमितं तस्य प्रभावममितौजसः॥133।।
विनयेनाञ्जलिं कृत्वा प्रयत्नेनोपगम्य ह।
दृष्ट मया स भूतात्मा देवः कमललोचनः॥134।।
तमहं प्राञ्जलिर्भूत्वा नमस्कृत्येदमब्रुवम्।
ज्ञातुमिच्छामि देव त्वां मायां चैतां तवोत्तमाम्॥135।।
आस्येनानुप्रविष्टोऽहं शरीरे भगवंस्तव।
दृष्टवानखिलान् सर्वान् समस्तान् जठरे हि ते॥136।।

नरश्रेष्ठ राजन्! बाहर आकर देखा तो उसी बरगद की शाखा पर उसी बाल वेष से सम्पूर्ण जगत् को अपने उदर में लेकर श्रीवत्सचिह्न से सुशोभित वह अमित तेजस्वी बालक पूर्ववत् बैठा हुआ है।।127-128।। तब महातेजस्वी पीताम्बरधारी श्रीवत्सभूषित कान्तिमान् उस बालक ने प्रसन्न होकर हँसते हुए मुझ से कहा—।।129।। 'मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय! क्या तुम मेरे इस शरीर में रहकर विश्राम कर चुके? मुझे बताओ'।।130।। फिर दो ही घड़ी में मुझे एक नवीन दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे मैं अपने आपको माया से मुक्त और सचेत अनुभव करने लगा।।131।। तात! तदनन्तर मैंने कोमल और लाल रङ्ग की अङ्गुलियों से सुशोभित लाल-लाल तलवे वाले उस बालक के सुन्दर एवं सुप्रतिष्ठित चरणों को प्रयत्नपूर्वक पकड़ कर उन्हें अपने मस्तक से प्रणाम किया। उस अमित तेजस्वी शिशु का अनन्त प्रभाव देखकर मैं यत्नपूर्वक उसके समीप गया और विनीत भाव से हाथ जोड़कर सम्पूर्ण भूतों के आत्मा उस कमलनयन देवता का दर्शन किया।।132-134।। फिर हाथ जोड़े नमस्कार करके मैंने उससें इस प्रकार कहा—देव! मैं आपको और आपकी इस उत्तम माया को जानना चाहता हूँ।।135।। भगवन्! मैंने आपके मुख की राह से शरीर में प्रवेश करके आपके उदर में समस्त सांसारिक पदार्थों का अवलोकन किया है।।136।।

तव देव शरीरस्था देवदानवराक्षसाः।
यक्षगन्धर्वनागाश्च जगत् स्थावरजङ्गमम्॥137।।
त्वत्प्रसादाच्च मे देव स्मृतिर्न परिहीयते।
द्रुतमन्तःशरीरे ते सततं परिवर्तिनः॥138।।
निर्गतोऽहमकामस्तु इच्छया ते महाप्रभो।
इच्छामि पुण्डरीकाक्ष ज्ञातुं त्वाहमनिन्दितम्॥139।।
इह भूत्वा शिशुः साक्षात् किं भवानवतिष्ठते।
पीत्वा जगदिदं सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि॥140।।
किमर्थं च जगत् सर्वं शरीरस्थं तवानघ।
कियन्तं च त्वया कालमिह स्थेयमरिन्दम॥141।।
एतदिच्छामि देवेश श्रोतुं ब्राह्मणकाम्यया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष विस्तरेण यथातथम्॥142।।

महद् ध्येतदचिन्त्यं च यदहं दृष्टवान् प्रभो।
इत्युक्तः स मया श्रीमान्देवदेवो महाद्युतिः।
सान्त्वयन् मामिदं वाक्यमुवाच वदतां वरः॥143॥

देव! आपके शरीर में देवता, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, नाग तथा समस्त स्थावर जङ्गम रूप जगत् विद्यमान है।।137।। प्रभो! आपकी कृपा से आपके शरीर के भीतर निरन्तर शीघ्र गति से घूमते रहने पर भी मेरी स्मरण शक्ति नष्ट नहीं हुई है।।138।। महाप्रभो! मैं अपनी अभिलाषा न रहने पर भी केवल आपकी इच्छा से बाहर निकाल आया हूँ। कमलनयन! आप सर्वोत्कृष्ट देवताओं को मैं जानना चाहता हूँ।।139।। आप इस सम्पूर्ण जगत् को पी करके यहाँ साक्षात् बालक वेष में क्यों विराजमान हैं?।।140।। अनघ! यह सारा संसार आपके शरीर में किसलिए स्थित है? शत्रुदमन! आप कितने समय तक यहाँ इस रूप में रहेंगे?।।141।। देवेश्वर! कमलनयन! ब्राह्मण में जो सहज जिज्ञासा होती है, उससे प्रेरित होकर मैं आपसे यह सब बातें यथाविधि विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ।।142।। प्रभो! मैंने जो कुछ देखा है, यह अगाध और अचिन्त्य है।' मेरे इस प्रकार पूछने पर वे वक्ताओं में श्रेष्ठ महातेजस्वी देवाधिदेव श्रीभगवान् मुझे सांत्वना देते हुए इस प्रकार बोले।।143।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि
अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 188 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।188।।

सप्तमोऽध्याय:

भगवान् बालमुकुन्द का मार्कण्डेय को अपने स्वरूप का परिचय देना तथा मार्कण्डेय द्वारा श्रीकृष्ण की महिमा का प्रतिपादन और पाण्डवों का श्रीकृष्ण की शरण में जाना

देव उवाच

कामं देवा अपि न मां विप्र जानन्ति तत्त्वतः।
त्वत्प्रीत्या तु प्रवक्ष्यामि यथेदं विसृजाम्यहम्॥1॥
पितृभक्तोऽसि विप्रर्षे मां चैव शरणं गतः।
ततो दृष्टोऽस्मि ते साक्षाद् ब्रह्मचर्यं च ते महत्॥2॥
अपां नारा इति पुरा सञ्ज्ञाकर्म कृतं मया।
तेन नारायणोऽप्युक्तो मम तत् त्वयनं सदा॥3॥
अहं नारायणो नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः।
विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तम॥4॥
अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः।

अहं वैश्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा॥5॥
अहं शिवश्च सोमश्च कश्यपोऽथ प्रजापतिः।
अहं धाता विधाता च यज्ञश्चाहं द्विजोत्तम॥6॥
अग्निरास्यं क्षितिः पादौ चन्द्रादित्यौ च लोचने।
द्यौर्मूर्धा खं दिशः श्रोत्रे तथाऽपः स्वेदसम्भवाः॥7॥
सदिशं च नभः कायो वायुर्मनसि मे स्थितः।
मया क्रतुशतैरिष्टं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः॥8॥

भगवान् बोले—विप्रवर! देवता भी मेरे स्वरूप को यथेष्ट और यथार्थ रूप से नहीं जानते। मैं जिस प्रकार इस जगत् की रचना करता हूँ, वह तुम्हारे प्रेम के कारण तुम्हें बताऊँगा॥1॥ ब्रह्मर्षे! तुम पितृभक्त हो, मेरी शरण में आये हो और तुमने महान् ब्रह्मचर्य का पालन किया है। इन्हीं सब कारणों से तुम्हें मेरे साक्षात् स्वरूप का दर्शन हुआ है॥2॥ पूर्वकाल में मैंने ही जल का 'नारा' नाम रखा था। वह 'नारा' मेरा सदा अयन (वासस्थान) है, इसलिए मैं 'नारायण' नाम से विख्यात हूँ॥3॥ मैं नारायण ही सबकी उत्पत्ति का कारण, सनातन और अविनाशी हूँ। द्विजश्रेष्ठ! सम्पूर्ण भूतों की सृष्टि और संहार करने वाला भी मैं ही हूँ। मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही ब्रह्मा हूँ, मैं ही देवराज इन्द्र हूँ और मैं ही राजा कुबेर तथा प्रेतराज यम हूँ॥4-5॥ विप्रवर! मैं ही शिव, चन्द्रमा, प्रजापति कश्यप, धाता, विधाता और यज्ञ हूँ॥6॥ अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी चरण है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं। द्युलोक मेरा मस्तक है। आकाश और दिशाएँ मेरे कान हैं तथा जल मेरे शरीर के पसीने से प्रकट हुआ है। दिशाओं सहित आकाश मेरा शरीर है। वायु मेरे मन में स्थित है। मैंने पर्याप्त दक्षिणाओं से युक्त अनेक शत यज्ञों द्वारा यजन किया है॥7-8॥

यजन्ते वेदविदुषो मां देवयजने स्थितम्।
पृथिव्यां क्षत्रियेन्द्राश्च पार्थिवाः स्वर्गकाङ्क्षिणः॥9॥
यजन्ते मां तथा वैश्याः स्वर्गलोकजिगीषया।
चतुःसमुद्रपर्यन्तां मेरुमन्दरभूषणाम्॥10॥
शेषो भूत्वाहमेवैतां धारयामि वसुन्धराम्।
वाराहं रूपमास्थाय मयेयं जगती पुरा॥11॥
मज्जमाना जले विप्र वीर्येणासीत् समुद्धृता।
अग्निश्च वडवावक्त्रो भूत्वाहं द्विजसत्तम॥12॥
पिबाम्यपः सदा विद्वंस्ताश्चैवं विसृजाम्यहम्।
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रमूरू मे संस्थिता विशः॥13॥
पादौ शूद्रा भवन्तीमे विक्रमेण क्रमेण च।
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्यथर्वणः॥14॥
मत्तः प्रादुर्भवन्त्येते मामेव प्रविशन्ति च।
यतयः शान्तिपरमा यतात्मानो बुभुत्सवः॥15॥

कामक्रोधद्वेषमुक्ता निःसङ्गा वीतकल्मषाः।
सत्त्वस्था निरहङ्कारा नित्यमध्यात्मकोविदाः॥16॥
मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्त उपासते।
अहं संवर्तको वह्निरहं संवर्तकोऽनलः॥17॥
अहं संवर्तकः सूर्यस्त्वहं संवर्तकोऽनिलः।
तारारूपाणि दृश्यन्ते यान्येतानि नभस्तले॥18॥
मम वै रोमकूपाणि विद्धि त्वं द्विजसत्तम।
रत्नाकराः समुद्राश्च सर्व एव चतुर्दिशम्॥19॥
वसनं शयनं चैव विलयं चैव विद्धि मे।
मयैव सुविभक्तास्ते देवकार्यार्थसिद्धये॥20॥

वेदवेत्ता ब्राह्मण देवयज्ञ में स्थित मुझ यज्ञपुरुष का यजन करते हैं। पृथ्वी का पालन करने वाले क्षत्रिय नरेश स्वर्ग प्राप्ति की अभिलाषा से इस भूतल पर यज्ञों द्वारा मेरा यजन करते हैं। इसी प्रकार वैश्य भी स्वर्ग लोक पर विजय पाने की इच्छा से मेरी सेवा पूजा करते हैं। मैं ही शेषनाग होकर मेरुमन्दर से विभूषित तथा चारों समुद्रों से घिरी हुई इस वसुन्धरा को अपने सिर पर धारण करता हूँ। विप्रवर! पूर्वकाल में जब यह पृथ्वी जल में डूब गयी थी, उस समय मैंने ही वाराह रूप धारण करके इसे बलपूर्वक जल से बाहर निकाला था। विद्वन्! मैं ही बड़वामुख अग्नि होकर सदा समुद्र के जल को पीता हूँ और फिर उस जल को बरसा देता हूँ। ब्राह्मण मेरा मुख है, क्षत्रिय दोनों भुजाएँ हैं और वैश्य मेरी दोनों जाङ्घों के रूप में स्थित है॥9-13॥ ये शूद्र मेरे दोनों चरण हैं। मेरी शक्ति से क्रमशः इनका प्रादुर्भाव हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये मुझसे ही प्रकट होते और मुझमें ही लीन हो जाते हैं। शान्तिपरायण, संयमी, जिज्ञासु, काम-क्रोध-द्वेष रहित आसक्ति शून्य, निष्पाप, सात्त्विक, नित्य अहङ्कार शून्य तथा अध्यात्म ज्ञान कुशल यति एवं ब्राह्मण सदा मेरा ही चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं। मैं ही संवर्तक (प्रलय का कारण) वह्नि हूँ। मैं ही संवर्तक अनल हूँ। मैं ही संवर्तक सूर्य हूँ और मैं ही संवर्तक वायु हूँ। द्विजश्रेष्ठ! आकाश में जो ये तारे दिखायी देते हैं, उन सबको मेरे ही रोमकूप समझो। रत्नाकर समुद्र और चारों दिशाओं को मेरे वस्त्र, शय्या और निवास स्थान जानो। मैंने ही देवताओं के कार्य की सिद्धि के लिए इनकी पृथक् पृथक् रचना की है॥14-20॥

कामं क्रोधं च हर्षं च भयं मोहं तथैव च।
ममैव विद्धि रोमाणि सर्वाण्येतानि सत्तम॥21॥
प्राप्नुवन्ति नरा विप्र यत् कृत्वा कर्म शोभनम्।
सत्यं दानं तपश्चोग्रमहिंसा चैव जन्तुषु॥22॥
मद्विधानेन विहिता मम देहविहारिणः।
मयाऽऽविर्भूतविज्ञाना विचेष्टन्ते न कामतः॥23॥
सम्यग् वेदमधीयाना यजन्ते विविधैर्मखैः।

शान्तात्मानो जितक्रोधाः प्राप्नुवन्ति द्विजातयः॥24॥
प्राप्तुं न शक्यो यो विद्वन् नरैर्दुष्कृतकर्मभिः।
लोभाभिभूतैः कृपणैरनार्यैरकृतात्मभिः॥25॥
तं मां महाफलं विद्धि नराणां भावितात्मनाम्।
सुदुष्प्रापं विमूढानां मार्गं योगैर्निषेवितम्॥26॥
यदा यदा च धर्मस्य ग्लानिर्भवति सत्तम।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥27॥
दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन् यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः॥28॥
तदाहं सम्प्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम्।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम्॥29॥
सृष्ट्वा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान्।
स्थावराणि च भूतानि संहराम्यात्ममायया॥30॥

साधुशिरोमणे! काम, क्रोध, हर्ष, भय और मोह—इन सभी विकारों को मेरी ही रोमावली समझो॥21॥ ब्रह्मन्! जिन शुभ कर्मों के आचरण से मनुष्य को कल्याण की प्राप्ति होती है, वे सत्य, दान, उग्र तपस्या और किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का स्वभाव—ये सब मेरे ही विधान से निर्मित हुए हैं और मेरे ही शरीर में विहार करते हैं। मैं समस्त प्राणियों के ज्ञान को जब प्रकट कर देता हूँ, तभी वे चेष्टाशील होते हैं, अन्यथा अपनी इच्छा से वे कुछ नहीं कर सकते॥22-23॥ जो द्विजाति अच्छी तरह वेदों का अध्ययन करके शान्तचित्त और क्रोध शून्य होकर नाना प्रकार के यज्ञों द्वारा मेरी आराधना करते हैं, उन्हें ही मेरी प्राप्ति होती है॥24॥ विद्वन्! पापकर्मा, लोभी, कृपण, अनार्य और अजितात्मा मनुष्य जिसे कभी नहीं पा सकते, वह महान् फल मुझे ही समझो। मैं ही शुद्ध अन्तःकरण वाले मानवों को सुलभ होने वाला योग सेवित मार्ग हूँ। मूढ़ मनुष्यों के लिए मैं सर्वथा दुर्लभ हूँ॥25-26॥ महर्षे! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। जब हिंसा प्रेमी दैत्य श्रेष्ठ देवताओं के लिए अवध्य हो जाते हैं तथा भयानक राक्षस जब इस संसार में उत्पन्न हो अत्याचार करने लगते हैं, तब मैं पुण्यात्मा पुरुषों के घरों पर मानव शरीर में प्रविष्ट होकर प्रकट होता हूँ और उन दैत्यों एवं राक्षसों का सारा उपद्रव शान्त कर देता हूँ॥27-29॥ मैं ही अपनी माया से देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, राक्षस तथा स्थावर प्राणियों की सृष्टि करके समय आने पर पुनः उनका संहार कर डालता हूँ॥30॥

कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम्।
आविश्य मानुषं देह मर्यादाबन्धकारणात्॥31॥
श्वेतः कृतयुगे वर्णः पीतस्त्रेतायुगे मम।
रक्तो द्वापरमासाद्य कृष्णः कलियुगे तथा॥32॥
त्रयो भागा ह्यधर्मस्य तस्मिन् काले भवन्ति च।

अन्तकाले च सम्प्राप्ते कालो भूत्वातिदारुणः॥33।।
त्रैलोक्यं नाशयाम्येकः कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम्।
अहं त्रिवर्त्मा विश्वात्मा सर्वलोकसुखावहः॥34।।
आविर्भूः सर्वगोऽनन्तो हृषीकेश उरुक्रमः।
कालचक्रं नयाम्येको ब्रह्मन्नहमरूपकम्॥35।।
शमनं सर्वभूतानां सर्वलोककृतोद्यमम्।
एवं प्रणिहितः सम्यङ् ममात्मा मुनिसत्तम।
सर्वभूतेषु विप्रेन्द्र न च मां वेत्ति कश्चन॥36।।
सर्वलोके च मां भक्ताः पूजयन्ति च सर्वशः।
यच्च किञ्चित् त्वया प्राप्तं मयि क्लेशात्मकं द्विज॥37।।
सुखोदयाय तत् सर्वं श्रेयसे च तवानघ।
यच्च किञ्चित् त्वया लोके दृष्टं स्थावरजङ्गमम्॥38।।
विहितः सर्वथैवासौ ममात्मा भूतभावनः।
अर्धं मम शरीरस्य सर्वलोकपितामहः॥39।।

फिर सृष्टि रचना के समय मैं अचिन्त्य स्वरूप धारण करता हूँ तथा मर्यादा की स्थापना एवं रक्षा के लिए मानव शरीर से अवतार लेता हूँ।।31।। सत्य युग में मेरे शरीर का रङ्ग श्वेत, त्रेता में पीला, द्वापर में लाल और कलियुग में काला होता है।।32।। उस कलिकाल में तीन हिस्सा अधर्म और एक ही हिस्सा धर्म रहता है। प्रलयकाल आने पर मैं ही अत्यन्त दारुण काल रूप होकर अकेला ही सम्पूर्ण चराचर त्रिलोकी का नाश करता हूँ। मैं तीनों लोकों में व्याप्त, सम्पूर्ण विश्व का आत्मा, सब लोगों को सुख पहुँचाने वाला, सबकी उत्पत्ति का कारण, सर्वव्यापी, अनन्त, इन्द्रियों का नियन्ता और महान् विक्रमशाली हूँ। ब्रह्मन्! यह जो सम्पूर्ण भूतों का संहार करने वाला है और सबको उद्योगशील बनाने वाला अव्यक्त कालचक्र है, इसका सञ्चालन केवल मैं ही करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकार मेरा स्वरूप भूत आत्मा ही सर्वत्र सब प्राणियों के भीतर भलीभाँति स्थित है। विप्रवर! इतने पर भी मुझे कोई जानता नहीं है।।33-36।। समस्त जगत् में भक्त पुरुष सब प्रकार से मेरी आराधना करते हैं। तुमने मेरे निकट आकर जो कुछ भी क्लेश उठाया है, ब्रह्मन्! वह सब तुम्हारे भावी कल्याण और सुख का साधक है। अनघ! लोक में तुमने जो कोई भी स्थावर जङ्गम पदार्थ देखा है, उसके रूप में सर्वथा मेरा भूत-भावन आत्मा ही प्रकट हुआ है। सम्पूर्ण लोकों के पितामह ब्रह्मा मेरा आधा अङ्ग है।।37-39।।

अहं नारायणो नाम शङ्खचक्रगदाधरः।
यावद्युगानां विप्रर्षे सहस्रपरिवर्तनात्॥40।।
तावत् स्वपिमि विश्वात्मा सर्वभूतानि मोहयन्।
एवं सर्वमहं कालमिहास्से मुनिसत्तम॥41।।
अशिशुः शिशुरूपेण यावद्ब्रह्मा न बुध्यते।

मया च दत्तो विप्राग्र्य वरस्ते ब्रह्मरूपिणा॥42।।
असकृत् परितुष्टेन विप्रर्षिगणपूजित।
सर्वमेकार्णवं दृष्ट्वा नष्टं स्थावरजङ्गमम्॥43।।
विक्लवोऽसि मया ज्ञातस्ततस्ते दर्शितं जगत्।
अभ्यन्तरं शरीरस्य प्रविष्टोऽसि यदा मम॥44।।
दृष्ट्वा लोकं समस्तं च विस्मितो नावबुध्यसे।
ततोऽसि वक्त्राद् विप्रर्षे द्रुतं निःसारितो मया॥45।।
आख्यातस्ते मया चात्मा दुर्ज्ञेयो हि सुरासुरैः॥46।।
यावत् स भगवान् ब्रह्मा न बुध्येत महातपाः।
तावत् त्वमिह विप्रर्षे विश्रब्धश्चर वै सुखम्॥47।।
ततो विबुद्धे तस्मिंस्तु सर्वलोकपितामहे।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम॥48।।
आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च।
लोके यच्च भवेच्छेषमिह स्थावरजङ्गमम्॥49।।

ब्रह्मर्षे! मैं शङ्ख, चक्र और गदा धारण करने वाला विश्वात्मा नारायण हूँ, सहस्र युग के अन्त में जो प्रलय होता है वह जब तक रहता है, तब तक सब प्राणियों को (महानिद्रा रूप माया से) मोहित करके मैं (जल में) शयन करता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! यद्यपि मैं बालक नहीं हूँ, तो भी जब तक ब्रह्मा नहीं जागते, तब तक सदा इसी प्रकार बालक रूप धारण करके यहाँ रहता हूँ। विप्रशिरोमणे! तुम ब्रह्मर्षियों द्वारा पूजित हो। मैंने ही ब्रह्मा रूप से तुम्हारे ऊपर बार-बार सन्तुष्ट हो तुम्हें अभीष्ट वर प्रदान किया है। मैंने समझ लिया था कि तुम सम्पूर्ण चराचर जगत् को नष्ट तथा एकार्णव में निमग्न हुआ देखकर व्याकुल हो रहे हो। इसीलिए तुम्हें पुनः जगत् का दर्शन कराया है। ब्रह्मर्षे! जब तुम मेरे शरीर के भीतर प्रविष्ट हुए थे और समस्त संसार को देखकर विस्मय विमुग्ध हो फिर सचेत नहीं हो पा रहे थे, तब मैंने तुरन्त तुम्हें मुख से बाहर निकाल दिया था।।40-45।। ब्रह्मर्षे! इस प्रकार मैंने तुम्हें अपने स्वरूप का उपदेश किया है, जिसका जानना देवता और असुरों के लिए भी कठिन है। जब तक महातपस्वी भगवान् ब्रह्मा का जागरण न हो, तब तक तुम श्रद्धा और विश्वासपूर्वक सुख से विचरते रहो।।46-47।। द्विजश्रेष्ठ! सर्वलोक पितामह ब्रह्मा के जागने पर मैं उनसे एकीभूत हो समस्त शरीरों की सृष्टि करूँगा।।48।। आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल का तथा इस संसार में जो अन्य चराचर वस्तुएँ अवशिष्ट हैं, उन सबका निर्माण करूँगा।।49।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वान्तर्हितस्तात स देवः परमाद्भुतः।
प्रजाश्चेमाः प्रपश्यामि विचित्रा विविधाः कृताः॥50।।
एवं दृष्टं मया राजंस्तस्मिन् प्राप्ते युगक्षये।
आश्चर्यं भरतश्रेष्ठ सर्वधर्मभृतां वर॥51।।

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः।
स एष पुरुषव्याघ्र सम्बन्धी ते जनार्दनः॥52॥
अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम्।
दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम॥53॥
स एष कृष्णो वार्ष्णेयः पुराणपुरुषो विभुः।
आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः॥54॥
एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः।
श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः॥55॥
दृष्ट्वेमं वृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मामियमागता।
आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम्॥56॥
सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः।
गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः॥57॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तात युधिष्ठिर! ऐसा कह कर वे परम अद्भुत देवता भगवान् बालमुकुन्द अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही मैंने देखा कि यह नाना प्रकार की विचित्र प्रजा ज्यों की त्यों उत्पन्न हो गई है॥50॥ सम्पूर्ण धर्मात्माओं में श्रेष्ठ भरतकुलतिलक युधिष्ठिर! इस प्रकार उस प्रलय काल के आने पर मुझे यह आश्चर्यजनक अनुभव हुआ था॥51॥ नरश्रेष्ठ! पुरातन प्रलय के समय मुझे जिन कमलदललोचन देवता भगवान् बालमुकुन्द का दर्शन हुआ था, तुम्हारे सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही हैं॥52॥ कुन्तीनन्दन! इन्हीं के वरदान से मुझे पूर्व जन्म की स्मृति भूलती नहीं है। मेरी दीर्घकालीन आयु और स्वच्छन्द मृत्यु भी इन्हीं की कृपा का प्रसाद है॥53॥ वे वृष्णिकुलभूषण, पुराण पुरुष श्रीहरि हैं, जो पहले बालरूप में मुझे दिखायी दिये थे। वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भाँति-भाँति की लीलाएँ करते हुए से दीख रहे हैं॥54॥ श्रीवत्सचिह्न जिनके वक्षःस्थल की शोभा बढ़ाता है, वे भगवान् गोविन्द ही इस विश्व की सृष्टि, पालन और संहार करने वाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियों के भी पति हैं॥55॥ इन आदिदेव स्वरूप, विजयशील, पीताम्बरधारी पुरुष, वृष्टिणकुलभूषण श्रीकृष्ण को देखकर मुझे इस पुरातन घटना की स्मृति हो आयी है॥56॥ कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो! ये माधव ही समस्त प्राणियों के पिता और माता हैं। ये ही सबको शरण देने वाले हैं। अतः तुम सब लोग इन्हीं की शरण में जाओ॥57॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताश्च ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ।
द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्॥58॥
स चैतान्पुरुषव्याघ्र साम्ना परमवल्गुना।
सान्त्वयामास मानार्हो मन्यमानो यथाविधि॥59॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मार्कण्डेय मुनि के ऐसा कहने पर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तथा पुरुष रत्न नकुल-सहदेव—इन सबने द्रौपदी सहित

उठकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणाम किया।।58।। नरश्रेष्ठ! फिर सम्माननीय श्रीकृष्ण ने भी इन सबका विधिपूर्वक समादर करते हुए परम मधुर सांत्वना पूर्ण वचनों द्वारा इन्हें सब प्रकार से आश्वासन दिया।।59।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 189 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में भविष्य कथन विषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।189।।

अष्टमोऽध्यायः

युगान्तकालिक कलियुग के समय के बर्ताव का तथा कल्कि अवतार का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो मार्कण्डेयं महामुनिम्।
पुनः पप्रच्छ साम्राज्ये भविष्यां जगतो गतिम्॥1।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने महामुनि मार्कण्डेय से अपने साम्राज्य में जगत् की भावी गतिविधि के विषय में पुनः इस प्रकार प्रश्न किया।।1।।

युधिष्ठिर उवाच

आश्चर्यभूतं भवतः श्रुतं नो वदतां वर।
मुने भार्गव यद् वृत्तं युगादौ प्रभवात्ययम्॥2।।
अस्मिन् कलियुगे त्वस्ति पुनः कौतूहलं मम।
समाकुलेषु धर्मेषु किं नु शेषं भविष्यति॥3।।
किंवीर्या मानवास्तत्र किमाहारविहारिणः।
किमायुषः किंवसना भविष्यन्ति युगक्षये॥4।।
कां च काष्ठां समासाद्य पुनः सम्पत्स्यते कृतम्।
विस्तरेण मुने ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे॥5।।
इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठः पुनरेवाभ्यभाषत।
रमयन् वृष्णिशार्दूलं पाण्डवांश्च महानृषिः॥6।।

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओं में श्रेष्ठ! भृगुवंशविभूषण महर्षे! हमने आपके मुख से युग के आदि में संघटित हुई उत्पत्ति और प्रलय के सम्बन्ध में बड़े आश्चर्य की बातें सुनी हैं।।2।। अब मुझे इस कलियुग के विषय में पुनः विशेष रूप से सुनने का कुतूहल हो रहा है। जब सारे धर्मों का उच्छेद हो जायगा, उस समय क्या शेष रह जायगा?।।3।। युगान्त काल में कलियुग के मनुष्यों का बल पराक्रम कैसा होगा? उनके आहार-विहार

कैसे होंगे? उनकी आयु कितनी होगी और उनके परिधान-वस्त्राभूषण कैसे होंगे।।4।। कलियुग के किस सीमा तक पहुँच जाने पर पुन: सत्य युग आरम्भ हो जायगा? मुने! इन सब बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये, क्योंकि आपकी कथा बड़ी विचित्र होती है।।5।। युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर मुनिश्रेष्ठ महर्षि माकर्ण्डेय ने वृष्णिप्रवर श्रीकृष्ण तथा पाण्डवों को आनन्दित करते हुए पुन: इस प्रकार कहा।।6।।

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन् मया दृष्टं यत् पुरा श्रुतमेव च।
अनुभूतं च राजेन्द्र देवदेवप्रसादजम्॥7।।
भविष्यं सर्वलोकस्य वृत्तान्तं भरतर्षभ।
कलुषं कालमासाद्य कथ्यमानं निबोध मे॥8।।
कृते चतुष्पात् सकलो निर्व्याजोपाधिवर्जित:।
वृष: प्रतिष्ठितो धर्मो मनुष्ये भरतर्षभ॥9।।
अधर्मपादविद्धस्तु त्रिभिरंशै: प्रतिष्ठित:।
त्रेतायां द्वापरेऽर्धेन व्यामिश्रो धर्म उच्यते॥10।।
त्रिभिरंशैरधर्मस्तु लोकानाक्रम्य तिष्ठति।
तामसं युगमासाद्य तदा भरतसत्तम॥11।।
चतुर्थांशेन धर्मस्तु मनुष्यानुपतिष्ठति।
आयुर्वीर्यमथो बुद्धिर्बलं तेजश्च पाण्डव॥12।।
मनुष्याणामनुयुगं ह्रसतीति निबोध मे।
राजानो ब्राह्मणा वैश्या: शूद्राश्चैव युधिष्ठिर॥13।।
व्याजैर्धर्मं चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका नरा:।
सत्यं सङ्क्षेप्स्यते लोके नरै: पण्डितमानिभि:॥14।।
सत्यहान्या ततस्तेषामायुरल्पं भविष्यति।
आयुष: प्रक्षयाद् विद्यां न शक्ष्यन्त्युपजीवितुम्॥15।।
विद्याहीनानविज्ञानाल्लोभोऽप्यभिभविष्यति।
लोभक्रोधपरा मूढा: कामासक्ताश्च मानवा:॥16।।
वैरबद्धा भविष्यन्ति परस्परवधैषिण:।
ब्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: सङ्कीर्यन्त: परस्परम्॥17।।
शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तप: सत्यविवर्जिता:।
अन्त्या मध्या भविष्यन्ति मध्याश्चान्त्या न संशय:॥18।।
ईदृशो भविता लोको युगान्ते पर्युपस्थिते।
वस्त्राणां प्रवरा शाणी धान्यानां कोरदूषका:॥19।।

मार्कण्डेय बोले—भरतश्रेष्ठ राजन्! मैंने देवाधिदेव भगवान् बालमुकुन्द की कृपा से पूर्वकाल में, निकृष्ट कलिकाल के प्राप्त होने पर सम्पूर्ण लोकों के भावी वृत्तान्त के विषय में जो कुछ देखा-सुना या अनुभव किया है, वह बताता हूँ, सुनो और

समझो।।7-8।। भरतश्रेष्ठ! सत्ययुग में मनुष्यों के भीतर वृषरूप धर्म अपने चारों पादों से युक्त होने के कारण सम्पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित होता है। उसमें छल-कपट या दम्भ नहीं होता।।9।। किन्तु त्रेता में वह धर्म अधर्म के एक पाद से अभिभूत होकर अपने तीन अंशों से ही प्रतिष्ठित होता है। द्वापर में धर्म आधा ही रह जाता है। आधे में अधर्म आकर मिल जाता है।।10।। परन्तु भरतश्रेष्ठ! कलियुग आने पर अधर्म अपने तीन अंशों द्वारा सम्पूर्ण लोकों को आक्रान्त करके स्थित होता है और धर्म केवल एक पाद से मनुष्यों में प्रतिष्ठित होता है। पाण्डुनन्दन! प्रत्येक युग में मनुष्यों की आयु, वीर्य, बुद्धि, बल तथा तेज क्रमशः घटते जाते हैं। युधिष्ठिर! अब कलियुग के समय का वर्णन सुनो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी जातियों के लोग कपटपूर्वक धर्म का आचरण करेंगे और धर्म का जाल बिछाकर दूसरे लोगों को ठगते रहेंगे। अपने को पण्डित मानने वाले लोग सत्य का त्याग कर देंगे।।11-14।। सत्य की हानि होने से उनकी आयु थोड़ी हो जायगी। और आयु की कमी होने के कारण वे अपने जीवन निर्वाह के योग्य विद्या प्राप्त नहीं कर सकेंगे।।15।। विद्या के बिना ज्ञान न होने से उन सबको लोभ दबा लेगा। फिर लोभ और क्रोध के वशीभूत हुए मूढ़ मनुष्य कामनाओं में फँस कर आपस में वैर बाँध लेंगे और एक-दूसरे के प्राण लेने की घात में लगे रहेंगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये आपस में सन्तानोत्पादन करके वर्णसङ्कर हो जाएँगे। वे सभी तपस्या और सत्य से रहित हो शूद्रों के समान हो जाएँगे। अन्त्यज (चाण्डाल आदि) क्षत्रिय-वैश्य आदि के कर्म करेंगे और क्षत्रिय-वैश्य आदि चाण्डालों के कर्म अपना लेंगे, इसमें संशय नहीं है।।16-18।। युगान्त काल आने पर लोगों की ऐसी ही दशा होगी। वस्त्रों में सन् के बने हुए वस्त्र अच्छे समझे जाएँगे। धानों में कोदो का आदर होगा।।19।।

भार्यामित्राश्च पुरुषा भविष्यन्ति युगक्षये।
मत्स्यामिषेण जीवन्तो दुहन्तश्चाप्यजैडकम्॥20।।
गोषु नष्टासु पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भविष्यन्ति युगक्षये॥21।।
अन्योन्यं परिमुष्णन्तो हिंसयन्तश्च मानवाः।
अजपा नास्तिकाः स्तेना भविष्यन्ति युगक्षये॥22।।
सरित्तीरेषु कुद्दालैर्वापयिष्यन्ति चौषधीः।
ताश्चाप्यल्पफलास्तेषां भविष्यन्ति युगक्षये॥23।।
श्राद्धे दैवे च पुरुषा येऽपि नित्यं धृतव्रताः।
तेऽपि लोभसमायुक्ता भोक्ष्यन्तीह परस्परम्॥24।।
पिता पुत्रस्य भोक्ता च पितुः पुत्रस्तथैव च।
अतिक्रान्तानि भोज्यानि भविष्यन्ति युगक्षये॥25।।
न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणा वेदनिन्दकाः।
न यक्ष्यन्ति न होष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः।
निम्नेष्वीहां करिष्यन्ति हेतुवादविमोहिताः॥26।।

निम्ने कृषिं करिष्यन्ति योक्ष्यन्ति धुरि धेनुकाः।
एकहायनवत्सांश्च योजयिष्यन्ति मानवाः॥27।।
पुत्रः पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा।
स्त्रियोऽपि पतिपुत्रादि वधिष्यन्ति युगक्षये।
निरुद्वेगो बृहद्वादी न निन्दामुपलप्स्यते॥28।।
म्लेच्छभूतं जगत् सर्वं निष्क्रियं यज्ञवर्जितम्।
भविष्यति निरानन्दमनुत्सवमथो तथा॥29।।
प्रायशः कृपणानां हि तथाबन्धुमतामपि।
विधवानां च वित्तानि हरिष्यन्तीह मानवाः॥30।।

उस युग क्षय के समय पुरुष केवल स्त्रियों से ही मित्रता करने वाले होंगे। कितने ही लोग मछली के मांस से जीविका चलायेंगे। गायों के नष्ट हो जाने के कारण मनुष्य भेड़ और बकरी का भी दूध दुहकर पीयेंगे। जो लोग सदा व्रत धारण करके रहने वाले हैं, वे भी युगान्त काल में लोभी हो जायेंगे।।20-21।। लोग एक-दूसरे को लूटेंगे और मारेंगे। युगान्त काल के मनुष्य जपरहित, नास्तिक और चोरी करने वाले होंगे।।22।। नदियों के किनारे की भूमि को कुदालों से खोदकर लोग वहाँ अनाज बोयेंगे। उन अनाजों में भी युगान्त काल के प्रभाव से बहुत कम फल लगेंगे।।23।। जो सदा (परान्न का त्याग करके) व्रत का पालन करने वाले लोग हैं, वे भी उस समय लोभवश देवयज्ञ तथा श्राद्ध में एक-दूसरे के यहाँ भोजन करेंगे।।24।। कलियुग के अन्तिम भाग में पिता पुत्र की और पुत्र पिता की शय्या आदि का उपभोग करने लगेंगे। उस समय त्याज्य (अभक्ष्य) पदार्थ भी भोजन के योग्य समझे जायेंगे।।25।। ब्राह्मण लोग व्रत और नियमों का पालन तो करेंगे नहीं, उलटे वेदों की निन्दा करने लग जायंगे। कोरे तर्कवाद से मोहित होकर वे यज्ञ और होम छोड़ बैठेंगे। वे केवल तर्कवाद से मोहित होकर नीच से नीच कर्म करने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे।।26।। मनुष्य नीची भूमि में (अर्थात् गायों के जल पीने और चरने की जगह में) खेती करेंगे। दूध देने वाली गायों को भी बोझ ढोने के काम में लगा देंगे और साल भर के बछड़ों को भी हल में जोतेंगे।।27।। पुत्र पिता का और पिता पुत्र का वध करके भी उद्विग्न नहीं होंगे। अपनी प्रशंसा के लिए लोग बड़ी-बड़ी बातें बनायेंगे, किन्तु समाज में उनकी निन्दा नहीं होगी।।28।। सारा संसार म्लेच्छों की भाँति शुभ कर्म और यज्ञ-यागादि छोड़ देगा तथा आनन्दशून्य और उत्सवरहित हो जायगा।।29।। लोग प्राय: दीनों, असहायों तथा विधवाओं का भी धन हड़प लेंगे।।30।।

स्वल्पवीर्यबलाः स्तब्धा लोभमोहपरायणाः।
तत्कथादानसन्तुष्टा दुष्टानामपि मानवाः॥31।।
परिग्रहं करिष्यन्ति मायाचारपरिग्रहाः।
समाह्वयन्तः कौन्तेय राजानः पापबुद्धयः॥32।।
परस्परवधोद्युक्ता मूर्खाः पण्डितमानिनः।

भविष्यन्ति युगस्यान्ते क्षत्रिया लोककण्टकाः॥33॥
अरक्षितारो लुब्धाश्च मानाहङ्कारदर्पिताः।
केवलं दण्डरुचयो भविष्यन्ति युगक्षये॥34॥
आक्रम्याक्रम्य साधूनां दारांश्चापि धनानि च।
भोक्ष्यन्ते निरनुक्रोशा रुदतामपि भारत॥35॥
न कन्यां याचते कश्चिन्नापि कन्या प्रदीयते।
स्वयङ्ग्राहा भविष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते॥36॥
राजानश्चाप्यसन्तुष्टाः परार्थान् मूढचेतसः।
सर्वोपायैर्हरिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते॥37॥
म्लेच्छीभूतं जगत् सर्वं भविष्यति न संशयः।
हस्तो हस्तं परिमुषेद् युगान्ते समुपस्थिते॥38॥
सत्यं सङ्क्षिप्यते लोके नरैः पण्डितमानिभिः।
स्थविरा बालमतयो बालाः स्थविरबुद्धयः॥39॥
भीरुस्तथा शूरमानी शूरा भीरुविषादिनः।
न विश्वसन्ति चान्योन्यं युगान्ते पर्युपस्थिते॥40॥

उनके शारीरिक बल और पराक्रम क्षीण हो जाएँगे। वे उद्दण्ड होकर लोभ और मोह में डूबे रहेंगे। वैसे ही लोगों की चर्चा करने और उनसे दान लेने में प्रसन्नता का अनुभव करेंगे। कपटपूर्ण आचार को अपनाकर वे दुष्टों के दिये हुए दान को भी ग्रहण कर लेंगे। कुन्तीनन्दन! पापबुद्धि राजा एक-दूसरे को युद्ध के लिए ललकारते हुए परस्पर एक-दूसरे के प्राण लेने को उतारू रहेंगे और मूर्ख होते हुए अपने को पण्डित मानेंगे। इस प्रकार युगान्त काल के सभी क्षत्रिय जगत् के लिए काँटे बन जाएँगे॥31-33॥ कलियुग की समाप्ति के समय वे प्रजा की रक्षा तो करेंगे नहीं, उनसे रुपये ऐंठने के लिए लोभ अधिक रखेंगे। सदा मान और अहङ्कार के मद में चूर रहेंगे। वे केवल प्रजा को दण्ड देने के कार्य में ही रुचि रखेंगे॥34॥ भारत! लोग इतने निर्दयी हो जाएँगे कि सज्जन पुरुषों पर भी बार-बार आक्रमण करके उनके धन और स्त्रियों का बलपूर्वक उपभोग करेंगे तथा उनके रोने बिलखने पर भी दया नहीं करेंगे॥35॥ कलियुग का अन्त आने पर न तो कोई किसी से कन्या की याचना करेगा और न कोई कन्यादान ही करेगा। उस समय के वर कन्या स्वयं ही एक-दूसरे को चुन लेंगे॥36॥ कलियुग की समाप्ति के समय असन्तोषी तथा मूढ़ चित्त राजा भी सब तरह के उपायों से दूसरों के धन का अपहरण करेंगे॥37॥ उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायगा—इसमें संशय नहीं। एक हाथ दूसरे हाथ को लूटेगा—सगा भाई भी भाई के धन हो हड़प लेगा॥38॥ अपने को पण्डित मानने वाले मनुष्य संसार में सत्य को मिटा देंगे। बूढ़ों की बुद्धि बालकों जैसी होगी और बालकों की बूढ़ों जैसी॥39॥ युगान्त काल उपस्थित होने पर कायर अपने को शूरवीर मानेंगे और शूरवीर कायरों की भाँति विषाद में डूबे रहेंगे। कोई एक-दूसरे का विश्वास नहीं करेंगे॥40॥

एकाहार्यं युगं सर्वं लोभमोहव्यवस्थितम्।
अधर्मो वर्द्धते तत्र न तु धर्मः प्रवर्तते॥41।।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या न शिष्यन्ति जनाधिप।
एकवर्णस्तदा लोको भविष्यति युगक्षये॥42।।
न क्षंस्यति पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा।
भार्याश्च पतिशुश्रूषां न करिष्यन्ति सङ्क्षये॥43।।
ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च।
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते॥44।।
स्वैराचाराश्च पुरुषा योषितश्च विशाम्पते।
अन्योन्यं न सहिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते॥45।।
म्लेच्छभूतं जगत् सर्वं भविष्यति युधिष्ठिर।
न श्राद्धैस्तर्पयिष्यन्ति दैवतानीह मानवाः॥46।।
न कश्चित् कस्यचिच्छ्रोता न कश्चित् कस्यचिद् गुरुः।
तमोग्रस्तस्तदा लोको भविष्यति जनाधिप॥47।।
परमायुश्च भविता तदा वर्षाणि षोडश।
ततः प्राणान् विमोक्ष्यन्ति युगान्ते समुपस्थिते॥48।।
पञ्चमे वाथ षष्ठे वा वर्षे कन्या प्रसूयते।
सप्तवर्षाष्टवर्षाश्च प्रजास्यन्ति नरास्तदा॥49।।
पत्यौ स्त्री तु तदा राजन् पुरुषो वा स्त्रियं प्रति।
युगान्ते राजशार्दूल न तोषमुपयास्यति॥50।।

युग के सब लोग लोभ और मोह में फँस कर भक्ष्याभक्ष्य का विचार किये बिना ही एक साथ सम्मिलित होकर भोजन करने लगेंगे। अधर्म बढ़ेगा और धर्म विदा हो जायगा।।41।। नरेश्वर! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का नाम भी नहीं रह जायगा। युगान्तकाल में सारा विश्व एक वर्ण, जाति का हो जायगा।।42।। युगक्षय काल में पिता पुत्र के अपराध को क्षमा नहीं करेंगे और पुत्र भी पिता की बात नहीं सहेगा। स्त्रियाँ अपने पतियों की सेवा छोड़ देंगी।।43।। युगान्त काल आने पर (लोग) उन प्रदेशों में चले जाएँगे जहाँ जौ और गेहूँ आदि अनाज अधिक पैदा होते हैं (चाहे वह देश निषिद्ध ही क्यों न हो)।।44।। महाराज! युगान्त काल आने पर पुरुष और स्त्रियाँ स्वेच्छाचारी होकर एक-दूसरे के कार्य और विचार को नहीं सहेंगे।।45।। युधिष्ठिर! उस समय सारा जगत् म्लेच्छ हो जायगा। मनुष्य श्राद्ध और यज्ञ कर्मों द्वारा पितरों और देवताओं को सन्तुष्ट नहीं करेंगे।।46।। राजन्! उस समय कोई किसी का उपदेश नहीं सुनेगा और न कोई किसी का गुरु ही होगा। सारा जगत् अज्ञानमय अन्धकार से आच्छादित हो जाएगा।।47।। उस समय युगान्त काल उपस्थित होने पर लोगों की आयु अधिक-से-अधिक सोलह वर्ष की होगी, उसके बाद वे प्राण त्याग कर देंगे। पाँचवें या छठे वर्ष में स्त्रियाँ बच्चे पैदा करने लगेंगी और सात आठ वर्ष के पुरुष सन्तानोत्पादन में प्रवृत्त हो

जाएँगे।।48-49।। नृपश्रेष्ठ! युगान्तकाल आने पर स्त्री अपने पति से और पति अपनी स्त्री से सन्तुष्ट नहीं होंगे।।50।।

अल्पद्रव्या वृथालिङ्गा हिंसा च प्रभविष्यति।
न कश्चित् कस्यचिद् दाता भविष्यति युगक्षये॥51।।
अट्टशूला जनपदाः शिवशूलाश्चतुष्पथाः।
केशशूलाः स्त्रियश्चापि भविष्यन्ति युगक्षये॥52।।
म्लेच्छाचाराः सर्वभक्षा दारुणाः सर्वकर्मसु।
भाविनः पश्चिमे काले मनुष्या नात्र संशयः॥53।।
क्रयविक्रयकाले च सर्वः सर्वस्य वञ्चनम्।
युगान्ते भरतश्रेष्ठ वित्तलोभात् करिष्यति॥54।।
ज्ञानानि चाप्यविज्ञाय करिष्यन्ति क्रियास्तथा।
आत्मच्छन्देन वर्तन्ते युगान्ते समुपस्थिते॥55।।
स्वभावात् क्रूरकर्माणश्चान्योन्यमभिशंसिनः।
भवितारो जनाः सर्वे सम्प्राप्ते तु युगक्षये॥56।।
आरामांश्चैव वृक्षांश्च नाशयिष्यन्ति निर्व्यथाः।
भविता संशयो लोके जीवितस्य हि देहिनाम्॥57।।
तथा लोभाभिभूताश्च भविष्यन्ति नरा नृप।
ब्राह्मणांश्च हनिष्यन्ति ब्राह्मणस्वोपभोगिनः॥58।।
हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः।
त्रातारमलभन्तो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम्॥59।।
जीवितान्तकराः क्रूरा रौद्राः प्राणिविहिंसकाः।
यदा भविष्यन्ति नरास्तदा सङ्क्षेप्स्यते युगम्॥60।।

कलियुग के अन्त भाग में लोगों के पास धन थोड़ा रहेगा और लोग दिखावे के लिए साधुवेष धारण करेंगे। हिंसा का जोर बढ़ेगा और कोई किसी को कुछ देने वाला नहीं रहेगा।।51।। युग क्षय काल में सभी देशों के लोग अन्न बेचेंगे। ब्राह्मण वेद विक्रय करेंगे और स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति अपना लेंगी।।52।। युगान्त काल के मनुष्य म्लेच्छों जैसे आचार वाले और सर्वभक्षी यानी अभक्ष्य का भी भक्षण करने वाले हो जाएँगे। वे प्रत्येक कर्म में अपनी क्रूरता का परिचय देंगे, इसमें संशय नहीं है।।53।। भरतश्रेष्ठ! युगान्तकाल में धन के लोभ से क्रय-विक्रय के समय सभी सबको ठगेंगे।।54।। क्रिया के तत्त्व को न जानकर भी लोग उसे करने में प्रवृत्त होंगे। युगान्तकाल के सभी मानव स्वेच्छाचारी हो जाएँगे।।55।। सभी स्वभावतः क्रूर और एक-दूसरे पर मिथ्या कलङ्क लगाने वाले होंगे। युगान्तकाल उपस्थित होने पर सब लोग बगीचों और वृक्षों को कटवा देंगे और ऐसा करते समय उनके मन में पीड़ा नहीं होगी। प्रत्येक मनुष्य के जीवन धारण में भी शङ्का हो जाएगी। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य का जीवन धारण करना कठिन हो जायगा।।56-57।। राजन्! सब लोग लोभ के वशीभूत होंगे और ब्राह्मणों का धन

उपभोग करने का जिनका स्वभाव पड़ गया है, वे धन के लिए ब्राह्मणों को मार भी डालेंगे।।58।। शूद्रों के सताये हुए ब्राह्मण भय से पीड़ित हो हाहाकार करने लगेंगे और अपने लिए कोई रक्षक न मिलने के कारण सारी पृथ्वी पर निश्चय ही भटकते फिरेंगे।।59।। जब दूसरों के जीवन का विनाश करने वाले क्रूर, भयङ्कर तथा जीव हिंसक मनुष्य पैदा होने लगें, तब समझ लेना चाहिए कि युगान्तकाल उपस्थित हो गया।।60।।

आश्रयिष्यन्ति च नदी: पर्वतान् विषमाणि च।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजा: कुरुकुलोद्वह॥61।।
दस्युभि: पीडिता राजन् काका इव द्विजोत्तमा:।
कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिता:॥62।।
धैर्यं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसङ्क्षये।
विकर्माणि करिष्यन्ति शूद्राणां परिचारका:॥63।।
शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणा: पर्युपासका:।
श्रोतारश्च भविष्यन्ति प्रामाण्येन व्यवस्थिता:॥64।।
विपरीतश्च लोकोऽयं भविष्यत्यधरोत्तर:।
एडूकान् पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवता:॥65।।
शूद्रा: परिचरिष्यन्ति न द्विजान् युगसङ्क्षये।
आश्रमेषु महर्षीणां ब्राह्मणावसथेषु च॥66।।
देवस्थानेषु चैत्येषु नागानामालयेषु च।
एडूकचिह्ना पृथिवी न देवगृहभूषिता॥67।।
भविष्यति युगे क्षीणे तद् युगान्तस्य लक्षणम्।
यदा रौद्रा धर्महीना मांसादा: पानपास्तथा॥68।।
भविष्यन्ति नरा नित्यं तदा सङ्क्षेप्स्यते युगम्।
पुष्पं पुष्पे यदा राजन् फले वा फलमाश्रितम्॥69।।
प्रजास्यति महाराज तदा सङ्क्षेप्स्यते युगम्।
अकालवर्षी पर्जन्यो भविष्यति गते युगे॥70।।

कुरुकुलतिलक युधिष्ठिर! अत्याचारियों से डरे हुए ब्राह्मण इधर-उधर भाग कर नदियों, पर्वतों तथा दुर्गम स्थानों का आश्रय लेंगे।।61।। राजन्! श्रेष्ठ ब्राह्मण भी लुटेरों से पीड़ित होकर कौओं की तरह काँव काँव करते फिरेंगे। दुष्ट राजाओं के लगाये हुए करों के भार से सदा पीड़ित होने के कारण वे धैर्य छोड़कर चल देंगे और शूद्रों की सेवा सुश्रूषा में लगे रहकर धर्म विरुद्ध कार्य करेंगे। भूपाल! भयङ्कर कलियुग के अन्त में जगत् की यही दशा होगी।।62-63।। शूद्र धर्मोपदेश करेंगे और ब्राह्मण लोग उनकी सेवा में रहकर उसे सुनेंगे तथा उसी को प्रामाणिक मानकर उसका पालन करेंगे। समस्त लोक का व्यवहार विपरीत और उलट-पुलट हो जाएगा। ऊँच नीच और नीच ऊँच हो जाएँगे। लोग हड्डी जड़ी हुई दीवरों की तो पूजा करेंगे और देव विग्रहों को त्याग देंगे।।64-65।।

युगान्तकाल में शूद्र द्विजातियों की सेवा नहीं करेंगे। वह समय आने पर महर्षियों के आश्रमों में, ब्राह्मणों के घरों में, देवस्थानों में, चैत्यवृक्षों के आस-पास और नागालयों में जो भूमि होगी, उस पर हड्डी जड़ी हुई दीवारों का चिह्न तो उपलब्ध होगा; परन्तु देवमन्दिर उस भूमि की शोभा नहीं बढ़ायेंगे।।66-67।। यह सब युगान्त का लक्षण समझना चाहिये। जब सब मानव सदा भयङ्कर स्वभाव वाले, धर्महीन, मांसखोर और शराबी हो जाएँगे, उस समय युग का संहार होगा। महाराज! जब फूल में फूल, फल में फल लगने लगेगा, उस समय युग का संहार होगा। युगान्तकाल में मेघ असमय में ही वर्षा करेंगे।।68-70।।

अक्रमेण मनुष्याणां भविष्यन्ति तदा क्रियाः।
विरोधमथ यास्यन्ति वृषला ब्राह्मणैः सह॥71।।
मही म्लेच्छजनाकीर्णा भविष्यति ततोऽचिरात्।
करभारभयाद् विप्रा भजिष्यन्ति दिशो दश।
अन्यायवर्त्तिनश्चापि भविष्यन्ति नराधिपाः॥72।।
निर्विशेषा जनपदास्तथा विष्टिकरार्दिताः।
आश्रमानुपलप्स्यन्ति फलमूलोपजीविनः॥73।।
एवं पर्याकुले लोके मर्यादा न भविष्यति।
(ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः परित्यक्ष्यन्ति सत्क्रियाम्।)
न स्थास्यन्त्युपदेशे च शिष्या विप्रियकारिणः॥74।।
आचार्योऽपनिधिश्चैव भर्त्स्यते तदनन्तरम्।
अर्थयुक्त्या प्रवत्स्यन्ति मित्रसम्बन्धिबान्धवाः॥75।।
अभावः सर्वभूतानां युगान्ते सम्भविष्यति।
दिशः प्रज्वलिताः सर्वा नक्षत्राण्यप्रभाणि च॥76।।
ज्योतींषि प्रतिकूलानि वाताः पर्याकुलास्तथा।
उल्कापाताश्च बहवो महाभयनिदर्शकाः॥77।।
षड्भिरन्यैश्च सहितो भास्करः प्रतपिष्यति।
तुमुलाश्चापि निर्ह्रादा दिग्दाहाश्चापि सर्वशः॥78।।
कबन्धान्तर्हितो भानुरुदयास्तमने तदा।
अकालवर्षी भगवान् भविष्यति सहस्रदृक्॥79।।
सस्यानि च न रोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते।
अभीक्ष्णं क्रूरवादिन्यः परुषा रुदितप्रियाः॥80।।

मनुष्यों की सारी क्रियाएँ क्रम से विपरीत होंगी। शूद्र ब्राह्मणों के साथ विरोध करेंगे।।71।। सारी पृथ्वी थोड़े ही समय में म्लेच्छों से भर जाएगी। ब्राह्मण लोग करों के भार से भयभीत होकर दसों दिशाओं की शरण लेंगे।।72।। सारे जनपद एक जैसे आचार और वेशभूषा बना लेंगें। लोग बेगार लेने वालों और कर लेने वालों से पीड़ित हो एकान्त आश्रमों में चले जाएँगे और फल मूल खाकर जीवन निर्वाह करेंगे।।73।। इस

तरह उथल-पुथल मच जाने पर संसार में कोई मर्यादा नहीं रह जाएगी। (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य सत्क्रिया का परित्याग करने लगेंगे)। शिष्य गुरु के उपदेश पर नहीं चलेंगे। वे उल्टे उनका अहित करेंगे।।74।। अपने कुल का आचार्य भी यदि निर्धन हो तो उसे निरन्तर शिष्यों की डाँट फटकार सुननी पड़ेगी। मित्र, सम्बन्धी या भाई बन्धु धन के लालच से ही अपने पास रहेंगे।।75।। युगान्तकाल आने पर समस्त प्राणियों का अभाव हो जायगा। सारी दिशाएँ प्रज्वलित हो उठेंगी और नक्षत्रों की प्रभा विलुप्त हो जाएगी।।76।। ग्रह उल्टी गति से चलने लगेंगे। हवा इतनी जोर से चलेगी कि लोग व्याकुल हो उठेंगे। महान् भय की सूचना देने वाले उल्कापात बार-बार होते रहेंगे।।77।। एक सूर्य तो है ही, छ: और उदय होंगे और सातों एक साथ तपेंगे। सब ओर बिजली की भयानक गड़गड़ाहट होगी, सब दिशाओं में आग लगेगी।।78।। उदय और अस्त के समय सूर्य राहु से ग्रस्त दिखायी देगा। भगवान् इन्द्र समय पर वर्षा नहीं करेंगे।।79।। युगान्तकाल उपस्थित होने पर बोयी हुई खेती उगेगी ही नहीं; स्त्रियाँ कठोर स्वभाव वाली और सदा कटुवादिनी होंगी। उन्हें रोना ही अधिक पसन्द होगा।।80।।

भर्तृणां वचने चैव न स्थास्यन्ति तत: स्त्रिय:।
पुत्राश्च मातापितरौ हनिष्यन्ति युगक्षये॥81।।
सूदयिष्यन्ति च पतीन् स्त्रिय: पुत्रानपाश्रिता:।
अपर्वणि महाराज सूर्यं राहुरुपैष्यति॥82।।
युगान्ते हुतभुक् चापि सर्वत: प्रज्वलिष्यति।
पानीयं भोजनं चापि याचमानास्तदाध्वगा:॥83।।
न लप्स्यन्ते निवासं च निरस्ता: पथि शेरते।
निर्घातवायसा नागा: शकुना: समृगद्विजा:॥84।।
रूक्षा वाचो विमोक्ष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते।
मित्रसम्बन्धिनश्चापि सन्त्यक्ष्यन्ति नरास्तदा॥85।।
जनं परिजनं चापि युगान्ते पर्युपस्थिते।
अथ देशान् दिशश्चापि पत्तनानि पुराणि च॥86।।
क्रमश: संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते।
हा तात हा सुतेत्येवं तदा वाच: सुदारुणा:॥87।।
विक्रोशमानश्चान्योन्यं जनो गां पर्यटिष्यति।
ततस्तुमुलसङ्घाते वर्तमाने युगक्षये॥88।।
द्विजातिपूर्वको लोक: क्रमेण प्रभविष्यति।
तत: कालान्तरेऽन्यस्मिन् पुनर्लोकविवृद्धये॥89।।
भविष्यति पुनर्दैवमनुकूलं यदृच्छया।
यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती॥90।।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम्।
कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च॥91।।

वे पति की आज्ञा में नहीं रहेंगी। युगान्तकाल में पुत्र माता-पिता की हत्या करेंगे।।81।। नारियाँ अपने बेटों से मिलकर पति की हत्या करा देंगी। महाराज! अमावस्या के बिना ही राहु सूर्य पर ग्रहण लगायेगा।।82।। युगान्तकाल आने पर सब ओर आग भी जल उठेगी। उस समय पथिकों को माँगने पर कहीं अन्न, जल या ठहरने के लिए स्थान नहीं मिलेगा। वे सब ओर से कोरा जवाब पाकर निराश हो सड़कों पर ही सो रहेंगे। युगान्त काल उपस्थित होने पर बिजली की कड़क के समान कड़वी बोली बोले वाले कौवे, हाथी, शकुन, पशु और पक्षी आदि बड़ी कठोर वाणी बोलेंगे। उस समय के मनुष्य अपने मित्रों, सम्बन्धियों, सेवकों तथा कुटुम्बीजनों को भी अकारण त्याग देंगे। प्रायः लोग स्वदेश छोड़कर दूसरे देशों, दिशाओं, नगरों और गाँवों का आश्रय लेंगे और हा तात! हा पुत्र! इत्यादि रूप से अत्यन्त दुःखद वाणी में एक-दूसरे को पुकारते हुए इस पृथ्वी पर विचरेंगे। युगान्तकाल में संसार की यही दशा होगी। उस समय एक ही साथ समस्त लोकों का भयङ्कर संहार होगा।।83-88।। तदनन्तर कालान्तर में सत्ययुग का आरम्भ होगा और फिर क्रमशः ब्राह्मण आदि वर्ण प्रकट होकर अपने प्रभाव का विस्तार करेंगे। उस समय लोक के अभ्युदय के लिए पुनः अनायास दैव अनुकूल होगा। जब सूर्य, चन्द्रमा और बृहस्पति एक साथ पुष्य नक्षत्र एवं तदनुरूप एक राशि कर्म में पदार्पण करेंगे, तब सत्ययुग का प्रारम्भ होगा। उस समय मेघ समय पर वर्षा करेगा। नक्षत्र शुभ एवं तेजस्वी हो जाएँगे।।89-91।।

प्रदक्षिणा ग्रहाश्चापि भविष्यन्त्यनुलोमगाः।
क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं भविष्यति निरामयम्॥92।।
कल्की विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः।
उत्पत्स्यते महावीर्यो महाबुद्धिपराक्रमः॥93।।
सम्भूतः सम्भलग्रामे ब्राह्मणावसथे शुभे।
(महात्मा वृत्तसम्पन्नः प्रजानां हितकृन्नृप।)
मनसा तस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च॥94।।
उपस्थास्यन्ति योधाश्च शस्त्राणि कवचानि च।
स धर्मविजयी राजा चक्रवर्ती भविष्यति॥95।।
स चेमं सङ्कुलं लोकं प्रसादमुपनेष्यति।
उत्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयान्तकृदुदारधीः॥96।।
सङ्क्षेपको हि सर्वस्य युगस्य परिवर्तकः।
स सर्वत्र गतान् क्षुद्रान्ब्राह्मणैः परिवारितः।
उत्सादयिष्यति तदा सर्वम्लेच्छगणान् द्विजः॥97।।

ग्रह प्रदक्षिणा भाव से अनुकूल गति का आश्रय ले अपने पथ पर अग्रसर होंगे। उस समय सबका मङ्गल होगा। देश में सुकाल आ जाएगा। आरोग्य का विस्तार होगा तथा रोग व्याधि का नाम भी नहीं रहेगा।।92।। राजन्! युगान्त के समय काल की प्रेरणा से सम्भल नामक ग्राम में किसी ब्राह्मण के मङ्गलमय गृह में एक महान् शक्तिशाली

बालक प्रकट होगा, जिसका नाम होगा विष्णुयशा कल्की। वह महान् बुद्धि एवं पराक्रम से सम्पन्न महात्मा, सदाचारी तथा प्रजावर्ग का हितैषी होगा (वह बालक ही भगवान् का कल्की अवतार कहलायेगा)। मन के चिन्तन करते ही उसके पास इच्छानुसार वाहन, अस्त्र-शस्त्र, योद्धा और कवच उपस्थित हो जाएँगे। वह धर्मविजयी चक्रवर्ती राजा होगा।।93-95।। वह उदारबुद्धि, तेजस्वी ब्राह्मण, दुःख से व्याप्त हुए इस जगत् को आनन्द प्रदान करेगा। कलियुग का अन्त करने के लिए ही उसका प्रादुर्भाव होगा।।96।। वही सम्पूर्ण कलियुग का संहार करके नूतन सत्ययुग का प्रवर्तक होगा। वह ब्राह्मणों से घिरा हुआ सर्वत्र विचरेगा और भूमण्डल में सर्वत्र फैले हुए नीच स्वभाव वाले सम्पूर्ण म्लेच्छों का संहार कर डालेगा।।97।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि भविष्यकथने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 190 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में भविष्य वर्णन विषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।190।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठ का ½ श्लोक मिलाकर कुल 97½ श्लोक हैं)

नवमोऽध्याय:

भगवान् कल्की के द्वारा सत्ययुग की स्थापना और मार्कण्डेयजी का युधिष्ठिर के लिए धर्मोपदेश

मार्कण्डेय उवाच

ततश्चोरक्षयं कृत्वा द्विजेभ्यः पृथिवीमिमाम्।
वाजिमेधे महायज्ञे विधिवत् कल्पयिष्यति॥1।।
स्थापयित्वा च मर्यादाः स्वयम्भुविहिताः शुभाः।
वनं पुण्ययशःकर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति॥2।।
तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः।
विप्रैश्चोरक्षये चैव कृते क्षेमं भविष्यति॥3।।
कृष्णाजिनानि शक्तीश्च त्रिशूलान्यायुधानि च।
स्थापयन् द्विजशार्दूलो देशेषु विजितेषु च॥4।।
संस्तूयमानो विप्रेन्द्रैर्मानयानो द्विजोत्तमान्।
कल्की चरिष्यति महीं सदा दस्युवधे रतः॥5।।
हा मातस्तात पुत्रेति तास्ता वाचः सुदारुणाः।
विक्रोशमानान् सुभृशं दस्यून् नेष्यति सङ्क्षयम्॥6।।
ततोऽधर्मविनाशो वै धर्मवृद्धिश्च भारत।
भविष्यति कृते प्राप्ते क्रियावांश्च जनस्तथा॥7।।
आरामाश्चैव चैत्याश्च तटाकावसथास्तथा।

पुष्करिण्यश्च विविधा देवतायतनानि च॥8॥
यज्ञक्रियाश्च विविधा भविष्यन्ति कृते युगे।
ब्राह्मणाः साधवश्चैव मुनयश्च तपस्विनः॥9॥
आश्रमा हतपाखण्डाः स्थिताः सत्यरताः प्रजाः।
जनिष्यन्ते च बीजानि रोप्यमाणानि चैव ह॥10॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस समय चोर-डाकुओं एवं म्लेच्छों का विनाश करके भगवान् कल्की अश्वमेध नामक महायज्ञ का अनुष्ठान करेंगे और उसमें यह सारी पृथ्वी विधिपूर्वक ब्राह्मणों को दे डालेंगे॥1॥ उनका यश तथा कर्म सभी परम पावन होंगे। वे ब्रह्माजी की चलायी हुई मङ्गलमयी मर्यादाओं की स्थापना करके (तपस्या के लिए) रमणीय वन में प्रवेश करेंगे॥2॥ फिर इस जगत् के निवासी मनुष्य उनके शील स्वभाव का अनुकरण करेंगे। इस प्रकार सत्ययुग में ब्राह्मणों द्वारा दस्यु दल का विनाश हो जाने पर संसार का मङ्गल होगा॥3॥ द्विजश्रेष्ठ कल्की सदा दस्यु वध में तत्पर रहकर समस्त भूतल पर विचरते रहेंगे और अपने द्वारा जीते हुए देशों में काले मृगचर्म, शक्ति, त्रिशूल तथा अन्य अस्त्र-शस्त्रों की स्थापना करते हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा अपनी स्तुति सुनेंगे और स्वयं भी उन ब्राह्मण शिरोमणियों को यथोचित सम्मान देंगे॥4-5॥ उस समय चोर और लुटेरे दर्द भरी वाणी में 'हाय मैया' 'हाय बप्पा' और 'हाय बेटा' इत्यादि कहकर जोर-जोर से चीत्कार करेंगे और उन सबका भगवान् कल्की विनाश कर डालेंगे। भारत! दस्युओं के नष्ट हो जाने पर अधर्म का भी नाश हो जाएगा और धर्म की वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार सत्ययुग आ जाने पर सब मनुष्य सत्य कर्म परायण होंगे॥6-7॥ उस युग में नये-नये बगीचे लगाये जाएँगे। चैत्य वृक्षों की स्थापना होगी। पोखरों और धर्मशालाओं का निर्माण होगा। भाँति-भाँति की पोखरियाँ तैयार होंगी। कितने ही देवमन्दिर बनेंगे और नाना प्रकार के यज्ञकर्मों का अनुष्ठान होगा। ब्राह्मण साधु स्वभाव के होंगे। मुनिलोग तपस्या में तत्पर रहेंगे॥8-9॥ आश्रम पाखण्डियों से रहित होंगे और सारी प्रजा सत्य परायण होगी। खेतों में बोये जाने वाले सब प्रकार के बीज अच्छी तरह उगेंगे॥10॥

सर्वेष्वृतुषु राजेन्द्र सर्वं सस्यं भविष्यति।
नरा दानेषु निरता व्रतेषु नियमेषु च॥11॥
जपयज्ञपरा विप्रा धर्मकामा मुदा युताः।
पालयिष्यन्ति राजानो धर्मेणेमां वसुन्धराम्॥12॥
व्यवहाररता वैश्या भविष्यन्ति कृते युगे।
षट्कर्मनिरता विप्राः क्षत्रिया विक्रमे रताः॥13॥
शुश्रूषायां रताः शूद्रास्तथा वर्णत्रयस्य च।
एष धर्मः कृतयुगे त्रेतायां द्वापरे तथा॥14॥
पश्चिमे युगकाले च यः स ते सम्प्रकीर्तितः।
सर्वलोकस्य विदिता युगसङ्ख्या च पाण्डव॥15॥

एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम्॥16।।
एवं संसारमार्गा मे बहुशश्चिरजीविना।
दृष्टाश्चैवानुभूताश्च तांस्ते कथितवानहम्॥17।।
इदं चैवापरं भूयः सह भ्रातृभिरच्युत।
धर्मसंशयमोक्षार्थं निबोध वचनं मम॥18।।
धर्मे त्वयाऽऽत्मा संयोज्यो नित्यं धर्मभृतां वर।
धर्मात्मा हि सुखं राजन् प्रेत्य चेह च नन्दति॥19।।
निबोध च शुभां वाणीं यां प्रवक्ष्यामि तेऽनघ।
न ब्राह्मणे परिभवः कर्तव्यस्ते कदाचन।।20।।
ब्राह्मणः कुपितो हन्यादपि लोकान् प्रतिज्ञया॥

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयवचः श्रुत्वा कुरूणां प्रवरो नृपः।।21।।
उवाच वचनं धीमान् परमं परमद्युतिः।
कस्मिन् धर्मे मया स्थेयं प्रजाः संरक्षता मुने।।22।।
कथं च वर्तमानो वै न च्यवेयं स्वधर्मतः।

मार्कण्डेय उवाच

दयावान् सर्वभूतेषु हितो रक्तोऽनसूयकः।।23।।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः प्रजानां रक्षणे रतः।
चर धर्मं त्यजाधर्मं पितॄन् देवांश्च पूजय।।24।।

राजेन्द्र! सभी ऋतुओं में सभी प्रकार के अनाज पैदा होंगे। सब लोग दान, व्रत और नियमों में लगे रहेंगे।।11।। ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक जप-यज्ञ में तत्पर रहेंगे और धर्म में ही उनकी रुचि होगी। क्षत्रिय नरेश धर्मपूर्वक इस पृथ्वी का पालन करेंगे।।12।। सत्ययुग के वैश्य सदा न्यायपूर्वक व्यापार करने वाले होंगे। ब्राह्मण यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मों में तत्पर रहेंगे। क्षत्रिय बल-पराक्रम में अनुराग रखेंगे तथा शूद्र ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों की सेवा में लगे रहेंगे। धर्म का यह स्वरूप सत्ययुग में अक्षुण्ण रहेगा। त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में धर्म की जैसी स्थिति रहेगी, उसका वर्णन तुमसे किया जा चुका है। पाण्डुनन्दन! तुम्हें सम्पूर्ण लोक की युग संख्या का ज्ञान भी हो चुका है।।13-15।। राजन्! ऋषियों द्वारा प्रशंसित तथा वायुदेव द्वारा वर्णित पुराण की बातों का स्मरण करके मैंने तुमसे यह भूत-भविष्य का सारा वृत्तान्त बताया है।।16।। इस प्रकार चिरजीवी होने के कारण मैंने संसार के मार्गों का अनेक बार दर्शन और अनुभव किया है, जिनका तुम्हारे समक्ष वर्णन कर दिया है।।17।। धर्म मर्यादा से कभी च्युत न होने वाले युधिष्ठिर! तुम अपने भाइयों सहित यह मेरी एक बात और सुनो। धर्म विषयक सन्देह का निवारण करके लिए मेरे वचन को ध्यान देकर सुनो।।18।। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महाराज! तुम्हें अपने आपको सदा धर्म में

ही लगाये रखना चाहिए; क्योंकि धर्मात्मा मनुष्य इस लोक और परलोक में भी बड़े सुख से रहता है।।19।। निष्पाप नरेश! मेरी इस कल्याणमयी वाणी को समझो, जिसे मैं अभी तुम्हें सुना रहा हूँ। युधिष्ठिर! तुम्हें कभी किसी ब्राह्मण का तिरस्कार नहीं करना चाहिये; क्योंकि यदि ब्राह्मण कुपित हो जाए और किसी बात की प्रतिज्ञा कर ले, तो वह उस प्रतिज्ञा के अनुसार सम्पूर्ण लोकों का विनाश कर सकता है।।20।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मार्कण्डेयजी की यह बात सुनकर परम तेजस्वी और बुद्धिमान् कुरुकुलरत्न राजा युधिष्ठिर ने यह उत्तम वचन कहा—।।21।। 'मुने! प्रजा की रक्षा करते हुए किस धर्म में स्थित रहना चाहिये। मेरा व्यवहार और बर्ताव कैसा हो, जिससे मैं स्वधर्म से कभी च्युत न होऊँ?'।।22।।

मार्कण्डेयजी ने कहा—राजन्! तुम सब प्राणियों पर दया करो। सबके हितैषी बने रहो। सब पर प्रेमभाव रखो और किसी में दोष दृष्टि मत करो। सत्यवादी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय और प्रजापालन में तत्पर रहकर धर्म का आचरण करो। अधर्म को दूर से ही त्याग दो तथा देवता और पितरों की आराधना करते रहो।।23-24।।

प्रमादाद् यत्कृतं तेऽभूत् सम्यग् दानेन तज्जय।
अलं ते मानमाश्रित्य सततं परवान् भव।।25।।
विजित्य पृथिवीं सर्वां मोदमानः सुखी भव।
एष भूतो भविष्यश्च धर्मस्ते समुदीरितः।।26।।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदतीतानागतं भुवि।
तस्मादिमं परिक्लेशं त्वं तात हृदि मा कृथाः।।27।।
प्राज्ञास्तात न मुह्यन्ति कालेनापि प्रपीडिताः।
एष कालो महाबाहो अपि सर्वदिवौकसाम्।।28।।
मुह्यन्ति हि प्रजास्तात कालेनापि प्रचोदिताः।
मा च तत्र विशङ्काभूद् यन्मयोक्तं तवानघ।।29।।
आशङ्क्य मद्वचो ह्येतद् धर्मलोपो भवेत् तव।
जातोऽसि प्रथिते वंशे कुरूणां भरतर्षभ।।30।।
कर्मणा मनसा वाचा सर्वमेतत् समाचर।

युधिष्ठिर उवाच

यत् त्वयोक्तं द्विजश्रेष्ठ वाक्यं श्रुतिमनोहरम्।।31।।
तथा करिष्ये यत्नेन भवतः शासनं विभो।
न मे लोभोऽस्ति विप्रेन्द्र न भयं न च मत्सरः।।32।।
करिष्यामि हि तत् सर्वमुक्तं यत् ते मयि प्रभो।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं तस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः।।33।।
संहृष्टाः पाण्डवा राजन् सहिताः शार्ङ्गधन्वना।

विप्रर्षभाश्च ते सर्वे ये तत्रासन् समागता:।।34।।
तथा कथां शुभां श्रुत्वा मार्कण्डेयस्य धीमत:।
विस्मिता: समपद्यन्त पुराणस्य निवेदनात्॥35।।

यदि प्रमादवश तुम्हारे द्वारा किसी के प्रति कोई अनुचित व्यवहार हो गया हो तो उसे अच्छी प्रकार दान से सन्तुष्ट करके वश में करो। मैं सबका स्वामी हूँ, ऐसे अहङ्कार को कभी पास में न आने दो। तुम अपने को सदा पराधीन समझते रहो।।25।। सारी पृथ्वी को जीतकर सदा सानन्द और सुखी रहो। तात युधिष्ठिर! मैंने तुम्हें जो यह धर्म बताया है, इसका पालन भूतकाल में भी हुआ है और भविष्य काल में इसका पालन होना चाहिए। भूत और भविष्य की ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें ज्ञात न हो; अत:समय-समय जो यह क्लेश तुम्हें प्राप्त हुआ है, इसके लिए हृदय में कोई विचार न करो।।26-27।। तात! विद्वान् पुरुष काल से पीड़ित होने पर भी कभी मोह में नहीं पड़ते। महाबाहो! यह काल सम्पूर्ण देवताओं पर भी अपना प्रभाव डालता है।।28।। युधिष्ठिर! काल से प्रेरित होकर ही यह सारी प्रजा मोहग्रस्त होती है। अनघ! मैंने तुम्हारे सामने जो कुछ भी कहा है उसमें तुम्हें किसी प्रकार की शङ्का नहीं होनी चाहिए।।29।। मेरे इस वचन में सन्देह करने पर तुम्हारे धर्म का लोप होगा। भरतकुलभूषण! तुम कौरवों के प्रख्यात कुल में उत्पन्न हुए हो; अत: मन, वाणी और क्रिया द्वारा इन सब बातों का पालन करो।।30।।

युधिष्ठिर ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! आपने मुझे जो उपदेश दिया है, वह मेरे कानों को मधुर एवं मन को प्रिय लगा है। विभो! मैं आपकी आज्ञा का यत्नपूर्वक पालन करूँगा। ब्राह्मणश्रेष्ठ! मेरे मन में लोभ, भय और ईर्ष्या नहीं है। प्रभो! आपने मेरे लिए जो कहा है, इसका अवश्य पालन करूँगा।।।31-32।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उन परम बुद्धिमान् मार्कण्डयजी का वचन सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण सहित पाँचों पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। साथ ही जो श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ पधारे थे, उन सबको भी बड़ी प्रसन्नता हुई।।33-34।। बुद्धिमान् मार्कण्डेयजी के मुख से वह मङ्गलमयी कथा सुनकर पुराणोक्त बातों का ज्ञान हो जाने से सब लोग बड़े ही विस्मित और प्रसन्न हुए।।35।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि युधिष्ठिरानुशासने एकनवत्यधिकशततमोऽध्याय:॥ 191 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में युधिष्ठिर के लिए उपदेश विषयक एक सौ इक्यानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।191।।

मार्कण्डेयगीता सम्पूर्णा

बकगीता

प्रथमोध्याय

चिरजीवी के सुख और दुःख निरूपक इन्द्र और बक मुनि का संवाद

वैशम्पायन उवाच

मार्कण्डेयमृषयो ब्राह्मणा युधिष्ठिरश्च पर्यपृच्छन्नृषिः—

केन दीर्घायुरासीद् बको मार्कण्डेयस्तु तान् सर्वानुवाच ।।1।।
महातपा दीर्घायुश्च बको राजर्षिर्नात्रकार्या विचारणा ।।2।।
एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सह भारत ।
मार्कण्डेयं पर्यपृच्छद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।।3।।
श्रूयते हि महाभाग बको दाल्भ्यो महातपाः।
प्रियः सखा च शक्रस्य चिरजीवी च सत्तम ।।4।।
एतदिच्छामि भगवन् बकशक्रसमागमम् ।
सुखदुःखसमायुक्तं तत्त्वेन कथयस्व मे ।।5।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक दिन ऋषियों, ब्राह्मणों तथा युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय मुनि से पूछा—'ब्रह्मन्! महर्षि बक कैसे दीर्घायु हुए थे?' तब मार्कण्डेयजी ने उन सबसे कहा—।।1।। 'राजन्! बक महान् तपस्वी होने के कारण दीर्घायु हुए थे। इस विषय में कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिए'।।2।। भरतनन्दन जनमेजय! मार्कण्डेयजी का यह कथन सुनकर भाइयों सहित कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिर ने मार्कण्डेय जी से पुनः पूछा—।।3।। महाभाग मुनिश्रेष्ठ! दल्भ के पुत्र महातपस्वी बक ऋषि चिरजीवी तथा देवराज इन्द्र के प्रिय मित्र सुने जाते हैं।।4।। 'भगवन्! बक और इन्द्र का यह समागम (चिरजीवी पुरुषों के) सुख और दुःख की वार्ता से युक्त कहा गया है। मैं इसे सुनना चाहता हूँ; आप यथार्थरूप से इसका वर्णन करें'।।5।।

मार्कण्डेय उवाच

वृत्ते देवासुरे राजन् संग्रामे लोमहर्षणे ।
त्रयाणामपि लोकानामिन्द्रो लोकाधिपो भवत् ।।6।।
सम्यग् वर्षति पर्जन्ये सुखसम्पद उत्तमाः ।
निरामयाः सुधर्मिष्ठाः प्रजा धर्मपरायणाः ।।7।।
मुदितश्च जनः सर्वः स्वधर्मे सुव्यवस्थितः ।
ताः प्रजा मुदिताः सर्वा दृष्ट्वा बलनिषूदनः ।।8।।

ततस्तु मुदितो राजन् देवराजः शतक्रतुः ।
ऐरावतं समास्थाय ताः पश्यन् मुदिताः प्रजाः ।।9।।
आश्रमांश्च विचित्रांश्च नदीश्च विविधाः शुभाः ।
नगराणि समृद्धानि खेटान् जनपदांस्तथा ।।10।।
प्रजापालनदक्षांश्च नरेन्द्रान् धर्मचारिणः ।
उदपानं प्रपा वापी तडागानि सरांसि च ।।11।।
नाना ब्रह्मसमाचारैः सेवितानि द्विजोत्तमैः ।
ततोऽवतीर्य रम्यायां पृथ्व्यां राजञ्छतक्रतुः ।।12।।
तत्र रम्ये शिवे देशे बहुवृक्षसमाकुले ।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां समुद्राभ्याशतो नृप ।।13।।
तत्राश्रमपदं रम्यं मृगद्विजनिषेवितम् ।
तत्राश्रमपदे रम्ये बकं पश्यति देवराट् ।।14।।
बकस्तु दृष्ट्वा देवेन्द्रं दृढं प्रीतमनाभवत् ।
पाद्यासनार्घ्यदानेन फलमूलैरथार्चयत् ।।15।।
सुखोपविष्टो वरदस्ततस्तु बलसूदनः ।
ततः प्रश्नं बकं देव उवाच त्रिदशेश्वरः।।16।।
शतं वर्षसहस्राणि मुने जातस्य तेऽनघ ।
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं दुःखं चिरजीविनाम् ।।17।।

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! जब रोंगटे खड़े कर देने वाला देवासुर-संग्राम समाप्त हो गया, उस समय लोकपाल इन्द्र तीनों लोकों के अधिपति बना दिये गये।।6।। इन्द्र के शासनकाल में मेघ ठीक समय पर अच्छी वर्षा करते और खेती की उपज अच्छी होती थी। सारी प्रजा रोग-व्याधि से रहित, धर्म में स्थित तथा धर्म को ही अपना परम आश्रय मानने वाली थी।।7।। सब लोग बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने-अपने धर्मों में स्थित रहते थे। अपनी उन सारी प्रजा को आनन्दित देखकर बलासुर के शत्रु देवराज इन्द्र बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करते थे। एक दिन की बात है, इन्द्र ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हो चैन से दिन बिताती हुई अपनी प्रजा को देखने के लिए भ्रमण करने लगे।।8-9।। राजन्! विचित्र आश्रमों, नाना प्रकार की कल्याणकारिणी नदियों, समृद्धिशाली नगरों, गाँवों, जनपदों, प्रजापालनकुशल धर्मात्मा नरेशों, कुओं, पौसलों, बावलियों, तालाबों तथा ब्रह्मचर्य-परायण श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा सेवित अनेकानेक सरोवरों का अवलोकन करते हुए शतक्रतु इन्द्र एक रमणीय भू-भाग में उतरे।।10-12।। राजन्! परम सुन्दर पूर्वदिशा में समुद्र के निकट एक मनोहर एवं सुखद स्थान में, जो बहुत-से वृक्षों से घिरा हुआ था, एक रमणीय आश्रम दिखायी दिया, जहाँ बहुत-से पशु और पक्षी निवास करते थे। देवराज इन्द्र ने उस रमणीय आश्रम में जाकर बक मुनि का दर्शन किया।।13-14।। देवराज इन्द्र को उपस्थित देख बक के हृदय में दृढ़ प्रेम उत्पन्न हुआ। उन्होंने पाद्य, आसन, अर्घ्य और फल-मूलादि देकर देवराज का पूजन किया।।15।। सबको वर देने वाले बलनिषूदन देवेश्वर इन्द्र जब सुखपूर्वक आसन पर

बैठ गये, तब वे मुनिवर बक से इस प्रकार बोले—।।16।। 'निष्पाप मुने! आपकी अवस्था एक लाख वर्ष की हो गयी। ब्रह्मन्! आप अपने अनुभव के आधार पर यह बताइये कि चिरजीवी मनुष्यों को क्या दुःख होता है?'।।17।।

बक उवाच

अप्रियैः सह संवासः प्रियैश्चापि विनाभवः ।
असद्भिः संप्रयोगश्च तद् दुःखं चिरजीविनाम् ।।18।।
पुत्रदारविनाशोऽत्र ज्ञातीनां सुहृदामपि ।
परेष्वायत्ततताकृच्छ्रं किं नु दुःखतरं ततः ।।19।।
नान्यद् दुःखतरं किञ्चिल्लोकेषु प्रतिभाति मे ।
अर्थैर्विहीनः पुरुषः परैः सम्परिभूयते ।।20।।
अकुलानां कुले भावं कुलीनानां कुलक्षयम् ।
संयोगं विप्रयोगं च पश्यन्ति चिरजीविनः ।।21।।
अपि प्रत्यक्षमेवैतत् तव देव शतक्रतो ।
अकुलानां समृद्धानां कथं कुलविपर्ययः ।।22।।
देवदानवगन्धर्वमनुष्योरगराक्षसाः ।
प्राप्नुवन्ति विपर्यासं किं नु दुःखतरं ततः ।।23।।
कुले जाताश्च क्लिश्यन्ते दौष्कुलेयवशानुगाः ।
आढ्यैर्दरिद्राश्चाक्रान्ताः किं नु दुःखतरं ततः ।।24।।
लोके वैधर्म्यमेतत्तु दृश्यते बहुविस्तरम् ।
हीनज्ञानाश्च दृश्यन्ते क्लिश्यन्ते प्राज्ञकोविदाः ।।25।।
बहुदुःखपरिक्लेशं मानुष्यमिह दृश्यते ।

बक ने कहा—देवेश्वर! अप्रिय मनुष्यों के साथ रहना पड़ता है। प्रिय जनों की मृत्यु हो जाने से उनके वियोग का दुःख सहते हुए जीवन व्यतीत करना पड़ता है और दुष्ट मनुष्यों का संग प्राप्त होता है। चिरजीवी मनुष्यों के लिए यही महान् दुःख है।।18।। अपनी आँखों के सामने स्त्री ओर पुत्रों की मृत्यु होती है। भाई-बन्धु आदि जाति के लोगों और सुहृदों का सदा के लिये वियोग हो जाता है तथा जीवन-निर्वाह के लिए दूसरों के अधीन रहकर उनके तिरस्कार का कष्ट भोगना पड़ता है। इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है?।।19।। निर्धन मनुष्य को जो दूसरों से तिरस्कृत होना पड़ता है, इससे बढ़कर महान् कष्ट की बात संसार में मुझे और कोई नहीं जान पड़ती है।।20।। चिरजीवी मनुष्य अकुलीनों के कुल की उन्नति, कुलीनों के कुल का संहार तथा संयोग और वियोग देखते रहते हैं।।21।। देव शतक्रतो! आप भी तो यह प्रत्यक्ष ही देखते रहते हैं कि किस प्रकार समृद्धिशाली अकुलीन मनुष्यों के कुल में उलट-फेर हो जाता है।।22।। देवता, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, नाग तथा राक्षस—ये सभी विपरीत अवस्था में पहुँचकर क्या से क्या हो जाते हैं? इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा?।।23।। कुलीन मनुष्य भी नीच कुल के लोगों के वश में पड़कर क्लेश उठा रहे हैं

और धनी लोग दरिद्रों को सताते हैं। इससे बढ़कर दु:ख की बात और क्या हो सकती है?।।24।। लोक में यह विपरीत अवस्था बहुत अधिक दिखायी देती है। ज्ञानहीन मूढ़ मनुष्य तो मौज करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य क्लेश भोग रहे हैं। यहाँ मानवयोनि में दु:ख और क्लेश की अधिकता ही दृष्टिगोचर होती है।।

इन्द्र उवाच

पुनरेव महाभाग देवर्षिगणसेवित ।।26।।
समाख्याहि मम ब्रह्मन् किं सुखं चिरजीविनाम् ।

इन्द्र ने पूछा—महाभाग! देवता तथा ऋषियों के समुदाय आपकी सेवा में उपस्थित रहते हैं।।25-26।। ब्रह्मन्! अब मुझसे फिर यह बताइये कि चिरजीवी मनुष्यों को क्या सुख मिलता है?

बक उवाच

अष्टमे द्वादशे वापि शाकं य: पचते गृहे ।।27।।
कुमित्राण्यनपाश्रित्य किं वै सुखतरं तत: ।
यत्राहानि न गण्यन्ते नैनमाहुर्महाशनम् ।।28।।

अपि शाकं पचानस्य सुखं वै मघवन् गृहे ।
अर्जितं स्वेन वीर्येण नाप्यपाश्रित्य कञ्चन ।।29।।
फलशाकमपि श्रेयो भोक्तुं ह्यकृपणे गृहे ।
परस्य तु गृहे भोक्तु: परिभूतस्य नित्यश: ।।30।।
सुमृष्टमपि न श्रेयो विकल्पोऽयमत: सताम् ।
श्ववत् कीलालपो यस्तु परान्नं भोक्तुमिच्छति ।।31।।
धिगस्तु तस्य तद्भुक्तं कृपणस्य दुरात्मन: ।
यो दत्त्वातिथिभूतेभ्य: पितृभ्यश्च द्विजोत्तम: ।।32।।
शिष्टान्यन्नानि यो भुङ्क्ते किं वै सुखतरं तत: ।
अतो मृष्टतरं नान्यत्पूतं किञ्चिवच्छतक्रतो ।।33।।
दत्वा यस्त्वतिथिभ्यो वै भुङ्क्ते तेनैव नित्यश: ।
यावतो ह्यन्धस: पिण्डानश्नाति सततं द्विज: ।।34।।
तावतां गोसहस्राणां फलं प्राप्नोति दायक: ।
यदेनो यौवनकृतं तत् सर्वं नश्यते ध्रुवम् ।।35।।
सदक्षिणस्य भुक्तस्य द्विजस्य तु करे गतम् ।
यद् वारि वारिणा सिञ्चेत् तद्ध्येनस्तरते क्षणात् ।।36।।
एतश्चान्याश्च वै बह्वी: कथयित्वा कथा: शुभा: ।
बकेन सह देवेन्द्र आपृच्छ्य त्रिदिवं गत: ।।37।।

बक ने कहा—जो दिन के आठवें या बारहवें भाग में अपने घर पर भोजन के लिए केवल शाक पका लेता है परन्तु कुमित्रों की शरण में नहीं जाता, उस पुरुष को जो

सुख प्राप्त है, उससे बढ़कर सुख और क्या हो सकता है? जहाँ दिन नहीं गिने जाते—जहाँ प्रतिदिन अन्न की प्राप्ति के लिए चिन्ता नहीं करनी पड़ती है; वही सुखी है। उसे लोग अधिक खाने वाला अथवा पेटू नहीं कहते हैं।।27-28।। इन्द्र! जो अपने पराक्रम से उपार्जन करके घर में केवल शाक बनाकर खाता है, परन्तु दूसरे किसी का सहारा नहीं लेता, उसे ही सुख है।।29।। दूसरे के सामने दीनता न दिखाकर अपने घर में फल और शाक खाकर रहना अच्छा है। परन्तु दूसरे के घर में सदा तिरस्कार सहकर मीठे पकवान खाना भी अच्छा नहीं है; अत: दूसरे के आश्रित रहकर जीवन निर्वाह करने के सम्बन्ध में साधु पुरुषों का सदा से ही विरोध रहा है। जो पराया अन्न खाना चाहता है, वह कुत्ते की भाँति खून चाटता है। उस दुरात्मा और कृपण के वैसे भोजन को धिक्कार है। जो श्रेष्ठ द्विज सदा अतिथियों, भूत-प्राणियों तथा पितरों को अर्पण करके अर्थात् बलि-वैश्वदेव करके शेष अन्न स्वयं भोजन करता है, उससे बढ़कर महान् सुख और क्या हो सकता है? देवेन्द्र! इस यज्ञशेष अन्न से बढ़कर अत्यन्त मधुर और पवित्र दूसरा कोई भोजन नहीं है।।30-33।। जो प्रतिदिन अतिथियों को देकर शेष अन्न से ही भोजन का काम चलाता है, उसके अन्न के जितने ग्रास अतिथि ब्राह्मण नित्य भोजन करता है, उतने ही हजार गौओं के दान का पुण्य उस दाता को प्राप्त होता है तथा उसके द्वारा युवावस्था में जो पाप हुए होते हैं, वे सब निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं।।34-35।। ब्राह्मण के भोजन कर लेने पर जो उसे दक्षिणा दी जाती है, उस समय उसके हाथ में जो प्रतिग्रह का जल रहता है, उसे दाता पुन: उत्सर्ग के जल से सींचे। ऐसा करने से वह तत्काल सब पापों से छूट जाता है।।36।। इस प्रकार देवराज इन्द्र बक के साथ ये तथा और बहुत-सी उत्तम कथा-वार्ताएँ करके उनसे आज्ञा लेकर स्वर्गलोक को चले गये।।37।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमस्यापर्वणि ब्राह्मणमहाभाग्ये बकशक्रसंवादे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्याय।।193।।

इस प्रकार श्रीमहाभारतवनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समस्यापर्व में ब्राह्मणों के माहात्म्य के सम्बन्ध में बक-इन्द्रसंवादविषयक एक सौ तिरानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।193।।

बकगीता सम्पूर्णा

युधिष्ठिरगीता-I

प्रथमोऽध्याय:

निन्दित दान, निन्दित जन्म, योग्य दानपात्र, श्राद्ध में ग्राह्य और अग्राह्य ब्राह्मण, दानपात्र के लक्षण, अतिथि सत्कार, विविध दानों का महत्त्व, वाणी की शुद्धि, गायत्री जप, चित्त शुद्धि तथा इन्द्रिय निग्रह आदि विविध विषयों का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा स राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत् तदा।
मार्कण्डेयान् महाभागात् स्वर्गस्य प्रतिपादनम्॥1॥
युधिष्ठिरो महाराजः पुनः पप्रच्छ तं मुनिम्।
कीदृशीषु ह्यवस्थासु दत्त्वा दानं महामुने॥2॥
इन्द्रलोकं त्वनुभवेत् पुरुषस्तद् ब्रवीहि मे।
गार्हस्थ्येऽप्यथवा बाल्ये यौवने स्थविरेऽपि वा।
यथा फलं समश्नाति तथा त्वं कथयस्व मे॥3॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महाभाग मार्कण्डेयजी के मुख से राजर्षि इन्द्रद्युम्न को पुन: स्वर्ग की प्राप्ति का वृत्तान्त सुनकर राजा युधिष्ठिर ने उन मुनीश्वर से फिर प्रश्न किया। 'महामुने! किन अवस्थाओं में दान देकर मनुष्य इन्द्रलोक का सुख भोगता है? यह मुझे बताने की कृपा करें। मनुष्य बाल्यावस्था या गृहस्थाश्रम में, जवानी में अथवा बुढ़ाने में दान देने से जैसा फल पाता है? उसका मुझसे वर्णन कीजिये'॥1-3॥

मार्कण्डेय उवाच

वृथा जन्मानि चत्वारि वृथा दानानि षोडश।
वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य ये च धर्मबहिष्कृताः॥4॥
परपाकेषु येऽश्नन्ति आत्मार्थं च पचेत् तु यः।
पर्यश्नन्ति वृथा ये च तदसत्यं प्रकीर्त्यते॥5॥
आरूढपतिते दत्तमन्यायोपहृतं च यत्।
व्यर्थं तु पतिते दानं ब्राह्मणे तस्करे तथा॥6॥
गुरौ चानृतिके पापे कृतघ्ने ग्रामयाजके।
वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके॥7॥
ब्रह्मबन्धुषु यद् दत्तं यद् दत्तं वृषलीपतौ।
स्त्रीजनेषु च यद् दत्तं व्यालग्राहे तथैव च॥8॥
परिचारकेषु यद् दत्तं वृथा दानानि षोडश।

तमोवृतस्तु यो दद्याद् भयात् क्रोधात् तथैव च॥9॥
भुङ्क्ते च दानं तत् सर्वं गर्भस्थस्तु नरः सदा।
ददद् दानं द्विजातिभ्यो वृद्धभावेन मानवः॥10॥
तस्मात् सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पार्थिव।
दातव्यानि द्विजातिभ्यः स्वर्गमार्गजिगीषया॥11॥

मार्कण्डेयजी ने कहा—(नीचे लिखे अनुसार) चार प्रकार के जीवन व्यर्थ हैं और सोलह प्रकार के दान व्यर्थ हैं। जो पुत्रहीन हैं, जो धर्म से बहिष्कृत (भ्रष्ट) हैं, जो सदा दूसरों की ही रसोई में भोजन किया करते हैं तथा जो सदा जो केवल अपने लिए ही भोजन बनाते एवं देवता और अतिथियों को न देकर अकेले ही भोजन कर लेते हैं, उनका वह भोजन असत् कहा गया है। अतः उनका जन्म वृथा है (इस प्रकार इन चार प्रकार के मनुष्यों का जन्म व्यर्थ है)॥4-5॥ जो वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम से पुनः गृहस्थ आश्रम में लौट आया हो, उसे 'आरूढ़ पतित' कहते हैं। उसको दिया हुआ दान व्यर्थ होता है। अन्याय से कमाये हुए धन का दान भी व्यर्थ ही है। पतित ब्राह्मण तथा चोर को दिया हुआ दान भी व्यर्थ होता है॥6॥ पिता आदि गुरुजन, मिथ्यावादी, पापी, कृतघ्न, ग्राम पुरोहित, वेद विक्रय करने वाले, शूद्र से यज्ञ कराने वाले, नीच ब्राह्मण, शूद्रा के पति ब्राह्मण, साँप को पकड़ कर व्यवसाय करने वाले तथा सेवकों और स्त्री समूह को दिया हुआ दान व्यर्थ है।[1] इस प्रकार ये सोलह दान निष्फल बताये गये हैं। जो तमोगुण से आवृत हो भय और क्रोधपूर्वक दान देता है, वह मनुष्य वैसे सब प्रकार के दानों का फल भावी जन्म में गर्भावस्था में भोगता है, अर्थात् तामसी दान करने के कारण वह उसका फल दुःख के रूप में भोगता है तथा (श्रेष्ठ) ब्राह्मणों को दान देने वाला मानव उस दान का फल बड़ा होने पर (कामना के अनुसार) भोगता है॥7-10॥ राजन्! इसीलिए मनुष्य को चाहिये कि वह स्वर्ग मार्ग पर अधिकार पाने की इच्छा से सभी अवस्थाओं में (श्रेष्ठ) ब्राह्मणों को ही सब प्रकार के दान दे॥11॥

युधिष्ठिर उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्य वर्तमानाः प्रतिग्रहे।
केन विप्रा विशेषेण तारयन्ति तरन्ति च॥12॥

युधिष्ठिर ने पूछा—महामुने! जो ब्राह्मण चारों वर्णों में से सभी के दान ग्रहण करते हैं, वे किस विशेष धर्म का पालन करने से दूसरों को तारते और स्वयं भी तरते हैं?॥12॥

मार्कण्डेय उवाच

जपैर्मन्त्रैश्च होमैश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च।
नावं वेदमयीं कृत्वा तारयन्ति तरन्ति च॥13॥

---

1. यहाँ जो पिता आदि गुरुजन, सेवक और स्त्रियों को दिया दान व्यर्थ कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा करना तथा स्त्री और नौकरों का पालन-पोषण करना तो मनुष्य का कर्त्तव्य ही है। अतः उनको देना तो अपने कर्त्तव्य का ही पालन है, इसलिए वह उनको देना दान की श्रेणी में नहीं है।

ब्राह्मणांस्तोषयेद् यस्तु तुष्यन्ते तस्य देवताः।
वचनाच्चापि विप्राणां स्वर्गलोकमवाप्नुयात्॥14॥
पितृदैवतपूजाभिर्ब्राह्मणाभ्यर्चनेन च।
अनन्तं पुण्यलोकं तु गन्तासि त्वं न संशयः॥15॥
श्लेष्मादिभिर्व्याप्ततनुर्म्रियमाणो विचेतनः।
ब्राह्मणा एव सम्पूज्याः पुण्यं स्वर्गमभीप्सता॥16॥
श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजुगुप्सिताः।
दुर्वर्णः कुनखी कुष्ठी मायावी कुण्डगोलकौ॥17॥
वर्जनीयाः प्रयत्नेन काण्डपृष्ठाश्च देहिनः।
जुगुप्सितं हि यच्छ्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम्॥18॥
ये ये श्राद्धे न युज्यन्ते मूकान्धबधिरादयः।
तेऽपि सर्वे नियोक्तव्या मिश्रिता वेदपारगैः॥19॥
प्रतिग्रहश्च वै देयः शृणु यस्य युधिष्ठिर।
प्रदातारं तथाऽऽत्मानं यस्तारयति शक्तिमान्॥20॥

मार्कण्डेयजी ने कहा—राजन्! ब्राह्मण जप, मन्त्र (पाठ), होम, स्वाध्याय और वेदाध्ययन के द्वारा वेदमयी नौका का निर्माण करके दूसरों को भी तारते हैं और स्वयं भी तर जाते हैं॥13॥ जो ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करता है, उस पर सब देवता सन्तुष्ट रहते हैं। ब्राह्मणों के वचन से अर्थात् आशीर्वाद से भी मनुष्य स्वर्ग लोक पा सकता है॥14॥ राजन्! तुम पितरों और देवताओं की पूजा से तथा ब्राह्मणों का आदर सत्कार करने से अक्षय पुण्य लोक में जाओगे, इसमें संशय नहीं है॥15॥ जिसका शरीर कफ आदि से भर गया हो, जो मर रहा हो और अचेत हो गया हो, उसे पुण्यमय स्वर्गलोक की प्राप्ति अभीष्ट हो तो ब्राह्मणों की पूजा भी करनी चाहिये॥16॥ श्राद्धकाल में प्रयत्न करके उत्तम ब्राह्मणों को ही भोजन कराना चाहिये। जिनके शरीर का रङ्ग घृणाजनक हो, नख काले पड़ गये हों, जो कोढ़ी और धूर्त हो, पिता की जीवित अवस्था में ही माता के व्यभिचार से जिसका जन्म हुआ हो अथवा जो विधवा माता के पेट से पैदा हुए हों और जो पीठ पर तरकस बाँधे क्षत्रिय वृत्ति से जीविका चलाते हों, ऐसे ब्राह्मणों को श्राद्ध में प्रयत्नपूर्वक त्याग दे, क्योंकि उनको भोजन कराने से श्राद्ध निन्दित हो जाता है और निन्दित श्राद्ध यजमान को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे अग्नि काष्ठ को जला डालती है॥17-18॥ किन्तु अन्धे, गूँगे, बहरे आदि जिन जिन ब्राह्मणों को श्राद्ध में वर्जित बताया गया है, उन सबको वेद पारङ्गत ब्राह्मणों के साथ श्राद्ध में सम्मिलित किया जा सकता है॥19॥ युधिष्ठिर! अब मैं तुम्हें यह बताता हूँ कि कैसे व्यक्ति को दान देना चाहिए। जो दाता को और अपने आप को भी तारने की शक्ति रखता हो॥20॥

तस्मिन् देयं द्विजे दानं सर्वागमविजानता।
प्रदातारं यथाऽऽत्मानं तारयेद् यः स शक्तिमान्॥21॥
न तथा हविषो होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः।

अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिभोजने॥22॥
तस्मात् त्वं सर्वयत्नेन यतस्वातिथिभोजने।
पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम्॥23॥
प्रयच्छन्ति तु ये राजन्नोपसर्पन्ति ते यमम्।
देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टावमार्जनम्॥24॥
आकल्पः परिचर्या च गात्रसंवाहनानि च।
अत्रैकैकं नृपश्रेष्ठ गोदानाद्ध्यतिरिच्यते॥25॥
कपिलायाः प्रदानात् तु मुच्यते नात्र संशयः।
तस्मादलङ्कृतां दद्यात् कपिलां तु द्विजातये॥26॥
श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे।
पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्यनुपकारिणे॥27॥
एवंविधेषु दातव्या न समृद्धेषु भारत।
को गुणो भरतश्रेष्ठ समृद्धेष्वभिवर्जितम्॥28॥

सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञाता मानव उसी ब्राह्मण को दान दे, जो दाता का तथा अपना भी संसार सागर से उद्धार कर सके। वही शक्तिशाली ब्राह्मण है॥21॥ कुन्तीनन्दन! अतिथियों को भोजन कराने से अग्निदेव जितने सन्तुष्ट होते हैं, उतना सन्तोष उन्हें हविष्य का हवन करने तथा पुष्प और चन्दन चढ़ाने से भी नहीं होता॥22॥ इसलिए तुम सभी उपायों से अतिथियों को भोजन देने का प्रयत्न करो। राजन्! जो लोग अतिथि को चरण धोने के लिए जल, पैर में मलने के लिए तेल, उजाले के लिए दीपक, भोजन के लिए अन्न तथा रहने के लिए स्थान देते हैं, वे कभी यमराज के यहाँ नहीं जाते॥23॥ नृपश्रेष्ठ! देवविग्रहों पर चढ़े हुए चन्दन पुष्प आदि को यथासमय उतारना, ब्राह्मणों की जूठन साफ करना, उन्हें चन्दन माला आदि से अलङ्कृत करना, उनकी सेवा पूजा करना और उनके पैर आदि अङ्गों को दबाना, इनमें से एक-एक कार्य गोदान से भी अधिक महत्त्व रखता है॥24-25॥ कपिला गौ का दान करने से मनुष्य निःसन्देह सब पापों से मुक्त हो जाता है। इसलिए कपिला गौ को अलङ्कृत करके ब्राह्मण को दान करना चाहिये॥26॥ दान लेने वाला ब्राह्मण श्रोत्रिय हो, निर्धन हो, गृहस्थ हो, नित्य अग्निहोत्र करता हो, दरिद्रता के कारण जिसे स्त्री और पुत्रों के तिरस्कार सहने पड़ते हों तथा दाता ने न तो जिससे प्रत्युपकार प्राप्त किया हो और न आगे प्रत्युपकार प्राप्त होने की सम्भावना ही हो॥27॥ भारत! ऐसे ही लोगों को गोदान करना चाहिये, धनवानों को नहीं। भरतश्रेष्ठ! धनवानों को देने से क्या लाभ है?॥28॥

एकस्यैका प्रदातव्या न बहूनां कदाचन।
सा गौर्विक्रयमापन्ना हन्यात् त्रिपुरुषं कुलम्॥29॥
न तारयति दातारं ब्राह्मणं नैव नैव तु।
सुवर्णस्य विशुद्धस्य सुवर्णं यः प्रयच्छति॥30॥
सुवर्णानां शतं तेन दत्तं भवति शाश्वतम्।

अनड्वाहं तु यो दद्याद् बलवन्तं धुरन्धरम्॥31।।
स निस्तरति दुर्गाणि स्वर्गलोकं च गच्छति।
वसुन्धरां तु यो दद्याद् द्विजाय विदुरात्मने॥32।।
दातारं ह्यनुगच्छन्ति सर्वे कामाभिवाञ्छिताः।
पृच्छन्ति चात्र दातारं वदन्ति पुरुषा भुवि॥33।।
अध्वनि क्षीणगात्राश्च पांसुपादावगुण्ठिताः।
तेषामेव श्रमार्तानां यो ह्यन्नं कथयेद् बुधः॥34।।
अन्नदातृसमः सोऽपि कीर्त्यते नात्र संशयः।
तस्मात् त्व सर्वदानानि हि त्वान्नं सम्प्रयच्छ ह॥35।।
न हीदृशं पुण्यफलं विचित्रमिह विद्यते।
यथाशक्ति च यो दद्यादन्नं विप्रेषु संस्कृतम्॥36।।
स तेन कर्मणाऽऽप्नोति प्रजापतिसलोकताम्।
अन्नमेव विशिष्टं हि तस्मात् परतरं न च॥37।।
अन्नं प्रजापतिश्चोक्तः स च संवत्सरो मतः।
संवत्सरस्तु यज्ञोऽसौ सर्वं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥38।।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
तस्मादन्नं विशिष्टं हि सर्वेभ्य इति विश्रुतम्॥39।।
येषां तटाकानि महोदकानि वाप्यश्च कूपाश्च प्रतिश्रयाश्च।
अन्नस्य दानं मधुरा च वाणी यमस्य ते निर्वचना भवन्ति॥40।।
धान्यं श्रमेणार्जितवित्तसञ्चितं विप्रे सुशीले च प्रयच्छते यः।
वसुन्धरा तस्य भवेत् सुतुष्टा धारां वसूनां प्रतिमुञ्चतीव॥41।।
अन्नदाः प्रथमं यान्ति सत्यवाक् तदनन्तरम्।
अयाचितप्रदाता च समं यान्ति त्रयो जनाः॥42।।

एक गौ एक ही ब्राह्मण को देनी चाहिये; बहुतों को कभी नहीं (क्योंकि एक ही गौ यदि बहुतों को दी गई, तो वे उसे बेचकर उसकी कीमत बाँट लेंगे)। दान की हुई गौ यदि बेच दी गई, तो वह दाता की तीन पीढ़ियों को हानि पहुँचाती है। वह न तो दाता को ही पार उतारती है न ब्राह्मण को ही। जो उत्तम वर्ण वाले विशुद्ध ब्राह्मण को सुवर्ण दान करता है उसे निरन्तर सौ स्वर्ण मुद्राओं के दान का फल प्राप्त होता है। जो लोग कन्धे पर जुआ उठाने में समर्थ बलवान् बैल ब्राह्मणों को दान करते हैं, वे दुःख और सङ्कटों से पार होकर स्वर्गलोक में जाते हैं। जो विद्वान् ब्राह्मण को भूमिदान करता है, उस दाता के पास सभी मनोवाञ्छित भोग स्वत: आ जाते हैं। यदि कोई रास्ते के थके माँदे, दुबले-पतले पथिक धूल भरे पैरों से भूखे प्यासे आ जाएँ और पूछें कि क्या यहाँ कोई भोजन देने वाला है? उस समय उन्हें जो विद्वान् अन्न मिलने का पता बता देता है, वह भी अन्नदाता के समान ही कहा जाता है, इसमें संशय नहीं है। अत: युधिष्ठिर! तुम सारे दानों को छोड़कर केवल अन्न दान करते रहो। इस संसार में अन्न दान के समान विचित्र एवं पुण्यदायक दूसरा कोई दान नहीं है। जो अपनी शक्ति के अनुसार अच्छे ढंग से तैयार

किया हुआ भोजन ब्राह्मणों को अर्पित करता है, वह उस पुण्य कर्म के प्रभाव से प्रजापति के लोक में जाता है। अतः अन्न ही सबसे महत्त्व की वस्तु है। उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। वेदों में अन्न को प्रजापति कहा गया है। प्रजापति संवत्सर माना गया है। संवत्सर यज्ञरूप है और यज्ञ में सबकी स्थिति है।।29-38।। यज्ञ से समस्त समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। अतः अन्न ही सब पदार्थों से श्रेष्ठ है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है।।।39।। जो लोग अगाध जल से भरे हुए तालाब और पोखरे खुदवाते हैं, बावली, कुएँ तथा धर्मशालाएँ तैयार कराते हैं, अन्न का दान करते और मीठी बातें बोलते हैं, उन्हें यमराज की बात भी नहीं सुननी पड़ती है अर्थात् यमराज उसे वचन मात्र से भी दण्ड नहीं दे सकते।।40।। जो अपने परिश्रम से उपार्जित और सञ्चित किया हुआ धन धान्य सुशील ब्राह्मण को दान करता है, उसके ऊपर वसुधा देवी अत्यन्त सन्तुष्ट होती है और उसके लिए धन की धारा सी बहाती हैं।।41।। अन्न दान करने वाले पुरुष पहले स्वर्ग में प्रवेश करते हैं। उसके बाद सत्यवादी जाता है। फिर बिना माँगे ही दान करने वाला पुरुष जाता है। इस प्रकार ये तीनों पुण्यात्मा मानव समान गति को प्राप्त होते हैं।।42।।

वैशम्पायन उवाच

कौतूहलसमुत्पन्नः पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः।
मार्कण्डेयं महात्मानं पुनरेव सहानुजः॥43।।
यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च।
कीदृशं किम्प्रमाणं वा कथं वा तन्महामुने।
तरन्ति पुरुषाश्चैव केनोपायेन शंस मे॥44।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भाइयों सहित धर्मराज युधिष्ठिर के मन में बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने महात्मा मार्कण्डेयजी से पुनः इस प्रकार प्रश्न किया—।।43।। 'महामुने! इस मनुष्य लोक से यमलोक कितनी दूर है, कैसा है, कितना बड़ा है? और किस उपाय से मनुष्य वहाँ के सङ्कटों से पार हो सकते हैं? ये मुझे बतलाइये'।।44।।

मार्कण्डेय उवाच

सर्वगुह्यतमं प्रश्नं पवित्रमृषिसंस्तुतम्।
कथयिष्यामि ते राजन् धर्म्यं धर्मभृतां वर॥45।।
षडशीतिसहस्राणि योजनानां नराधिप।
यमलोकस्य चाध्वानमन्तरं मानुषस्य च॥46।।
आकाशं तदपानीयं घोरं कान्तारदर्शनम्।
न तत्र वृक्षच्छाया वा पानीयं केतनानि च॥47।।
विश्रमेद् यत्र वै श्रान्तः पुरुषोऽध्वनि कर्शितः।
नीयते यमदूतैस्तु यमस्याज्ञाकरैर्बलात्॥48।।
नराः स्त्रियस्तथैवान्ये पृथिव्यां जीवसंज्ञिताः।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पार्थिव॥49।।

हयादीनां प्रकृष्टानि तेऽध्वानं यान्ति वै नराः।
सन्निवार्यातपं यान्ति छत्रेणैव हि छत्रदाः॥50॥

मार्कण्डेयजी ने कहा—धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुमने ऐसे विषय के लिए प्रश्न किया है, जो सबसे अधिक गोपनीय, पवित्र, धर्मसम्मत तथा ऋषियों के लिए भी आदरणीय है। सुनो, मैं इस विषय का वर्णन करता हूँ॥45॥ महाराज! मनुष्य लोक और यमलोक के मार्ग में छियासी हजार योजनों का अन्तर है॥46॥ उसके मार्ग में जलरहित शून्य आकाशमात्र है। वह देखने में बड़ा भयानक और दुर्गम है। वहाँ न तो वृक्षों की छाया है, न पानी है और न कोई ऐसा स्थान ही है, जहाँ रास्ते का थका मांदा जीव क्षण भर भी विश्राम कर सके। यमराज की आज्ञा का पालन करने वाले यमदूत इस पृथ्वी पर आकर यहाँ के पुरुषों, स्त्रियों तथा अन्य जीवों को बलपूर्वक पकड़ ले जाते हैं। राजन्! जिनके द्वारा यहाँ ब्राह्मणों को नाना प्रकार के अश्व आदि वाहनों का उत्कृष्ट दान किया गया है, वे उस मार्ग पर (उन्हीं वाहनों द्वारा सुख से) यात्रा करते हैं। छत्र दान करने वाले मनुष्य वहाँ प्राप्त हुए छत्र के द्वारा ही धूप का निवारण करते हुए चलते हैं॥47-50॥

तृप्ताश्चैवान्नदातारो ह्यतृप्ताश्चाप्यनन्नदाः।
वस्त्रिणो वस्त्रदा यान्ति अवस्त्रा यान्त्यवस्त्रदाः॥51॥
हिरण्यदाः सुखं यान्ति पुरुषास्त्वभ्यलङ्कृताः।
भूमिदास्तु सुखं यान्ति सर्वैः कामैः सुतर्पिताः॥52॥
यान्ति चैवापरिक्लिष्टा नराः सस्यप्रदायकाः।
नराः सुखतरं यान्ति विमानेषु गृहप्रदाः॥53॥
पानीयदा ह्यतृषिताः प्रहृष्टमनसो नराः।
पन्थानं द्योतयन्तश्च यान्ति दीपप्रदाः सुखम्॥54॥
गोप्रदास्तु सुखं यान्ति निर्मुक्ताः सर्वपातकैः।
विमानैर्हंससंयुक्तैर्यान्ति मासोपवासिनः॥55॥
तथा बर्हिप्रयुक्तैश्च षष्ठरात्रोपवासिनः।
त्रिरात्रं क्षपते यस्तु एकभक्तेन पाण्डव॥56॥
अन्तरा चैव नाश्नाति तस्य लोका ह्यनामयाः।
पानीयस्य गुणा दिव्याः प्रेतलोकसुखावहाः॥57॥
तत्र पुष्पोदका नाम नदी तेषां विधीयते।
शीतलं सलिलं तत्र पिबन्ति ह्यमृतोपमम्॥58॥
ये च दुष्कृतकर्माणः पूयं तेषां विधीयते।
एवं नदी महाराज सर्वकामप्रदा हि सा॥59॥
तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनान् यथाविधि।
अध्वनि क्षीणगात्रश्च पथि पांसुसमन्वितः॥60॥
पृच्छते ह्यन्नदातारं गृहमायाति चाशया।
तं पूजयाथ यत्नेन सोऽतिथिर्ब्राह्मणश्च सः॥61॥

तं यान्तमनुगच्छन्ति देवाः सर्वे सवासवाः।
तस्मिन् सम्पूजिते प्रीता निराशा यान्त्यपूजिते॥62॥
तस्मात् त्वमपि राजेन्द्र पूजयैनं यथाविधि।
एतत् ते शतशः प्रोक्तं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥63॥

अन्न दान करने वाले जीव वहाँ भोजन से तृप्त होकर यात्रा करते हैं, किन्तु जिन्होंने अन्न दान नहीं किया है, वे भूख का कष्ट सहते हुए चलते हैं। वस्त्र देने वाले लोग कपड़े पहन कर जाते हैं और जिन्होंने वस्त्रदान नहीं किया है, उन्हें नंगे होकर जाना पड़ता है॥51॥ सुवर्ण का दान करने वाले मनुष्य उस मार्ग पर नाना प्रकार के आभूषणों से विभूषित होकर बड़े सुख से यात्रा करते हैं। भूमि का दान करने वाला दाता सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगों से तृप्त हो वहाँ बड़े आनन्द से जाते हैं॥52॥ खेत में लगी हुई खेती का दान करने वाले मनुष्य बिना किसी कष्ट के जाते हैं। गृहदान करने वाले मानव विमानों पर बैठकर अत्यन्त सुख-सुविधा के साथ जाते हैं॥53॥ जिन्होंने जल दान किया है, उन्हें प्यास का कष्ट नहीं भोगना पड़ता, वे लोग प्रसन्नचित्त होकर वहाँ जाते हैं। दीपदान करने वाले मनुष्य उस मार्ग को प्रकाशित करते हुए सुख से यात्रा करते हैं॥54॥ गोदान करने वाले मनुष्य सब पापों से मुक्त हो सुखपूर्वक जाते हैं। एक मास तक उपवास व्रत करने वाले लोग हंस जुते हुए विमानों द्वारा यात्रा करते हैं॥55॥ जो लोग छठी रात तक उपवास करते हैं, वे मोर जुते हुए विमानों द्वारा जाते हैं। पाण्डुनन्दन! जो लोग एक बार भोजन करके उसी पर तीन रात काट ले जाते हैं और बीच में भोजन नहीं करते, उन्हें रोग शोक से रहित पुण्यलोक प्राप्त होते हैं। जल दान करने का प्रभाव अत्यन्त अलौकिक है। वह परलोक में सुख पहुँचाने वाला है। जो जल दान करते हैं, उन पुण्यात्माओं के लिए उस मार्ग में पुष्पोदका नाम वाली नदी प्राप्त होती है। वे उसका शीतल और अमृत के समान मधुर जल पीते हैं॥56-58॥ महाराज! इस प्रकार वह नदी सम्पूर्ण कामनाओं को देने वाली है; किन्तु जो पापी जीव हैं, उनके लिए उस नदी का जल पीब बन जाता है॥59॥ अतः राजेन्द्र! तुम भी इन ब्राह्मणों का विधिपूर्वक पूजन करो। जो रास्ता चलने से थककर दुबला हो गया है, जिसका शरीर धूल से भरा है और जो अन्नदाता का पता पूछता हुआ भोजन की आशा से घर पर आ जाता है, उसका तुम यत्नपूर्वक सत्कार करो; क्योंकि वह अतिथि है, इसलिए ब्राह्मण ही है अर्थात् ब्राह्मण के तुल्य है॥60-61॥ ऐसा अतिथि जब किसी के घर पर जाता है, तब उसके पीछे इन्द्रादि सम्पूर्ण देवता भी वहाँ तक जाते हैं। यदि वहाँ उस अतिथि का आदर होता है, तो वे देवता भी प्रसन्न होते हैं और यदि आदर नहीं होता, तो वे देवगण भी निराश लौट जाते हैं॥62॥ अतः राजेन्द्र! तुम भी अतिथि का विधिपूर्वक सत्कार करते रहो। यह बात मैं तुमसे कई बार कह चुका हूँ, अब और क्या सुनना चाहते हो!॥63॥

युधिष्ठिर उवाच

पुनः पुनरहं श्रोतुं कथां धर्मसमाश्रयाम्।
पुण्यामिच्छामि धर्मज्ञ कथ्यमानां त्वया विभो॥64॥

युधिष्ठिर ने कहा—धर्मज्ञ विभो! आपके द्वारा कही हुई पुण्यमय धर्म की चर्चा में बारम्बार सुनना चाहता हूँ।।64।।

मार्कण्डेय उवाच

धर्मान्तरं प्रति कथां कथ्यमानां मया नृप।
सर्वपापहरां नित्यं शृणुष्वावहितो मम॥65।।
कपिलायां तु दत्तायां यत् फलं ज्येष्ठपुष्करे।
तत् फलं भरतश्रेष्ठ विप्राणां पादधावने॥66।।
द्विजपादोदकक्लिन्ना यावत् तिष्ठति मेदिनी।
तावत् पुष्करपर्णेन पिबन्ति पितरो जलम्॥67।।
स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतुः।
पितरः पादशौचेन अन्नाद्येन प्रजापतिः॥68।।
यावद् वत्सस्य वै पादौ शिरश्चैव प्रदृश्यते।
तस्मिन् काले प्रदातव्या प्रयत्नेनान्तरात्मना॥69।।
अन्तरिक्षगतो वत्सो यावद् योन्यां प्रदृश्यते।
तावद् गौ पृथिवी ज्ञेया यावद् गर्भं न मुञ्चति॥70।।
यावन्ति तस्या रोमाणि वत्सस्य च युधिष्ठिर।
तावद्युगसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥71।।
सुवर्णनासां यः कृत्वा सुखुरां कृष्णधेनुकाम्।
तिलैः प्रच्छादितां दद्यात् सर्वरत्नैरलङ्कृताम्॥72।।
प्रतिग्रहं गृहीत्वा यः पुनर्ददति साधवे।
फलानां फलमश्नाति तदा दत्त्वा च भारत॥73।।
ससमुद्रगुहा तेन सशैलवनकानना।
चतुरन्ता भवेद् दत्ता पृथिवी नात्र संशयः॥74।।
अन्तर्जानुशयो यस्तु भुङ्क्ते संसक्तभाजनः।
यो द्विजः शब्दरहितं स क्षमस्तारणाय वै॥75।।
अपानपा न गदितास्तथान्ये ये द्विजातयः।
जपन्ति संहितां सम्यक् ते नित्यं तारणक्षमाः॥76।।
हव्यं कव्यं च यत् किञ्चित् सर्वं तच्छ्रोत्रियोऽर्हति।
दत्तं हि श्रोत्रिये साधौ ज्वलितोऽग्नौ यथा हुतम्॥77।।
मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रयोधिनः।
निहन्युर्मन्युना विप्रा वज्रपाणिरिवासुरान्॥78।।
धर्माश्रितेयं तु कथा कथितेयं तवानघ।
यां श्रुत्वा मुनयः प्रीता नैमिषारण्यवासिनः॥79।।
वीतशोकभयक्रोधा विपाप्मानस्तथैव च।
श्रुत्वेमां तु कथां राजन्न भवन्तीह मानवाः॥80।।

मार्कण्डेयजी बोले—राजन्! अब मैं धर्म सम्बन्धी दूसरी बातें बता रहा हूँ, जो सदा सब पापों का नाश करने वाली हैं। तुम सावधान होकर सुनो।।65।। भरतश्रेष्ठ! ज्येष्ठ पुष्कर तीर्थ में कपिला गौ दान करने से जो फल मिलता है, वही ब्राह्मणों का चरण धोने से प्राप्त होता है।।66।। ब्राह्मणों के चरण पखारने के जल से जब तक पृथ्वी भीगी रहती है, तब तक पितर लोग कमल के पत्ते से पानी पीते हैं।।67।। ब्राह्मण का स्वागत करने से अग्नि, उसे आसन देने से इन्द्र, उसके पैर धोने से पितर और उसको भोजन के योग्य अन्न प्रदान करने से ब्रह्माजी तृप्त होते हैं।।68।। गर्भिणी गौ जिस समय बच्चा दे रही हो और उस बछड़े का केवल मुख तथा दो पैर ही बाहर निकले दिखायी देते हों, उसी समय पवित्र भाव से प्रयत्नपूर्वक उस गौ का दान कर देना चाहिए।।69।। जब तक बछड़ा योनि से निकलते समय आकाश में ही लटकता दिखायी दे, जब तक गाय अपने बछड़े को पूर्णत: योनि से अलग न कर दे, तब तक उस गौ को पृथ्वी रूप ही समझना चाहिए।।70।। युधिष्ठिर! उसका दान करने से उस गौ तथा बछड़े के शरीर में जितने रोएँ होते हैं, उतने हजार युगों तक दाता स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।।71।। भारत! जो सोने की नाक और सुन्दर चाँदी के खुरों से विभूषित, सब प्रकार के रत्नों से अलङ्कृत, काली गौ को तिलों से प्रच्छादित करके उसका दान करता है और जो उस दान को लेकर पुन: किसी दूसरे श्रेष्ठ पुरुष को अर्पित कर देता है, वह सर्वोत्तम फल का भागी होता है।।72-73।। उस गौ के दान से समुद्र, गुफा, पर्वत, वन और काननों सहित चारों दिशाओं की भूमि के दान का पुण्य प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है।।74।। जो द्विज अपने हाथों को घुटनों के भीतर किए मौन भाव से पात्र में एक हाथ लगाये रखकर भोजन करता है, वह अपने को और दूसरों को तारने में समर्थ होता है।।75।। जो मदिरा नहीं पीते, जिन पर किसी प्रकार का दोष नहीं लगाया गया है तथा जो अन्य द्विज विधिपूर्वक वेदों की संहिता का पाठ करते हैं, वे सदा दूसरों को तारने में समर्थ होते हैं।।76।। हव्य (यज्ञ) और कव्य (श्राद्ध) की जितनी भी वस्तुएँ हैं, श्रोत्रिय ब्राह्मण उन सबको पाने का अधिकारी है। श्रेष्ठ श्रोत्रिय को दिया हुआ दान उतना ही सफल होता है, जैसे प्रज्वलित अग्नि में दी हुई आहुति।।77।। ब्राह्मणों का क्रोध ही अस्त्र-शस्त्र है। ब्राह्मण लोहे के हथियारों से नहीं लड़ा करते हैं। जैसे हाथ में वज्र लिये हुए इन्द्र असुरों का संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण क्रोध से ही अपराधी को नष्ट कर देते हैं।।78।। निष्पाप युधिष्ठिर! यह मैंने धर्मयुक्त कथा कही है। इसे सुनकर नैमिषारण्य निवासी मुनि बड़े प्रसन्न हुए थे।।79।। राजन्! इस कथा को सुनकर मनुष्य शोक, भय, क्रोध और पाप से रहित हो फिर इस संसार में जन्म नहीं लेते हैं।।80।।

युधिष्ठिर उवाच

किं तच्छौचं भवेद् येन विप्रः शुद्धः सदा भवेत्।
तदिच्छामि महाप्राज्ञ श्रोतुं धर्मभृतां वर॥81।।

युधिष्ठिर ने पूछा—धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महाप्राज्ञ महर्षे! वह शौच क्या है? जिससे ब्राह्मण सदा शुद्ध बना रहता है। मैं उसे सुनना चाहता हूँ।।81।।

मार्कण्डेय उवाच

वाक्शौचं कर्मशौचं च यच्च शौचं जलात्मकम्।
त्रिभि: शौचैरुपेतो य: स स्वर्गी नात्र संशय:॥82॥
सायं प्रातश्च सन्ध्यां यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते।
प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम्॥83॥
स तया पावितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्बिष:।
न सीदेत् प्रतिगृह्णानो महीमपि ससागराम्॥84॥
ये चास्य दारुणा: केचिद् ग्रहा: सूर्यादयो दिवि।
ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवा: शिवतरा: सदा॥85॥
सर्वे नानुगतं चैनं दारुणा: पिशिताशना:।
घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति द्विजोत्तमम्॥86॥
नाध्यापनाद् याजनाद् वा अन्यस्माद् वा प्रतिग्रहात्।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलिताग्निसमा द्विजा:॥87॥
दुर्वेदा वा सुवेदा वा प्राकृता: संस्कृतास्तथा।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्मच्छन्ना इवाग्नय:॥88॥
यथा श्मशाने दीप्तौजा: पावको नैव दुष्यति।
एवं विद्वानविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत्॥89॥
प्राकारैश्च पुरद्वारै: प्रासादैश्च पृथग्विधै:।
नगराणि न शोभन्ते हीनानि ब्राह्मणोत्तमै:॥90॥

मार्कण्डेयजी ने कहा—राजन्! शौच तीन प्रकार का होता है—वाक्शौच (वाणी की पवित्रता), कर्मशौच (क्रिया की पवित्रता) तथा जलशौच (जल से शरीर की शुद्धि)। जो इस तीन प्रकार के शौच से सम्पन्न है, वह स्वर्गलोक का अधिकारी है, इसमें संशय नहीं है॥82॥ जो ब्राह्मण प्रात: और सांय—इन दोनों समय की संध्या और सबको पवित्र करने वाली वेदमाता गायत्री देवी के मन्त्र का जप करता है; वह ब्राह्मण उन्हीं गायत्री देवी की कृपा से परम पवित्र और निष्पाप हो जाता है। वह समुद्र पर्यन्त सारी पृथ्वी का भी दान ग्रहण कर ले, तो भी किसी सङ्कट में नहीं पड़ता॥83-84॥ इतना ही नहीं, आकाश के सूर्य आदि ग्रहों में से जो कोई भी उसके लिए भयङ्कर होते हैं, वे उपर्युक्त गायत्री जप के प्रभाव से उसके लिए सदा सौम्य, सुखद एवं परम मङ्गलकारी हो जाते हैं॥85॥ भयङ्कर रूप और विशाल शरीर वाले, समस्त क्रूरकर्मा, मांसभक्षी राक्षस भी गायत्री जपपरायण उस श्रेष्ठ द्विज पर आक्रमण नहीं कर सकते॥86॥ वे संध्योपासक ब्राह्मण प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी होते हैं। पढ़ाने, यज्ञ कराने अथवा दूसरे से दान लेने के कारण भी उन्हें दोष छू नहीं सकता (क्योंकि वे उनकी जीविका के कर्म है)॥87॥ ब्राह्मण अच्छी तरह वेद पढ़े हो या न पढ़े हों, उत्तम संस्कारों से युक्त हों या प्राकृत मनुष्यों की भाँति संस्कारशून्य हों, उनका अपमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे राख में छिपी हुई आग के समान हैं॥88॥ जैसे प्रज्वलित अग्नि श्मशान में भी दूषित

नहीं होती, उसी प्रकार ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान, उसे महान् देवता ही मानना चाहिये।।89।। चहारदीवारियों, नगरद्वारों और भिन्न-भिन्न महलों से भी नगरों की तब तक शोभा नहीं होती, जब तक वहाँ श्रेष्ठ ब्राह्मण न रहें।।90।।

वेदाढ्या वृत्तसम्पन्ना ज्ञानवन्तस्तपस्विनः।
यत्र तिष्ठन्ति वै विप्रास्तन्नाम नगरं नृप॥91।।
व्रजे वाप्यथवारण्ये यत्र सन्ति बहुश्रुताः।
तत्तन्नगरमित्याहुः पार्थ तीर्थं च तद्भवेत्॥92।।
रक्षितारं च राजानं ब्राह्मणं च तपस्विनम्।
अभिगम्याभिपूज्याथ सद्यः पापात् प्रमुच्यते॥93।।
पुण्यतीर्थाभिषेकं च पवित्राणां च कीर्तनम्।
सद्भिः सम्भाषणं चैव प्रशस्तं कीर्त्यते बुधैः॥94।।
साधुसङ्गमपूतेन वाक्सुभाषितवारिणा।
पवित्रीकृतमात्मानं सन्तो मन्यन्ति नित्यशः॥95।।
त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथ मुण्डनम्।
वल्कलाजिनसंवेष्टं व्रतचर्याभिषेचनम्॥96।।
अग्निहोत्रं वने वासः शरीरपरिशोषणम्।
सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मलः॥97।।
न दुष्करमनाशित्वं सुकरं ह्यशनं विना।
विशुद्धिं चक्षुरादीनां षण्णामिन्द्रियगामिनाम्॥98।।
विकारि तेषां राजेन्द्र सुदुष्करकरं मनः।
ये पापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः।
ते तपन्ति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम्॥99।।
न ज्ञातिभ्यो दया यस्य शुक्लदेहोऽविकल्मषः।
हिंसा सा तपसस्तस्य नानाशित्वं तपः स्मृतम्॥100।।

राजन्! वेदज्ञ, सदाचारी, ज्ञानी और तपस्वी ब्राह्मण जहाँ निवास करते हों, उसी का नाम नगर है।।91।। कुन्तीनन्दन! व्रज (गौओं के रहने का स्थान) हो या वन, जहाँ बहुश्रुत विद्वान् रहते हों, उसे 'नगर' कहा गया है, वह तीर्थ भी माना गया है।।92।। प्रजा की रक्षा करने वाले राजा और तपस्वी ब्राह्मण के पास जाकर उनकी सेवा पूजा करके मनुष्य तत्काल सब पापों से मुक्त हो जाता है।।93।। पुण्यतीर्थों में स्नान, पवित्र मन्त्रों का कीर्तन और श्रेष्ठ पुरुषों से वार्तालाप—इन सबको विद्वान् पुरुषों ने उत्तम बताया है।।94।। सत्सङ्ग से पवित्र किए हुए वाणी के सुन्दर सम्भाषण रूप जल से अभिषिक्त श्रेष्ठ पुरुष अपने को सदा पवित्र हुआ मानते हैं।।95।। त्रिदण्ड धारण करना, मौन रहना, सिर पर जटा का बोझ ढोना, मूंड मुंड़ाना, शरीर में वल्कल और मृगचर्म लपेटे रहना, व्रत का आचरण करना, नहाना, अग्निहोत्र करना, वन में रहना और शरीर को सुखा देना—ये सभी यदि भाव शुद्ध न हो तो व्यर्थ हैं।।96-97।। राजेन्द्र! चक्षु आदि इन्द्रियों

के आहार को छोड़ देना कठिन नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों के छहों विषयों का उपभोग न करने से वह अपने आप सुगमता से हो जाता है, परन्तु उनमें से मन बड़ा विकारी है, इस कारण भाव की शुद्धि के बिना उसको वश में करना अत्यन्त दुष्कर है। जो मन, वाणी, क्रिया और बुद्धि के द्वारा कभी पाप नहीं करते हैं, वे ही महात्मा तपस्वी हैं। शरीर को सुखा देना ही तपस्या नहीं है।।98-99।। जिसने व्रत, उपवास आदि के द्वारा शरीर को तो शुद्ध कर लिया और जो नाना प्रकार के पापकर्म भी नहीं करता, किन्तु जिसके मन में अपने कुटुम्बी जनों के प्रति दया नहीं आती, उसकी वह निर्दयता उसके तप का नाश करने वाली है; केवल भोजन छोड़ देने का ही नाम तपस्या नहीं है।।100।।

तिष्ठन् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलङ्कृतः।
यावज्जीवं दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते॥101।।
न हि पापानि कर्माणि शुद्ध्यन्त्यनशनादिभिः।
सीदत्यनशनादेव मांसशोणितलेपनः॥102।।
अज्ञातं कर्म कृत्वा च क्लेशो नान्यत् प्रहीयते।
नाग्निर्दहति कर्माणि भावशून्यस्य देहिनः॥103।।
पुण्यादेव प्रव्रजन्ति शुद्ध्यन्त्यनशनानि च।
न मूलफलभक्षित्वान्न मौनान्नानिलाशनात्॥104।।
शिरसो मुण्डनाद् वापि न स्थानकुटिकासनात्।
न जटाधारणाद् वापि न तु स्थण्डिलशय्यया॥105।।
नित्यं ह्यनशनाद्वापि नाग्निशुश्रूषणादपि।
न चोदकप्रवेशेन न च क्ष्माशयनादपि॥106।।
ज्ञानेन कर्मणा वापि जरामरणमेव च।
व्याधयश्च प्रहीयन्ते प्राप्यते चोत्तमं पदम्॥107।।
बीजानि ह्यग्निदग्धानि न रोहन्ति पुनर्यथा।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संयुज्यते पुनः॥108।।
आत्मना विप्रहीणानि काष्ठकुड्योपमानि च।
विनश्यन्ति न सन्देहः फेनानीव महार्णवे॥109।।
आत्मानं विन्दते येन सर्वभूतगुहाशयम्।
श्लोकेन यदि वार्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम्॥110।।

जो निरन्तर घर पर रहकर भी पवित्र भाव से रहता है, सद्गुणों से विभूषित होता है और जीवन भर सब प्राणियों पर दया रखता है, उसे मुनि ही समझना चाहिये; वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।।101।। भोजन छोड़ने आदि से पापकर्मों का शोधन हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है। हाँ, भोजन त्याग देने से यह रक्त-मांस से लिया हुआ शरीर अवश्य क्षीण हो जाता है।।102।। शास्त्रों द्वारा जिनका विधान नहीं किया गया है, ऐसे कार्य करने से केवल क्लेश ही हाथ लगता है, उनसे पाप नष्ट नहीं किए जा सकते। अग्निहोत्र आदि शुभ कर्म भावशून्य अर्थात् श्रद्धारहित मनुष्य के पापकर्मों को दग्ध नहीं

कर सकते।।103।। मनुष्य पुण्य के प्रभाव से ही उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। उपवास भी पुण्य से अर्थात् निष्काम भाव से ही शुद्धि का कारण होता है। (बिना शुद्ध भाव के) केवल फल-मूल खाने, मौन रहने, हवा पीने, सिर मुंड़ाने, एक स्थान पर कुटी बनाकर रहने, सिर पर जटा रखाने, वेदी पर सोने, नित्य उपवास, अग्निसेवन, जलप्रवेश तथा भूमिशयन करने से भी शुद्धि नहीं होती है।।104-106।। तत्त्वज्ञान या सत्कर्म से ही जरा, मृत्यु तथा रोगों का नाश होता है और उत्तम पद (मुक्ति) की प्राप्ति होती है।।107।। जैसे आग में जले हुए बीज फिर नहीं उगते हैं, उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा अविद्या आदि क्लेशों के नष्ट हो जाने पर आत्मा का पुनः उनसे संयोग नहीं होता।।108।। जीवात्मा से परित्यक्त होने पर सारे शरीर काठ और दीवार की भाँति जडवत् होकर महासागर में उठे हुए फेनों की तरह नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है।।109।। एक या आधे श्लोक भी यदि सम्पूर्ण भूतों के हृदय देश में शयन करने वाले परमात्मा का ज्ञान हो जाए, तो उसके लिए सम्पूर्ण शास्त्रों के अध्ययन का प्रयोजन समाप्त हो जाता है।।110।।

द्व्यक्षरादभिसन्धाय केचिच्छ्लोकपदाङ्कितैः।
शतैरन्यैः सहस्रैश्च प्रत्ययो मोक्षलक्षणम्॥111।।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम्॥112।।
विदितार्थस्तु वेदानां परिवेद प्रयोजनम्।
उद्विजेत् स तु वेदेभ्यो दावाग्नेरिव मानवः॥113।।
शुष्कं तर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम्।
एकाक्षराभिसम्बद्धं तत्त्वं हेतुभिरिच्छसि।
बुद्धिर्न तस्य सिद्ध्येत साधनस्य विपर्ययात्॥114।।
वेदपूर्वं वेदितव्यं प्रयत्नात् तद् वै वेदस्तस्य वेदः शरीरम्।
वेदस्तत्त्वं तत्समासोपलब्धौ क्लीबस्त्वात्मा तत् स वेद्यस्य वेद्यम्॥115।।
वेदोक्तमायुर्देवानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलत्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम्॥116।।
इन्द्रियाणां प्रसादेन तदेतत् परिवर्जयेत्।
तस्मादनशनं दिव्यं निरुद्धेन्द्रियगोचरम्॥117।।
तपसा स्वर्गगमनं भोगो दानेन जायते।
ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः॥118।।

कोई 'तत्त्वम्' अथवा राम, कृष्ण, विष्णु, शिव आदि दो अक्षरों से ही परमात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। कोई श्लोक और पदों से अंकित अन्य सैकड़ों तथा सहस्रों शास्त्र वाक्यों से परमात्मा के स्वरूप को जानते हैं। जैसे भी हो, बोध ही मोक्ष का लक्षण है।।111।। जिसके मन में संशय भरा हुआ है, उसके लिए न यह लोक है, न परलोक है और सुख ही है। 'ज्ञान ही मोक्ष का लक्षण है'—यह वृद्ध, ज्ञानी पुरुषों का

कथन है।।112।। जब मनुष्य वेदों के वास्तविक प्रयोजन को जान जाता है, तब वह वेदवेत्ता मानव (कर्म विधायक) समस्त वेदों से उसी प्रकार उपरत हो जाता है, जैसे मनुष्य दावानल से हट जाते हैं।।113।। प्रणव से सम्बन्ध रखने वाले परमात्म तत्त्व को यदि तुम युक्तिपूर्वक अर्थात् नि:सन्देह भाव से समझना चाहते हो, तो कोरा तर्कवाद छोड़कर श्रुति तथा स्मृति के वचनों का आश्रय लो; क्योंकि जो उपर्युक्त साधन का आश्रय नहीं लेता, उसकी बुद्धि तत्त्व का निश्चय करने में समर्थ नहीं हो सकती।।114।। इसलिए जानने योग्य परमात्म तत्त्व का ज्ञान वेदों के द्वारा ही यत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि वह परमात्म तत्त्व वेदस्वरूप है। वेद उसका शरीर है। उस परमात्म तत्त्व को सहज भाव से प्राप्त कराने में वेद हेतु है। यह जीवात्मा स्वयं समर्थ नहीं है; क्योंकि वह तत्त्व वेद्य का भी वेद्य है अर्थात् जानने में बड़ा ही गहन है।।115।। देवताओं की आयु और कर्मों का शुभाशुभ फल आदि बातें वेद में कही गई हैं। उसके अनुसार ही देहधारियों का प्रभाव संसार में प्रत्येक युग में फलित होता है।।116।। अत: मनुष्य को इन्द्रियों की शुद्धि के द्वारा इन विषय भोगों को त्याग देना चाहिये। यह इन्द्रियों की निर्मलता और निरोध से होने वाला अनशन (विषयों का अग्रहण) दिव्य होता है।।117।। तप से स्वर्गलोग में जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। दान से भोगों की प्राप्ति होती है। ज्ञान से मोक्ष मिलता है, यह जानना चाहिये तथा तीर्थस्नान से पापों का क्षय हो जाता है।।118।।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र प्रत्युवाच महायशाः।
भगवन्श्रोतुमिच्छामि प्रधानविधिमुत्तमम्॥119।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मार्कण्डेयजी के ऐसा कहने पर महायशस्वी युधिष्ठिर बोले—'भगवन्! अब मैं (दान की) उत्तम एवं प्रधान विधि सुनना चाहता हूँ'।।119।।

मार्कण्डेय उवाच

यत्त्वमिच्छसि राजेन्द्र दानधर्मं युधिष्ठिर।
इष्टं चेदं सदा मह्यं राजन् गौरवतस्तथा॥120।।
शृणु दानरहस्यानि श्रुतिस्मृत्युदितानि च।
छायायां करिणः श्राद्धं तत् कर्णपरिवीजिते।
दश कल्पायुतानीह न क्षीयेत युधिष्ठिर॥121।।
जीवनाय समाक्लिन्नं वसु दत्त्वा महीयते।
वैश्यं तु वासयेद् यस्तु सर्वयज्ञैः स इष्टवान्॥122।।
प्रतिस्रोतश्चित्रवाहाः पर्जन्योऽन्नानुसञ्चरन्।
महाधुरि यथा नावा महापापैः प्रमुच्यते ॥123।।
विप्लवे विप्रदत्तानि दधिमस्त्वक्षयाणि च।
पर्वसु द्विगुणं दानमृतौ दशगुणं भवेत्।।24।।

अयने विषुवे चैव षडशीतिमुखेषु च।
चन्द्रसूर्योपरागे च दत्तमक्षयमुच्यते॥125॥
ऋतुषु दशगुणं वदन्ति दत्तं शतगुणमृत्वयनादिषु ध्रुवम्।
भवति सहस्रगुणं दिनस्य राहोर्विषुवति चाक्षयमश्नुते फलम्॥126॥
नाभूमिदो भूमिमश्नाति राजन् नायानदो यानमारुह्य याति।
यान् यान्कामान् ब्राह्मणेभ्यो ददाति तांस्तान् कामान् जायमानः स भुङ्क्ते॥127॥
अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णं भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः।
लोकास्त्रयस्तेन भवन्ति दत्ता यः काञ्चनं गाश्च महीं च दद्यात्॥128॥
परं हि दानान्न बभूव शाश्वतं भव्यं त्रिलोके भवते कुतः पुनः।
तस्मात् प्रधानं परमं हि दानं वदन्ति लोकेषु विशिष्टबुद्धयः॥129॥

मार्कण्डेयजी ने कहा—महाराज युधिष्ठिर! तुम मुझसे जिस दान धर्म को सुनना चाहते हो, वह गौरवयुक्त होने के कारण मुझे सदा ही प्रिय है॥120॥ श्रुतियों और स्मृतियों में जो दान के रहस्य बताये गये हैं, उनका वर्णन सुनो—युधिष्ठिर! गुरुवार को अमावस्या के योग में पीपल के वृक्ष की छाया को गजच्छाया पर्व कहते हैं। गजच्छाया में जहाँ पीपल के पत्तों को हवा लगती हो, उस प्रदेश में जल के समीप जो श्राद्ध किया जाता है, वह एक लाख कल्पों तक नष्ट नहीं होता॥121॥ जो जीविका के लिए राँधा हुआ अन्न का दान करता है, वह स्वर्गलोग में प्रतिष्ठित होता है। जो आश्रय की खोज करने वाले राहगीर-अतिथि को ठहरने के लिए जगह दे वह सम्पूर्ण यज्ञों का अनुष्ठान पूर्ण कर लेता है॥122॥ पूर्व की ओर बहने वाली नदी का प्रवाह जहाँ पश्चिम की ओर मुड़ गया हो, वह प्रतिस्रोत तीर्थ कहलाता है, उसमें किया हुआ उत्तम अश्वों का दान अक्षय पुण्य को देने वाला होता है। अन्न के लिए विचरने वाले अतिथिरूपी इन्द्र को यदि भोजन से सन्तुष्ट किया जाए तो वह भी अक्षय पुण्य का जनक होता है। नदियों के महान् प्रवाह में ग्रहण के समय ब्राह्मणों को दिये हुए दधिमण्ड तथा पूर्वोक्त पदार्थ भी अक्षय पुण्य की प्राप्ति कराने वाले होते हैं। इसी प्रकार नदियों के महान् प्रवाह में स्नान करने वाला पुरुष बड़े-बड़े पापों से मुक्त हो जाता है। पर्व के अवसर पर दिया हुआ दान दुगुना या ऋतु आरम्भ होने के समय दिया हुआ दान दस गुना पुण्यदायक होता है। उत्तरायण या दक्षिणायन आरम्भ होने के दिन, विषुव-योग (तुला और मेष की संक्रान्ति) में, मिथुन, कन्या, धनु और मीन की संक्रान्तियों में तथा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के अवसर पर दिया हुआ दान अक्षय बताया गया है॥123-125॥ विद्वान् पुरुष ऋतु प्रारम्भ होने के दिन दिये हुए दान को दस गुना तथा अयन आदि के दिन सौ गुना बताते हैं। इसी प्रकार ग्रहण के दिन दिये हुए दान का फल सहस्रगुना होता है और विषुव योग में दान करने से मनुष्य उसके अक्षय पुण्य फल का उपभोग करता है॥126॥ राजन्! जिसने भूमिदान नहीं किया है, वह परलोक में पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। जिसने सवारी का दान नहीं किया है, वह सवारी पर चढ़कर नहीं जा सकता। इस जन्म में मनुष्य जिन जिन पदार्थों का ब्राह्मणों को दान करता है, भावी जन्म में वह उन-उन पदार्थों को उपभोग के लिए पाता है॥127॥ सुवर्ण अग्नि की प्रथम

सन्तान है। भूमि भगवान् विष्णु की पत्नी है तथा गौएँ भगवान् सूर्य की कन्याएँ हैं, अत: जो कोई सुवर्ण, गौ और पृथ्वी का दान करता है, उसके द्वारा तीनों लोकों का दान सम्पन्न हो जाता है।।।128।। त्रिलोकी में दान से बढ़कर शाश्वत पुण्यदायक कर्म दूसरा पहले कभी नहीं हुआ, अब कैसे हो सकता है? इसीलिए उत्तम बुद्धि वाले पुरुष संसार में दान को ही सर्वोत्कृष्ण पुण्य कर्म बताते हैं।।129।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमस्यापर्वणि दानमाहात्म्ये द्विशततमोऽध्याय:॥ 200 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में दान माहात्म्य विषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ।।200।।

द्वितीयोऽध्याय:

उत्तङ्क की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् का उन्हें वरदान देना तथा इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्व का धुन्धुमार नाम पड़ने का कारण बताना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राजा राजर्षेरिन्द्रद्युम्नस्य तत् तथा।
मार्कण्डेयान्महाभागात्स्वर्गस्य प्रतिपादनम्॥1।।
युधिष्ठिरो महाराज पप्रच्छ भरतर्षभ।
मार्कण्डेयं तपोवृद्धं दीर्घायुषमकल्मषम्॥2।।
विदितास्तव धर्मज्ञ देवदानवराक्षसा:।
राजवंशाश्च विविधा ऋषिवंशाश्च शाश्वता:॥3।।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिदस्मिँल्लोके द्विजोत्तम।
कथां वेत्सि मुने दिव्यां मनुष्योरगरक्षसाम्॥4।।
देवगन्धर्वयक्षाणां किन्नराप्सरसां तथा।
इदमिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन द्विजसत्तम॥5।।
कुवलाश्व इति ख्यात इक्ष्वाकुरपराजित:।
कथं नामविपर्यासाद् धुन्धुमारत्वमागत:॥6।।
एतदिच्छामि तत्त्वेन ज्ञातुं भार्गवसत्तम।
विपर्यस्तं यथा नाम कुवलाश्वस्य धीमत:॥7।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ महाराज जनमेजय! महाभाग मार्कण्डेय मुनि के मुख से राजर्षि इन्द्रद्युम्न को पुन: स्वर्ग प्राप्ति होने का वृत्तान्त (तथा दान माहात्म्य) सुनकर राजा युधिष्ठिर ने पापरहित, दीर्घायु तथा तपोवृद्ध महात्मा मार्कण्डेय से इस प्रकार पूछा—।।1-2।। 'धर्मज्ञ मुने! आप देवता, दानव तथा राक्षसों को भी अच्छी तरह जानते हैं। आपको नाना प्रकार के राजवंशों तथा ऋषियों की सनातन वंश परम्परा का भी ज्ञान है।।3।। द्विजश्रेष्ठ! इस लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो आपसे अज्ञात हो। मुने!

आप मनुष्य, नाग, राक्षस, देवता, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर तथा अप्सराओं की भी दिव्य कथाएँ जानते हैं। विप्रवर! अब मैं यथार्थ रूप से यह सुनना चाहता हूँ कि इक्ष्वाकु वंश में जो कुवलाश्व नाम से विख्यात विजयी राजा हो गये हैं, वे क्यों नाम बदलकर 'धुन्धुमार' कहलाने लगे?।।4-6।। भृगुश्रेष्ठ! बुद्धिमान् राजा कुवलाश्व के इस नाम परिवर्तन का यथार्थ कारण मैं जानना चाहता हूँ'।।7।।

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरेणैवमुक्तो मार्कण्डेयो महामुनिः।
धौन्धुमारमुपाख्यानं कथयामास भारत॥8।।

वैशम्पायनजी ने कहा—भारत! धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर महामुनि मार्कण्डेय ने धन्धुमार की कथा प्रारम्भ की।।8।।

मार्कण्डेय उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु राजन् युधिष्ठिर।
धर्मिष्ठमिदमाख्यानं धुन्धुमारस्य तच्छृणु॥9।।
यथा स राजा इक्ष्वाकुः कुवलाश्वो महीपतिः।
धुन्धुमारत्वमगमत् तच्छृणुष्व महीपते॥10।।
महर्षिर्विश्रुतस्तात उत्तङ्क इति भारत।
मरुधन्वसु रम्येषु आश्रमस्तस्य कौरव॥11।।
उत्तङ्कस्तु महाराज तपोऽतप्यत् सुदुश्चरम्।
आरिराधयिषुर्विष्णुं बहून् वर्षगणान् विभुः॥12।।
तस्य प्रीतः स भगवान् साक्षाद् दर्शनमेयिवान्।
दृष्ट्वैव चर्षिः प्रह्वस्तं तुष्टाव विविधैः स्तवैः॥13।।

मार्कण्डेयजी बोले—राजा युधिष्ठिर! सुनो। धुन्धुमार का आख्यान धर्ममय है। अब इसका वर्णन करता हूँ, ध्यान देकर सुनो।।9।। महाराज! इक्ष्वाकुवंशी राजा कुवलाश्व जिस प्रकार धुन्धुमार नाम से विख्यात हुए, वह सब श्रवण करो।।10।। भरतनन्दन! कुरुकुलरत्न! महर्षि उत्तङ्क का नाम बहुत प्रसिद्ध है। तात! मरु के रमणीय प्रदेश में उनका आश्रम है।।11।। महाराज! प्रभावशाली उत्तङ्क ने भगवान् विष्णु की आराधना की इच्छा से बहुत वर्षों तक अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी।।12।। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उनका दर्शन पाते ही महर्षि नम्रता से झुक गये और नाना प्रकार के स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति करने लगे।।13।।

उत्तङ्क उवाच

त्वया देव प्रजाः सर्वाः ससुरासुरमानवाः।
स्थावराणि च भूतानि जङ्गमानि तथैव च॥14।।
ब्रह्म वेदाश्च वेद्यं च त्वया सृष्टं महाद्युते।
शिरस्ते गगनं देव नेत्रे शशिदिवाकरौ॥15।।

निःश्वासः पवनश्चापि तेजोऽग्निश्च तवाच्युत।
बाहवस्ते दिशः सर्वाः कुक्षिश्चापि महार्णवः॥16॥
ऊरू ते पर्वता देव खं नाभिर्मधुसूदन।
पादौ ते पृथिवी देवी रोमाण्योषधयस्तथा॥17॥
इन्द्रसोमाग्निवरुणा देवासुरमहोरगाः।
प्रह्वास्त्वामुपतिष्ठन्ति स्तुवन्तो विविधैः स्तवैः॥18॥
त्वया व्याप्तानि सर्वाणि भूतानि भुवनेश्वर।
योगिनः सुमहावीर्याः स्तुवन्ति त्वां महर्षयः॥19॥
त्वयि तुष्टे जगत् स्वास्थ्यं त्वयि क्रुद्धे महद् भयम्।
भयानामपनेतासि त्वमेकः पुरुषोत्तम॥20॥
देवानां मानुषाणां च सर्वभूतसुखावहः।
त्रिभिर्विक्रमणैर्देव त्रयो लोकास्त्वया हृताः॥21॥
असुराणां समृद्धानां विनाशश्च त्वया कृतः।
तव विक्रमणैर्देवा निर्वाणमगमन् परम्॥22॥
पराभूताश्च दैत्येन्द्रास्त्वयि क्रुद्धे महाद्युते।
त्वं हि कर्ता विकर्ता च भूतानामिह सर्वशः॥23॥
आराधयित्वा त्वां देवाः सुखमेधन्ति सर्वशः।
एवं स्तुतो हृषीकेश उत्तङ्केन महात्मना॥24॥
उत्तङ्कमब्रवीद् विष्णुः प्रीतस्तेऽहं वरं वृणु।

उत्तङ्क बोले—देव! देवता, असुर, मनुष्य आदि सारी प्रजा आपसे ही उत्पन्न हुई है। समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियों की सृष्टि भी आपने ही की है॥14॥ महातेजस्वी परमेश्वर! ब्रह्मा, वेद और जानने योग्य सभी वस्तुएँ आपने ही उत्पन्न की हैं। देव! आकाश आपका मस्तक है। चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं। वायु श्वास है तथा अग्नि आपका तेज है। अच्युत! सम्पूर्ण दिशाएँ आपकी भुजाएँ और महासागर आपका कुक्षिस्थान है। देव! मधुसूदन! पर्वत आपके ऊरु और अन्तरिक्ष लोक आपकी नाभि है। पृथ्वीदेवी आपके चरण तथा ओषधियाँ रोएँ हैं॥15-17॥ भगवन्! इन्द्र, सोम, अग्नि, वरुण देवता, असुर और बड़े-बड़े नाग—ये सब आपके सामने नतमस्तक हो, नाना प्रकार के स्तोत्र पढ़कर आपकी स्तुति करते हुए आपको हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं॥18॥ भुवनेश्वर! आपने सम्पूर्ण भूतों को व्याप्त कर रखा है। महान् शक्तिशाली योगी और महर्षि आपका स्तवन करते हैं॥19॥ पुरुषोत्म! आपके सन्तुष्ट होने पर संसार स्वस्थ एवं सुखी होता है और आपके कुपित होने पर इसे महान् भय का सामना करना पड़ता है। एकमात्र आप ही सम्पूर्ण भय का निवारण करने वाले हैं॥20॥ देव! आप देवताओं, मनुष्यों तथा सम्पूर्ण भूतों को सुख पहुँचाने वाले हैं। आपने तीन पगों द्वारा ही (बलि के हाथ से) तीनों लोक (दान द्वारा) हरण कर लिए थे॥21॥ आपने समृद्धिशाली असुरों का संहार किया है। आपके ही पराक्रम से देवता परम सुख शान्ति के भागी हुए हैं॥22॥ महाद्युते! आपके रुष्ट हाने से ही दैत्यराज देवताओं के सामने पराजित हो जाते

हैं। आप इस जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों की सृष्टि तथा संहार करने वाले हैं। प्रभो! आपकी आराधना करके ही सम्पूर्ण देवता सुख एवं समृद्धि लाभ करते हैं।।23।। महात्मा उत्तङ्क के इस प्रकार स्तुति करने पर सम्पूर्ण इन्द्रियों के प्रेरक भगवान् विष्णु ने उनसे कहा—'महर्षे! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर माँगो'।।24।।

उत्तङ्क उवाच

पर्याप्तो मे वरो ह्येष यदहं दृष्टवान् हरिम्।।25।।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं स्रष्टारं जगतः प्रभुम्।

उत्तङ्क ने कहा—भगवन्! समस्त संसार की सृष्टि करने वाले दिव्य सनातन पुरुष आप सर्वशक्तिमान् श्रीहरि का जो मुझे दर्शन मिला, यही मेरे लिए सबसे महान् वर है।।25।।

विष्णुरुवाच

प्रीतस्तेऽहमलौल्येन भक्त्या तव च सत्तम।।26।।
अवश्यं हि त्वया ब्रह्मन् मत्तो ग्राह्यो वरो द्विज।

मार्कण्डेय उवाच

एवं स छन्द्यमानस्तु वरेण हरिणा तदा।।27।।
उत्तङ्कः प्राञ्जलिर्वव्रे वरं भरतसत्तम।
यदि मे भगवन् प्रीतः पुण्डरीकनिभेक्षण।।28।।
धर्मे सत्ये दमे चैव बुद्धिर्भवतु मे सदा।
अभ्यासश्च भवेद् भक्त्या त्वयि नित्यं ममेश्वर॥29।।

भगवान् विष्णु बोले—सज्जन शिरोमणे! मैं तुम्हारी लोभ शून्यता एवं उत्तम भक्ति से तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। ब्रह्मन्! तुम्हें मुझसे कोई वर अवश्य लेना चाहिए।।26।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार भगवान् विष्णु के द्वारा वर लेने के लिए आग्रह होने पर उत्तङ्क ने हाथ जोड़कर इस प्रकार वर माँगा। 'भगवन्! कमलनयन! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरी बुद्धि सदा धर्म, सत्य और इन्द्रिय निग्रह में लगी रहे। मेरे स्वामी! आपके भजन का मेरा अभ्यास सदा बना रहे'।।27-29।।

श्रीभगवानुवाच

सर्वमेतद्धि भविता मत्प्रसादात् तव द्विज।
प्रतिभास्यति योगश्च येन युक्तो दिवौकसाम्॥30।।
त्रयाणामपि लोकानां महत् कार्यं करिष्यसि।
उत्सादनार्थं लोकानां धुन्धुर्नाम महासुरः॥31।।
तपस्यति तपो घोरं शृणु यस्तं हनिष्यति।
राजा हि वीर्यवांस्तात इक्ष्वाकुरपराजितः॥32।।
बृहदश्व इति ख्यातो भविष्यति महीपतिः।
तस्य पुत्रः शुचिर्दान्तः कुवलाश्व इति श्रुतः॥33।।
स योगबलमास्थाय मामकं पार्थिवोत्तमः।

शासनात् तव विप्रर्षे धुन्धुमारो भविष्यति।
एवमुक्त्वा तु तं विप्रं विष्णुरन्तरधीयत॥34॥

श्रीभगवान् बोले—ब्रह्मन्! मेरी कृपा से यह सब कुछ तुम्हें प्राप्त हो जाएगा। इसके सिवा तुम्हारे हृदय में उस योगविद्या का प्रकाश होगा, जिससे युक्त होकर तुम देवताओं तथा तीनों लोकों का महान् कार्य सिद्ध कर सकोगे। विप्रवर! धुन्धु नाम से प्रसिद्ध एक महान् असुर है, जो तीनों लोकों का संहार करने के लिए घोर तपस्या कर रहा है। जो वीर उस महान् असुर का वध करेगा, उसका परिचय देता हूँ, सुनो। तात! इक्ष्वाकु कुल में बृहदश्व नाम से प्रसिद्ध एक महापराक्रमी और किसी से पराजित न होने वाले राजा उत्पन्न होंगे। उनका पवित्र और जितेन्द्रिय पुत्र कुवलाश्व के नाम से विख्यात होगा॥30-33॥ ब्रह्मर्षे! तुम्हारे आदेश से वे नृपश्रेष्ठ कुवलाश्व ही मेरे योगबल का आश्रय लेकर धुन्धु राक्षस का वध करेंगे और लोक में धुन्धुमार के नाम से विख्यात होंगे। उत्तङ्क से ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये॥34॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमस्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने एकाधिकद्विशततमोऽध्याय:॥ 201 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में धुन्धुमारोपाख्यान विषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ॥201॥

तृतीयोऽध्याय:

उत्तङ्क का राजा बृहदश्व से धुन्धु का वध करने के लिए आग्रह

मार्कण्डेय उवाच

इक्ष्वाकौ संस्थिते राजन् शशाद: पृथिवीमिमाम्।
प्राप्त: परमधर्मात्मा सोऽयोध्यायां नृपोऽभवत्॥1॥
शशादस्य तु दायाद: ककुत्स्थो नाम वीर्यवान्।
अनेनाश्चापि काकुत्स्थ: पृथुश्च चानेनस: सुत:॥2॥
विष्वगश्व: पृथो: पुत्रस्तस्मादद्रिश्च जज्ञिवान्।
अद्रेश्च युवनाश्वस्तु श्रावस्यतस्यात्मजोऽभवत्॥3॥
तस्य श्रावस्तको ज्ञेय: श्रावस्ती येन निर्मिता।
श्रावस्तकस्य दायादो बृहदश्वो महाबल:॥4॥
बृहदश्वस्य दायाद: कुवलाश्व इति स्मृत:।
कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येकविंशति:॥5॥
सर्वे विद्यासु निष्णाता बलवन्तो दुरासदा:।
कुवलाश्वश्च पितृतो गुणैरभ्यधिकोऽभवत्॥6॥
समये तं पिता राज्ये बृहदश्वोऽभ्यषेचयत्।
कुवलाश्वं महाराज शूरमुत्तमधार्मिकम्॥7॥

पुत्रसंक्रामितश्रीस्तु बृहदश्वो महीपतिः।
जगाम तपसे धीमांस्तपोवनममित्रहा॥8।।
अथ शुश्राव राजर्षिं तमुत्तङ्को नराधिप।
वनं सम्प्रस्थितं राजन् वृहदश्वं द्विजोत्तमः॥9।।
तमुत्तङ्को महातेजाः सर्वास्त्रविदुषां वरम्।
न्यवारयदमेयात्मा समासाद्य नरोत्तमम्॥10।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! महाराज इक्ष्वाकु के देहावसान के पश्चात् उनके परम धर्मात्मा पुत्र शशाद इस पृथ्वी पर राज्य करने लगे। वे अयोध्या में रहते थे।।1।। शशाद के पुत्र पराक्रमी ककुत्स्थ हुए। ककुत्स्थ के पुत्र अनेना और अनेना के पृथु हुए।।2।। पृथु के विष्वगश्व और उनके पुत्र अद्रि हुए। अद्रि के पुत्र का नाम युवनाश्व था। युवनाश्व का पुत्र श्राव नाम से विख्यात हुआ।।3।। श्राव का पुत्र श्रावस्त हुआ, जिसने श्रावस्तीपुरी बसायी थी। श्रावस्त के ही पुत्र महाबली बृहदश्व थे।।4।। बृहदश्व के ही पुत्र का नाम कुवलाश्व था। कुवलाश्व के इक्कीस हजार पुत्र हुए।।5।। वे सब-के-सब सम्पूर्ण विद्याओं में पारङ्गत, बलवान् और दुर्धर्ष वीर थे। कुवलाश्व उत्तम गुणों में अपने पिता से बढ़कर निकले।।6।। महाराज! राजा बृहदश्व ने यथासमय अपने उत्तम धर्मात्मा शूरवीर पुत्र कुवलाश्व को राज्य पर अभिषिक्त कर दिया।।7।। शत्रुओं का संहार करने वाले बुद्धिमान् राजा बृहदश्व राजलक्ष्मी का भार पुत्र पर छोड़कर स्वयं तपस्या के लिए तपोवन में चले गये।।8।। राजन्! तदनन्तर द्विजश्रेष्ठ उत्तङ्क ने यह सुना कि राजर्षि बृहदश्व वन को चले जा रहे हैं।।9।। वे नरश्रेष्ठ नरेश सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों के विद्वानों में सर्वोत्तम थे। विशाल हृदय वाले महातेजस्वी उत्तङ्क ने उनके पास जाकर उन्हें वन में जाने से रोका और इस प्रकार कहा।।10।।

उत्तङ्क उवाच

भवता रक्षणं कार्यं तत् तावत्कर्तुमर्हसि।
निरुद्विग्ना वयं राजंस्त्वत्प्रसादाद् भवेमहि॥11।।
त्वया हि पृथिवी राजन् रक्ष्यमाणा महात्मना।
भविष्यति निरुद्विग्ना नारण्यं गन्तुमर्हसि॥12।।
पालने हि महान् धर्मः प्रजानामिह दृश्यते।
न तथा दृश्यतेऽरण्ये माभूत् ते बुद्धिरीदृशी॥13।।
ईदृशो न हि राजेन्द्र धर्मः क्वचन दृश्यते।
प्रजानां पालने यो वै पुरा राजर्षिभिः कृतः॥14।।
रक्षितव्याः प्रजा राज्ञा तास्त्वं रक्षितुमर्हसि।
निरुद्विग्नस्तपश्चर्तुं न हि शक्नोमि पार्थिव॥15।।
ममाश्रमसमीपे वै समेषु मरुधन्वसु।
समुद्रो बालुकापूर्ण उज्जालक इति स्मृतः॥16।।
बहुयोजनविस्तीर्णो बहुयोजनमायतः।

तत्र रौद्रो दानवेन्द्रो महावीर्यपराक्रमः॥17॥
मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुः नाम सुदारुणः।
अन्तर्भूमिगतो राजन् वसत्यमितविक्रमः॥18॥
तं निहत्य महाराज वनं त्वं गन्तुमर्हसि।
शेते लोकविनाशाय तप आस्थाय दारुणम्॥19॥
त्रिदशानां विनाशाय लोकानां चापि पार्थिव।
अवध्यो दैवतानां हि दैत्यानामथ रक्षसाम्॥20॥
नागानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सर्वशः।
अवाप्य स वरं राजन् सर्वलोकपितामहात्॥21॥

उत्तङ्क बोले—महाराज! प्रजा की रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है। अतः पहले वही आपको करना चाहिये, जिससे आपके कृपा प्रसाद से हम लोग निर्भय हो जाएँ।।11।। राजन्! आप जैसे महात्मा राजा से सुरक्षित होकर ही यह पृथ्वी सर्वथा भय शून्य हो जाएगी। अतः आप वन में न जाइये।।12।। क्योंकि आपके लिए यहाँ रहकर प्रजाओं का पालन करने में जो महान् धर्म देखा जाता है, वैसा वन में रहकर तपस्या करने में नहीं दिखायी देता। अतः आपकी ऐसी समझ नहीं होनी चाहिए।।13।। राजेन्द्र! पूर्वकाल के राजर्षियों ने जिस धर्म का पालन किया है, वह प्रजाजनों के पालन में ही सुलभ है ऐसा धर्म और किसी कार्य में नहीं दिखायी देता।।14।। राजा के लिए प्रजाजनों का पालन करना ही धर्म है। अतः आपको प्रजावर्ग की रक्षा ही करनी चाहिए। भूपाल! मैं शान्तिपूर्वक तपस्या नहीं कर पा रहा हूँ।।15।। मेरे आश्रम के समीप समस्त मरुप्रदेश में एक बालू से पूर्ण अर्थात् बालुकामय समुद्र है, उसका नाम है उज्जालक।।16।। उसकी लम्बाई चौड़ाई कई योजन की है। वहाँ महान् बल और पराक्रम से सम्पन्न एक भयङ्कर दानवराज रहता है, जो मधु और कैटभ का पुत्र है। वह क्रूर स्वभाव वाला राक्षस धुन्धु नाम से प्रसिद्ध है। राजन्! वह अमित पराक्रमी दानव धरती के भीतर छिपकर रहा करता है।।17-18।। महाराज! उसका नाश करके ही आपको वन में जाना चाहिये। भूपाल! वह सम्पूर्ण लोकों और देवताओं के विनाश के लिए कठोर तपस्या का आश्रय लेकर (पृथ्वी में) शयन करता है। राजन्! वह सम्पूर्ण लोकों के पितामह ब्रह्माजी से वर पाकर देवताओं, दैत्यों, राक्षसों, नागों, यक्षों और समस्त गन्धर्वों के लिए अवध्य हो गया।।19-21।।

तं विनाशय भद्रं ते मा ते बुद्धिरतोऽन्यथा।
प्राप्स्यसे महतीं कीर्तिं शाश्वतीमव्ययां ध्रुवाम्॥22॥
क्रूरस्य तस्य स्वपतो बालुकान्तर्हितस्य च।
संवत्सरस्य पर्यन्ते निःश्वासः सम्प्रवर्तते॥23॥
यदा तदा भूश्चलति सशैलवनकानना।
तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत्॥24॥
आदित्यपथमाश्रित्य सप्ताहं भूमिकम्पनम्।
सविस्फुलिङ्गं सज्वालं धूममिश्रं सुदारुणम्॥25॥

तेन राजन् न शक्नोमि तस्मिन् स्थातुं स्व आश्रमे।
तं विनाशय राजेन्द्र लोकानां हितकाम्यया॥26।।
लोकाः स्वस्था भविष्यन्ति तस्मिन् विनिहतेऽसुरे।
त्वं हि तस्य विनाशाय पर्याप्त इति मे मतिः॥27।।
तेजसा तव तेजश्च विष्णुराप्यायविष्यति।
विष्णुना च वरो दत्तः पूर्वं मम महीपते॥28।।
यस्तं महासुरं रौद्रं वधिष्यति महीपतिः।
तेजस्तं वैष्णवमिति प्रवेक्ष्यति दुरासदम्॥29।।
तत् तेजस्त्वं समाधाय राजेन्द्र भुवि दुःसहम्।
तं निषूदय राजेन्द्र दैत्यं रौद्रपराक्रमम्॥30।।
न हि धुन्धुर्महातेजास्तेजसाल्पेन शक्यते।
निर्दग्धुं पृथिवीपाल स हि वर्षशतैरपि॥31।।

महाराज! आपका कल्याण हो। आप उस दैत्य का विनाश कीजिये। इसके विपरीत आपको कोई विचार नहीं करना चाहिये। उसका वध करके आप सदा बनी रहने वाली अक्षय एवं महान् कीर्ति प्राप्त करेंगे।।22।। बालू के भीतर छिपकर रहने वाला वह क्रूर राक्षस एक वर्ष में एक ही बार साँस लेता है।।23।। जिस समय वह साँस लेता है, उस समय पर्वत, वन और काननों सहित यह सारी पृथ्वी डोलने लगती है। उसके साँस की आँधी से धूल का इतना ऊँचा बवण्डर उठता है कि वह सूर्य के मार्ग को भी ढक लेता है और सात दिनों तक वहाँ भूकम्प होता रहता है। आग की चिनगारियाँ, ज्वालाएँ और धुआँ उठकर अत्यन्त भयङ्कर दृश्य उपस्थित करते हैं।।24-25।। राजन्! इस कारण मेरा अपने आश्रम में रहना कठिन हो गया है। महाराज! सब लोगों के हित के लिए आप उस राक्षस को नष्ट कीजिये।।26।। उस असुर के मारे जाने पर सब लोग स्वस्थ एवं सुखी हो जाएँगे। मेरा विश्वास है कि आप अकेले ही उसका नाश करने के लिए पर्याप्त हैं।।27।। भूपाल! भगवान् विष्णु अपने तेज से आपके तेज को बढ़ायेंगे। उन्होंने पूर्व काल में मुझे यह वर दिया था कि जो राजा उस भयानक एवं महान् असुर का वध करने को उद्यत होगा, उस दुर्धर्ष वीर के भीतर मेरा वैष्णव तेज प्रवेश करेगा।।28-29।। महाराज! अतः आप भगवान् का दुःसह तेज धारण करके पृथ्वी पर रहने वाले उस भयानक पराक्रमी दैत्य को नष्ट कीजिये।।30।। राजन्! धुन्धु महातेजस्वी असुर है। साधारण तेज से सौ वर्षों में भी कोई उसे नष्ट नहीं कर सकता।।31।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमस्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 202 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में धुन्धुमारोपाख्यान विषयक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ।।202।।

चतुर्थोऽध्याय:

ब्रह्माजी की उत्पत्ति और भगवान् विष्णु के द्वारा मधु-कैटभ का वध

मार्कण्डेय उवाय

स एवमुक्तो राजर्षिरुत्तङ्केनापराजितः।
उत्तङ्कं कौरवश्रेष्ठ कृताञ्जलिरथाब्रवीत्॥1।।
न तेऽभिगमनं ब्रह्मन् मोघमेतद् भविष्यति।
पुत्रो ममायं भगवन्कुवलाश्व इति स्मृतः॥2।।
धृतिमान् क्षिप्रकारी च वीर्येणाप्रतिमो भुवि।
प्रियं च ते सर्वमेतत् करिष्यति न संशयः॥3।।
पुत्रैः परिवृतः सर्वैः शूरैः परिघबाहुभिः।
विसर्जयस्व मां ब्रह्मन्न्यस्तशस्त्रोऽस्मि साम्प्रतम्॥4।।
तथास्त्विति च तेनोक्तो मुनिनामिततेजसा।
स तमादिश्य तनयमुत्तङ्काय महात्मने।।5।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—कौरवश्रेष्ठ उत्तङ्क के इस प्रकार आग्रह करने पर अपराजित वीर राजर्षि बृहदश्व ने उनसे हाथ जोड़कर कहा—।।1।। 'ब्रह्मन्! आपका यह आगमन निष्फल नहीं होगा। भगवन्! मेरा यह पुत्र कुवलाश्व भूमण्डल में अनुपम वीर है। यह धैर्यवान और फुर्तीला है।।2।। परिघ जैसी मोटी भुजाओं वाले समस्त शूरवीर पुत्रों के साथ जाकर यह आपका सारा अभीष्ट कार्य सिद्ध करेगा, इसमें संशय नहीं है। ब्रह्मन्! आप मुझे छोड़ दीजिये। मैंने अब अस्त्र-शस्त्रों को त्याग दिया है'।।3-4।। तब अमित तेजस्वी उत्तङ्क मुनि ने 'तथास्तु' कहकर राजा को वन में जाने की आज्ञा दे दी। तत्पश्चात् राजर्षि बृहदश्व ने महात्मा उत्तङ्क को अपना वह पुत्र सौंप दिया और धुन्धु का वध करने की आज्ञा दे उत्तम तपोवन की ओर प्रस्थान किया।।5½।।

युधिष्ठिर उवाच

क एष भगवन्दैत्यो महावीर्यस्तपोधन।।6।।
कस्य पुत्रोऽथ नप्ता वा एतदिच्छामि वेदितुम्।
एवं महाबलो दैत्यो न श्रुतो मे तपोधन।।7।।
एतदिच्छामि भगवन् याथातथ्येन वेदितुम्।
सर्वमेव महाप्राज्ञ विस्तरेण तपोधन॥8।।

युधिष्ठिर ने पूछा—तपोधन! भगवन्! यह पराक्रमी दैत्य कौन था? किसका पुत्र और नाती था? मैं यह सब जानना चाहता हूँ। तपस्या के धनी मुनीश्वर! ऐसा महाबली दैत्य तो मैंने कभी नहीं सुना था, अत: भगवन्! मैं इसके विषय में यथार्थ बातें जानना चाहता हूँ। महामते! आप यह सारी कथा विस्तारपूर्वक बताइये।।6-8।।

मार्कण्डेय उवाच

शृणु राजन्निदं सर्वं यथावृत्तं नराधिप।
कथ्यमानं महाप्राज्ञ विस्तरेण यथातथम्॥9।।
एकार्णवे तदा लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे।
प्रणष्टेषु च भूतेषु सर्वेषु भरतर्षभ॥10।।
प्रभवं लोककर्तारं विष्णुं शाश्वतमव्ययम्।
यमाहुर्मुनयः सिद्धाः सर्वलोकमहेश्वरम्।
चतुर्भुजमुदाराङ्गं दृष्ट्वानस्मि भारत॥11।।
सुष्वाप भगवान् विष्णुरप्सु योगत एव सः।
नागस्य भोगे महति शेषस्यामिततेजसः॥12।।
लोककर्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः।
नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम्॥13।।
स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम्।
नाभ्यां विनिःसृतं दिव्यं तत्रोत्पन्नः पितामहः॥14।।
साक्षाल्लोकगुरुर्ब्रह्मा पद्मे सूर्यसमप्रभः।
चतुर्वेदश्चतुर्मूर्तिस्तथैव च चतुर्मुखः॥15।।
स्वप्रभावाद् दुराधर्षो महाबलपराक्रमः।
कस्यचित् त्वथ कालस्य दानवौ वीर्यवत्तमौ॥16।।
मधुश्च कैटभश्चैव दृष्टवन्तौ हरिं प्रभुम्।
शयानं शयने दिव्ये नागभोगे महाद्युतिम्॥17।।
बहुयोजनविस्तीर्णे बहुयोजनमायते।
किरीटकौस्तुभधरं पीतकौशेयवाससम्॥18।।
दीप्यमानं श्रिया राजंस्तेजसा वपुषा तथा।
सहस्रसूर्यप्रतिममद्भुतोपमदर्शनम्॥19।।
विस्मयः सुमहानासीन्मधुकैटभयोस्तथा।
दृष्ट्वा पितामहं चापि पद्मे पद्मनिभेक्षणम्॥20।।
वित्रासयेतामथ तौ ब्रह्माणममितौजसम्।
वित्रस्यमानो बहुशो ब्रह्मा ताभ्यां महायशाः॥21।।
अकम्पयत् पद्मनालं ततोऽबुध्यत केशवः।
अथापश्यत गोविन्दो दानवौ वीर्यवत्तरौ॥22।।
दृष्ट्वा तावब्रवीद् देवः स्वागतं वां महाबलौ।
ददामि वां वरं श्रेष्ठं प्रीतिर्हि मम जायते॥23।।
तौ प्रहस्य हृषीकेशं महादर्पौ महाबलौ।
प्रत्यब्रूतां महाराज सहितौ मधुसूदनम्॥24।।
आवां वरय देव त्वं वरदौ स्वः सुरोत्तम।
दातारौ स्वो वरं तुभ्यं तद् ब्रवीह्यविचारयन्॥25।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तुम बड़े बुद्धिमान् हो। यह सारा वृत्तान्त मैं यथार्थ रूप से विस्तारपूर्वक कह रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो।।9।। भरतश्रेष्ठ! बात उस समय की है, जब सम्पूर्ण चराचर जगत् एकार्णव के जल में डूबकर नष्ट हो चुका था। समस्त प्राणी काल के गाल में चले गये थे।।10।। उस समय वे भगवान् विष्णु एकार्णव के जल में अमित तेजस्वी शेषनाग के विशाल शरीर की शय्या पर योगनिद्रा का आश्रय लेकर शयन करते थे। उन्हीं भगवान् को सिद्ध, मुनिगण सबकी उत्पत्ति का कारण, लोकस्रष्टा, सर्वव्यापी, सनातन, अविनाशी तथा सर्वलोकमहेश्वर कहते हैं।।11-12।। महाभाग! अपनी महिमा से कभी च्युत न होने वाले लोककर्त्ता भगवान् श्रीहरि नाग के विशाल फण के द्वारा धारण की हुई इस पृथ्वी का सहारा लेकर (शेषनाग पर) सो रहे थे, उस समय उन दिव्य स्वरूप नारायण की नाभि से एक दिव्य कमल प्रकट हुआ, जो सूर्य के समान प्रकाशित हो रहा था। उसी में सम्पूर्ण लोकों के गुरु साक्षात् पितामह ब्रह्माजी प्रकट हुए, जो सूर्य के समान तेजस्वी थे। वे चारों वेदों के विद्वान् हैं। जरायुज आदि चतुर्विध जीव उन्हीं के स्वरूप हैं। उनके चार मुख हैं। उनके बल और पराक्रम महान् हैं। वे अपने प्रभाव से दुर्धर्ष हैं। ब्रह्माजी के प्रकट होने के कुछ काल बाद मधु और कैटभ नामक दो पराक्रमी दानवों ने सर्वसामर्थ्यवान् भगवान् श्रीहरि को देखा। वे शेषनाग के शरीर की दिव्य शय्या पर शयन किए हुए थे। उनका तेज महान् है। वे जिस शय्या पर शयन करते हैं, उसकी लम्बाई चौड़ाई कई योजनों की है। भगवान् के मस्तक पर किरीट और कण्ठ में कौस्तुभ मणि की शोभा हो रही थी। उन्होंने रेशमी पीताम्बर धारण कर रखा था।।13-18।। राजन्! वे अपनी कान्ति और तेज से उद्दीप्त हो रहे थे। शरीर से वे सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाशित होते थे। उनकी झाँकी अद्भुत और अनुपम थी।।19।। भगवान् को देखकर मधु और कैटभ दोनों को बड़ा आश्चर्य हुआ। तत्पश्चात् उनकी दृष्टि कमल में बैठे हुए कमलनयन पितामह ब्रह्माजी पर पड़ी। उन्हें देखकर वे दोनों दैत्य उन अमित तेजस्वी ब्रह्माजी को डराने लगे। उन दोनों के द्वारा बार-बार डराये जाने पर महायशस्वी ब्रह्माजी ने उन कमल की नाल को हिलाया। इससे भगवान् गोविन्द जाग उठे। जागने पर उन्होंने उन दोनों महापराक्रमी दानवों को देखा।।20-22।। उन महाबली दानवों को देखकर भगवान् विष्णु ने कहा—'तुम दोनों बड़े बलवान् हो। तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम दोनों को उत्तम वर दे रहा हूँ; क्योंकि तुम्हें देखकर मुझे प्रसन्नता होती है'।।23।। महाराज! वे दोनों महाबली दानव बड़े अभिमानी थे। उन्होंने हँसकर इन्द्रियों के स्वामी भगवान् मधुसूदन से एक साथ कहा—।।24।। 'सुरश्रेष्ठ! हम दोनों तुम्हें वर देते हैं। देव! तुम्हीं हम लोगों से वर माँगो। हम दोनों तुम्हें तुम्हारी इच्छा के अनुसार वर देंगे। तुम बिना सोचे विचारे जो चाहो, माँग लो'।।25।।

श्रीभगवानुवाच

प्रतिगृह्णे वरं वीरावीप्सितश्च वरो मम।
युवां हि वीर्यसम्पन्नौ न वामस्ति समः पुमान्॥26।।
वध्यत्वमुपगच्छेतां मम सत्यपराक्रमौ।
एतदिच्छाम्यहं कामं प्राप्तुं लोकहिताय वै॥27।।

श्रीभगवान् बोले—वीरो! मैं तुमसे अवश्य वर लूँगा। मुझे तुमसे वर प्राप्त करना अभीष्ट है; क्योंकि तुम दोनों बड़े पराक्रमी हो। तुम्हारे जैसा दूसरा कोई पुरुष नहीं है।।26।। सत्यपराक्रमी वीरो! तुम दोनों मेरे हाथ से मारे जाओ। मैं सम्पूर्ण जगत् के हित के लिए तुमसे यही मनोरथ प्राप्त करना चाहता हूँ।।27।।

मधुकैटभावूचतुः

अनृतं नोक्तपूर्वं नौ स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा।
सत्ये धर्मे च निरतौ विद्ध्यावां पुरुषोत्तम॥28।।
बले रूपे च शौर्ये च न शमे च समोऽस्ति नौ।
धर्मे तपसि दाने च शीलसत्त्वदमेषु च॥29।।
उपप्लवो महानस्मानुपावर्तत केशव।
उक्तं प्रतिकुरुष्व त्वं कालो हि दुरतिक्रमः॥30।।
आवामिच्छावहे देव कृतमेकं त्वया विभो।
अनावृतेऽस्मिन्नाकाशे वधं सुरवरोत्तम॥31।।
पुत्रत्वमधिगच्छाव तव चापि सुलोचन।
वर एष वृतो देव तद् विद्धि सुरसत्तम॥32।।
अनृतं मा भवेद् देव यद्धि नौ संश्रुतं तदा।

श्रीभगवानुवाच

बाढमेवं करिष्यामि सर्वमेतद्भविष्यति॥33।।
स विचिन्त्याथ गोविन्दो नापश्यद् यदनावृतम्।
अवकाशं पृथिव्यां वा दिवि वा मधुसूदनः॥34।।
स्वकावनावृतावूरू दृष्ट्वा देववरस्तदा।
मधुकैटभयो राजन् शिरसी मधुसूदनः।
चक्रेण शितधारेण न्यकृन्तत महायशाः॥35।।

मधु और कैटभ ने कहा—पुरुषोत्तम! हम लोगों ने पहले कभी स्वच्छन्द (मर्यादा रहित) बर्ताव में भी झूठ नहीं कहा है, फिर और समय में तो हम झूठ बोल ही कैसे सकते हैं? आप हम दोनों को सत्य और धर्म में अनुरक्त मानिये।।28।। बल, रूप, शौर्य और मनोनिग्रह में हमारी समता करने वाला कोई नहीं है। धर्म, तपस्या, दान, शील, सत्त्व तथा इन्द्रिय संयम में भी हमारी कहीं तुलना नहीं है।।29।। किन्तु केशव! हम लोगों पर यह महान् सङ्कट आ पहुँचा है। अब आप भी अपनी कही हुई बात पूर्ण कीजिये। काल का उल्लङ्घन करना बहुत ही कठिन है।।30।। देव! सुरश्रेष्ठ! विभो! हम दोनों आपके द्वारा एक ही सुविधा चाहते हैं। वह यह है कि आप इस खुले आकाश में ही हमारा वध कीजिये।।31।। सुन्दर नेत्रों वाले देवेश्वर! हम दोनों आपके पुत्र हों। हमने आपसे यही वर माँगा है। आप इसे अच्छी तरह समझ लें। सुरश्रेष्ठ देव! हमने जो प्रतिज्ञा की है, वह असत्य नहीं होनी चाहिए।।32।।

श्रीभगवान् बोले—बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा। यह सब कुछ (तुम्हारी इच्छा के अनुसार) होगा।।33।। भगवान् बहुत सोचने पर जब कहीं खुला आकाश न देखा और स्वर्ग अथवा पृथ्वी पर भी जब उन्हें कोई खुली जगह न दिखायी दी, तब महायशस्वी देवेश्वर मधुसूदन ने अपनी दोनों जाङ्घों को अनावृत (वस्त्र रहित) देखकर मधु और कैटभ के मस्तकों को उन्हीं पर रखकर तीखी धार वाले चक्र से काट डाला।।34-35।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमस्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 203 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में धुन्धुमारोपाख्यान विषयक दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ।।203।।

पञ्चमोऽध्याय:

धुन्धु की तपस्या और वर प्राप्ति, कुवलाश्व द्वारा धुन्धु का वध और देवताओं का कुवलाश्व को वर देना

मार्कण्डेय उवाच

धुन्धुर्नाम महाराज तयोः पुत्रो महाद्युतिः।
स तपोऽतप्यत महन्महावीर्यपराक्रमः॥1।।
अतिष्ठदेकपादेन कृशो धमनिसन्ततः।
तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो वरं वव्रे स च प्रभुम्॥2।।
देवदानवयक्षाणां सर्पगन्धर्वरक्षसाम्।
अवध्योऽहं भवेयं वै वर एष वृतो मया॥3।।
एवं भवतु गच्छेति तमुवाच पितामहः।
स एवमुक्तस्तत्पादौ मूर्ध्ना स्पृश्य जगाम ह॥4।।
स तु धुन्धुर्वरं लब्ध्वा महावीर्यपराक्रमः।
अनुस्मरन् पितृवधं द्रुतं विष्णुमुपागमत्॥5।।
स तु देवान्सगन्धर्वान् जित्वा धुन्धुरमर्षणः।
बबाध सर्वानसकृद्विष्णुं देवांश्च वै भृशम्॥6।।
समुद्रे बालुकापूर्णे उज्जालक इति स्मृते।
आगम्य च स दुष्टात्मा तं देशं भरतर्षभ॥7।।
बाधते स्म परं शक्त्या तमुत्तङ्काश्रमं विभो।
अन्तर्भूमिगतस्तत्र बाहुकान्तर्हितस्तथा॥8।।
मधुकैटभयोः पुत्रो धुन्धुर्भीमपराक्रमः।
शेते लोकविनाशाय तपोबलमुपाश्रितः॥9।।
उत्तङ्कस्याश्रमाभ्याशे निःश्वसन् पावकार्चिषः।

एतस्मिन्नेव काले तु राजा सबलवाहनः॥10॥
उत्तङ्कविप्रसहितः कुवलाश्वो महीपतिः।
पुत्रैः सह महीपालः प्रययौ भरतर्षभ॥11॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—महाराज! उन्हीं दोनों मधु और कैटभ का पुत्र धुन्धु है, जो बड़ा तेजस्वी और महान् बल पराक्रम से सम्पन्न है। उसने बड़ी भारी तपस्या की॥1॥ वह दीर्घकाल तक एक पैर से खड़ा रहा। उसका शरीर इतना दुर्बल हो गया कि नस नाड़ियों का जाल दिखायी देने लगा। ब्रह्माजी ने उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर उसे वर दिया। धुन्धु ने भगवान् ब्रह्मा से इस प्रकार वर माँगा—॥2॥ 'भगवन्! मैं देवता, दानव, यक्ष, सर्प, गन्धर्व और राक्षस किसी के हाथ से न मारा जाऊँ। मैंने आपसे यही वर माँगा है'॥3॥ तब ब्रह्माजी ने उससे कहा—'ऐसा ही होगा। जाओ।' उनके ऐसा कहने पर धुन्धु ने मस्तक झुकाकर उनके चरणों का स्पर्श किया और वहाँ से चला गया॥4॥ जब धुन्धु वर पाकर महान् बल और पराक्रम से सम्पन्न हो गया, तब उसने अपने पिता मधु और कैटभ के वध का स्मरण हो आया और वह शीघ्रतापूर्वक भगवान् विष्णु के पास गया॥5॥ धुन्धु अमर्ष में भरा हुआ था। उसने गन्धर्व सहित सम्पूर्ण देवताओं को जीतकर भगवान् विष्णु तथा अन्य देवताओं को बार-बार महान् कष्ट देना प्रारम्भ किया॥6॥ भरतश्रेष्ठ! वह दुष्टात्मा बालुकामय प्रसिद्ध उज्जालक समुद्र में आकर रहने और उस देश के निवासियों को सताने लगा। राजन्! वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर धरती के भीतर बालू में छिपकर वहाँ उत्तङ्क के आश्रम में भी उपद्रव करने लगा॥7-8॥ मधु और कैटभ का वह भयङ्कर पराक्रमी पुत्र धुन्धु तपोबल का आश्रय ले सम्पूर्ण लोकों का विनाश करने के लिए वहाँ मरुप्रदेश में शयन करता था। उत्तङ्क के आश्रम के पास साँस ले लेकर वह आग की चिनगारियाँ फैलाता था। भरतश्रेष्ठ! इसी समय राजा कुवलाश्व ने अपनी सेना, सवारी तथा पुत्रों के साथ प्रस्थान किया। उनके साथ विप्रवर उत्तङ्क भी थे॥9-11॥

सहस्रैरेकविंशत्या पुत्राणामरिमर्दनः।
कुवलाश्वो नरपतिरन्वितो बलशालिनाम्॥12॥
तमाविशत् ततो विष्णुर्भगवांस्तेजसा प्रभुः।
उत्तङ्कस्य नियोगेन लोकानां हितकाम्यया॥13॥
तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे दिवि शब्दो महानभूत्।
एष श्रीमानवध्योऽद्य धुन्धुमारो भविष्यति॥14॥
दिव्यैश्च पुष्पैस्तं देवाः समन्तात् पर्यवारयन्।
देवदुन्दुभयश्चापि नेदुः स्वयमनीरिताः॥15॥
शीतश्च वायुः प्रववौ प्रयाणे तस्य धीमतः।
विपांसुलां महीं कुर्वन् ववर्ष च सुरेश्वरः॥16॥
अन्तरिक्षे विमानादि देवतानां युधिष्ठिर।
तत्रैव समदृश्यन्त धुन्धुर्यत्र महासुरः॥17॥

कुवलाश्वस्य धुन्धोश्च युद्धकौतूहलान्विताः।
देवगन्धर्वसहिताः समवैक्षन् महर्षयः॥18॥
नारायणेन कौरव्य तेजसाऽऽप्यायितस्तदा।
स गतो नृपतिः क्षिप्रं पुत्रैस्तैः सर्वतो दिशम्॥19॥
अर्णवं खानयामास कुवलाश्वो महीपतिः।
कुवलाश्वस्य पुत्रैश्च तस्मिन् वै बालुकार्णवे॥20॥
सप्तभिर्दिवसैः खात्वा दृष्टो धुन्धुर्महाबलः।
आसीद् घोरं वपुस्तस्य बालुकान्तर्हितं महत्॥21॥
दीप्यमानं यथा सूर्यस्तेजसा भरतर्षभ।
ततो धुन्धुर्महाराज दिशमावृत्य पश्चिमाम्॥22॥
सुप्तोऽभूद् राजशार्दूल कालानलसमद्युतिः।
कुवलाश्वस्य पुत्रैस्तु सर्वतः परिवारितः॥23॥
अभिद्रुतः शरैस्तीक्ष्णैर्गदाभिर्मुसलैरपि।
पट्टिशैः परिघैः प्रासैः खड्गैश्च विमलैः शितैः॥24॥
स वध्यमानः सङ्क्रुद्धः समुत्तस्थौ महाबलः।
क्रुद्धश्चाभक्षयत् तेषां शस्त्राणि विविधानि च॥25॥

शत्रुमर्दन महाराज कुवलाश्व अपने इक्कीस हजार बलवान् पुत्रों को साथ लेकर (सेना सहित) चले थे॥12॥ तदनन्तर उत्तङ्क के अनुरोध से सम्पूर्ण जगत् का हित करने के लिए सर्वसमर्थ भगवान् विष्णु ने अपने तेजोमय स्वरूप से कुवलाश्व में प्रवेश किया॥13॥ उन दुर्धर्षवीर कुवलाश्व के यात्रा करने पर देवलोक में अत्यन्त हर्षपूर्ण कोलाहल होने लगा। देवता कहने लगे—'ये श्रीमान् नरेश अवध्य हैं, आज धुन्धु को मारकर ये 'धुन्धुमार' नाम धारण करेंगे'॥14॥ देवता लोग चारों ओर से उन पर दिव्य फूलों की वर्षा करने लगे। देवताओं की दुन्दभियाँ स्वयं बिना किसी प्रेरणा के बज उठीं॥15॥ उन बुद्धिमान् राजा कुवलाश्व के यात्रा काल में शीतल वायु चलने लगी। देवराज इन्द्र धरती की धूल शान्त करने के लिए वर्षा करने लगे॥16॥ युधिष्ठिर! जहाँ महान् असुर 'धुन्धु' रहता था, वहीं आकाश में देवताओं के विमान आदि दिखायी देने लगे॥17॥ कुवलाश्व और धुन्धु का युद्ध देखने के लिए उत्सुक हो देवताओं और गन्धर्वों के साथ महर्षि भी आकर डट गये और वहाँ की सारी बातों पर दृष्टिपात करने लगे॥18॥ कुरुनन्दन! उस समय भगवान् नारायण के तेज से परिपुष्ट हो राजा कुवलाश्व अपने उन पुत्रों के साथ वहाँ जा पहुँचे और शीघ्र ही चारों ओर से उस बालुकामय समुद्र को खुदवाने लगे। कुवलाश्व के पुत्रों ने सात दिनों तक खुदाई करने के बाद उस बालुकामय समुद्र में (छिपे हुए) महाबली धुन्धु को देखा। बालू के भीतर छिपा हुआ उसका शरीर विशाल एवं भयङ्कर था। भरतश्रेष्ठ! वह अपने तेज से सूर्य के समान उद्दीप्त हो रहा था। महाराज! तदनन्तर धुन्धु पश्चिम दिशा को घेरकर सो गया। नृपश्रेष्ठ! उसकी कान्ति प्रलयकालीन अग्नि के समान जान पड़ती थी। उस समय राजा कुवलाश्व के पुत्रों ने सब ओर से घेरकर उस पर आक्रमण किया। तीखे बाण, गदा, मुसल, पट्टिश, परिघ,

प्रास और चमचमाते हुए तेज धार वाले खड्ग—इन सब के द्वारा चोट खाकर महाबली धुन्धु क्रोधित हो गया और उनके चलाये हुए नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को वह क्रोधी असुर खा गया।।19-25।।

आस्याद् वमन्पावकं स संवर्तकसमं तदा।
तान् सर्वान् नृपतेः पुत्रानदहत्स्वेन तेजसा॥26।।
मुखजेनाग्निना क्रुद्धो लोकानुद्वर्तयन्निव।
क्षणेन राजशार्दूल पुरेव कपिलः प्रभुः॥27।।
सगरस्यात्मजान् क्रुद्धस्तदद्भुतमिवाभवत्।
तेषु क्रोधाग्निदग्धेषु तदा भरतसत्तम॥28।।
तं प्रबुद्धं महात्मानं कुम्भकर्णमिवापरम्।
आससाद महातेजाः कुवलाश्वो महीपतिः॥29।।
तस्य वारि महाराज सुस्राव बहु देहतः।
तदापीय ततस्तेजो राजा वारिमयं नृप॥30।।
योगी योगेन वह्निं च शमयामास वारिणा।
ब्रह्मास्त्रेण च राजेन्द्र दैत्यं क्रूरपराक्रमम्॥31।।
ददाह भरतश्रेष्ठ सर्वलोकभवाय वै।
सोऽस्त्रेण दग्ध्वा राजर्षिः कुवलाश्वो महासुरम्॥32।।
सुरशत्रुममित्रघ्नं त्रैलोक्येश इवापरः।
धुन्धोर्वधात् तदा राजा कुवलाश्वो महामनाः॥33।।
धुन्धुमार इति ख्यातो नाम्नाप्रतिरथोऽभवत्।
प्रीतैश्च त्रिदशैः सर्वैर्महर्षिसहितैस्तदा॥34।।
वरं वृणीष्वेत्युक्तः स प्राञ्जलिः प्रणतस्तदा।
अतीव मुदितो राजन्निदं वचनमब्रवीत्॥35।।

तत्पश्चात् उसने अपने मुँह से प्रलयकालीन अग्नि के समान आग की चिनगारियाँ उगलना आरम्भ किया और उन समस्त राजकुमारों को अपने तेज से जलाकर भस्म कर दिया।।26।। नृपश्रेष्ठ! जैसे पूर्वकाल में भगवान् कपिल ने कुपित होकर राजा सगर के सभी पुत्रों को क्षण भर में दग्ध कर दिया था, उसी प्रकार क्रोध में भरे हुए धुन्धु ने, मानो वह सम्पूर्ण लोकों को नष्ट कर देना चाहता हो, अपने मुख से आग प्रकट करके कुवलाश्व के पुत्रों को जला दिया। यह एक अद्भुत सी घटना घटित हुई। भरतश्रेष्ठ! जब सभी राजकुमार धुन्धु की क्रोधाग्नि से दग्ध हो गये, तब महातेजस्वी राजा कुवलाश्व ने दूसरे कुम्भकर्ण[1] के समान जगे हुए उस महाकाय दानव पर आक्रमण किया।।27-29।। महाराज! उस समय धुन्धु के शरीर से बहुत-सा जल प्रवाहित होने लगा, किन्तु राजा कुवलाश्व ने योगी होने के कारण योगबल से उस जलमय तेज को पी लिया और

1. यह मार्कण्डेयजी का युधिष्ठिर के प्रति द्वापर के समय कहा हुआ वचन है। उन्होंने त्रेता में हुए कुम्भकर्ण की उपमा दी है।

जल प्रकट करके धुन्धु की मुखाग्नि को बुझा दिया। राजेन्द्र! भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् सम्पूर्ण लोकों के कल्याण के लिए राजर्षि कुवलाश्व ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके उस क्रूर पराक्रमी दैत्य धुन्धु को दग्ध कर दिया। इस प्रकार ब्रह्मास्त्र द्वारा शत्रुनाशक, देववैरी महान् असुर धुन्धु को दग्ध करके राजा कुवलाश्व दूसरे इन्द्र की भाँति शोभा पाने लगे। उस समय महामना राजा कुवलाश्व धुन्धु को मारने के कारण 'धुन्धुमार' नाम से विख्यात हो गये। उनका सामना करने वाला वीर कोई नहीं रह गया था। तदनन्तर महर्षियों सहित सम्पूर्ण देवता प्रसन्न होकर वहाँ आये और राजा से वर माँगने का अनुरोध करने लगे। राजन्! उनकी बात सुनकर कुवलाश्व अत्यन्त प्रसन्न हुए और हाथ जोड़ मस्तक झुकाकर इस प्रकार बोले—।।30-35।।

दद्यां वित्तं द्विजाग्र्येभ्यः शत्रूणां चापि दुर्जयः।
सख्यं च विष्णुना मे स्याद् भूतेष्वद्रोह एव च॥36।।
धर्मे रतिश्च सततं स्वर्गे वासस्तथाक्षयः।
तथास्त्विति ततो देवैः प्रीतैरुक्तः स पार्थिवः॥37।।
ऋषिभिश्च सगन्धर्वैरुत्तङ्केन च धीमता।
सम्भाष्य चैनं विविधैराशीर्वादैस्ततो नृप॥38।।
देवा महर्षयश्चापि स्वानि स्थानानि भेजिरे।
तस्य पुत्रास्त्रयः शिष्टा युधिष्ठिर तदाभवन्॥39।।
दृढाश्वः कपिलाश्वश्च चन्द्राश्वश्चैव भारत।
तेभ्यः परम्परा राजन्निक्ष्वाकूणां महात्मनाम्॥40।।
वंशस्य सुमहाभाग राज्ञाममिततेजसाम्।
एवं स निहतस्तेन कुवलाश्वेन सत्तम॥41।।
धुन्धुर्नाम महादैत्यो मधुकैटभयोः सुतः।
कुवलाश्वश्च नृपतिर्धुन्धुमार इति स्मृतः॥42।।
नाम्ना च गुणसंयुक्तस्तदाप्रभृति सोऽभवत्।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥43।।
धौन्धुमारमुपाख्यानं प्रथितं यस्य कर्मणा।
इदं तु पुण्यमाख्यानं विष्णोः समनुकीर्तनम्॥44।।
शृणुयाद् यः स धर्मात्मा पुत्रवांश्च भवेन्नरः।
आयुष्मान् भूतिमांश्चैव श्रुत्वा भवति पर्वसु।
न च व्याधिभयं किञ्चित् प्राप्नोति विगतज्वरः॥45।।

'देवताओ! मैं श्रेष्ठ ब्राह्मणों को धन दान करूँ, शत्रुओं के लिए दुर्जय बना रहूँ, भगवान् विष्णु के साथ सख्य भाव से मेरा प्रेम हो और किसी भी प्राणी के प्रति मेरे मन में द्रोह न रह जाए'।।36।। धर्म में मेरा सदा अनुराग हो और अन्त में मेरा स्वर्गलोक में नित्य निवास हो।' यह सुनकर देवताओं ने बड़ी प्रसन्नता के साथ राजा कुवलाश्व से कहा—'महाराज! ऐसा ही होगा।'।।37।। राजन्! तदनन्तर ऋषियों, गन्धर्वों और बुद्धिमान् महर्षि उत्तङ्क ने भी नाना प्रकार के आशीर्वाद देते हुए राजा से वार्तालाप

किया।।38।। युधिष्ठिर! इसके बाद देवता और महर्षि अपने-अपने स्थान को चले गये। उस युद्ध में राजा कुवलाश्व के तीन ही पुत्र शेष रह गये थे।।39।। भारत! उनके नाम थे—दृढाश्व, कपिलाश्व और चन्द्राश्व। राजन्! महाभाग! उन्हीं से अमित तेजस्वी इक्ष्वाकुवंशी महामना नरेशों की वंश परम्परा चालू हुई। सज्जनशिरोमणे! इस प्रकार मधुकैटभ कुमार महादैत्य धुन्धु कुवलाश्व के हाथ से मारा गया और राजा कुवलाश्व की धुन्धुमार नाम से प्रसिद्धि हुई।।40-42।। तभी से वे नरेश अपने नाम के अनुसार वीरता आदि गुणों से युक्त हो भूमण्डल में विख्यात हो गये। युधिष्ठिर! तुमने मुझसे जो पूछा था, वह सारा धुन्धुमारोपाख्यान मैंने तुमसे कह सुनाया। जिनके पराक्रम से इस उपाख्यान की प्रसिद्धि हुई है, उन नरेश का भी परिचय दे दिया। जो मनुष्य भगवान् विष्णु के कीर्तन रूप इस पवित्र उपाख्यान को सुनता है, वह धर्मात्मा और पुत्रवान् होता है। जो पर्वों पर इस कथा को सुनता है, वह दीर्घायु तथा ऐश्वर्यशाली होता है। उसे रोग आदि का कुछ भी भय नहीं होता। उसकी सारी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं।।43-45।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमस्यापर्वणि धुन्धुमारोपाख्याने चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 204 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में धुन्धुमारोपाख्यान विषयक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ।।204।।

युधिष्ठिरगीता-I सम्पूर्णा

कौशिकगीता (व्याधगीता)

प्रथमोऽध्यायः

पतिव्रता स्त्री तथा पिता माता की सेवा का माहात्म्य

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा मार्कण्डेयं महाद्युतिम्।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ धर्मप्रश्नं सुदुर्विदम्॥1॥
श्रोतुमिच्छामि भगवन् स्त्रीणां माहात्म्यमुत्तमम्।
कथ्यमानं त्वया विप्र सूक्ष्मं धर्म्यं च तत्त्वतः॥2॥
प्रत्यक्षमिह विप्रर्षे देवा दृश्यन्ति सत्तम।
सूर्याचन्द्रमसौ वायुः पृथिवी वह्निरेव च॥3॥
पिता माता च भगवन् गुरुरेव च सत्तम।
यच्चान्यद् देवविहितं तच्चापि भृगुनन्दन॥4॥
मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यस्तथा स्त्रियः।
पतिव्रतानां शुश्रूषा दुष्करा प्रतिभाति मे॥5॥
पतिव्रतानां माहात्म्यं वक्तुमर्हसि नः प्रभो।
निरुद्ध्य चेन्द्रियग्रामं मनः संरुध्य चानघ॥6॥
पतिं दैवतवच्चापि चिन्तयन्त्यः स्थिता हि याः।
भगवन् दुष्करं त्वेतत् प्रतिभाति मम प्रभो॥7॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा स्त्रीणां भर्तरि च द्विज।
स्त्रीणां धर्मात् सुघोराद्धि नान्यं पश्यामि दुष्करम्॥8॥
साध्वाचाराः स्त्रियो ब्रह्मन् यत् कुर्वन्ति सदाऽऽदृताः।
दुष्करं खलु कुर्वन्ति पितरं मातरं च वै॥9॥
एकपन्त्यश्च या नार्यो याश्च सत्यं वदन्त्युत।
कुक्षिणा दश मासांश्च गर्भं सन्धारयन्ति याः॥10॥
नार्यः कालेन सम्भूय किमद्भुततरं ततः।
संशयं परमं प्राप्य वेदनामतुलामपि॥11॥
प्रजायन्ते सुतान् नार्यो दुःखेन महता विभो।
पुष्णन्ति चापि महता स्नेहेन द्विजपुङ्गव॥12॥
याश्च क्रूरेषु सत्त्वेषु वर्तमाना जुगुप्सिताः।
स्वकर्म कुर्वन्ति सदा दुष्करं तच्च मे मतम्॥13॥
क्षत्रधर्मसमाचारतत्त्वं व्याख्याहि मे द्विज।

धर्मः सुदुर्लभो विप्र नृशंसेन महात्मनाम्॥14॥
एतदिच्छामि भगवन् प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
श्रोतुं भृगुकुलश्रेष्ठ शुश्रूषे तव सुव्रत॥15॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिर ने महातेस्वी मार्कण्डेय मुनि से धर्म विषयक प्रश्न किया, जो समझने में अत्यन्त कठिन था॥1॥ वे बोले—'भगवन्! मैं आपके मुख से (पतिव्रता) स्त्रियों के सूक्ष्म, धर्मसम्मत एवं उत्तम माहात्म्य का यथार्थ वर्णन सुनना चाहता हूँ'॥2॥ भगवन्! श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे! इस जगत् में सूर्य, चन्द्रमा, वायु, पृथिवी, अग्नि, पिता, माता और गुरु—ये प्रत्यक्ष देवता दिखायी देते हैं। भृगुनन्दन! इसके सिवा अन्य जो देवता रूप से स्थापित होने देवविग्रह हैं, वे भी प्रत्यक्ष देवताओं की ही कोटि में हैं॥3-4॥ समस्त गुरुजन और पतिव्रता नारियाँ भी समादर के योग्य हैं। पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पति की जैसी सेवा शुश्रूषा करती हैं; वह दूसरे किसी के लिए मुझे अत्यन्त कठिन प्रतीत होती हैं॥5॥ प्रभो! आप अब हमें पतिव्रता स्त्रियों की महिमा सुनावें। निष्पाप महर्षे! जो अपनी इन्द्रियों को संयम में रखती हुई मन को वश में करके अपने पति का देवता के समान ही चिन्तन करती रहती हैं, वे नारियाँ धन्य हैं। प्रभो! भगवन्! उनका वह त्याग और सेवा भाव मुझे तो अत्यन्त कठिन जान पड़ता है॥6-7॥ ब्रह्मन्! पुत्रों द्वारा माता-पिता की सेवा तथा स्त्रियों द्वारा की हुई पति की सेवा बहुत कठिन है। स्त्रियों के इस कठोर धर्म से बढ़कर और कोई दुष्कर कार्य मुझे नहीं दिखायी देता है॥8॥ ब्रह्मन्! समाज में सदा आदर पाने वाली सदाचारिणी स्त्रियाँ जो महान् कार्य करती हैं, वह अत्यन्त कठिन है। जो लोग पिता माता की सेवा करते हैं, उनका कर्म भी बहुत कठिन है। पतिव्रता तथा सत्यवादिनी स्त्रियाँ अत्यन्त कठोर धर्म का पालन करती हैं। स्त्रियाँ अपने उदर में दस महीने तक जो गर्भ धारण करती हैं और यथासमय उसको जन्म देती हैं, इससे अद्भुत कार्य और कौन होगा? भगवन्! अपने को भारी प्राण सङ्कट में डालकर और अतुल वेदना को सहकर नारियाँ बड़े कष्ट से सन्तान उत्पन्न करती हैं॥! विप्रवर! फिर बड़े स्नेह से उनका पालन भी करती हैं॥9-12॥ जो सती साध्वी स्त्रियाँ क्रूर स्वभाव के पतियों की सेवा में रहकर उनके तिरस्कार का पात्र बनकर भी सदा अपने सती धर्म का पालन करती हैं, वह तो मुझे और भी अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है॥13॥ ब्रह्मन्! आप मुझे क्षत्रियों के धर्म और आचार का तत्त्व भी विस्तारपूर्वक बताइये। विप्रवर! जो क्रूर स्वभाव के मनुष्य हैं, उनके लिए महात्माओं का धर्म अत्यन्त दुर्लभ है॥14॥ भगवन्! भृगुकुलशिरोमणे! आप उत्तम व्रत के पालक और प्रश्न का समाधान करने वाले विद्वानों में श्रेष्ठ हैं॥! मैंने जो प्रश्न आपके सम्मुख उपस्थित किया है, उसी का उत्तर मैं आपसे सुनना चाहता हूँ॥15॥

मार्कण्डेय उवाच

हन्त तेऽहं समाख्यास्ये प्रश्नमेतं सुदुर्वचम्।
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ गदतस्तन्निबोध मे॥16॥
मातृस्तु गौरवादन्ये पितृनन्ये तु मेनिरे।

दुष्करं कुरुते माता विवर्धयति या प्रजाः॥17।।
तपसा देवतेज्याभिवन्दनेन तितिक्षया।
सुप्रशस्तैरुपायैश्चापीहन्ते पितरः सुतान्॥18।।
एवं कृच्छ्रेण महता पुत्रं प्राप्य सुदुर्लभम्।
चिन्तयन्ति सदा वीर कीदृशोऽयं भविष्यति॥19।।
आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च।।20।।
तयोराशां तु सफलां यः करोति स धर्मवित्।
पिता माता च राजेन्द्र तुष्यतो यस्य नित्यशः॥21।।
इह प्रेत्य च तस्याथ कीर्तिर्धर्मश्च शाश्वतः।
नैव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम्॥22।।
या तु भर्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत।
एतत् प्रकरणं राजन्नधिकृत्य युधिष्ठिर।।23।।
पतिव्रतानां नियतं धर्मं चावहितः शृणु ॥24।।

मार्कण्डेयजी बोले—भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे इस प्रश्न का विवेचन करना यद्यपि बहुत कठिन है, तो भी में अब इसका यथावत् समाधान करूँगा। तुम मेरे मुख से सुनो।।16।। कुछ लोग माताओं को गौरव की दृष्टि से बड़ी मानते हैं। दूसरे लोग पिता को महत्त्व देते हैं। परन्तु माता जो अपनी सन्तानों को पाल पोस कर बड़ा बनाती है, वह उसका कठिन कार्य है।।17।। माता-पिता तपस्या, देवपूजा, वन्दना, तितिक्षा तथा अन्य श्रेष्ठ उपायों द्वारा भी पुत्रों को प्राप्त करना चाहते हैं।।18।। वीर! इस प्रकार बड़ी कठिनाई से परम दुर्लभ पुत्र को पाकर लोग सदा इस चिन्ता में डूबे रहते हैं कि न जाने यह किस तरह का होगा।।19।। भारत! पिता और माता अपने पुत्रों के लिए यश, कीर्ति और ऐश्वर्य, सन्तान तथा धर्म की शुभकामना करते हैं।।20।। राजेन्द्र! जो उन दोनों की आज्ञा को सफल करता है, वही पुत्र धर्मज्ञ है। जिसके माता-पिता उससे सदा सन्तुष्ट रहते हैं, उसे इहलोक और परलोक में भी अक्षय कीर्ति और शाश्वत धर्म की प्राप्ति होती है। नारी के लिए किसी यज्ञ कर्म, श्राद्ध और उपवास की आवश्यकता नहीं है। वह जो पति की सेवा करती है, उसी के द्वारा स्वर्ग लोक विजय प्राप्त कर लेती है। राजा युधिष्ठिर इसी प्रकरण में पतिव्रताओं के नियत धर्म का वर्णन किया जाएगा। तुम सावधान होकर सुनो।।21-24।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने
पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 205 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में पतिव्रतोपाख्यान विषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।।205।।

द्वितीयोऽध्यायः

कौशिक ब्राह्मण और पतिव्रता के उपाख्यान के अन्तर्गत ब्राह्मणों के धर्म का वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

कश्चिद् द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत॥1॥
साङ्गोपनिषदो वेदानधीते द्विजसत्तमः।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद् वेदानुच्चारयन् स्थितः॥2॥
उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका सन्न्यलीयत।
तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि॥3॥
तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः।
भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका सा निरीक्षिता॥4॥
अपध्याता च विप्रेण न्यपतद् धरणीतले।
बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्त्वामचेतनाम्॥5॥
कारुण्यादभिसन्तप्तः पर्यशोचत तां द्विजः।
अकार्यं कृतवानस्मि रोषरागबलात्कृतः॥6॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन! कौशिक नाम से प्रसिद्ध एक ब्राह्मण था। जो वेद का अध्ययन करने वाला, तपस्या का धनी और धर्मात्मा था। वह तपस्वी ब्राह्मण सम्पूर्ण द्विजातियों में श्रेष्ठ समझा जाता था॥1॥ द्विजश्रेष्ठ कौशिक ने सम्पूर्ण अङ्गों सहित वेदों और उपनिषदों का अध्ययन किया था। एक दिन की बात है, वह किसी वृक्ष के नीचे बैठकर वेदपाठ कर रहा था॥2॥ उस समय वृक्ष के ऊपर एक बगुली छिपी बैठी थी। उसने ब्राह्मण देवता के ऊपर बीट कर दी॥3॥ यह देख ब्राह्मण क्रोधित हो गया और उस पक्षी की ओर दृष्टि डालकर उसका अनिष्ट चिन्तन करने लगा। उसने अत्यन्त कुपित होकर उस बगुली को देखा और उसका अनिष्ट चिन्तन किया था, अतः वह पृथ्वी पर गिर पड़ी। उस बगुली को अचेत एवं निष्प्राण होकर पड़ी देख ब्राह्मण का हृदय दया से द्रवित हो उठा। उसे अपने इस कुकृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह इस प्रकार शोक प्रकट करता हुआ बोला—'ओह! आज क्रोध और आसक्ति के वशीभूत होकर मैंने यह अनुचित कार्य कर डाला'॥4-6॥

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान् ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः।
ग्रामे शुचीनि प्रचरन् कुलानि भरतर्षभ॥7॥
प्रविष्टस्तत्कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः।
देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः॥8॥
शौचं तु यावत् कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी।

एतस्मिन्नन्तरे राजन् क्षुधासम्पीडितो भृशम्॥9॥
भर्ता प्रविष्टः सहसा तस्या भरतसत्तम।
सा तु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवहाय तम्॥10॥
पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्तुस्तथाऽऽसनम्।
प्रह्वा पर्यचरच्चापि भर्तारमसितेक्षणा॥11॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार बार-बार पछता कर वह विद्वान् ब्राह्मण गाँव में भिक्षा के लिए गया। उस गाँव में जो लोग शुद्ध और पवित्र आचरण वाले थे, उन्हीं के घरों पर भिक्षा माँगता हुआ वह एक ऐसे घर पर जा पहुँचा; जहाँ पहले भी कभी भिक्षा प्राप्त कर चुका था। दरवाजे पर पहुँचकर ब्राह्मण बोला—'भिक्षा दें!' भीतर से किसी स्त्री ने उत्तर दिया—'ठहरो! (अभी लाती हूँ)॥7-8॥ राजन्! वह घर की मालकिन थी, जो जूठे बर्तन मांज रही थी। ज्यों ही वह बर्तन साफ करके उधर से निवृत्त हुई, त्यों ही उसके पतिदेव सहसा घर पर आ गये। भरतश्रेष्ठ! वे भूख से अत्यन्त पीड़ित थे। पति को आया देख उस श्याम नेत्रों वाली पतिव्रता ने ब्राह्मण को तो उसी दशा में छोड़ दिया और अत्यन्त विनीत भाव से वह पति की सेवा में लग गयी। पानी लाकर उसने पति के पैर धोये, हाथ-मुँह धुलाये और बैठने को आसन दिया॥9-11॥

आहारेणाथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा।
उच्छिष्टं भाविता भर्तुर्भुङ्क्ते नित्यं युधिष्ठिर॥12॥
दैवतं च पतिं मेने भर्तुश्चित्तानुसारिणी।
कर्मणा मनसा वाचा नान्यचित्ताभ्यगात् पतिम्॥13॥
तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रूषणे रता।
साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी॥14॥
भर्तुश्चापि हितं यत् तत्सततं सानुवर्तते।
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रूश्वशुरयोस्तथा॥15॥
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया।
सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकाङ्क्षिणम्।
कुर्वती पतिशुश्रूषां सस्माराथ शुभेक्षणा॥16॥
व्रीडिता साभवत् साध्वी तदा भरतसत्तम।
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी॥17॥

फिर सुन्दर स्वादिष्ट भक्ष्य भोज्य पदार्थ परोसकर वह पति को भोजन कराने लगी। युधिष्ठिर! वह सती स्त्री प्रतिदिन पति को भोजन कराकर उनके उच्छिष्ट को प्रसाद मानकर बड़े आदर और प्रेम से भोजन करती थी॥12॥ वह पति को देवता मानती और उनके विचार के अनुकूल ही चलती थी। उसका मन कभी परपुरुष की ओर नहीं जाता था। वह मन, वाणी और क्रिया से पतिपरायणा थी॥13॥ अपने हृदय की समस्त भावनाएँ, सम्पूर्ण प्रेम पति के चरणों में चढ़ाकर वह अनन्य भाव से उन्हीं की सेवा में लगी रहती थी। सदाचार का पालन करती, बाहर भीतर से शुद्ध पवित्र रहती, घर के

काम-काज को कुशलतापूर्वक करती और कुटुम्ब के सभी लोगों का हित चाहती थी।।14।। पति के लिए जो हितकर कार्य जान पड़ता, उसमें भी वह सदा संलग्न रहती थी। देवताओं की पूजा, अतिथियों के सत्कार, भृत्यों के भरण-पोषण और सास ससुर की सेवा में भी वह सर्वदा तत्पर रहती थी। अपने मन और इन्द्रियों पर निरन्तर पूर्ण संयम रखती थी। पति की सेवा करते-करते उस मङ्गलमयी दृष्टि वाली देवी को भिक्षा के लिए खड़े हुए ब्राह्मण की याद आयी।।15-16।। भरतवंशविभूषण! अपनी भूल के कारण वह यशस्विनी साध्वी स्त्री बहुत लज्जित हुई और ब्राह्मण के लिए भिक्षा लेकर घर से बाहर निकली।।17।।

ब्राह्मण उवाच

किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वराङ्गने।
उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि॥18।।

उसे देखकर ब्राह्मण ने कहा—सुन्दरी! तुम्हारा यह कैसा बर्ताव है? देख! तुम्हें इतना विलम्ब करना था तो 'ठहरो' कहकर मुझे रोक क्यों लिया? मुझे जाने क्यों नहीं दिया?।।18।।

मार्कण्डेय उवाच

ब्राह्मणं क्रोधसन्तप्तं ज्वलन्तमिव तेजसा।
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येन्द्र सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत्॥19।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मण क्रोध से संतप्त हो अपने तेज से जलता सा प्रतीत होता था। उसे देखकर उस पतिव्रता देवी ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया।।19।।

स्त्र्युवाच

क्षन्तुमर्हसि मे विद्वन् भर्ता मे दैवतं महत्।
स चापि क्षुधितः श्रान्तः प्राप्तः शुश्रूषितो मया॥20।।

स्त्री बोली—विद्वन्! क्षमा करें। मेरे लिए सबसे बड़े देवता पति हैं। वे भूखे और थके हुए घर पर आये थे (उन्हें छोड़ कर कैसे आती?) उन्हीं की सेवा में लग गयी।।20।।

ब्राह्मण उवाच

ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः।
गृहस्थधर्मे वर्तन्ती ब्राह्मणानवमन्यसे॥21।।
इन्द्रोऽप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि।
अवलिप्ते न जानीषे वृद्धानां न श्रुतं त्वया॥22।।
ब्राह्मणा ह्यग्निसदृशा दहेयुः पृथिवीमपि।

स्त्र्युवाच

नाहं बलाका विप्रर्षे त्यज क्रोधं तपोधन॥23।।
अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि।
नावजानाम्यहं विप्रान् देवैस्तुल्यान् मनस्विनः॥24।।

अपराधमिमं विप्र क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ।
जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम्॥25॥
अपेयः सागरः क्रोधात् कृतो हि लवणोदकः।
तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम्॥26॥
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति।
ब्राह्मणानां परिभवाद् वातापिः सुदुरात्मवान्॥27॥
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः।
बहुप्रभावाः श्रूयन्ते ब्राह्मणानां महात्मनाम्॥28॥
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन् प्रसादश्च महात्मनाम्।
अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन्क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ॥29॥
पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज।
दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम्॥30॥
अविशेषेण तस्याहं कुर्यां धर्मं द्विजोत्तम।
शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण यादृशम्॥31॥
बलाका हि त्वया दग्धा रोषात् तद् विदितं मया।
क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम॥32॥

तब ब्राह्मण बोला—क्या ब्राह्मण बड़े नहीं हैं; तुमने पति को ही सबसे बड़ा बना दिया? गृहस्थ धर्म में रहकर भी तुम ब्राह्मणों का अपमान करती हो?॥21॥ अरी! (स्वर्गलोक के स्वामी) इन्द्र भी इन ब्राह्मणों के आगे सिर झुकाते हैं, फिर भूतल के मनुष्यों की तो बात ही क्या है? घमण्ड में भरी हुई स्त्री! क्या तुम ब्राह्मणों का प्रभाव नहीं जानती? कभी बड़े बूढ़ों के मुख से भी नहीं सुना? अरी! ब्राह्मण अग्नि के समान तेजस्वी होते हैं। वे चाहें तो इस पृथ्वी को भी जलाकर भस्म कर सकते हैं।॥22॥

स्त्री बोली—तपोधन! क्रोध न करो। ब्रह्मर्षे! मैं बगुली नहीं हूँ, जो तुम्हारी इस क्रोध भरी दृष्टि से जल जाऊँगी। तुम इस तरह कुपित होकर मेरा क्या करोगे? मैं ब्राह्मणों का अपमान नहीं करती। मनस्वी ब्राह्मण तो देवता के समान होते हैं॥23-24॥ निष्पाप ब्राह्मण! तुम मेरे इस अपराध को क्षमा करो। मैं बुद्धिमान् ब्राह्मणों के तेज और महत्त्व को जानती हूँ॥25॥ ब्राह्मणों के ही क्रोध का फल है कि समुद्र का पानी खारा एवं पीने के अयोग्य बना दिया गया। इसी प्रकार जिनकी तपस्या बहुत बढ़ी चढ़ी थी और जिनका अन्तःकरण परम पवित्र हो चुका था, ऐसे मुनियों ने भी जो क्रोध की आग प्रज्वलित की थी, वह आज भी दण्डकारण्य में बुझ नहीं पा रही है॥26॥ ब्राह्मणों का तिरस्कार करने से ही क्रूर स्वभाव वाला महान् असुर अत्यन्त दुरात्मा वातापि अगस्त्य मुनि के पेट में जाकर पच गया॥27॥ ब्रह्मन्! महात्मा ब्राह्मणों के प्रभाव को बताने वाले बहुत-से चरित्र सुने जाते हैं। उन महात्माओं का क्रोध और कृपा दोनों ही महान् होते हैं। निष्पाप ब्रह्मन्! मेरे द्वारा जो तुम्हारा अपराध बन गया है, उसे क्षमा करो॥28-29॥ विप्रवर! मुझे तो पति की सेवा से जो धर्म प्राप्त होता है, वह अधिक पसन्द है। सम्पूर्ण देवताओं

में भी पति ही मेरे सबसे बड़े देवता हैं।।30।। द्विजश्रेष्ठ! मैं साधारण रूप से ही पति सेवा रूप धर्म का पालन करती हूँ। ब्राह्मण देवता! इस पति सेवा का जैसा फल है, उसे प्रत्यक्ष देख लो।।31।। तुमने क्रोध करके जो एक बगुली को जला दिया था, वह बात मुझे मालूम हो गयी। द्विजश्रेष्ठ! मनुष्यों का एक बहुत बड़ा शत्रु है। वह उनके शरीर में ही रहता है। उसका नाम है 'क्रोध'।।32।।

यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं सन्तोषयेत च॥33।।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचिः॥34।।
कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
यस्य चात्मसमो लोको धर्मज्ञस्य मनस्विनः॥35।।
सर्वधर्मेषु च रतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
योऽध्यापयेदधीयीत यजेद्वा याजयीत वा॥36।।
दद्याद्वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
ब्रह्मचारी वदान्यो योऽधीयीत द्विजपुङ्गवः॥37।।
स्वाध्यायवानमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः।
यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्तयेत्॥38।।
सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः।
धर्मं तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम्॥39।।
इन्द्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम।
सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः॥40।।
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः।
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम्॥41।।
बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम।
भवानपि च धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः॥42।।
न तु तत्त्वेन भगवन् धर्मं वेत्सीति मे मतिः।
यदि विप्र न जानीषे धर्मं परमकं द्विज॥43।।
धर्मव्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम्।
मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः॥44।।
मिथिलायां वसेद् व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति।
तत्र गच्छस्व भद्रं ते यथाकामं द्विजोत्तम॥45।।
अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित।
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्वेषां ये च धर्मविदो जनाः॥46।।

जो क्रोध और मोह को त्याग देता है, उसी को देवतागण ब्राह्मण मानते हैं। जो यहाँ सत्य बोले, गुरु को सन्तुष्ट रखे, किसी के द्वारा मार खाकर भी बदले में उसे न मारे, उसको देवता लोग ब्राह्मण मानते हैं। जो जितेन्द्रिय, धर्मपरायण, स्वाध्याय तत्पर और पवित्र है तथा काम और क्रोध जिसके वश में है, उसे देवता लोग ब्राह्मण मानते हैं जिस धर्मज्ञ एवं मनस्वी पुरुष का सम्पूर्ण जगत् के प्रति आत्मभाव है तथा सभी धर्मों पर जिसका समान अनुराग है, उसे देवता लोग ब्राह्मण मानते हैं। जो पढ़े और पढ़ाये, यज्ञ करे और कराये तथा यथाशक्ति दान दे, उसे देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। जो द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मचर्य का पालन करे, उदार बने, वेदों का अध्ययन करे और सतत सावधान रहकर स्वाध्याय में ही लगा रहे, उसे देवता लोग ब्राह्मण मानते हैं। ब्राह्मण के लिए जो हितकर कर्म हो, उसी का उनके सामने वर्णन करना चाहिए। सत्य बोलने वाले लोगों का मन कभी असत्य में नहीं लगता। द्विजश्रेष्ठ! स्वाध्याय, मनोनिग्रह, सरलता और इन्द्रिय निग्रह—ये ब्राह्मण के लिए सनातन धर्म कहे गये हैं। धर्मज्ञ पुरुष सत्य और सरलता को सर्वोत्तम धर्म बताते हैं। सनातन धर्म के स्वरूप को जानना तो अत्यन्त कठिन है, परन्तु वह सत्य में प्रतिष्ठित है। जो वेदों के द्वारा प्रमाणित हो, वही धर्म है—यह वृद्ध पुरुषों का उपदेश है।।33-41।। द्विजश्रेष्ठ! बहुधा धर्म का स्वरूप सूक्ष्म ही देखा जाता है। तुम भी धर्मज्ञ, स्वाध्याय परायण और पवित्र हो।।42।। भगवन्! तो भी मेरा विचार यह है कि तुम्हें धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं है। विप्रवर! यदि तुम परम धर्म क्या है, यह नहीं जानते तो मिथिलापुरी में धर्मव्याध के पास जाकर पूछो। मिथिला में एक व्याध रहता है, जो माता-पिता का सेवक, सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, वह तुम्हें धर्म का उपदेश करेगा। द्विजश्रेष्ठ! तुम अपनी रुचि के अनुसार वहीं जाओ, तुम्हारा मङ्गल हो।।43-45।। अनिन्दनीय ब्राह्मण! यदि मेरे मुख से कोई अनुचित बातें निकल गयी हों तो उन सबके लिए मुझे क्षमा करें; क्योंकि जो धर्मज्ञ पुरुष है, उन सबकी दृष्टि में स्त्रियाँ अदण्डनीय हैं।।46।।

ब्राह्मण उवाच

प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते गतः क्रोधश्च शोभने।
उपालम्भस्त्वयात्युक्तो मम निःश्रेयसं परम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने॥47।।
(धन्या त्वमसि कल्याणि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम्।)

ब्राह्मण बोला—शुभे! तुम्हारा भला हो। मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। मेरा सारा क्रोध दूर हो गया। तुमने जो उलाहना दिया है, वह अनुचित वचन नहीं, मेरे लिए परम कल्याणकारी है। शोभने! तुम्हारा कल्याण हो। अब मैं जाऊँगा और अपना कार्य साधन करूँगा। कल्याणि! तुम धन्य हो, जिसका सदाचार इतनी उच्च कोटि का है।।47।।

मार्कण्डेय उवाच

तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ।
विनिन्दन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः॥48।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस साध्वी स्त्री से विदा लेकर वह द्विजश्रेष्ठ कौशिक अपने आत्मा की निन्दा करता हुआ अपने घर को लौट गया।।48।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने षडधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 206 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में पतिव्रतोपाख्यान विषयक दो सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ।।206।।

तृतीयोऽध्यायः

कौशिक का धर्मव्याध के पास जाना, धर्मव्याध के द्वारा पतिव्रता से प्रेषित जान लेने पर कौशिक को आश्चर्य होना, धर्मव्याध के द्वारा वर्ण धर्म का वर्णन, जनक राज्य की प्रशंसा और शिष्टाचार का वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

चिन्तयित्वा तदाश्चर्यं स्त्रिया प्रोक्तमशेषतः।
विनिन्दन् स स्वमात्मानमागस्कृत इवाबभौ॥1।।
चिन्तयानः स्वधर्मस्य सूक्ष्मं गतिमथाब्रवीत्।
श्रद्दधानेन वै भाव्यं गच्छामि मिथिलामहम्॥2।।
कृतात्मा धर्मवित् तस्यां व्याधो निवसते किल।
तं गच्छाम्यहमद्यैव धर्मं प्रष्टुं तपोधनम्॥3।।
इति सञ्चिन्त्य मनसा श्रद्दधानः स्त्रिया वचः।
बलाकाप्रत्ययेनासौ धर्म्यैश्च वचनैः शुभैः॥4।।
सम्प्रतस्थे स मिथिलां कौतूहलसमन्वितः।
अतिक्रामन्नरण्यानि ग्रामांश्च नगराणि च॥5।।
ततो जगाम मिथिलां जनकेन सुरक्षिताम्।
धर्मसेतुसमाकीर्णां यज्ञोत्सववतीं शुभाम्॥6।।
गोपुराट्टालकवतीं हर्म्यप्राकारशोभनाम्।
प्रविश्य नगरीं रम्यां विमानैर्बहुभिर्युताम्॥7।।
पण्यैश्च बहुभिर्युक्तां सुविभक्तमहापथाम्।
अश्वै रथैस्तथा नागैर्योधैश्च बहुभिर्युताम्॥8।।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णां नित्योत्सवसमाकुलाम्।
सोऽपश्यद् बहुवृत्तान्तां ब्राह्मणः समतिक्रमन्॥9।।
धर्मव्याधमपृच्छच्च स चास्य कथितो द्विजैः।
अपश्यत्तत्र गत्वा तं सूनामध्ये व्यवस्थितम्॥10।।
मार्गमाहिषमांसानि विक्रीणन्तं तपस्विनम्।
आकुलत्वाच्च क्रेतृणामेकान्ते संस्थितो द्विजः॥11।।

स तु ज्ञात्वा द्विजं प्राप्तं सहसा सम्भ्रमोत्थितः।
आजगाम यतो विप्रः स्थित एकान्तदर्शने॥12।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस पतिव्रता देवी की कही हुई सारी बातों पर विचार करके कौशिक ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने आपको धिक्कारता हुआ अपराधी जा नपड़ने लगा।।1।। फिर अपने धर्म की सूक्ष्म गति पर विचार करके वह मन-ही-मन बोला—'मुझे (उस सती के कथन पर) श्रद्धा और विश्वास करना चाहिए, अत: मैं अवश्य मिथिला जाऊँगा।।2।। कहते हैं, वहाँ एक पुण्यात्म धर्मज्ञ व्याध निवास करता है। मैं उस तपोधन व्याध से धर्म की बात पूछने के लिए आज ही उसके पास जाऊँगा।।3।। मन-ही-मन ऐसा निश्चय करके वह कौतूहलवश मिथिलापुरी की ओर चल दिया। पतिव्रता स्त्री बगुली पक्षी वाली घटना स्वयं जान गयी थी और उसने धर्मानुकूल शुभ वचनों द्वारा उपदेश दिया था, इन कारणों से उसकी बातों पर कौशिक ब्राह्मण की बड़ी श्रद्धा हो गयी थी। वह अनेकानेक जङ्गलों, गाँवों तथा नगरों को पार करता हुआ राजा जनक के द्वारा सुरक्षित, धर्म की मर्यादा से व्याप्त तथा यज्ञ सम्बन्धी उत्सवों से सुशोभित सुन्दर मिथिलापुरी में जा पहुँचा।।4-6।। नगर से गोपुर, अट्टालिकाएँ, महल चहारदीवारियाँ उस नगर की शोभा बढ़ रही थीं। वह रमणीय पुरी बहुत-से विमानों से युक्त थी तथा बहुत-सी दुकानें उस पुरी का सौन्दर्य बढ़ाती थीं। सुन्दर ढंग से बनायी हुई बड़ी-बड़ी सड़कें शोभा पा रही थीं। बहुसंख्यक घोड़े, रथ, हाथी और सैनिकों से संयुक्त मिथिलापुरी हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरी हुई थी। वहाँ नित्य नाना प्रकार के उत्सव होते रहते थे और अनेक प्रकार की घटनाएँ घटित होती थीं। ब्राह्मण ने उस पुरी में प्रवेश करके सब ओर घूम घामकर उसे अच्छी तरह देखा।।7-9।। वहाँ उसने लोगों से धर्मव्याध का पता पूछा और ब्राह्मणों ने उसे उसका स्थान बता दिया। कौशिक ने वहाँ जाकर देखा कि तपस्वी धर्मव्याध कसाईखाने में बैठकर सूअर, भैंसे आदि पशुओं का मांस बेच रहा है। वहाँ ग्राहकों की भीड़ लगी हुई थी, इसलिए कौशिक एकान्त में जाकर खड़ा हो गया।।10-11।। ब्राह्मण को आया हुआ जानकर व्याध सहसा शीघ्रतापूर्वक उठा खड़ा हुआ और उस स्थान पर आ गया, जहाँ ब्राह्मण एकान्त में खड़ा था।।12।।

व्याध उवाच

अभिवादये त्वां भगवन् स्वागतं ते द्विजोत्तम।
अहं व्याधो हि भद्रं ते किं करोमि प्रशाधि माम्॥13।।
एकपत्न्या यदुक्तोऽसि गच्छ त्वं मिथिलामिति।
जानाम्येतदहं सर्वं यदर्थं त्वमिहागतः॥14।।
श्रुत्वा च तस्य तद् वाक्यं स विप्रो भृशविस्मितः।
द्वितीयमिदमाश्चर्यमित्यचिन्तयत द्विजः॥15।।
अदेशस्थं हि ते स्थानमिति व्याधोऽब्रवीदिदम्।
गृहं गच्छाव भगवन् यदि ते रोचतेऽनघ॥16।।

व्याध बोला—भगवन्! मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। द्विजश्रेष्ठ! आपका स्वागत है! मैं ही वह व्याध हूँ (जिसकी खोज में आपने यहाँ तक आने का कष्ट किया है)। आपका भला हो, आज्ञा दीजिये, मैं क्या करूँ?।।13।। उस पतिव्रता देवी ने जो आपसे यह कहकर भेजा है कि 'तुम मिथिलापुरी को जाओ।' वह सब मैं जानता हूँ। आप जिस उद्देश्य से यहाँ पधारे हैं, वह भी मुझे मालूम है।।।14।। व्याध की वह बात सुनकर ब्राह्मण को बड़ा विस्मय हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगा—'यह दूसरा आश्चर्य दृष्टिगोचर हुआ है'।।15।। इसके बाद व्याध ने कहा—'भगवन्! यह स्थान आपके ठहरने योग्य नहीं है। अनघ! यदि आपकी रुचि हो तो हम दोनों हमारे घर पर चलें'।।16।।

मार्कण्डेय उवच

बाढमित्येव तं विप्रो हृष्टो वचनमब्रवीत्।
अग्रतस्तु द्विजं कृत्वा स जगाम गृहं प्रति॥17।।
प्रविश्य च गृहं रम्यमासनेनाभिपूजितः।
अर्घ्येण च स वै तेन व्याधेन द्विजसत्तमः।
पाद्यमाचमनीयञ्च प्रतिगृह्य द्विजोत्तमः॥18।।
ततः सुखोपविष्टस्तं व्याधं वचनमब्रवीत्।
कर्मैतद् वै न सदृशं भवतः प्रतिभाति मे।
अनुतप्ये भृशं तात तव घोरेण कर्मणा॥19।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यह सुनकर ब्राह्मण को बड़ा हर्ष हुआ। उसने व्याध से कहा—'बहुत अच्छा, ऐसा ही करो।' तब व्याध ब्राह्मण को आगे करके घर की ओर चला।।17।। व्याध का घर बहुत सुन्दर था। वहाँ पहुँचकर उस व्याध ने ब्राह्मण को बैठने के लिए आसन दिया और अर्घ्य देकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मण की आदर सहित पूजा की।।18।। सुखपूर्वक बैठ जाने पर ब्राह्मण ने व्याध से कहा—'तात! यह मांस बेचने का काम निश्चय ही तुम्हारे योग्य नहीं है। तुझे तो तुम्हारे इस घोर कर्म से बहुत संताप हो रहा है'।।19।।

व्याध उवाच

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम्।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज॥20।।
विधात्रा विहितं पूर्वं कर्म स्वमनुपालयन्।
प्रयत्नाच्च गुरू वृद्धौ शुश्रूषेऽहं द्विजोत्तम॥21।।
सत्यं वदे नाभ्यसूये यथाशक्ति ददामि च।
देवतातिथिभृत्यानामवशिष्टेन वर्तये॥22।।
न कुत्सयाम्यहं किञ्चिन्न गर्हे बलवत्तरम्।
कृतमन्वेति कर्तारं पुरा कर्म द्विजोत्तम॥23।।
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यमिह लोकस्य जीवनम्।

दण्डनीतिस्त्रयी विद्या तेन लोको भवत्युत॥24॥
कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये संग्रामः क्षत्रिये स्मृतः।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं च ब्राह्मणे सदा॥25॥
राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वकर्मनिरताः प्रजाः।
विकर्माणश्च ये केचित् तान् युनक्ति स्वकर्मसु॥26॥
भेतव्यं हि सदा राज्ञः प्रजानामधिपा हि ते।
वारयन्ति विकर्मस्थं नृपा मृगमिवेषुभिः॥27॥
जनकस्येह विप्रर्षे विकर्मस्थो न विद्यते।
स्वकर्मनिरता वर्णाश्चत्वारोऽपि द्विजोत्तम॥28॥
स एष जनको राजा दुर्वृत्तमपि चेत् सुतम्।
दण्ड्यं दण्डे निक्षिपति तथा न ग्लाति धार्मिकम्॥29॥
सुयुक्तचारो नृपतिः सर्वं धर्मेण पश्यति।
श्रीश्च राज्यं च दण्डश्च क्षत्रियाणां द्विजोत्तम॥30॥

व्याध बोला—ब्रह्मन्! यह काम मेरे बाप दादों के समय से होता चला आ रहा है। मेरे कुल के लिए जो उचित है, वही धन्धा मैंने भी अपनाया है। मैं अपने धर्म का ही पालन कर रहा हूँ; अत: आप मुझ पर क्रोध न करें।।20।। द्विजश्रेष्ठ! विधाता ने इस कुल में जन्म देकर मेरे लिए जो कार्य प्रस्तुत किया है, उसका पालन करता हुआ मैं अपने बूढ़े माता-पिता की बड़े यत्न से सेवा करता रहता हूँ।।21।। सत्य बोलता हूँ। किसी की निन्दा नहीं करता और अपनी शक्ति के अनुसार दान भी करता हूँ। देवताओं, अतिथियों और भरण-पोषण के योग्य कुटुम्बीजनों तथा सेवकों को भोजन देकर जो बचता है, उसी से शरीर का निर्वाह करता हूँ।।22।। द्विजश्रेष्ठ! किसी के दोषों की चर्चा नहीं करता और अपने से बलिष्ठ पुरुष की निन्दा नहीं करता; क्योंकि पहले के किए हुए शुभाशुभ कर्मों का परिणाम स्वयं कर्त्ता को ही भोगना पड़ता है।।23।। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, दण्डनीति और त्रयीविद्या—ऋक्, यजु, साम के अनुसार यज्ञादि का अनुष्ठान करना और कराना ये लोगों की जीविका के साधन हैं। इनसे ही लौकिक और पारलौकिक उन्नति सम्भव होती है।।24।। शूद्र का कर्त्तव्य है सेवा कर्म, वैश्य का कार्य है खेती और युद्ध करना क्षत्रिय का कर्म माना गया है। ब्रह्मचर्य, तपस्या, मन्त्र जप, वेदाध्ययन तथा सत्यभाषण—ये सदा ब्राह्मण के पालन करने योग्य धर्म हैं।।25।। राजा अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्म में लगी हुई प्रजा का धर्मपूर्वक शासन करता है और जो कोई अपने कर्मों से गिरकर विपरीत दिशा में जा रहे हों, उन्हें पुन: अपने कर्त्तव्य के पालन में लगाता है।।26।। इसलिए राजाओं से सदा डरते रहना चाहिये; क्योंकि वे प्रजा के स्वामी हैं। जो लोग धर्म के विपरीत कार्य करते हैं, उन्हें राजा दण्ड द्वारा उसी प्रकार पाप से रोकते हैं, जैसे बाणों द्वारा वे हिंसक पशुओं को हिंसा से रोकते हैं।।27।। ब्रह्मर्षे! यह राजा जनक का नगर है, यहाँ कोई भी ऐसा नहीं है, जो वर्ण धर्म के विरुद्ध आचरण करे। द्विजश्रेष्ठ! यहाँ चारों वर्णों के लोग अपना-अपना कर्म करते हैं।।28।। ये राजा जनक दुराचारी को, वह अपना पुत्र ही क्यों न हो, दण्डनीय मानकर दण्ड देते ही हैं तथा

किसी भी धर्मात्मा को कष्ट नहीं पहुँचने देते हैं।।29।। विप्रवर! राजा जनक ने सब ओर गुप्तचर लगा रखे हैं, अतः उनके द्वारा वे धर्मानुसार सब पर दृष्टि रखते हैं। सम्पत्ति का उपार्जन, राज्य की रक्षा तथा अपराधियों को दण्ड देना—ये क्षत्रियों के कर्त्तव्य हैं।।30।।

राजानो हि स्वधर्मेण श्रियमिच्छन्ति भूयसीम्।
सर्वेषामेव वर्णानां त्राता राजा भवत्युत॥31।।
परेण हि हतान् ब्रह्मन् वराहमहिषानहम्।
न स्वयं हन्मि विप्रर्षे विक्रीणामि सदा त्वहम्॥32।।
न भक्षयामि मांसानि ऋतुगामी तथा ह्यहम्।
सदोपवासी च तथा नक्तभोजी सदा द्विज॥33।।
अशीलश्चापि पुरुषो भूत्वा भवति शीलवान्।
प्राणिहिंसारतश्चापि भवते धार्मिकः पुनः॥34।।
व्यभिचारान्नरेन्द्राणां धर्मः सङ्कीर्यते महान्।
अधर्मो वर्धते चापि सङ्कीर्यन्ते ततः प्रजाः॥35।।
भेरुण्डा वामनाः कुब्जाः स्थूलशीर्षास्तथैव च।
क्लीबाश्चान्धाश्च बधिरा जायन्तेऽत्युच्चलोचनाः॥36।।
पार्थिवानामधर्मत्वात् प्रजानामभवः सदा।
स एष राजा जनकः प्रजा धर्मेण पश्यति॥37।।
अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वा स्वधर्मनिरताः सदा।
(पात्येव राजा जनकः पितृवज्जनसत्तम।)
ये चैव मां प्रशंसन्ति ये च निन्दन्ति मानवाः॥38।।
सर्वान् सुपरिणीतेन कर्मणा तोषयाम्यहम्।
ये जीवन्ति स्वधर्मेण संयुञ्जन्ते च पार्थिवाः॥39।।
न किञ्चिदुपजीवन्ति दान्ता उत्थानशीलिनः।
शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षा धर्मनित्यता॥40।।
यथार्हं प्रति पूजा च सर्वभूतेषु वै सदा।
त्यागान्नान्यत्र मर्त्यानां गुणास्तिष्ठन्ति पूरुषे॥41।।

राजा लोग अपने धर्म का पालन करते हुए ही प्रचुर सम्पत्ति पाने की इच्छा रखते हैं और राजा सभी वर्णों का रक्षक होता है।।31।। ब्रह्मन्! मैं स्वयं किसी जीव की हिंसा नहीं करता। सदा दूसरों के मारे हुए सूअर और भैंसों का मांस बेचता हूँ।।32।। मैं स्वयं मांस कभी नहीं खाता। ऋतुकाल प्राप्त होने पर ही पत्नी समागम करता हूँ। द्विजप्रवर! मैं दिन में सदा ही उपवास और रात में भोजन करता हूँ।।33।। शील से रहित पुरुष भी कभी शीलवान् हो जाता है। प्राणियों की हिंसा में अनुरक्त मनुष्य भी फिर धर्मात्मा हो जाता है।।34।। राजाओं के व्यभिचार दोष से धर्म अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है और अधर्म बढ़ जाता है, इससे प्रजा में वर्णसङ्करता आ जाती है।।35।। उस दशा में भयङ्कर

आकृति वाले, बौने, कुबड़े, मोटे मस्तक वाले, नपुंसक, अन्धे, बहरे और अधिक ऊँचे नेत्रों वाले मनुष्य उत्पन्न होते हैं।।36।। राजाओं के अधर्म परायण होने से प्रजा की सदा अवनति होती है। हमारे ये राजा जनक समस्त प्रजा को धर्मपूर्ण दृष्टि से देखते हैं।।37।। नरश्रेष्ठ! राजा जनक सदा स्वधर्म में तत्पर रहने वाली सम्पूर्ण प्रजा पर अनुग्रह रखते हुए उसका पिता की भाँति सदा पालन करते हैं। जो लोग मेरी प्रशंसा करते हैं और जो निन्दा करते हैं, उन सबको अपने सद्व्यवहार से सन्तुष्ट रखता हूँ। जो राजा अपने धर्म का पालन करते हुए जीवन निर्वाह करते हैं, धर्म में ही संयुक्त रहते हैं, किसी दूसरे की कोई वस्तु अपने उपयोग में नहीं लाते तथा सदा अपनी इन्द्रियों पर संयम रखते हैं, वे ही उन्नतिशील होते हैं। अपनी शक्ति के अनुसार सदा दूसरों को अन्न देना, दूसरों के अपराध तथा शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहन करना, सदा धर्म में दृढ़तापूर्वक लगे रहना तथा सम्पूर्ण प्राणियों में सभी पूजनीय पुरुषों का यथायोग्य पूजन करना—ये मनुष्यों के सद्गुण पुरुष में स्वार्थ त्याग के बिना नहीं रह पाते हैं।।38-41।।

मृषा वादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः।
न च कामान्न संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत्॥42।।
प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्।
न मुह्येदर्थकृच्छ्रेषु न च धर्मं परित्यजेत्॥43।।
कर्म चेत् किञ्चिदन्यत् स्यादितरन्न तदाचरेत्।
यत्कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत्॥44।।
न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्।
आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति॥45।।
कर्म चैतदसाधूनां वृजिनानामसाधुवत्।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानाः शुचीनवहसन्ति ये॥46।।
अश्रद्दधाना धर्मस्य ते नश्यन्ति न संशयः।
महादृतिरिवाध्मातः पापो भवति नित्यदा।।47।।
(साधुः सन्नतिमानेव सर्वत्र द्विजसत्तम।)
मूढानामवलिप्तानामसारं भावितं भवेत्।
दर्शयत्यन्तरात्मा तं दिवा रूपमिवांशुमान्॥48।।
न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया।
अपि चेह श्रिया हीनः कृतविद्यः प्रकाशते॥49।।
अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्।
न कश्चिद् गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते॥50।।

झूठ बोलना छोड़ दे, बिना कहे ही दूसरों का प्रिय करे, काम, क्रोध तथा द्वेष से भी कभी धर्म का परित्याग न करे।।।42।। प्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर हर्ष से फूल न उठे, अपने मन के विपरीत कोई बात हो जाए तो दुःख न माने—चिन्तित न हो, अर्थ सङ्कट आ जाए तो भी मोह के वशीभूत हो घबराये नहीं और किसी भी अवस्था में

अपना धर्म न छोड़े।।43।। यदि भूल से कभी कोई निन्दित कर्म बन जाए, तो फिर दुबारा वैसा काम न करे। अपने मन और बुद्धि से विचार करने पर जो कल्याणकारी प्रतीत हो, उसी कार्य में अपने को लगावे।।44।। यदि कोई अपने साथ बुरा बर्ताव करे, तो स्वयं भी बदले में उसके साथ बुराई न करे। सबके साथ सदा सद्व्यवहार ही करे। जो पापी दूसरों का अहित करना चाहता है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है।।45।। यह (दूसरों का अहित करना) तो दुराचारी की भाँति दुर्व्यसनों में आसक्त हुए पापी पुरुषों का ही कार्यहै। 'धर्म कोई चीज नहीं है' ऐसा मानकर जो शुद्ध आचार-विचार वाले श्रेष्ठ पुरुषों की हँसी उड़ाते हैं, वे धर्म पर अश्रद्धा रखने वाले मनुष्य निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं। पापी मनुष्य लुहार की बड़ी धौंकनी के समान सदा ऊपर से फूले दिखलायी देते हैं (परन्तु वास्तव में सारहीन होते हैं)।।46-47।। द्विजश्रेष्ठ! उत्तम पुरुष सर्वत्र विनयशील ही होता है। अहङ्कारी मूढ़ मनुष्यों की सोची हुई प्रत्येक बार निःसार होती है। जैसे सूर्य दिन के रूप को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार मूर्खों की अन्तरात्मा ही उनके यथार्थ स्वरूप का दर्शन करा देती है।।48।। मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसा के बल से जगत् में प्रतिष्ठा नहीं पाता है, विद्वान् पुरुष कान्तिहीन हो, तो भी संसार में उसकी ख्याति बढ़ जाती है।।49।। किसी दूसरे की निन्दा न करे, अपनी मान प्रतिष्ठा की प्रशंसा न करे, कोई भी गुणवान् पुरुष परनिन्दा और आत्मप्रशंसा का त्याग किए बिना इस भूमण्डल में सम्मानित हुआ हो, यह नहीं देखा जाता है।।50।।

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते।
न तत् कुर्यां पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते॥51।।
कर्मणा येन तेनेह पापाद् द्विजवरोत्तम।
एवं श्रुतिरियं ब्रह्मन्धर्मेषु प्रतिदृश्यते॥52।।
पापान्यबुद्ध्वेह पुरा कृतानि प्राग् धर्मशीलोऽपि विहन्ति पश्चात्।
धर्मो राजन् नुदते पूरुषाणां यत् कुर्वते पापमिह प्रमादात्॥53।।
पापं कृत्वा हि मन्येत नाहमस्मीति पूरुषः।
तं तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः॥54।।
चिकीर्षेदेव कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः।
वसनस्येव छिद्राणि साधूनां विवृणोति यः।
अपश्यन्नात्मनो दोषान् स पापः प्रेत्य नश्यति॥55।।
पापं चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चन्द्रमाः॥56।।
यथाऽऽदित्यः समुद्यन् वै तमः पूर्वं व्यपोहति।
एवं कल्याणमातिष्ठन् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥57।।
पापानां विद्ध्यधिष्ठानं लोभमेव द्विजोत्तम।
तस्मात्तौ विदुषा विप्र वर्जनीयौ विशेषतः।
लुब्धाः पापं व्यवस्यन्ति नरा नातिबहुश्रुताः॥58।।

अधर्मा धर्मरूपेण तृणैः कूपा इवावृताः।
तेषां दमः पवित्राणि प्रलापा धर्मसंश्रिताः।
सर्वं हि विद्यते तेषु शिष्टाचारः सुदुर्लभः॥59॥

जो मनुष्य पाप कर्म बन जाने पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करता है, वह उस पाप से छूट जाता है तथा 'फिर कभी ऐसा कर्म नहीं करूँगा' ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर वह भविष्य में होने वाले दूसरे पाप से भी बच जाता है॥51॥ विप्रवर! शास्त्रविहित (जप, तप, यज्ञ, दान आदि) किसी भी कर्म का निष्काम भाव से आचरण करने पर पाप से छुटकारा मिल सकता है। ब्रह्मन्! धर्म के विषय में ऐसी श्रुति देखी जाती है॥52॥ पहले का धर्मशील पुरुष भी यदि अनजान में यहाँ कोई पाप कर बैठे तो वह पीछे (निष्काम पुण्य कर्म द्वारा) उस पाप को नष्ट कर देता है। राजन्! मनुष्यों का धर्म ही यहाँ प्रमादवश किए हुए उनके पापों को दूर कर देता है॥53॥ जो मनुष्य पाप करके भी यह मानता है कि 'मैं पापी नहीं हूँ' वह भूल करता है; क्योंकि देवता उसे और उसके पाप को देखते हैं तथा उसी के भीतर बैठा हुआ परमात्मा भी देखता ही है॥54॥ श्रद्धालु मनुष्य दूसरों के दोष देखना छोड़कर सदा सबके हित की ही इच्छा करे। जो पापी अपने दोषों की ओर से आँखें बन्द करके सदा दूसरे श्रेष्ठ पुरुषों के दोषों को ही कपड़े के छेदों की भाँति अधिकाधिक प्रकट करता और बढ़ाता है, वह मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो जाता है—परलोक में उसे कोई सुख नहीं मिलता है॥55॥ यदि मनुष्य पाप करके भी कल्याणकारी कर्म में लग जाता है, तो वह महामेघ से मुक्त हुए चन्द्रमा की भाँति सब पापों से मुक्त हो जाता है॥56॥ जैसे सूर्य उदय होने पर पहले के अन्धकार को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार कल्याणकारी शुभ कर्म का निष्काम भाव से अनुष्ठान करने वाला पुरुष सब पापों से छुटकारा पा जाता है॥57॥ विप्रवर! लोभ को ही पापों का घर समझो। जिन्होंने अधिकतर शास्त्रों का श्रवण नहीं किया है, वे लोभी मनुष्य ही पाप करने का विचार रखते हैं॥58॥ तिनके से ढ़के हुए कुओं की भाँति धर्म की आड़ में कितने ही अधर्म चल रहे हैं। धर्मात्मा के वेश में रहने वाले इन अधार्मिक मनुष्यों में इन्द्रिय संयम, पवित्रता और धर्म सम्बन्धी चर्चा आदि सभी गुण तो होते हैं, परन्तु उनमें शिष्टाचार (श्रेष्ठ पुरुषों का-सा आचार व्यवहार) अत्यन्त दुर्लभ है॥59॥

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रो महाप्राज्ञो धर्मव्याधमपृच्छत।
शिष्टाचारं कथमहं विद्यामिति नरोत्तम॥60॥
एतदिच्छामि भद्रं ते श्रोतुं धर्मभृतां वर।
त्वत्तो महामते व्याध तद् ब्रवीहि यथातथम्॥61॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर परम बुद्धिमान् कौशिक ने धर्मव्याध से पूछा—'नरश्रेष्ठ! मुझे शिष्टाचार का ज्ञान कैसे हो॥60॥ धर्मात्मओं में श्रेष्ठ महामते व्याध! तुम्हारा भला हो, मैं ये सब बातें तुमसे सुनना चाहता हूँ। अत: यथार्थ रूप से इनका वर्णन करो'॥61॥

व्याध उवाच

यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम।
पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा॥62।।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा दम्भं लोभमनार्जवम्।
धर्ममित्येव सन्तुष्टास्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः॥63।।
न तेषां विद्यतेऽवृत्तं यज्ञस्वाध्यायशीलिनाम्।
आचारपालनं चैव द्वितीयं शिष्टलक्षणम्॥64।।
गुरुशुश्रूषणं सत्यमक्रोधो दानमेव च।
एतच्चतुष्टयं ब्रह्मन् शिष्टाचारेषु नित्यदा॥65।।
शिष्टाचारे मनः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य च सर्वशः।
यामयं लभते वृत्तिं सा न शक्या ह्यतोऽन्यथा॥66।।
वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषत् त्यागः शिष्टाचारेषु नित्यदा॥67।।
ये तु धर्मानसूयन्ते बुद्धिमोहान्विता नराः।
अपथा गच्छतां तेषामनुयाता च पीड्यते॥68।।
ये तु शिष्टाः सुनियताः श्रुतित्यागपरायणाः।
धर्मपन्थानमारूढाः सत्यधर्मपरायणाः॥69।।
नियच्छन्ति परां बुद्धिं शिष्टाचारान्विता जनाः।
उपाध्यायमते युक्ताः स्थित्या धर्मार्थदर्शिनः॥70।।

व्याध ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! यज्ञ, दान, तपस्या, वेदों का स्वाध्याय और सत्यभाषण—ये पाँच पवित्र वस्तुएँ शिष्ट पुरुषों के आचार-व्यवहार में सदा देखी गई हैं।।62।। जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलता को वश में करके केवल धर्म को ही अपनाकर सन्तुष्ट रहते हैं, वे शिष्ट कहलाते हैं और उन्हीं का शिष्ट पुरुष आदर करते हैं।।63।। वे निरन्तर यज्ञ और स्वाध्याय में लगे रहते हैं। उनमें स्वेच्छाचार नहीं होता। सदाचार का पालन शिष्ट पुरुषों का दूसरा लक्षण है।।64।। ब्रह्मन्! शिष्टाचारी पुरुषों में गुरु की सेवा, सत्यभाषण, क्रोध का अभाव तथा दान—ये चार सद्गुण सदा रहते हैं।।65।। मनुष्य शिष्ट पुरुषों के उपुर्यक्त आचार में मन को सब प्रकार से स्थापित करके जिस उत्तम स्थिति को प्राप्त करता है, उसकी उपलब्धि और किसी प्रकार से नहीं हो सकती।।66।। वेद का सार है सत्य, सत्य का सार है इन्द्रिय संयम और इन्द्रिय संयम का सार है त्याग। यह त्याग शिष्ट पुरुषों के आचार में सदा विद्यमान रहता है।।67।। जो मनुष्य बुद्धि मोह से युक्त होकर धर्म मे दोष देखते हैं, वे स्वयं तो कुमार्गगामी होते ही है, उनके पीछे चलने वाला मनुष्य भी कष्ट पाता है।।68।। जो शिष्ट हैं, वे सदा ही नियमित जीवन व्यतीत करते हैं, वेदों के स्वाध्याय में तत्पर और त्यागी होते हैं। धर्म के मार्ग पर ही चलते हैं और सत्य धर्म को ही अपना परम आश्रय मानते हैं।।69।। शिष्टाचार

परायण मनुष्य अपनी उत्तम बुद्धि को भी संयम में रखते हैं, गुरु के सिद्धान्त के अनुसार चलते हैं और मर्यादा में स्थित होकर धर्म और अर्थ पर दृष्टि रखते हैं।।70।।

नास्तिकान् भिन्नमर्यादान् क्रूरान् पापमतौ स्थितान्।
त्यज तान्ज्ञानमाश्रित्य धार्मिकानुपसेव्य च॥71।।
कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर॥72।।
क्रमेण सञ्चितो धर्मो बुद्धियोगमयो महान्।
शिष्टाचारे भवेत् साधू रागः शुक्लेव वाससि॥73।।
अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम्।
अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्ये कृत्वा प्रतिष्ठां तु प्रवर्तन्ते प्रवृत्तयः॥74।।
सत्यमेव गरीयस्तु शिष्टाचारनिषेवितम्।
आचारश्च सतां धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः॥75।।
यो यथाप्रकृतिर्जन्तुः स स्वां प्रकृतिमश्नुते।
पापात्मा क्रोधकामादीन् दोषानाप्नोत्यनात्मवान्॥76।।
आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः।
अनाचारस्त्वधर्मेति एतच्छिष्टानुशासनम्॥77।।
अक्रुद्ध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहङ्कारमत्सराः।
ऋजवः शमसम्पन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते॥78।।
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो मनस्विनः।
गुरुशुश्रूषवो दान्ताः शिष्टाचारा भवन्त्युत॥79।।
तेषामहीनसत्त्वानां दुष्कराचारकर्मणाम्।
स्वैः कर्मभिः सत्कृतानां घोरत्वं सम्प्रणश्यति॥80।।

इसलिए तुम नास्तिक, धर्म की मर्यादा भङ्ग करने वाले, क्रूर तथा पापपूर्ण विचार रखने वाले पुरुषों का साथ छोड़ दो और ज्ञान का आश्रय लेकर धर्मात्मा पुरुषों की सेवा में रहो।।71।। यह शरीर एक नदी है। पाँच इन्द्रियाँ इसमें जल हैं। काम और लोभरूपी मगर इसके भीतर पड़े हैं। जन्म और मृत्यु के दुर्गम प्रदेश में यह नदी बह रही है। तुम धैर्य की नाव पर बैठो और इसके दुर्गम स्थानों—जन्म आदि क्लेशों को पार कर जाओ।।72।। जैसे कोई भी रङ्ग सफेद कपड़े पर ही अच्छी तरह खिलता है, उसी प्रकार शिष्टाचार का पालन करने वाले पुरुष में ही क्रमशः सञ्चित किया हुआ बुद्धियोगमय महान् धर्म भलीभाँति प्रकाशित होता है।।73।। अहिंसा और सत्यभाषण—ये समस्त प्राणियों के लिए अत्यन्त हितकर हैं। अहिंसा सबसे महान् धर्म है, परन्तु वह सत्य में ही प्रतिष्ठित है। सत्य के आधार पर श्रेष्ठ पुरुषों के सभी कार्य आरम्भ होते हैं।।74।। अतः शिष्ट पुरुषों के आचार में गृहीत सत्य ही सबसे अधिक गौरव की वस्तु है। सदाचार ही श्रेष्ठ पुरुषों का धर्म है। सदाचार से ही सन्तों की पहचान होती है।।75।। जिस जीव की

जैसी प्रकृति होती है, वह अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करता है। अपने मन को वश में न रखने वाला पापात्मा पुरुष ही काम, क्रोध आदि दोषों को प्राप्त होता है।।76।। 'जो आरम्भ न्याययुक्त हो, वही धर्म कहा गया है। इसके विपरीत जो अनाचार है, वह अधर्म है' ऐसा शिष्ट पुरुषों का कथन है।।77।। जिनमें क्रोध का अभाव है, जो दूसरों के दोष नहीं देखते, जिनमें अहङ्कार और ईर्ष्या का अभाव है, जो सरल तथा मनोनिग्रह से सम्पन्न हैं, वे शिष्टाचारी कहलाते हैं।।78।। जो तीनों वेदों के विद्वानों में श्रेष्ठ, पवित्र, सदाचारी, मनस्वी, गुरुसेवक और जितेन्द्रिय हैं, वे शिष्टाचारी कहे जाते है।।79।। जो सत्त्व गुण से सम्पन्न हैं, जिनके आचार और कर्म पापियों के लिए कठिन हैं तथा जो संसार में अपने सत्कर्मों के द्वारा सत्कृत हैं, उनके हिंसा आदि दोष स्वतः नष्ट हो जाते हैं।।80।।

तं सदाचारमाश्चर्यं पुराणं शाश्वतं ध्रुवम्।
धर्मं धर्मेण पश्यन्तः स्वर्गं यान्ति मनीषिणः॥81।।
आस्तिका मानहीनाश्च द्विजातिजनपूजकाः।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नाः सन्तः स्वर्गनिवासिनः॥82।।
वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
धारणं चापि विद्यानां तीर्थानामवगाहनम्॥83।।
क्षमा सत्यार्जवं शौचं सतामाचारदर्शनम्।
सर्वभूतदयावन्तो अहिंसानिरताः सदा॥84।।
परुषं च न भाषन्ते सदा सन्तो द्विजप्रियाः।
शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसञ्चये॥85।।
विपाकमभिजानन्ति ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः।
न्यायोपेता गुणोपेताः सर्वलोकहितैषिणः॥86।।
सन्तः स्वर्गजितः शुक्लाः सन्निविष्टाश्च सत्पथे।
दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः॥87।।
सर्वपूज्याः श्रुतधनास्तथैव च तपस्विनः।
सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः॥88।।
दानशिष्टाः सुखाँल्लोकानाप्नुवन्तीह च श्रियम्।
पीडया च कलत्रस्य भृत्यानां च समाहिताः॥89।।
अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः।
लोकयात्रां च पश्यन्तो धर्ममात्महितानि च॥90।।

जिसका श्रेष्ठ पुरुषों ने पालन किया है, जो अनादि, सनातन और नित्य हैं, उस धर्म को धर्मदृष्टि से ही देखने वाले मनीषी पुरुष स्वर्गलोक में जाते हैं।।81।। जो आस्तिक, अहङ्कारशून्य, ब्राह्मणों का समादर करने वाले, विद्वान् और सदाचार से सम्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्ग में निवास करते हैं।।82।। जिसका वेदों में वर्णन है, वह धर्म का पहला लक्षण है। धर्मशास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया गया है, वह धर्म का

दूसरा लक्षण है और शिष्टाचार धर्म का तीसरा लक्षण है। इस प्रकार शिष्ट पुरुषों ने धर्म के तीन लक्षण स्वीकार किए हैं। सब विद्याओं का अध्ययन, सब तीर्थों में स्नान, क्षमा, सत्य, सरलता और शौच (पवित्रता)—ये श्रेष्ठ पुरुषों के आचार को लक्षित कराने वाले हैं। जो समस्त प्राणियों पर दया करते, सदा अहिंसा धर्म के पालन में तत्पर रहते और कभी किसी से कटु वचन नहीं बोलते, ऐसे सन्त सदा समस्त द्विजों के प्रिय होते हैं। जो शुभ और अशुभ कर्मों के फल सञ्चय से सम्बन्ध रखने वाले परिणाम को जानते हैं, वे शिष्ट कहे गये हैं और शिष्ट पुरुषों में उनका समादर होता है। जो न्यायपरायण, सद्गुण सम्पन्न, सब लोगों का हित चाहने वाले, हिंसारहित और सन्मार्ग पर चलने वाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष स्वर्गलोक पर विजय पाते हैं। जो सबको दान देने वाले, अपने कुटुम्बी जनों में प्रत्येक वस्तु को समान रूप से बाँट कर उसका उपयोग करने वाले, दीनजनों पर कृपा भाव बनाये रखने वाले, शास्त्रज्ञान के धनी, सबके लिए समादरणीय, तपस्वी और समस्त प्राणियों के प्रति दयालु हैं, वे श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सम्मानित शिष्ट कहे गये हैं।।83-88।। जो दान से अवशिष्ट वस्तु का उपयोग करने वाले हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोक में सम्पत्ति और परलोक में सुखमय लोक प्राप्त करते हैं। शिष्ट पुरुषों के पास जब उत्तम पुरुष कुछ माँगने के लिए पधारते हैं, उस समय वे अपनी स्त्री तथा कुटुम्बीजनों को कष्ट देकर भी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्ति से अधिक दान देते हैं। न्यायपूर्वक लोक यात्रा का निर्वाह कैसे हो? धर्म की रक्षा और आत्मा का कल्याण किस प्रकार हो? इन्हीं बातों की ओर उनकी दृष्टि रहती है।।89-90।।

एवं सन्तो वर्तमानास्त्वेधन्ते शाश्वतीः समाः।
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यमथार्जवम्॥91।।
अद्रोहो नाभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः।
धीमन्तो धृतिमन्तश्च भूतानामनुकम्पकाः॥92।।
अकामद्वेषसंयुक्तास्ते सन्तो लोकसाक्षिणः।
त्रीण्येव तु पदान्याहुः सतां व्रतमनुत्तमम्॥93।।
न चैव द्रुह्येद् दद्याच्च सत्यं चैव सदा वदेत्।
सर्वत्र च दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः॥94।।
गच्छन्तीह सुसन्तुष्टा धर्मपन्थानमुत्तमम्।
शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः॥95।।
अनसूया क्षमा शान्तिः सन्तोषः प्रियवादिता।
कामक्रोधपरित्यागः शिष्टाचारनिषेवणम्॥96।।
कर्म च श्रुतसम्पन्नं सतां मार्गमनुत्तमम्।
शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्ममनुव्रताः॥97।।
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यन्ते महतो भयात्।
प्रेक्षन्तो लोकवृत्तानि विविधानि द्विजोत्तम॥98।।
अतिपुण्यानि पापानि तानि द्विजवरोत्तम।

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम्।
शिष्टाचारगुणं ब्रह्मन् पुरस्कृत्य द्विजर्षभ॥99॥

ऐसा बर्ताव करने वाले सन्त पुरुष अनन्त काल तक उन्नति की ओर अग्रसर होते रहते हैं। जो अहिंसा, सत्य भाषण, कोमलता, सरलता, अद्रोह, अहङ्कार का त्याग, लज्जा, क्षमा, शम, दम—इन गुणों से युक्त बुद्धिमान्, धैर्यवान, समस्त प्राणियों पर अनुग्रह करने वाले तथा राग-द्वेष से रहित हैं, वे सन्त सम्पूर्ण लोकों के लिए प्रमाणभूत हैं। श्रेष्ठ पुरुष तीन ही पद बताते हैं—किसी से द्रोह न करे, दान करे और सदा सत्य ही बोले। यह श्रेष्ठ पुरुषों का सर्वोत्तम व्रत है। जो सर्वत्र दया करते हैं, जिनके हृदय में करुणा की अनुभूति होती है, वे श्रेष्ठ पुरुष इस लोक में अत्यन्त सन्तुष्ट रहकर धर्म के उत्तम पथ पर चलते हैं। जिन्होंने धर्म को अपनाये रखने का दृढ़ निश्चय कर लिया है, वे ही महात्मा सदाचारी हैं॥91-95॥ दोष दृष्टि का अभाव, क्षमा, शान्ति, सन्तोष, प्रियभाषण और काम क्रोध का त्याग, शिष्टाचार का सेवन और शस्त्र के अनुकूल कर्म करना—यह श्रेष्ठ पुरुषों का अति उत्तम मार्ग है। द्विजश्रेष्ठ! जो धर्मात्मा पुरुष सदा शिष्टाचार का सेवन करते हैं और प्रज्ञारूपी प्रासाद पर आरूढ़ हो भाँति-भाँति के लोकचरित्रों का निरीक्षण तथा अत्यन्त पुण्य एवं पापकर्मों की समीक्षा करते हैं, वे महान् भय से मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्मन्! विप्रवर! इस प्रकार शिष्टाचार के गुणों के सम्बन्ध में मैंने जैसा जाना और सुना है, वह सब आपसे कह सुनाया है॥96-99॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 207 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में ब्राह्मण व्याध संवाद विषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ॥207॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठ के 1½ श्लोक मिलाकर कुल 100½ श्लोक हैं।)

चतुर्थोऽध्यायः

धर्मव्याध द्वारा हिंसा और अहिंसा का विवेचन

मार्कण्डेय उवाच

स तु विप्रमथोवाच धर्मव्याधो युधिष्ठिर।
यदहमाचरे कर्म घोरमेतदसंशयम्॥1॥
विधिस्तु बलवान् ब्रह्मन् दुस्तरं हि पुरा कृतम्।
पुरा कृतस्य पापस्य कर्मदोषो भवत्ययम्॥2॥
दोषस्यैतस्य वै ब्रह्मन् विघाते यत्नवानहम्।
विधिना हि हते पूर्वं निमित्तं घातको भवेत्॥3॥
निमित्तभूता हि वयं कर्मणोऽस्य द्विजोत्तम।

येषां हतानां मांसानि विक्रीणामीह वै द्विज॥4॥
तेषामपि भवेद् धर्म उपयोगे न भक्षणे।
देवतातिथिभृत्यानां पितृणां चापि पूजनम्॥5॥
ओषध्यो वीरुधश्चैव पशवो मृगपक्षिणः।
अनादिभूता भूतानामित्यपि श्रूयते श्रुतिः॥6॥
आत्ममांसप्रसादेन शिबिरौशीनरो नृपः।
स्वर्गं सुदुर्गमं प्राप्तः क्षमावान् द्विजसत्तम॥7॥
स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम।
पुरा कृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा॥8॥
स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः॥9॥
पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुञ्चति।
धात्रा विधिरयं दृष्टो बहुधा कर्मनिर्णये॥10॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर धर्मव्याध ने कौशिक ब्राह्मण से कहा—'मैं जो यह मांस बेचने का व्यवसाय कर रहा हूँ, वास्तव में यह अत्यन्त घोर कर्म है, इसमें संशय नहीं है।।1।। किन्तु ब्रह्मन्! दैव बलवान् है। पूर्व जन्म में किए हुए कर्म का ही नाम दैव है। उससे पार पाना बहुत कठिन है। यह जो कर्म दोषजनित व्याध के घर जन्म हुआ है, यह मेरे पूर्वजन्म में किए हुए पाप का ही फल है। ब्रह्मन्! मैं इस दोष के निवारण के लिए प्रयत्नशील हूँ। क्योंकि विधाता के द्वारा पहले से ही जीव की मृत्यु निश्चित की जाती है; किन्तु घातक (कसाई अथवा व्याध) उसमें निमित्त बन जाता है अर्थात् जो स्वेच्छा से ज्ञानपूर्वक जीव हिंसा करता है, वह घातक व्यर्थ ही निमित्त बनकर दोष का भागी होता है।।2-3।। द्विजश्रेष्ठ! इस कार्य में हम निमित्त मात्र हैं। ब्रह्मन्! मैं जिन मारे गये प्राणियों का मांस बेचता हूँ, उनके जीते जी यदि उनका सदुपयोग किया जाता तो बड़ा धर्म होता। मांस भक्षण में तो धर्म का नाम भी नहीं है (उलटे महान् अधर्म होता है)। देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन और पितरों का पूजन (आदर-सत्कार) अवश्य धर्म है।।4-5।। ओषधियाँ, अन्न, तृण, लता, पशु, मृग और पक्षी आदि सभी वस्तुएँ सम्पूर्ण प्राणियों के अनादिकाल से उपयोग में आती रहती हैं—ऐसी श्रुति भी सुनी जाती है।।6।। द्विजश्रेष्ठ! उशीनर के पुत्र क्षमाशील (और दयालु) राजा शिवि ने (एक भूखे बाज को कबूतर के बदले) अपने शरीर का मांस अर्पित कर दिया था और उसी के प्रसाद से उन्हें परम दुर्लभ स्वर्गलोक की प्राप्ति हुई थी।।7।। विप्रवर! मैं अपना स्वधर्म समझ कर यह धन्धा नहीं छोड़ रहा हूँ। पहले से मेरे पूर्वज यही करते आये हैं, ऐसा समझ कर मैं इसी कर्म से जीवन निर्वाह करता हूँ।।8।। ब्रह्मन्! अपने कर्म का परित्याग करने वाले को यहाँ अधर्म की प्राप्ति देखी जाती है। जो अपने कर्म में तत्पर है, उसी का बर्ताव धर्मपूर्ण है, ऐसा सिद्धान्त है।।9।। पहले का किया हुआ कर्म देहधारी मनुष्य को नहीं छोड़ता है। बहुधा कर्म का निर्णय करते समय विधाता ने इसी विधि को अपने सामने रखा है।।10।।

द्रष्टव्या तु भवेत् प्रज्ञा क्रूरे कर्मणि वर्तता।
कथं कर्म शुभं कुर्यां कथं मुच्ये पराभवात्॥11॥
कर्मणस्तस्य घोरस्य बहुधा निर्णयो भवेत्।
दाने च सत्यवाक्ये च गुरुशुश्रूषणे तथा॥12॥
द्विजातिपूजने चाहं धर्मे च निरतः सदा।
अभिमानातिवादाभ्यां निवृत्तोऽस्मि द्विजोत्तम॥13॥
कृषिं साध्विति मन्यन्ते तत्र हिंसा परा स्मृता।
कर्षन्तो लाङ्गलैः पुंसो घ्नन्ति भूमिशयान्बहून्।
जीवानन्यांश्च बहुशस्तत्र किं प्रतिभाति ते॥14॥
धान्यबीजानि यान्याहुर्व्रीह्यादीनि द्विजोत्तम।
सर्वाण्येतानि जीवानि तत्र किं प्रतिभाति ते॥15॥
अध्याक्रम्य पशूंश्चापि घ्नन्ति वै भक्षयन्ति च।
वृक्षांस्तथौषधीश्चापि छिन्दन्ति पुरुषा द्विज॥16॥
जीवा हि बहवो ब्रह्मन् वृक्षेषु च फलेषु च।
उदके बहवश्चापि तत्र किं प्रतिभाति ते॥17॥
सर्वं व्याप्तमिदं ब्रह्मन् प्राणिभिः प्राणिजीवनैः।
मत्स्यान् ग्रसन्ते मत्स्याश्च तत्र किं प्रतिभाति ते॥18॥
सत्त्वैः सत्त्वानि जीवन्ति बहुधा द्विजसत्तम।
प्राणिनोऽन्योन्यभक्षाश्च तत्र किं प्रतिभाति ते॥19॥
चङ्क्रम्यमाणा जीवांश्च धरणीसंश्रितान् बहून्।
पद्भ्यां घ्नन्ति नरा विप्र तत्र किं प्रतिभाति ते॥20॥

जो क्रूर कर्म में लगा हुआ है, उसे सदा यह सोचते रहना चाहिए कि 'मैं कैसे शुभ कर्म करूँ और किस प्रकार इस निन्दित कर्म से छुटकारा पाऊँ'॥11॥ बार-बार ऐसा करने से उस घोर कर्म से छूटने के विषय में कोई निश्चित उपाय प्राप्त हो जाता है। द्विजश्रेष्ठ! मैं दान, सत्यभाषण, गुरुसेवा, ब्राह्मणपूजन तथा धर्मपालन में सदा तत्पर रहकर अभिमान और अतिवाद से दूर रहता हूँ॥12-13॥ कुछ लोग खेती को उत्तम मानते हैं, परन्तु उसमें बहुत बड़ी हिंसा होती है। हल चलाने वाले मनुष्य धरती के भीतर शयन करने वाले बहुत-से प्राणियों की हत्या कर डालते हैं। इनके सिवा और भी बहुत-से जीवों का वध वे करते रहते हैं। इस विषय में आप क्या समझते हैं?॥14॥ द्विजश्रेष्ठ! धान आदि जितने अन्न के बीज हैं, वे सब-के-सब जीव ही हैं; अतः इस विषय में आप क्या समझते हैं?॥15॥ विप्रवर! कितने ही मनुष्य पशुओं पर आक्रमण करके उन्हें मारते और खाते हैं। वृक्षों तथा ओषधियों (अन्न के पौधों) को काटते हैं। वृक्षों और फलों में भी बहुत-से जीव रहते हैं। जल में भी नाना प्रकार के जीव रहते हैं। ब्रह्मन्! उनके विषय में आप क्या समझते हैं?॥16-17॥ जीवों से ही जीवन निर्वाह करने वाले जीवों द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है। मत्स्य मत्स्यों तक को अपना ग्रास बना लेते हैं। उनके विषय में आप क्या समझते हैं?॥18॥ द्विजश्रेष्ठ! बहुधा जीव जीवों से ही

जीवन धारण करते हैं और प्राणी स्वयं ही एक-दूसरे को अपना आहार बना लेते हैं। उनके विषय में आप क्या समझते हैं?।।19।। मनुष्य चलते-फिरते समय धरती के बहुत-से जीव-जन्तुओं को (असावधानीपूर्वक) पैरों से मार देते हैं। ब्रह्मन्! उनके विषय में आप क्या समझते हैं?।।20।।

उपविष्टाः शयानाश्च घ्नन्ति जीवाननेकशः।
ज्ञानविज्ञानवन्तश्च तत्र किं प्रतिभाति ते॥21।।
जीवैर्ग्रस्तमिदं सर्वमाकाशं पृथिवी तथा।
अविज्ञानाच्च हिंसन्ति तत्र किं प्रतिभाति ते॥22।।
अहिंसेति यदुक्तं हि पुरुषैर्विस्मितैः पुराः।
के न हिंसन्ति जीवान् वै लोकेऽस्मिन् द्विजसत्तम।
बहु सञ्चित्य इति वै नास्ति कश्चिदहिंसकः॥23।।
अहिंसायां तु निरता यतयो द्विजसत्तम।
कुर्वन्त्येव हि हिंसां ते यत्नादल्पतरा भवेत्॥24।।
आलक्ष्याश्चैव पुरुषाः कुले जाता महागुणाः।
महाघोराणि कर्माणि कृत्वा लज्जन्ति वै द्विज॥25।।
सुहृदः सुहृदोऽन्यांश्च दुर्हृदश्चापि दुहृदः।
सम्यक् प्रवृत्तान् पुरुषान्न सम्यगनुपश्यतः॥26।।
समृद्धैश्च न नन्दन्ति बान्धवा बान्धवैरपि।
गूरूंश्चैव विनिन्दन्ति मूढाः पण्डितमानिनः॥27।।
बहु लोके विपर्यस्तं दृश्यते द्विजसत्तम।
धर्मयुक्तमधर्मं च तत्र किं प्रतिभाति ते॥28।।
वक्तुं बहुविधं शक्यं धर्माधर्मेषु कर्मसु।
स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान् महत्॥29

ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न पुरुष भी (अनजान में) बैठते सोते समय अनेक जीवों की हिंसा कर बैठते हैं। उनके विषय में आप क्या समझते हैं?।।21।। आकाश से लेकर पृथ्वी तक यह सारा जगत् जीवों से भरा हुआ है। कितने ही मनुष्य अनजान में भी जीव हिंसा करते हैं। इस विषय में आप क्या समझते हैं?।।22।। पूर्वकाल के अभिमानशून्य श्रेष्ठ पुरुषों ने जो अहिंसा का उपदेश किया है (उसका तत्त्व समझना चाहिये; क्योंकि) द्विजश्रेष्ठ! (स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो) इस संसार में कौन जीव हिंसा नहीं करते हैं? बहुत सोच-विचार कर मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि कोई भी (क्रियाशील मनुष्य) अहिंसक नहीं है।।23।। द्विजश्रेष्ठ!। यति लोग अहिंसा धर्म के पालन में तत्पर होते हैं, परन्तु वे भी हिंसा कर ही डालते हैं (अर्थात् उनके द्वारा भी हिंसा हो ही जाती है)। अवश्य ही यत्नपूर्वक चेष्टा करने से हिंसा की मात्रा बहुत कम हो सकती है।।24।। ब्रह्मन्! उत्तम कुल में उत्पन्न, परम सद्गुण सम्पन्न और श्रेष्ठ माने जाने वाले पुरुष भी अत्यन्त भयानक कर्म करके लज्जा का अनुभव करते ही हैं।।25।। मित्र दूसरे मित्रों को

और शत्रु अपने शत्रुओं को, वे अच्छे कर्म में लगे हुए हों तो भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखते।।26।। बन्धु बान्धव अपने समृद्धिशाली बान्धवों से भी प्रसन्न नहीं रहते। अपने को पण्डित मानने वाले मूढ़ मनुष्य गुरुजनों की भी निन्दा करते हैं।।27।। द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार जगत् में अनेक उल्टी बातें दिखायी देती हैं। अधर्म भी धर्म से युक्त प्रतीत होता है। इस विषय में आप क्या समझते हैं?।।28।। धर्म और अधर्म सम्बन्धी कार्यों के विषय में और भी बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। अतएव जो अपने कुलोचित कर्म में लगा हुआ है, वही महान् यश का भागी होता है'।।29।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि पतिव्रतोपाख्याने ब्राह्मणव्याधसंवादे अष्टाधिकद्विशततमोऽध्याय: ॥ 208 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में पतिव्रतोपाख्यान के प्रसङ्ग में ब्राह्मण व्याध संवाद विषयक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।208।।

पञ्चमोऽध्याय :

धर्म की सूक्ष्मता, शुभाशुभ कर्म और उनके फल तथा ब्रह्म की प्राप्ति के उपायों का वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

धर्मव्याधस्तु निपुणं पुनरेव युधिष्ठिर।
विप्रर्षभमुवाचेदं सर्वधर्मभृतां वर:॥1।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—सम्पूर्ण धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! तदनन्तर धर्मव्याध ने विप्रवर कौशिक से पुन: कुशलतापूर्वक कहना आरम्भ किया।।1।।

व्याध उवाच

श्रुतिप्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम्।
सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका॥2।।
प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्।
अनृतेन भवेत् सत्यं सत्येनैवानृतं भवेत्॥3।।
यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा।
विपर्ययकृतोऽधर्म: पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम्॥4।।
यत् करोत्यशुभं कर्म शुभं वा यदि सत्तम।
अवश्यं तत् समाप्नोति पुरुषो नात्र संशय:॥5।।
विषमां च दशां प्राप्तो देवान् गर्हति वै भृशम्।
आत्मन: कर्मदोषाणि न विजानात्यपण्डित:॥6।।
मूढो नैकृतिकश्चापि चपलश्च द्विजोत्तम।
न शुभं कर्म बध्नाति पुरुषं पापनिश्चयम्।

सुखदुःखविपर्यासान् सदा समुपपद्यते॥7।।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नैव पौरुषम्।
योऽयमिच्छेद्यथा कामं तं तं कामं स आप्नुयात्॥8।।
यदि स्यादपराधीनं पौरुषस्य क्रियाफलम्।
संयताश्चापि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः॥9।।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः।
भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः॥10।।
वञ्चनायां च लोकस्य सुखी जीवते सदा।
अचेष्टमपि चासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठति॥11।।
कश्चित् कर्माणि कुर्वन् हि न प्राप्यमधिगच्छति।
देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः॥12।।
दशमासधृता गर्भे जायन्ते कुलपांसनाः।
अपरे धनधान्यैश्च भोगैश्च पितृसञ्चितैः॥13।।
विपुलैरभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः।
न देहजा मनुष्याणां व्याधयो द्विजसत्तम।
कर्मजा हि मनुष्याणां रोगा नास्त्यत्र संशयः॥14।।
आधिभिश्चैव बाध्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव।
ते चापि कुशलैर्वैद्यैर्निपुणैः सम्भृतौषधैः॥15।।
व्याधयो विनिवार्यन्ते मृगा व्याधैरिव द्विज।
येषामस्ति च भोक्तव्यं ग्रहणीदोषपीडिताः॥16।।
न शक्नुवन्ति ते भोक्तुं पश्य धर्मभृतां वर।
अपरे बाहुबलिनः क्लिश्यन्ते बहवो जनाः॥17।।
दुःखेन चाधिगच्छन्ति भोजनं द्विजसत्तम।
इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम्॥18।।
स्रोतसासकृदाक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा।
न म्रियेयुर्न जीर्येयुः सर्वे स्युः सार्वकामिकाः॥19।।
नाप्रियं प्रतिपश्येयुर्वशित्वं यदि वै भवेत्।
उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा॥20।।

व्याध बोला—वृद्ध पुरुषों का कहना है कि 'धर्म के विषय में केवल वेद ही प्रमाण है।' यह ठीक है, तो भी धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। उसके अनन्त भेद और अनेक शाखाएँ हैं।।2।। (वेद के अनुसार सत्य धर्म और असत्य अधर्म है, परन्तु) यदि किसी के प्राणों पर सङ्कट आ जाए अथवा कन्या आदि का विवाह तै करना हो तो ऐसे अवसरों पर प्राण रक्षा आदि के लिए झूठ बोलने की आवश्यकता पड़ जाए, तो वहाँ असत्य से ही सत्य का फल मिलता है। इसके विपरीत (यदि सत्य भाषण से किसी के प्राणों पर सङ्कट आ गया, तो वहाँ) सत्य से ही असत्य का फल प्राप्त होता है।।3।।

जिससे परिणाम में प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो, वह वास्तव में सत्य है। इसके विपरीत जिससे किसी का अहित होता हो या दूसरों के प्राण जाते हों, वह देखने में सत्य होने पर भी वास्तव में असत्य एवं अधर्म है।[1] इस प्रकार विचार करके देखिये, धर्म की गति कितनी सूक्ष्म है।।4।। सज्जन शिरोमणे! मनुष्य जो शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है, इसमें संशय नहीं है।।5।। मूर्ख मानव सङ्कट की दशा में पड़ने पर देवताओं को बहुत कोसता है, उनकी भरपेट निन्दा करता है; किन्तु वह यह नहीं समझता कि यह अपने ही कर्मों का दोषावह परिणाम है।।6।। द्विजश्रेष्ठ! मूर्ख, शठ और चञ्चल चित्त वाला मनुष्य सदा ही भ्रमवश सुख में दु:ख और दु:ख में सुख बुद्धि कर लेता है। उस समय बुद्धि, उत्तम नीति (शिक्षा) तथा पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते। यदि पुरुषार्थजनित कर्म का फल पराधीन न होता, तो जिसकी जो इच्छा होती, उसी को वह प्राप्त कर लेता। किन्तु बड़े-बड़े संयमी, कार्यकुशल और बुद्धिमान् मनुष्य भी अपना काम करते-करते थक जाते हैं, तो भी वे इच्छानुसार फल की प्राप्ति से वञ्चित ही देखे जाते हैं। तथा दूसरा मनुष्य, जो निरन्तर जीवों की हिंसा के लिए उद्यत रहता है और सदा लोगों को ठगने में ही लगा रहता है, वह सुखपूर्वक जीवन बिताता देखा जाता है। कोई बिना उद्योग किए चुपचाप बैठा रहता है और लक्ष्मी उसकी सेवा में उपस्थित हो जाती है और कोई सदा काम करते रहने पर भी अपने उचित वेतन से भी वञ्चित रह जाता है (ऐसा देखा जाता है)। कितने ही दीन मनुष्य पुत्र की कामना रखकर देवताओं को पूजते और कठिन तपस्या करते हैं, तो भी उनके द्वारा गर्भ में स्थापित तथा दस मास तक माता के उदर में पालित होकर जो पुत्र पैदा होते हैं, वे कुलाङ्गार निकल जाते हैं।[2] और दूसरे बहुत-से ऐसे भी हैं, जो अपने पिता के द्वारा जोड़कर रखे हुए धन धान्य तथा भोग-विलास के प्रचुर साधनों के साथ पैदा होते हैं और उनकी प्राप्ति भी उन्हीं माङ्गलिक कृत्यों के अनुष्ठान से होती है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यों के जो रोग होते हैं, वे उनके कर्मों के ही फल हैं। जैसे बहेलिये छोटे मृगों को पीड़ा देते हैं, उसी प्रकार वे रोग और आधि-व्याधियाँ जीवों को पीड़ा देती रहती हैं। ब्रह्मन्! (उनका भोग पूरा होने पर) ओषधियों का संग्रह करने वाले चिकित्सा कुशल चतुर चिकित्सक उन रोग-व्याधियों का उसी प्रकार निवारण कर देते हैं, जैसे व्याध मृगों को भगा देते हैं। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ कौशिक! देखो, जिनके यहाँ भोजन का भण्डार भरा पड़ा है, उन्हें प्राय: संग्रहणी सता रही है, वे उसका उपभोग नहीं कर पाते। विप्रवर!

---

1. कर्ण पर्व के उनहत्तरवें अध्याय में छियालीसवें से तिरपनवें श्लोकों में एक कथा आती है। कौशिक नाम का एक तपस्वी ब्राह्मण था। उसने यह व्रत ले लिया कि 'मैं सदा सत्य बोलूँगा।' एक दिन कुछ लोग लुटेरों के भय से छिपने के लिए उसके आश्रम के पास के वन में घुस गये। खोज करते हुए लुटेरों ने सत्यवादी कौशिक से पूछा। उनके पूछने पर कौशिक ने सच्ची बात कह दी। पता लग जाने पर उन निर्दयी डाकुओं ने उन लोगों को पकड़कर मार डाला। इस प्रकार सत्य बोलने के कारण लोगों की हिंसा हो जाने से उस पाप के फलस्वरूप कौशिक को नरक जाना पड़ा।
2. धर्म की गति सूक्ष्म होने के कारण देखने में विपरीतता दीखती है; किन्तु वास्तव में वह पूर्वकृत कर्मों का फल है।

दूसरे बहुत-से ऐसे मनुष्य हैं, जिनकी भुजाओं में बल है—जो स्वस्थ और अन्न को पचाने में समर्थ हैं, परन्तु उन्हें बड़ी कठिनाई से भोजन मिल पाता है—वे सदा ही अन्न का कष्ट भोगते रहते हैं। इस प्रकार यह संसार असहाय तथा मोह, शोक में डूबा हुआ है। कर्मों के अत्यन्त प्रबल प्रवाह में पड़कर बार-बार उसकी आधि-व्याधि रूपी तरङ्गों के थपेड़े सहता और विवश होकर इधर से उधर बहता रहता है। यदि जीव अपने वश में होते तो वे न मरते और न बूढ़े ही होते। सभी सब तरह की मनचाही वस्तुओं को प्राप्त कर लेते। किसी को अप्रिय घटना नहीं देखनी पड़ती। सब लोग सारे जगत् के ऊपर ऊपर जाने की इच्छा रखते हैं—सभी सबसे ऊँचा होना चाहते हैं और उसके लिए वे यथाशक्ति प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु (सभी जगह) वैसा होता नहीं है।।7-20।।

बहवः सम्प्रदृश्यन्ते तुल्यनक्षत्रमङ्गलाः।
महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसन्धिषु॥21।।
न केचिदीशते ब्रह्मन् स्वयंग्राहस्य सत्तम।
कर्मणां प्राक्कृतानां वै इह सिद्धिः प्रदृश्यते॥22।।
यथाश्रुतिरियं ब्रह्मन् जीवः किल सनातनः।
शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह॥23।।
वध्यमाने शरीरे तु देहनाशो भवत्युत।
जीवः सङ्क्रमतेऽन्यत्र कर्मबन्धनिबन्धनः॥24।।

बहुत-से ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं, जिनका जन्म एक ही नक्षत्र में हुआ है और जिनके लिए मङ्गल कृत्य भी समान रूप से ही किए गए हैं, परन्तु विभिन्न प्रकार के कर्मों का संग्रह होने के कारण उन्हें प्राप्त होने वाले फल में महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है।।21।। ब्रह्मन्! साधुशिरोमणे! कोई अपने हाथ में आयी हुई वस्तु का भी उपयोग करने में समर्थ नहीं है। इस जगत् में पूर्वजन्म में किए हुए कर्मों के ही फल की प्राप्ति देखी जाती है।।22।। विप्रवर! श्रुति के अनुसार यह जीवात्मा निश्चय ही सनातन है और इस संसार में समस्त प्राणियों का शरीर नश्वर है।।23।। शरीर पर आघात करने से उस शरीर का नाश हो तो जाता है; किन्तु अविनाशी जीव नहीं मरता। वह कर्मों के बन्धन में बँध कर फिर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है।।24।।

ब्राह्मण उवाच

कथं धर्मविदां श्रेष्ठ जीवो भवति शाश्वतः।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन वदतां वर॥25।।

ब्राह्मण ने पूछा—धर्मज्ञों तथा वक्ताओं में श्रेष्ठ व्याध! जीव सनातन कैसे है? मैं इस विषय को यथार्थ रूप से जानना चाहता हूँ।।25।।

व्याध उवाच

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्म्रियते किलेति।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः॥26।।

अन्यो हि नाश्नाति कृतं हि कर्म मनुष्यलोके मनुजस्य कश्चित्।
यत् तेन किञ्चिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाशः॥27।।
सुपुण्यशीला हि भवन्ति पुण्या नराधमाः पापकृतो भवन्ति।
नरोऽनुयातस्त्विह कर्मभिः स्वैस्ततः समुत्पद्यति भावितस्तैः॥28।।

धर्मव्याध ने कहा—ब्रह्मन्! देह का नाश होने पर जीव का नाश नहीं होता। मनुष्यों का यह कथन कि 'जीव मरता है' मिथ्या ही है, किन्तु जीव तो इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है। शरीर के पाँचों तत्त्वों का पृथक् पृथक् पाँच भूतों में मिल जाना ही उसका नाश कहलाता है।।26।। इस मानव लोक में मनुष्य के किए हुए कर्म को (उस कर्त्ता के सिवा) दूसरा कोई नहीं भोगता है। उसके द्वारा जो कुछ ही कर्म किया गया है, उसे वह स्वयं ही भोगेगा। किए हुए कर्मों का कभी नाश नहीं होता।।27।। पुण्यात्मा मनुष्य पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और नीच मनुष्य पाप में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ अपने किए हुए कर्म मनुष्य का अनुसरण करते हैं और उनसे प्रभावित होकर वह दूसरा जन्म धारण करता है।।28।।

ब्राह्मण उवाच

कथं सम्भवते योनौ कथं वा पुण्यपापयोः।
जातीः पुण्यास्त्वपुण्याश्च कथं गच्छति सत्तम॥29।।

ब्राह्मण ने पूछा—सत्पुरुषों में श्रेष्ठ! जीव दूसरी योनि में कैसे जन्म लेता है, पाप और पुण्य से उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है तथा उसे पुण्ययोनि और पापयोनि की प्राप्ति कैसे होती है?।।29।।

व्याध उवाच

गर्भाधानसमायुक्तं कर्मेदं सम्प्रदृश्यते।
समासेन तु ते क्षिप्रं प्रवक्ष्यामि द्विजोत्तम॥30।।
यथा सम्भृतसम्भारः पुनरेव प्रजायते।
शुभकृच्छुभयोनीषु पापकृत् पापयोनिषु॥31।।
शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत्।
मोहनीयैर्वियोनीषु त्वधोगामी च किल्बिषी॥32।।
जातिमृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः।
संसारे पच्यमानश्च दौषैरात्मकृतैर्नरः॥33।।
तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च।
जीवाः सम्परिवर्तन्ते कर्मबन्धनिबन्धनाः॥34।।
जन्तुस्तुकर्मभिस्तैस्तैः स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः।
तदुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते॥35।।
ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यं नवं बहु।
पच्यते तु पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः॥36।।
अजस्रमेव दुःखार्तोऽदुःखितः सुखसंज्ञितः।

ततोऽनिवृत्तबन्धत्वात् कर्मणामुदयादपि॥37॥
परिक्रामति संसारे चक्रवद्बहुवेदनः।
स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः॥38॥
तपोयोगसमारम्भं कुरुते द्विजसत्तम।
कर्मभिर्बहुभिश्चापि लोकानश्नाति मानवः॥39॥
स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः।
प्राप्नोति सुकृताँल्लोकान् यत्र गत्वा न शोचति॥40॥
पापं कुर्वन् पापवृत्तः पापस्यान्तं न गच्छति।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यव्रतः पुण्यस्यान्तं न गच्छति।
तस्मात् पुण्यं यतेत् कर्तुं वर्जयीत च पापकम्॥41॥
अनसूयुः कृतज्ञश्च कल्याणानि च सेवते।
सुखानि धर्ममर्थं च स्वर्गं च लभते नरः॥42॥
संस्कृतस्य च दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः।
प्रज्ञस्यानन्तरा वृत्तिरिह लोके परत्र च॥43॥

व्याध ने कहा—विप्रवर! गर्भाधान आदि संस्कार सम्बन्धी ग्रन्थों द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है 'कि यह जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, सब कर्मों का ही परिणाम है।' अत: किस कर्म से कहाँ जन्म होता है? इस विषय का मैं तुमसे संक्षिप्त वर्णन करता हूँ, सुनो॥30॥ जीव कर्मबीजों का संग्रह करके जिस प्रकार पुन: जन्म ग्रहण करता है, वह बताया जा रहा है। शुभ कर्म करने वाला मनुष्य शुभ योनियों में और पाप कर्म करने वाला पाप योनियों में जन्म लेता है॥31॥ शुभ कर्मों के संयोग से जीव को देवत्व की प्राप्ति होती है। शुभ और अशुभ दोनों के सम्मिश्रण से उसका मनुष्य योनि में जन्म होता है। मोह में डालने वाले तामस कर्मों के आचरण से जीव पशु, पक्षी आदि की योनि में जन्म ग्रहण करता है और जिसने केवल पाप का ही सञ्चय किया है, वह नरकगामी होता है॥32॥ मनुष्य अपने ही किए हुए अपराधों के कारण जन्म मृत्यु और जरा सम्बन्धी दु:खों से सदा पीड़ित हो बारम्बार संसार में पचता रहता है॥33॥ कर्म बन्धन में बँधे हुए (पापी) जीव सहस्रों प्रकार की तिर्यक् योनियों तथा नरकों में चक्कर लगाया करते हैं॥34॥ प्रत्येक जीव अपने किए हुए कर्मों से ही मृत्यु के पश्चात् दु:ख भोगता है और उस दु:ख का भोग करने के लिए ही वह (चाण्डालादि) पाप योनि में जन्म लेता है॥35॥ वहाँ फिर नये-नये बहुत-से पाप कर्म कर डालता है, जिसके कारण कुपथ्य खा लेने वाले रोगी की भाँति उसे नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं॥36॥ इस प्रकार वह यद्यपि निरन्तर दु:ख ही भोगता रहता है, तथापि अपने को दु:खी नहीं मानता। इस दु:ख को ही वह सुख की संज्ञा दे देता है। जब तक बन्धन में डालने वाले कर्मों का भोग पूरा नहीं होता और नये-नये कर्म बनते रहते हैं, तब तक अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ वह चक्र की तरह इस संसार में चक्कर लगाता रहता है। द्विजश्रेष्ठ! जब बन्धन कारक कर्मों का भोग पूरा हो जाता है और सत्कर्मों के द्वारा मनुष्य में शुद्धि आ जाती है, तब वह तप और योग का आरम्भ करता

है। अतः बहुत-से शुभ कर्मों के फलस्वरूप उसे उत्तम लोकों का भोग प्राप्त होता है।।।37-39।। इस प्रकार बन्धन रहित तथा शुद्ध हुआ मनुष्य अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से पुण्य लोक प्राप्त करता है, जहाँ जाकर कोई भी शोक नहीं करता है।।40।। पाप करने वाले मनुष्य को पाप की आदत हो जाती है, फिर उसके पाप का अन्त नहीं होता; अतः मनुष्य को चाहिये कि वह पुण्य कर्म करने का ही प्रयत्न करे और पाप को सर्वथा त्याग दे।।41।। पुण्यात्मा मनुष्य दोष दृष्टि से रहित और कृतज्ञ होकर कल्याणकारी कर्मों का सेवन करता है तथा उसे सुख, धर्म, अर्थ एवं स्वर्ग की प्राप्ति होती है।।42।। जो संस्कार सम्पन्न, जितेन्द्रिय, शौचाचार परायण और मन को काबू में रखने वाला है, उस बुद्धिमान् पुरुष को इहलोक और परलोक में भी सुख की प्राप्ति होती है।।43।।

सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत्।
असंक्लेशेन लोकस्य वृत्तिं लिप्सेत वै द्विज॥44।।
सन्ति ह्यागमविज्ञानाः शिष्टाः शास्त्रे विचक्षणाः।
स्वधर्मेण क्रिया लोके कर्मणः सोऽप्यसङ्करः॥45।।
प्राज्ञो धर्मेण रमते धर्मं चैवोपजीवति।
तस्माद् धर्मादवाप्तेन धनेन द्विजसत्तम॥46।।
तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति तत्र वै।
धर्मात्मा भवति ह्येवं चित्तं चास्य प्रसीदति॥47।।
स मित्रजनसन्तुष्ट इह प्रेत्य च नन्दति।
शब्दं स्पर्शं तथा रूपं गन्धानिष्टांश्च सत्तम॥48।।
प्रभुत्वं लभते चापि धर्मस्यैतत्फलं विदुः।
धर्मस्य च फलं लब्ध्वा न तृप्यति महाद्विज॥49।।
अतृप्यमाणो निर्वेदमापेदे ज्ञानचक्षुषा।
प्रज्ञाचक्षुर्नर इह दोषं नैवानुरुध्यते॥50।।
विरज्यति यथाकामं न च धर्मं विमुञ्चति।
सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम्॥51।।
ततो मोक्षे प्रयतते नानुपायादुपायतः।
एवं निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च॥52।।
धार्मिकश्चापि भवति मोक्षं च लभते परम्।
तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः॥53।।
तेन सर्वानवाप्नोति कामान्यान् मनसेच्छति।
इन्द्रियाणां निरोधेन सत्येन च दमेन च।
ब्रह्मणः पदमाप्नोति यत्परं द्विजसत्तम॥54।।

ब्रह्मन्! अतः मनुष्य को चाहिए कि वह सत्पुरुषों के धर्म का पालन करे, शिष्ट पुरुषों के समान बर्ताव करे और जगत् में किसी भी प्राणी को कष्ट दिये बिना जिससे जीवन निर्वाह हो सके, ऐसी आजीविका प्राप्त करने की इच्छा करे।।44।। संसार में

बहुत-से वेदवेत्ता और शास्त्र विचक्षण शिष्ट पुरुष विद्यमान हैं; उनके उपदेश के अनुसार स्वधर्म के पालनपूर्वक प्रत्येक कार्य करना चाहिये, इससे कर्मों का सङ्कर नहीं हो पाता।।45।। द्विजश्रेष्ठ! बुद्धिमान् पुरुष धर्म से ही आनन्द मानता है, धर्म का ही आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करता है और धर्म से ही उपलब्ध किए हुए धन से धन का ही मूल सींचता है अर्थात् धर्म का पालन करता है। वह धर्म में ही गुण देखता है। इस प्रकार वह धर्मात्मा होता है, उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तथा मित्रजनों से सन्तुष्ट होकर वह इहलोक और परलोक में भी आनन्दित होता है। सज्जन शिरोमणे! धर्मात्मा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप और प्रिय गन्ध—सभी प्रकार के विषय तथा प्रभुत्व भी प्राप्त करता है। उसकी यह स्थिति धर्म का ही फल मानी गई है। द्विजोत्तम! कोई-कोई धर्म के फल रूप से सांसारिक सुख को पाकर सन्तुष्ट नहीं होता। वह ज्ञान दृष्टि के कारण विषय भोग के सुख से तृप्ति लाभ न करके निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त होता है। इस जगत् में ज्ञान दृष्टि से सम्पन्न पुरुष राग-द्वेष आदि दोषों का अनुसरण नहीं करता। उसे यथेष्ट वैराग्य होता है तथा वह कभी धर्म का त्याग नहीं करता है। सम्पूर्ण जगत् को नश्वर समझ कर वह सबको त्यागने का प्रयत्न करता है। तत्पश्चात् उचित उपाय से मोक्ष के लिए सचेष्ट होता है। अनुपाय (प्रारब्ध आदि) का अवलम्बन करके बैठा नहीं रहता। इस प्रकार वह वैराग्य को अपनाता और पाप कर्म को छोड़ता जाता है। फिर सर्वथा धर्मात्मा हो जाता और अन्त में परम मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीव के कल्याण का साधन है तप और उसका मूल है शम (मनोनिग्रह) तथा दम (इन्द्रिय संयम)। मनुष्य मन के द्वारा जिन जिन अभीष्ट पदार्थों को पाना चाहता है, उन सबको वह उस तप के द्वारा प्राप्त कर लेता है। द्विजश्रेष्ठ! इन्द्रियसंयम, सत्य भाषण और मनोनिग्रह—इनके द्वारा मनुष्य ब्रह्म के परमपद को प्राप्त कर लेता है।।46-54।।

ब्राह्मण उवाच

इन्द्रियाणि तु यान्याहुः कानि तानि यतव्रत।
निग्रहश्च कथं कार्यो निग्रहस्य च किं फलम्॥55।।
कथं च फलमाप्नोति तेषां धर्मभृतां वर।
एतदिच्छामि तत्त्वेन धर्मं ज्ञातुं निबोध मे॥56।।

ब्राह्मण ने पूछा—उत्तम व्रत का पालन करने वाले व्याध! जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वे कौन-कौन हैं? उनका निग्रह कैसे करना चाहिये? और उस निग्रह का फल क्या है?।।55।। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ व्याध! उन इन्द्रियों के निग्रह का फल कैसे प्राप्त होता है? मैं इस इन्द्रिय निग्रह रूपी धर्म को यथार्थ रूप से जानना चाहता हूँ। तुम मुझे समझाओ।।56।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 209 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में ब्राह्मण व्याध संवाद विषयक दो सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ।।209।।

षष्ठोऽध्यायः

विषय सेवन से हानि, सत्सङ्ग से लाभ और ब्राह्मी विद्या का वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तस्तु विप्रेण धर्मव्याधो युधिष्ठिर।
प्रत्युवाच यथा विप्रं तच्छृणुष्व नराधिप॥1॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर! ब्राह्मण के इस प्रकार पूछने पर धर्मव्याध ने उसे जैसा उत्तर दिया था, वह सब सुनाता हूँ, सुनो॥1॥

व्याध उवाच

विज्ञानार्थं मनुष्याणां मनः पूर्वं प्रवर्तते।
तत्प्राप्य कामं भजते क्रोधं च द्विजसत्तम॥2॥
ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत्।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च निषेवते॥3॥
ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम्।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम्॥4॥
ततो लोभाभिभूतस्य रागद्वेषहतस्य च।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च॥5॥
व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते।
व्याजेन सिध्यमानेषु धनेषु द्विजसत्तम॥6॥
तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति।
सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पण्डितैश्च द्विजोत्तम॥7॥
उत्तरं श्रुतिसम्बद्धं ब्रवीत्यश्रुतियोजितम्।
अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्तते रागदोषजः॥8॥
पापं चिन्तयते चैव ब्रवीति च करोति च।
तस्याधर्मप्रवृत्तस्य गुणा नश्यन्ति साधवः॥9॥
एकशीलैश्च मित्रत्वं भजन्ते पापकर्मिणः।
स तेन दुःखमाप्नोति परत्र च विपद्यते॥10॥
पापात्मा भवति ह्येवं धर्मलाभं तु मे शृणु।
यस्त्वेतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति॥11॥
कुशलः सुखदुःखेषु साधूंश्चाप्युपसेवते।
तस्य साधुसमारम्भाद् बुद्धिर्धर्मेषु राजते॥12॥

धर्मव्याध ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! इन्द्रियों द्वारा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सबसे पहले मनुष्यों का मन प्रवृत्त होता है। उस विषय को प्राप्त कर लेने पर मन का उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है॥2॥ जब किसी विषय में राग होता है, तब मनुष्य उसे पाने के लिए प्रयत्नशील होता है और उसके लिए बड़े-बड़े कार्यों का

आरम्भ करता है। जब वे अभीष्ट रूप, गन्ध आदि विषय प्राप्त हो जाते हैं, तब वह उनका बारम्बार सेवन करता है।।3।। उनके सेवन से विषयों के प्रति उत्कट राग प्रकट होता है। फिर उसकी प्रतिकूलता में द्वेष होता है; द्वेष के अनन्तर अभीष्ट वस्तु के प्रति लोभ का प्रादुर्भाव होता है। तत्पश्चात् बुद्धि पर मोह छा जाता है।।4।। इस प्रकार लोभ से आक्रान्त और राग-द्वेष पीड़ित मनुष्य की बुद्धि धर्म में नहीं लगती। यदि वह धर्म करता भी है, तो कोई बहाना लेकर।।5।। जो किसी बहाने से धर्माचरण करता है, वह वास्तव में धर्म की आड़ लेकर धन चाहता है। द्विजश्रेष्ठ! जब धर्म के बहाने से धन की प्राप्ति होने लगती है, तब उसकी बुद्धि उसी में रम जाती है और उसके मन में पाप की इच्छा जाग उठती है।।6।। विप्रवर! जब उसे हितैषी, मित्र तथा विद्वान् पुरुष ऐसा करने से रोकते हैं, तब वह उसके समर्थन में अशास्त्रीय उत्तर देते हुए भी उसे वेद प्रतिपादित बताता है। रागरूपी दोष के कारण उसके द्वारा तीन प्रकार के अधर्म होने लगते हैं—1. वह मन से पाप का चिन्तन करता है, 2. वाणी से पाप की ही बात बोलता है और 3. क्रिया द्वारा भी पाप का ही आचरण करता है। इस प्रकार अधर्म में लग जाने पर उसके सभी अच्छे गुण नष्ट हो जाते हैं।।7-9।। वह अपने ही जैसे स्वभाव वाले पाप परायण मनुष्यों से मित्रता स्थापित कर लेता है। उस पाप से इस लोक में तो दु:ख होता ही है, परलोक में भी उसे बड़ी विपत्ति भोगनी पड़ती है।।10।। इस प्रकार मनुष्य पापात्मा हो जाता है। अब धर्म की प्राप्ति कैसे होती है, इसको मुझसे सुनो। जो दु:ख और सुख के विवेचन में कुशल है, वह अपनी बुद्धि से इन विषय सम्बन्धी दोषों को पहले ही समझ लेता है। अत: उनसे दूर हटकर श्रेष्ठ पुरुषों का सङ्ग करता है और उस श्रेष्ठ सङ्ग से उसकी बुद्धि धर्म में लग जाती है।।11-12।।

ब्राह्मण उवाच

ब्रवीषि सूनृतं धर्म्यं यस्य वक्ता न विद्यते।
दिव्यप्रभाव: सुमहानृषिरेव समोऽसि मे॥13।।

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध! तुम धर्म के विषय में बड़ी मधुर और प्रिय बातें कह रहे हो। इन बातों को बताने वाला दूसरा कोई नहीं है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम कोई दिव्य प्रभाव से सम्पन्न महान् ऋषि ही हो।।13।।

व्याध उवाच

ब्राह्मणा वै महाभागा: पितरोऽग्रभुज: सदा।
तेषां सर्वात्मना कार्यं प्रियं लोके मनीषिणा॥14।।
यत् तेषां च प्रियं तत्ते वक्ष्यामि द्विजसत्तम।
नमस्कृत्वा ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मीं विद्यां निबोध मे॥15।।
इदं विश्वं जगत् सर्वमजय्यं चापि सर्वश:।
महाभूतात्मकं ब्रह्म नात: परतरं भवेत्॥16।।
महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा च भू:।
शब्द: स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणा:॥17।।

तेषामपि गुणाः सर्वे गुणवृत्तिः परस्परम्।
पूर्वपूर्वगुणाः सर्वे क्रमशो गुणिषु त्रिषु॥18॥
षष्ठस्तु चेतना नाम मन इत्यभिधीयते।
सप्तमी तु भवेद् बुद्धिरहङ्कारस्ततः परम्॥19॥
इन्द्रियाणि च पञ्चात्मा रजः सत्त्वं तमस्तथा।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसञ्ज्ञकः॥20॥
सर्वैरिहेन्द्रियार्थैस्तु व्यक्ताव्यक्तैः सुसंवृतैः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गुणः।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥21॥

धर्मव्याध ने कहा—ब्रह्मन्! महाभाग ब्राह्मण और पितर ये सदा प्रथम भोजन के अधिकारी माने गये हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुष को इस लोक में सब प्रकार से उनका प्रिय करना चाहिए॥14॥ विप्रवर! उन ब्राह्मणों को नमस्कार करके उनके लिए जो प्रिय वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ। तुम मुझसे ब्राह्मी विद्या श्रवण करो॥15॥ पञ्चमहाभूतों से बना हुआ यह सम्पूर्ण चराचर जगत् सब प्रकार से अजेय ब्रह्म स्वरूप है। ब्रह्म से उत्कृष्ट दूसरी कोई वस्तु नहीं है॥16॥ आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी—ये पाँच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये क्रमशः उनके विशेष गुण हैं॥17॥ उन शब्द आदि गुणों के भी अनेक गुण भेद हैं, क्योंकि इन गुणों का परस्पर संक्रमण भी देखा जाता है। पहले पहले के सभी गुण क्रमशः बाद वाले तीन गुणवान् भूतों (अग्नि, जल और पृथ्वी) में उपलब्ध होते हैं अर्थात् अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाये जाते हैं॥18॥ इन पाँच भूतों के अतिरिक्त छठा तत्त्व है चित्त, इसी को मन कहते हैं। सातवाँ तत्त्व बुद्धि है और उसके बाद आठवाँ अहङ्कार है॥19॥ इनके सिवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण और सत्त्व, रज, तम—इन सत्रह तत्त्वों का समूह अव्यक्त कहलाता है॥20॥ पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन और बुद्धि के जो व्यक्त और अव्यक्त विषय हैं, जो बुद्धिरूपी गुहा में छिपे रहते हैं, उन्हें सम्मिलित करने से चौबीस तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वों का समुदाय ही व्यक्त और अव्यक्त रूप गुण है (यह सब का सब ब्रह्म स्वरूप है)। ब्राह्मण! इस प्रकार ये सब बातें मैंने तुम्हें बतायी हैं, अब और क्या सुनना चाहते हो?॥21॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणमाहात्म्ये दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 210 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में ब्राह्मण माहात्म्य विषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥210॥

सप्तमोऽध्याय:

पञ्चमहाभूतों के गुणों का और इन्द्रिय निग्रह का वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्तः स विप्रस्तु धर्मव्याधेन भारत।
कथामकथयद् भूयो मनसः प्रीतिवर्धनीम्॥1।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भरतनन्दन! धर्मव्याध के इस प्रकार उपदेश देने पर कौशिक ब्राह्मण ने पुनः मन की प्रसन्नता को बढ़ाने वाली वार्ता प्रारम्भ की।।1।।

ब्राह्मण उवाच

महाभूतानि यान्याहुः पञ्च धर्मभृता वर।
एकैकस्य गुणान् सम्यक् पञ्चानामपि मे वद॥2।।

ब्राह्मण बोला—धर्मात्माओं में श्रेष्ठ व्याध! जो पाँच महाभूत कहे जाते हैं, उन पाँचों में से प्रत्येक के गुणों का मुझसे भलीभाँति वर्णन करो।।2।।

व्याध उवाच

भूमिरापस्तथा ज्योतिर्वायुराकाशमेव च।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां वक्ष्यामि ते गुणान्॥3।।
भूमिः पञ्चगुणा ब्रह्मन्नुदकं च चतुर्गुणम्।
गुणास्त्रयस्तेजसि च त्रयश्चाकाशवातयोः॥4।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
एते गुणाः पञ्च भूमेः सर्वेभ्यो गुणवत्तरा॥5।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि द्विजोत्तम।
अपामेते गुणा ब्रह्मन् कीर्तितास्तव सुव्रत॥6।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः।
शब्दः स्पर्शश्च वायौ तु शब्दश्चाकाश एव तु॥7।।
एते पञ्चदश ब्रह्मन् गुणा भूतेषु पञ्चसु।
वर्तन्ते सर्वभूतेषु येषु लोकाः प्रतिष्ठिताः॥8।।
अन्योन्यं नातिवर्तन्ते सम्यक् च भवति द्विज।
यदा तु विषमं भावमाचरन्ति चराचराः॥9।।
तदा देही देहमन्यं व्यतिरोहति कालतः।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति जायन्ते चानुपूर्वशः॥10।।
तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः।
यैरावृतमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्॥11।।
इन्द्रियैः सृज्यते यद् यत् तत् तत् व्यक्तमिति स्मृतम्।
तदव्यक्तमिति ज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्॥12।।

यथास्वं ग्राहकाण्येषां शब्दादीनामिमानि तु।
इन्द्रियाणि यदा देही धारयन्निव तप्यते॥13॥
लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यति।
परावरज्ञो यः शक्तः स तु भूतानि पश्यति॥14॥

धर्मव्याध ने कहा—ब्रह्मन्! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये सब पूर्व पूर्व वाले तत्त्व अपने से उत्तर उत्तर वालों के गुणों से युक्त हैं। मैं उनके गुणों का वर्णन करता हूँ॥3॥ विप्रवर! पृथ्वी में पाँच गुण हैं, जल चार गुणों से युक्त है, तेज में तीन गुण होते हैं, वायु में दो और आकाश में एक गुण है॥4॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये भूमि के पाँच गुण हैं। इस प्रकार भूमि अन्य सब भूतों की अपेक्षा अधिक गुणवती है॥5॥ द्विजश्रेष्ठ! शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार जल के गुण हैं। उत्तम व्रत का पालन करने वाले ब्राह्मण! इनका वर्णन पहले भी आप से किया गया है॥6॥ शब्द, स्पर्श तथा रूप—ये तेज के तीन गुण हैं, शब्द और स्पर्श—ये दो गुण वायु के हैं तथा आकाश में एक ही गुण है—शब्द॥7॥ ब्रह्मन्! इस प्रकार पाँचों भूतों में ये पन्द्रह गुण बताये गये हैं। इन्हीं में सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं॥8॥ विप्रवर! ये पाँच भूत एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते। परस्पर मिलकर ही भलीभाँति प्रकाशित होते हैं। जिस समय व्यक्त और अव्यक्त पाँचों भूत विषम भाव को प्राप्त होते हैं, उस समय यह जीव काल की प्रेरणा से अपने सङ्कल्पानुसार दूसरे शरीर को प्राप्त हो जाता है। ये पाँचों भूत मृत्यु काल में प्रतिलोम क्रम से विलीन हो जाते हैं और उत्पत्ति काल में अनुलोम क्रम से उत्पन्न होते हैं॥9-10॥ विभिन्न शरीरों में जितने रक्त आदि धातु दिखायी देते हैं, वे सब पाँच भूतों के ही परिणाम हैं, जिनसे यह समस्त चराचर जगत् व्याप्त है॥11॥ बाह्य इन्द्रियों से जिस जिसका संसर्ग होता है, वह वह व्यक्त माना गया है; परन्तु जो विषय इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, केवल अनुमान से जाना जाता है, उसे अव्यक्त समझना चाहिए॥12॥ अपने अपने विषयों का अतिक्रमण न करके इन शब्द आदि विषयों को ग्रहण करने वाली इन इन्द्रियों को जब आत्मा अपने वश में करता है, तब मानो वह तपस्या करता है॥13॥ वह सम्पूर्ण लोकों में अपने को व्याप्त और अपने में सम्पूर्ण लोकों को स्थित देखता है। इस प्रकार जो निर्गुण ब्रह्म को जानने वाला समर्थ ज्ञानी पुरुष है, वह सम्पूर्ण भूतों को आत्म रूप से देखता है॥14॥

पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते॥15॥
अज्ञानमूलं तं क्लेशमतिवृत्तस्य पौरुषम्।
लोकवृत्तिप्रकाशेन ज्ञानमार्गेण गम्यते॥16॥
अनादिनिधनं जन्तुमात्मयोनिं सदाव्ययम्।
अनौपम्यममूर्तं च भगवानाह बुद्धिमान्॥17॥
तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां विप्रानुपृच्छसि।
इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा॥18॥

इन्द्रियाण्येव तत् सर्वं यत् स्वर्गनरकावुभौ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च॥19।।
एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम्।
एतन्मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च॥20।।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमार्च्छन्त्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात्॥21।।
षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः॥22।।
रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्टमात्मानियन्तेन्द्रियाण्याहुरश्वान्।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः॥23।।
षण्णामात्मनि युक्तानामिन्द्रियाणां प्रमाथिनाम्।
यो धीरो धारयेद् रश्मीन् स स्यात् परमसारथिः॥24।।
इन्द्रियाणां प्रसृष्टानां हयानामिव वर्त्मसु।
धृतिं कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद् ध्रुवम्॥25।।
इन्द्रियाणां विचरतां यन् मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरते बुद्धिं नावं वायुरिवाम्भसि॥26।।
येषु विप्रतिपद्यन्ते षट्सु मोहात् फलागमम्।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विन्दते ध्यानजं फलम्॥27।।

सब अवस्थाओं में सदा समस्त भूतों का आत्म रूप से देखने वाले उस ब्रह्म स्वरूप ज्ञानी का कभी भी अशुभ कर्मों से सम्पर्क होना सम्भव नहीं है।।15।। उस (पूर्वोक्त) अज्ञानजनित क्लेश से जो पार हो गया है, उस महापुरुष का प्रभाव उसके द्वारा की जाने वाली लौकिक चेष्टाओं से ज्ञान मार्ग के द्वारा जाना जा सकता है।।16।। बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्मा ने (अपने निःश्वास भूत वेदों के द्वारा) मुक्त जीव को आदि अन्त से रहित, स्वयम्भू, अविकारी, अनुपम तथा निराकार बताया है।।17।। विप्रवर! आप मुझसे जो कुछ पूछते हैं, उसके उत्तर में मैं यह बता रहा हूँ कि इस सबका मूल तप है। इन्द्रियों का संयम करने से ही वह तपस्या प्रसन्न होती है, और किसी प्रकार से नहीं।।18।। स्वर्ग और नरक आदि जो कुछ भी है, वह सब इन्द्रियाँ ही हैं अर्थात् इन्द्रियाँ ही उनकी कारण हैं। वश में की हुई इन्द्रियाँ स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाली हैं और जिन्हें विषयों की ओर खुला छोड़ दिया गया है, वे इन्द्रियाँ नरक में डालने वाली हैं।।19।। योग का सम्पूर्ण रूप से अनुष्ठान यही है कि मन सहित समस्त इन्द्रियों को काबू में रखा जाए। यही सारी तपस्या का मूल है और इन्द्रियों को वश में न रखना ही नरक का हेतु है।।20।। इन्द्रियों के संसर्ग से ही मनुष्य निःसन्देह दुर्गुण दुराचार आदि दोषों को प्राप्त होते हैं। उन्हीं इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में कर लेने पर उन्हें सर्वथा सिद्धि प्राप्त हो सकती है।।21।। जो अपने शरीर में ही सदा विद्यमान रहने वाले मन सहित छहों इन्द्रियों पर अधिकार पा लेता है, वह जितेन्द्रिय पुरुष पापों में नहीं लगता, फिर पापजनित अनर्थों से तो उसका संयोग ही कैसे हो सकता है?।।22।। पुरुष का यह

प्रत्यक्ष देखने में आने वाला स्थूल शरीर रथ है। आत्मा (बुद्धि) सारथि है और इन्द्रियों को अश्व बताया गया है। जैसे कुशल, सावधान एवं धीर रथी उत्तम घोड़ों को अपने वश में रखकर उनके द्वारा सुखपूर्वक मार्ग तै करता है, उसी प्रकार सावधान, धीर एवं साधन कुशल पुरुष इन्द्रियों को वश में करके सुख से जीवन यात्रा पूर्ण करता है।।23।। जो धीर पुरुष अपने शरीर में नित्य विद्यमान छः प्रमथनशील इन्द्रिय रूपी अश्वों की बागडोर सम्भालता है, वही उत्तम सारथि हो सकता है।।24।। सड़क पर दौड़ने वाले घोड़ों की तरह विषयों में विचरने वाली इन इन्द्रियों को वश में करने के लिए धैर्यपूर्वक प्रयत्न करे। धैर्यपूर्वक उद्योग करने वाले को उन पर अवश्य विजय प्राप्त होती है।।25।। जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है।।26।। सभी मनुष्य इन छः इन्द्रियों के शब्द आदि विषयों में उनसे प्राप्त होने वाले सुख रूप फल पाने के सम्बन्ध में मोह से संशय में पड़ जाते हैं। परन्तु जो उनके दोषों का अनुसन्धान करने वाला वीतराग पुरुष है, वह उनका निग्रह करके ध्यानजनित आनन्द का अनुभव करता है।।27।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 211 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में ब्राह्मण व्याध संवाद विषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।21।।

अष्टमोऽध्यायः

तीनों गुणों के स्वरूप और फल का वर्णन

मार्कण्डेय उवाच

एवं तु सूक्ष्मे कथिते धर्मव्याधेन भारत।
ब्राह्मणः स पुनः सूक्ष्मं पप्रच्छ सुसमाहितः॥1।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार धर्मव्याध के द्वारा सूक्ष्म तत्त्व का निरूपण होने पर कौशिक ब्राह्मण ने एकाग्रचित्त होकर पुनः एक सूक्ष्म प्रश्न उपस्थित किया।।1।।

ब्राह्मण उवाच

सत्त्वस्य रजसश्चैव तमसश्च यथातथम्।
गुणांस्तत्त्वेन मे ब्रूहि यथावदिह पृच्छतः॥2।।

ब्राह्मण बोला—व्याध! मैं यहाँ यथोचित रूप से एक प्रश्न उपस्थित करता हूँ। वह यह है कि सत्त्व, रज और तम का गुण (स्वरूप) क्या है? यह मुझे यथार्थ रूप से बताओ।।2।।

व्याध उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
एषां गुणान् पृथक्त्वेन निबोध गदतो मम॥3।।
मोहात्मकं तमस्तेषां रज एषां प्रवर्तकम्।
प्रकाशबहुलत्वाच्च सत्त्वं ज्याय इहोच्यते॥4।।
अविद्याबहुलो मूढः स्वप्नशीलो विचेतनः।
दुर्हृषीकस्तमोध्वस्तः सक्रोधस्तामसोऽलसः॥5।।
प्रवृत्तवाक्यो मन्त्री च यो नराग्र्योऽनसूयकः।
विधित्समानो विप्रर्षे स्तब्धो मानी स राजसः॥6।।
प्रकाशबहुलो धीरो निर्विधित्सोऽनसूयकः।
अक्रोधनो नरो धीमान् दान्तश्चैव स सात्त्विकः॥7।।
सात्त्विकस्त्वथ सम्बुद्धो लोकवृत्तेन क्लिश्यते।
यदा बुध्यति बोद्धव्यं लोकवृत्तं जुगुप्सते॥8।।
वैराग्यस्य च रूपं तु पूर्वमेव प्रवर्तते।
मृदुर्भवत्यहङ्कारः प्रसीदत्यार्जवं च यत्॥9।।
ततोऽस्य सर्वद्वन्द्वानि प्रशाम्यन्ति परस्परम्।
न चास्यं संशयो नाम क्वचिद् भवति कश्चन॥10।।
शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च॥11।।
आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते।
गुणास्ते कीर्तिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥12।।

धर्मव्याध ने कहा—ब्रह्मन्! आप मुझसे जो बात पूछ रहे हैं, मैं अब उसे कहूँगा। सत्त्व, रज और तम—इन तीनों के गुणों का पृथक् पृथक् वर्णन करता हूँ, सुनिये।।3।। इन तीनों गुणों में जो तमोगुण है, वह मोहात्मक—मोह उत्पन्न करने वाला है। रजोगुण कर्मों में प्रवृत्त करने वाला है। परन्तु सत्त्वगुण में प्रकाश की बहुलता है, इसलिए वह सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है।।4।। जिसमें अज्ञान की बहुलता है, जो मूढ़ (मोहग्रस्त) और अचेत होकर सदा नींद लेता रहता है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में न होने के कारण दूषित हैं, जो अविवेकी, क्रोधी और आलसी है, ऐसे मनुष्य को तमोगुणी जानना चाहिए।।5।। ब्रह्मर्षे! जो प्रवृत्ति मार्ग की ही बातें करने वाला, सलाह देने में कुशल और दूसरों के गुणों में दोष न देखने वाला है; जो सदा कुछ-न-कुछ करने की इच्छा रखता है, जिसमें कठोरता और अभिमान की अधिकता है, वह मनुष्यों पर रोब जमाने वाला पुरुष रजोगुणी कहा गया है।।6।। जिसमें प्रकाश (ज्ञान) की बहुलता है, जो धीर और नये-नये कार्य आरम्भ करने की उत्सुकता से रहित है, जिसमें दूसरों के दोष देखने की प्रवृत्ति का अभाव है, जो क्रोध शून्य, बुद्धिमान् और जितेन्द्रिय है, वह मनुष्य सात्त्विक माना जाता है।।7।। सात्त्विक पुरुष ज्ञान सम्पन्न हो रजोगुण और तमोगुण के कार्यभूत लौकिक

व्यवहार में पड़ने का कष्ट नहीं उठाता। वह जब जानने योग्य तत्त्व को जान लेता है, तब उसे सांसारिक व्यवहार से ग्लानि हो जाती है।।8।। सात्त्विक पुरुष में वैराग्य का लक्षण पहले ही प्रकट हो जाता है। उसका अहङ्कार ढीला पड़ जाता है और सरलता प्रकाश में आने लगती है।।9।। तदनन्तर इसके राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण द्वन्द्व परस्पर शान्त हो जाते हैं। इसके हृदय में कभी कोई संशय नहीं उठता।।10।। ब्रह्मन्! शूद्र योनि में उत्पन्न मनुष्य भी यदि उत्तम गुणों का आश्रय ले, तो वह वैश्य तथा क्षत्रिय भाव को प्राप्त कर लेता है।।11।। जो 'सरलता' नामक गुण में प्रतिष्ठित है, उसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मन्! इस प्रकार मैंने आपसे सम्पूर्ण गुणों का वर्णन किया है, अब और क्या सुनना चाहते हैं?।।12।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 212 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में ब्राह्मण व्याध संवाद विषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।212।।

नवमोऽध्यायः

प्राण वायु की स्थिति का वर्णन तथा परमात्म साक्षात्कार के उपाय

ब्राह्मण उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं भवेत्।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः॥1।।

ब्राह्मण ने पूछा—व्याध! शरीर में रहने वाला अग्निस्वरूप प्राण पार्थिव धातु का अवलम्बन करके कैसे रहता है? और प्राणवायु नाड़ियों के मार्ग विशेष के द्वारा किस प्रकार (रस-रक्तादि का) सञ्चालन करता है?।।1।।

मार्कण्डेय उवाच

प्रश्नमेतं समुद्दिष्टं ब्राह्मणेन युधिष्ठिर।
व्याधस्तु कथयामास ब्राह्मणाय महात्मने॥2।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ब्राह्मण के द्वारा उपस्थित किए गए इस प्रश्न को सुनकर धर्मव्याध ने उन महामना ब्राह्मण से इस प्रकार कहा—।।2।।

व्याध उवाच

मूर्धानमाश्रितो वह्निः शरीरं परिपालयन्।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते॥3।।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम्।
श्रेष्ठं तदेव भूतानां ब्रह्मयोनिमुपास्महे॥4।।
स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः।

महान् बुद्धिरहङ्कारो भूतानां विषयश्च सः॥5॥
(अव्यक्तं सत्त्वसञ्ज्ञं च जीवः कालः स चैव हि।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव प्राण एव द्विजोत्तम॥
जागर्ति स्वप्नकाले च स्वप्ने स्वप्नायते च सः।
जाग्रत्सु बलमाधत्ते चेष्टत्सु चेष्टयत्यपि॥
तस्मिन् निरुद्धे विप्रेन्द्रे मृत इत्यभिधीयते।
त्यक्त्वा शरीरं भूतात्मा पुनरन्यत् प्रपद्यते॥)
एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिपाल्यते।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः॥6॥
बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः।
वहन् मूत्रं पूरीषं वाप्यपानः परिवर्तते॥7॥
प्रयत्ने कर्मणि बले स एष त्रिषु वर्तते।
उदानमिति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः॥8॥
सन्धौ सन्धौ सन्निविष्टः सर्वेष्वपि तथानिलः।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते॥9॥
धातुष्वग्निस्तु विततः स तु वायुसमीरितः।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन् परिधावति॥10॥

धर्मव्याध बोला—ब्रह्मन्! प्राणी के शरीर को सुरक्षित रखता हुआ अग्नि स्वरूप उदान वायु मस्तक का आश्रय लेकर शरीर में रहता है एवं मुख्य प्राण मस्तक और उदान वायु—इन दोनों में स्थित हुआ समस्त शरीर में जीवन का सञ्चार करता है[1]॥3॥ भूत, वर्तमान और भविष्य—सब कुछ प्राण के ही आश्रित है, वह प्राण ही समस्त भूतों में श्रेष्ठ है।[2] अतः परब्रह्म से उत्पन्न होने वाले प्राण की हम सब उपासना करते हैं[3]॥4॥ वह प्राण ही जीव है, वही समस्त प्राणियों का आत्मा है, वही सनातन पुरुष है, महत्तत्त्व, बुद्धि और अहङ्कार तथा पाँचों भूतों के कार्यरूप इन्द्रियाँ और उनके विषय सब कुछ वही है (क्योंकि इस शरीर में सबकी स्थिति उसी के आश्रित है और भविष्य में मिलने वाले शरीर में जाना आना भी इसी के आश्रित रहकर होता है। इसलिए यह प्राण की स्तुति की गई है)[4]॥5॥ द्विजश्रेष्ठ! प्राण ही अव्यक्त, सत्त्व, जीव, काल, प्रकृति और पुरुष है। वही जाग्रत् अवस्था में जागता है। वही स्वप्न काल में स्वप्न जगत् का निर्माण करके स्वप्नावस्था की सारी चेष्टाएँ करता है। वही जाग्रत् काल में बल का आधान करता है और चेष्टाशील प्राणियों में चेष्टा उत्पन्न करता है। विप्रवर! उस प्राण का निरोध हो जाने पर ही प्रत्येक जीव मरा हुआ कहलाता है। भूतात्मा प्राण एक शरीर को

---

1. देखिये *प्रश्नोपनिषद्* प्रश्न 3 मन्त्र 9।
2. देखिये *प्रश्नोपनिषद्* 2/2, 3 और उसके आगे का प्रकरण।
3. देखिये *प्रश्नोपनिषद्* 3/3 तथा 2/7।
4. प्राण की स्तुति का वर्णन *अथर्ववेद* में और *प्रश्नोपनिषद्* में बहुत आया है।

छोड़कर फिर दूसरे शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार इस जगत् में सर्वत्र प्राण की स्थिति है। प्राण के द्वारा ही सबका पालन होता है। पीछे वही प्राण जब समान वायु भाव को प्राप्त होता है, तब अपनी-अपनी पृथक् गति का आश्रय लेता है।।6।। समान वायु के रूप में जठराग्नि का आश्रय ले वह प्राण जब मूत्राशय और गुदा में स्थित होता है, उस समय मल और मूत्र का भार वहन करने के कारण वह अपान वायु के नाम से विख्यात हो सञ्चरण करता है।।7।। वही प्राण जब प्रयत्न (काम करने की चेष्टा), कर्म (उत्क्षेपण और गमन आदि) तथा बल (बोझ उठाने की शक्ति)—इन तीन विषयों में प्रवृत्त होता है, तब अध्यात्म वेत्ता मनुष्य उसे उदान कहते हैं।।8।। वही जब मनुष्य शरीर के प्रत्येक संधिस्थल में व्याप्त होकर रहता है, तब उसे व्यान कहते हैं।।9।। त्वचा आदि सब धातुओं में जठरानल व्याप्त है। वह प्राण आदि वायुओं से प्रेरित होकर अन्न आदि रसों, त्वचा आदि धातुओं तथा पित्त आदि दोषों को परिपक्व करता हुआ समूचे शरीर में दौड़ा करता है।।10।।

प्राणानां संनिपातात् तु संनिपातः प्रजायते।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम्॥11।।
समानोदानयोर्मध्ये प्राणापानौ समाहितौ।
समर्थितस्त्वधिष्ठानं सम्यक् पचति पावकः॥12।।
अस्यापि पायुर्पयन्तस्तथा स्याद् गुदसंज्ञितः।
स्रोतांसि तस्माज्जायन्ते सर्वप्राणेषु देहिनाम्॥13।।
अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम्॥14।।
पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः।
नाभिमध्ये शरीरस्य प्राणाः सर्वे प्रतिष्ठिताः॥15।।
प्रवृत्ता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दशप्राणप्रचोदिताः॥16।।
योगिनामेष मार्गस्तु येन गच्छन्ति तत् परम्।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधुः।
एवं सर्वेषु विततौ प्राणापानौ हि देहिषु॥17।।
(तावग्निसहितौ ब्रह्मन् विद्धि वै प्राणमात्मनि।)
एकादशविकारात्मा कलासम्भारसम्भृतः।
मूर्तिमन्तं हि तं विद्धि नित्यं योगजितात्मकम्॥18।।
तस्मित् यः संस्थितो ह्यग्निर्नित्यं स्थाल्यामिवाहितः।
आत्मानं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम्॥19।।
देवो यः संस्थितस्तस्मिन्नब्बिन्दुरिव पुष्करे।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं योगजितात्मकम्॥20।।

प्राण आदि वायुओं के परस्पर मिलने से एक संघर्ष उत्पन्न होता है, उससे प्रकट होने वाले उत्ताप को ही जठरानल समझना चाहिए। वही देहधारियों के खाये हुए अन्न को पचाता है।।11।। समान और उदान वायुओं के बीच में प्राण और अपान वायु की स्थिति है। उनके संघर्ष से उत्पन्न जठरानल अन्न को पचाता है और उसके रस से इस शरीर को भलीभाँति पुष्ट करता है[1]।।12।। इस जठरानल का स्थान नाभि से लेकर पायु तक है। इसी को 'गुदा' कहते हैं। उस गुदा से देहधारियों के समस्त प्राणों में स्रोत (नाड़ी मार्ग) प्रकट होते हैं।।13।। गुदा से प्राण अग्नि के वेग को लेकर गुदान्त में टकराता है, फिर वहाँ से ऊपर को उठकर वह जठराग्नि को भी ऊपर उठाता है।।14।। नाभि के नीचे पक्वाशय (पके हुए भोजन का स्थान) है और ऊपर आमाशय (कच्चे भोजन का स्थान) है। शरीर में स्थित समस्त प्राण नाभि में ही प्रतिष्ठित हैं—वही उनका केन्द्र स्थान है।।15।। नाड़ियाँ हृदय से नीचे ऊपर और इधर-उधर फैली हुई हैं। वे दस प्राणवायुओं से प्रेरित हो शरीर के सब भागों में अन्न के रसों को पहुँचाती रहती हैं।।16।। जिन्होंने समस्त क्लेशों को जीत लिया है, जो समदर्शी और धीर हैं; जिन्होंने (सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा) अपने प्राणमय आत्मा को मस्तक (वर्ती सहस्रारचक्र) में ले जाकर स्थापित किया है, उन योगियों के लिए यह (मस्तक से लेकर पायु तक का सुषुम्णामय) मार्ग है, जिससे वे उस परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार समस्त जीवात्माओं के शरीरों में ये प्राणवायु और अपानवायु व्याप्त हैं।।17।। ब्रह्मन्! वे प्राण और अपान जठरानल के साथ रहते हैं। प्राण को आत्मा में स्थित जानिये। आत्मा एकादश इन्द्रिय रूप विकारों से युक्त, षोडश[2] कलाओं के समूह से सम्पन्न, शरीर को धारण करने वाला तथा नित्य है। उसने योगबल से मन-बुद्धि को अपने अधीन कर रखा है। इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में आपको जानना चाहिए।।18।। जैसे बटलोई में आग रखी गयी हो, उसी प्रकार पूर्वोक्त कला समूह रूप शरीर में प्रकाश स्वरूप आत्मा सदा विद्यमान रहता है। आप उसे जानिये। वह नित्य तथा योग शक्ति से मन बुद्धि को अपने अधीन रखने वाला है।।19।। जैसे कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूँद निर्लिप्त होती है, उसी प्रकार ये आत्मदेव कलात्मक शरीर में असङ्ग भाव से स्थित हैं। वे ही क्षेत्र हैं, आप उन्हें जानिये। वे योग से अपने मन और बुद्धि पर अधिकार प्राप्त करने वाले तथा नित्य हैं।।20।।

जीवात्मकानि जानीहि रजः सत्त्वं तमस्तथा।
जीवमात्मगुणं विद्धि तथाऽऽत्मानं परात्मकम्॥21।।

---

1. तात्पर्य यह है कि हृदय में रहने वाला प्राण, नाभि में रहने वाले समान से जाकर मिलता है। इसी तरह गुदा में रहने वाला अपान कण्ठवर्ती उदान से जा मिलता है, इस दशा में प्राण, अपान और समान का नाभि में संघर्ष होने से जो अग्नि उत्पन्न होती है, उसे ही 'जठरानल' नाम दिया गया है। वही इस शरीर में अन्न को पचाकर उसके रस से शरीर को पुष्ट करता है।
2. प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम—ये सोलह कलाएँ हैं (देखिये प्रश्नोपनिषद् 6/4)।

अचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम्।
ततः परं क्षेत्रविदो वदन्ति प्राकल्पयद् यो भुवनानि सप्त॥22।।
एवं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा सम्प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया ज्ञानवेदिभिः॥23।।
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते॥24।।
लक्षणं तु प्रसादस्य यथा तृप्तः सुखं स्वपेत्।
निवाते वा यथा दीपो दीप्येत् कुशलदीपितः॥25।।
पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि॥26।।
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति।
दृष्ट्वाऽऽत्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते॥27।।
सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
एतत् पवित्रं लोकानां तपो वै संक्रमो मतः॥28।।
नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेद् धर्मं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥29।।
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं व्रतपरं व्रतम्॥30।।

ब्रह्मन्! आप यह जान लें कि सत्त्वगुण (प्रकाश), रजोगुण (प्रवृत्ति) और तमोगुण (मोह)—ये जीवात्मक हैं अर्थात् जीवात्मा के अन्तःकरण के विकार हैं, जीव आत्मा का गुण (सेवक) है और आत्मा परमात्म स्वरूप है। भाव यह कि परमात्मा को ही यहाँ आत्मा कहा गया है।।21।। शरीर तत्त्व के ज्ञाता महात्मा पुरुष जड़ शरीर आदि को जीव का भोग्य बताते हैं। वह जीव शरीर के भीतर रह कर स्वयं चेष्टाशील होता है तथा शरीर और इन्द्रिय आदि सबको चेष्टाओं में लगाता है। जिन्होंने सातों भुवनों का निर्माण किया है, उन परमात्मा को ज्ञानी पुरुष जीवात्मा से उत्कृष्ट बताते हैं।।22।। इस प्रकार सम्पूर्ण भूतों के आत्मा परमेश्वर समस्त प्राणियों के भीतर प्रकाशित हो रहे हैं। ज्ञानी महात्मा अपनी श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उन्हें देख पाते हैं।।23।। मनुष्य अपने चित्त की पवित्रता के द्वारा ही समस्त शुभाशुभ कर्मों को नष्ट (फल देने में असमर्थ) कर देता है। जिसका अन्तःकरण प्रसन्न (पवित्र) है, वह अपने आप में ही स्थित होकर अक्षय सुख (मोक्ष) का भागी होता है।।24।। जैसे भोजन आदि से तृप्त हुआ मनुष्य सुख से सोता है और जैसे वायुरहित स्थान में चतुर मनुष्य के द्वारा जलाया हुआ दीप निश्चल भाव से प्रकाशित होता है; ऐसा ही लक्षण चित्त की पवित्रता का भी है।।25।। मनुष्य को चाहिये कि वह हल्का भोजन करे और अन्तःकरण को शुद्ध रखे। रात के पहले और पिछले पहर में सदा अपना मन परमात्मा को चिन्तन में लगावे। जो इस प्रकार निरन्तर अपने हृदय में परमात्मा के साक्षात्कार का अभ्यास करता है, वह प्रज्वलित दीपक के समान प्रकाशित होने वाले अपने मनोमय प्रदीप के द्वारा निराकार परमेश्वर का साक्षात्कार

करके तत्काल मुक्त हो जाता है।।26-27।। सम्पूर्ण उपायों से लोभ और क्रोध की वृत्तियों को दबाना चाहिये। संसार में यही पवित्र तप है और यही सबके लिए भवसागर से पार उतारने वाला सेतु माना गया है।।28।। सदा तप को क्रोध से, धर्म को द्वेष से, विद्या को मान-अपमान से और अपने आपको प्रमाद से बचाना चाहिये।।29।। क्रूरता का अभाव (दया) सबसे महान् धर्म है, क्षमा सबसे बड़ा बल है, सत्य सबसे उत्तम व्रत है और परमात्मा के तत्त्व का ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान है।।30।।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यं ज्ञानं हितं भवेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तं तद् वै सत्यं परं मतम्॥31।।
यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धनाः सदा।
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी स च बुद्धिमान्॥32।।
यतो न गुरुरप्येन श्रावयेदुपपादयेत्।
तं विद्याद् ब्रह्मणो योगं वियोगं योगसंज्ञितम्॥33।।
न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥34।।
आकिञ्चन्यं सुसन्तोषो निराशित्वमचापलम्।
एतदेव परं ज्ञानं सदात्मज्ञानमुत्तमम्॥35।।
परिग्रहं परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या यतव्रतः।
अशोकं स्थानमाश्रित्य निश्चलं प्रेत्य चेह च॥36।।
तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना॥37।।
गुणागुणमनासङ्गमेककार्यमनन्तरम्।
एतत् तद् ब्रह्मणो वृत्तमाहुरेकपदं सुखम्॥38।।
परित्यजति यो दुःखं सुखं चाप्युभयं नरः।
ब्रह्म प्राप्नोति सोऽत्यन्तमसङ्गेन च गच्छति॥39।।
यथाश्रुतमिदं सर्वं समासेन द्विजोत्तम।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥40।।

सत्य बोलना सदा कल्याणकारी है। यथार्थ ज्ञान ही हितकारक होता है। जिससे प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो, उसे ही उत्तम सत्य माना गया है।।31।। जिसके सम्पूर्ण आयोजन कभी कामनाओं से बँधे हुए नहीं होते तथा जिसने त्याग की आग में अपना सर्वस्व होम दिया है, वही त्यागी और बुद्धिमान् है।।32।। इसलिए दृश्य संसार से वियोग कराने वाले और योग नाम से कहे जाने वाले इस ब्रह्मयोग को स्वयं जानना और सम्पादन करना चाहिए। गुरु को भी उचित है कि वह इसे अपात्र शिष्य के प्रति न सुनावे।।33।। किसी प्राणी की हिंसा न करे। सबमें मित्रभाव रखते हुए विचरे। इस दुर्लभ मनुष्य जीवन को पाकर किसी के साथ वैर न करे।।34।। कुछ भी संग्रह न रखना, सभी दशाओं में अत्यन्त सन्तुष्ट रहना तथा कामना और लोलुपता को त्याग देना—यही परम

ज्ञान है और यही सत्यस्वरूप उत्तम आत्मज्ञान है।।35।। इहलोक और परलोक के समस्त भोगों का एवं सब प्रकार के संग्रह का त्याग करके शोकरहित निश्चल परमधाम को लक्ष्य बनाकर बुद्धि के द्वारा मन और इन्द्रियों का संयम करे।।36।। जो जितेन्द्रिय है, जिसने मन पर अधिकार प्राप्त कर लिया है तथा जो अजित पद को जीतने की इच्छा करता है, नित्य तपस्या में संलग्न रहने वाले उस मुनि को आसक्तिजनक भोगों से अलग अनासक्त रहना चाहिए।।37।। जो गुण में रहता हुआ भी गुणों से रहित है, जो सर्वथा सङ्ग से रहित है तथा जो एकमात्र अन्तरात्मा के द्वारा ही साध्य है, जिसकी उपलब्धि में अविद्या के सिवा और कोई व्यवधान नहीं है, वही ब्रह्म का अद्वितीय नित्य सिद्ध पद है और वही (निरतिशय) सुख है।।38।। जो मनुष्य दुःख और सुख दोनों को त्याग देता है, वही अनन्त ब्रह्म पद को प्राप्त होता है। अनासक्ति के द्वारा भी उसी पद की प्राप्त होती है।।39।। द्विजश्रेष्ठ! मैंने यह सब जैसा सुना है, वैसा सब का सब थोड़े में आपसे कह सुनाया है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?।।40।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 213 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में ब्राह्मण व्याध संवाद विषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।213।।

दशमोऽध्यायः

माता-पिता की सेवा का दिग्दर्शन

मार्कण्डेय उवाच

एवं सङ्कथिते कृत्स्ने मोक्षधर्मे युधिष्ठिर।
दृढप्रीतमना विप्रो धर्मव्याधमुवाच ह॥1।।
न्याययुक्तमिदं सर्वं भवता परिकीर्तितम्।
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिद् धर्मेष्विह हि दृश्यते॥2।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! धर्माव्याध ने जब इस प्रकार पूर्ण रूप से मोक्ष धर्म का वर्णन किया, तब कौशिक ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न होकर उससे यों बोला।।1।। 'तात! तुमने मुझसे जो कुछ कहा, यह सब न्याययुक्त है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ धर्म के विषय में कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती, जो तुम्हें ज्ञात न हो'।।2।।

व्याध उवाच

प्रत्यक्षं मम यो धर्मस्तं च पश्य द्विजोत्तम।
येन सिद्धिरियं प्राप्ता मया ब्राह्मणपुङ्गव॥3।।
उत्तिष्ठ भगवन् क्षिप्रं प्रविश्याभ्यन्तरं गृहम्।
द्रष्टुमर्हसि धर्मज्ञ मातरं पितरं च मे॥4।।

धर्मव्याध ने कहा—विप्रवर! अब मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है, जिसके प्रभाव से मुझे यह सिद्धि प्राप्त हुई है, ब्राह्मणश्रेष्ठ! उसका भी दर्शन कर लीजिए।।3।। भगवन्! आप धर्म के ज्ञाता है, उठिये और शीघ्र घर के भीतर चलकर मेरे माता-पिता का दर्शन कीजिये।।4।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः स प्रविश्याथ ददर्श परमार्चितम्।
सौधं हृद्यं चतुःशालमतीव च मनोरमम्॥5।।
देवतागृहसंकाशं दैवतैश्च सुपूजितम्।
शयनासनसम्बाधं गन्धैश्च परमैर्युतम्॥6।।
तत्र शुक्लाम्बरधरौ पितरावस्य पूजितौ।
कृताहारौ तु सन्तुष्टावुपविष्टौ वरासने।
धर्मव्याधस्तु तौ दृष्ट्वा पादेषु शिरसापतत्॥7।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—धर्मव्याध के ऐसा कहने पर कौशिक ब्राह्मण ने भीतर प्रवेश करके देखा—एक बहुत सुन्दर साफ-सुथरा घर था, उसकी दीवारों पर चूने से सफेदी की हुई थी। उसमें चार कमरे थे, वह भवन बहुत प्रिय और मन को लुभा लेने वाला था, ऐसा जन पड़ता था, मानो देवताओं का निवास्थान हो। देवता भी उसका आदर करते थे। एक ओर सोने के लिए शय्या बिछी थी और दूसरी ओर बैठने के लिए आसन रखे गये थे। वहाँ धूप और चन्दन, केसर आदि की उत्तम गन्ध फैल रही थी।।5-6।। एक सुन्दर आसन पर धर्मव्याध के माता-पिता भोजन करके सन्तुष्ट हो बैठे हुए थे। उन दोनों के शरीर पर श्वेत वस्त्र शोभा पा रहे थे और पुष्प, चन्दन आदि से उनकी पूजा की गई थी। धर्मव्याध ने उन दोनों को देखते ही चरणों में मस्तक रख दिया और पृथ्वी पर पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम किया।।7।।

वृद्धावूचतुः

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ धर्मज्ञ धर्मस्त्वामभिरक्षतु।
प्रीतौ स्वस्तव शौचेन दीर्घमायुरवाप्नुहि॥8।।
गतिमिष्टां तपो ज्ञानं मेधां च परमां गतः।
सत्पुत्रेण त्वया पुत्र नित्यं काले सुपूजितौ॥9।।
(सुखमावां वसावोऽत्र देवलोकगताविव)
न तेऽन्यद् दैवतं किञ्चिद् दैवतेष्वपि वर्तते।
प्रयतत्वाद् द्विजातीनां दमेनासि समन्वितः॥10।।
पितुः पितामहा ये च तथैव प्रपितामहाः।
प्रीतास्ते सततं पुत्र दमेनावां च पूजया॥11।।
मनसा कर्मणा वाचा शुश्रूषा नैव हीयते।
न चान्या हि तथा बुद्धिर्दृश्यते साम्प्रतं तव॥12।।
जामदग्न्येन रामेण यथा वृद्धौ सुपूजितौ।

तथा त्वया कृतं सर्वं तद्विशिष्टं च पुत्रक॥13॥
ततस्तं ब्राह्मणं ताभ्यां धर्मव्याधो न्यवेदयत्।
तौ स्वागतेन तं विप्रमर्चयामासतुस्तदा॥14॥
प्रतिपूज्य च तां पूजां द्विजः पप्रच्छ तावुभौ।
सुपुत्राभ्यां सभृत्याभ्यां कच्चिद् वां कुशलं गृहे॥15॥
अनामयं च वां कच्चित् सदैवेह शरीरयोः।

वृद्धावूचतुः

कुशलं नौ गृहे विप्र भृत्यवर्गे च सर्वशः।
कच्चित् त्वमप्यविघ्नेन सम्प्राप्तो भगवन्निति॥16॥

तब बूढ़े माता-पिता ने (स्नेहपूर्वक) कहा—बेटा! उठो! उठो! तुम धर्म के जानकार हो, धर्म तुम्हारी सब ओर से रक्षा करे। हम दोनों तुम्हारे शुद्ध आचार-विचार तथा सेवा से बहुत प्रसन्न हैं। तुम्हारी आयु बड़ी हो॥8॥ तुमने उत्तम गति, तप, ज्ञान और श्रेष्ठ बुद्धि प्राप्त की है, बेटा! तुम सुपुत्र हो। तुमन नित्य नियमपूर्वक समयानुसार हमारा पूजन-आदर-सत्कार किया है॥9॥ हम इस घर में इस प्रकार सुख से रहे हैं मानो देवलोक में पहुँच गये हों। देवताओं में भी तुम्हारे लिए हम दोनों के सिवा और और कोई देवता नहीं है। तुम हमें ही देवता मानते हो। अपने मन को पवित्र एवं संयम में रखने के कारण तुम द्विजोचित शम-दम से सम्पन्न हो॥10॥ वत्स! मेरे पिता के पितामह और प्रपितामह आदि सभी तुम्हारे इन्द्रिय संयम से सदा प्रसन्न रहते हैं। हम दोनों भी तुम्हारे द्वारा की हुई पूजा सेवा से बहुत सन्तुष्ट हैं॥11॥ तुम मन, वाणी और क्रिया द्वारा कभी हम दोनों की सेवा नहीं छोड़ते। इस समय भी तुम्हारा विचार इसके प्रतिकूल नहीं दिखायी देता॥12॥ बेटा! जमदग्निनन्दन परशुराम ने जिस प्रकार अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा पूजा की थी, उसी प्रकार तथा उससे भी बढ़कर तुमने हमारी सब सेवाएँ की हैं॥13॥ तदनन्तर धर्मव्याध ने अपने माता-पिता को उस कौशिक ब्राह्मण का परिचय दिया। तब उन दोनों ने भी स्वागतपूर्वक ब्राह्मण का पूजन किया॥14॥ ब्राह्मण ने उनके द्वारा की हुई पूजा को स्वीकार करके कृतज्ञता प्रकट की और उनसे पूछा—'आप दोनों इस घर में अपने सुयोग्य पुत्र तथा सेवकों के साथ सकुशल तो हैं न? आप दोनों शरीर से भी सदा नीरोग रहते हैं न?'॥15॥

उन वृद्धों ने उत्तर दिया—ब्रह्मन्! इस घर में हम दोनों सकुशल हैं। हमारे सेवक तथा कुटुम्ब के लोग भी कुशल से हैं। भगवन्! अपना समाचार कहें, आप यहाँ सकुशल पहुँच गये न? किसी विघ्न बाधा का सामना तो नहीं करना पड़ा?॥16॥

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तौ विप्रः प्रत्युवाच मुदान्वितः।
धर्मव्याधो निरीक्ष्याथ ततस्तं वाक्यमब्रवीत्॥17॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—राजन्! तब कौशिक ब्राह्मण ने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—'हाँ, मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ।' तदनन्तर धर्मव्याध ने अपने पिता माता की ओर देखते हुए कौशिक ब्राह्मण से कहा।।17।।

व्याध उवाच

पिता माता च भगवन्नेतौ मद्दैवतं परम्।
यद् दैवतेभ्यः कर्तव्यं तदेताभ्यां करोम्यहम्॥18।।
त्रयस्त्रिंशद्यथा देवाः सर्वे शक्रपुरोगमाः।
सम्पूज्याः सर्वलोकस्य तथा वृद्धाविमौ मम॥19।।
उपाहारानाहरन्तो देवतानां यथा द्विजाः।
कुर्वन्ति तद्वदेताभ्यां करोम्यहमतन्द्रितः॥20।।
एतौ मे परमं ब्रह्मन् पिता माता च दैवतम्।
एतौ पुष्पैः फलै रत्नैस्तोषयामि सदा द्विज॥21।।
एतावेवाग्नयो मह्यं यान् वदन्ति मनीषिणः।
यज्ञा वेदाश्च चत्वारः सर्वमेतौ मम द्विज॥22।।
एतदर्थं मम प्राणा भार्या पुत्रः सुहृज्जनः।
सपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेव करोम्यहम्॥23।।
स्वयं च स्नापयाम्येतौ तथा पादौ प्रधावये।
आहारं च प्रयच्छामि स्वयं च द्विजसत्तम॥24।।
अनुकूलं तथा वच्मि विप्रियं परिवर्जये।
अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम्॥25।।
धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा करोमि द्विजसत्तम।
अतन्द्रितः सदा विप्र शुश्रूषां वै करोम्यहम्॥26।।
पञ्चैव गुरवो ब्रह्मन् पुरुषस्य बुभूषतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च द्विजसत्तम॥27।।
एतेषु यस्तु वर्तेत सम्यगेव द्विजोत्तम।
भवेयुरग्नयस्तस्य परिचीर्णास्तु नित्यशः।
गार्हस्थ्ये वर्तमानस्य एष धर्मः सनातनः॥28।।

धर्मव्याध बोला—भगवन्! ये माता-पिता ही मेरे प्रधान देवता हैं। जो कुछ देवताओं के लिए करना चाहिये, वह मैं इन्हीं दोनों के लिए करता हूँ।।18।। जैसे समस्त संसार के लिए इन्द्र आदि तैंतीस[1] देवता पूजनीय हैं, उसी प्रकार मेरे लिए ये दोनों बूढ़े माता-पिता ही आराधनीय हैं।।19।। द्विजलोग देवताओं के लिए जैसे नाना प्रकार के उपहार समर्पण करते हैं, उसी प्रकार मैं इनके लिए करता हूँ। इनकी सेवा में मुझे आलस्य नहीं होता।।20।। ब्रह्मन्! ये माता-पिता ही मेरे सर्वश्रेष्ठ देवता है। मैं सदा फूल,

1. आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति—ये तैंतीस देवता है।

फल तथा रत्नों से इन्हीं को सन्तुष्ट करता हूँ।।21।। विप्रवर! जिन्हें विद्वान् लोग 'अग्नि' कहते हैं, वे मेरे लिए ये ही हैं। चारों वेद और यज्ञ सब कुछ मेरे लिए ये माता-पिता ही हैं।।22।। मेरे प्राण, स्त्री, पुत्र और सुहृद् सब इन्हीं की सेवा के लिए हैं। मैं स्त्री और पुत्रों के साथ प्रतिदिन इन्हीं की शुश्रूषा में लगा रहता हूँ।।23।। द्विजश्रेष्ठ! मैं स्वयं ही इन्हें नहलाता हूँ, इनके चरण धोता हूँ और स्वयं ही भोजन परोसकर इन्हें जिमाता हूँ।।24।। मैं वही बात बोलता हूँ, जो इनके मन के अनुकूल हो, जो इन्हें प्रिय न लगे, ऐसी बात मुँह से कभी नहीं निकालता। इनको पसन्द हो, तो मैं अधर्मयुक्त कार्य भी कर सकता हूँ।।25।। विप्रवर! इस प्रकार माता-पिता की सेवा रूप धर्म को ही महान् मान मैं उसका पालन करता हूँ। ब्रह्मन्! आलस्य छोड़कर मैं सदा इन्हीं दोनों की सेवा में लगा रहता हूँ।।26।। ब्राह्मणश्रेष्ठ! उन्नति चाहने वाले पुरुष के पाँच ही गुरु हैं—पिता, माता, अग्नि, परमात्मा तथा गुरु।।27।। द्विजश्रेष्ठ! जो इन सबके प्रति उत्तम बर्ताव करेगा, उस गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले के द्वारा सदा सब अग्नियों की सेवा सम्पन्न होती रहेगी। यही सनातन धर्म है।।28।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 214 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पूर्व में ब्राह्मण व्याध संवाद विषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।214।।

एकादशोऽध्यायः

धर्मव्याध का कौशिक ब्राह्मण को माता-पिता की सेवा का उपदेश देकर अपने पूर्वजन्म की कथा कहते हुए व्याध होने का कारण बताना

मार्कण्डेय उवाच

गुरुं निवेद्य विप्राय तौ मातापितरावुभौ।
पुनरेव स धर्मात्मा व्याधो ब्राह्मणमब्रवीत्॥1।।
प्रवृत्तचक्षुर्जातोऽस्मि सम्पश्य तपसो बलम्।
यदर्थमुक्तोऽसि तया गच्छ त्वं मिथिलामिति॥2।।
पतिशुश्रूषपरया दान्तया सत्यशीलया।
मिथिलायां वसेद. व्याधः स ते धर्मान् प्रवक्ष्यति॥3।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार धर्मात्मा व्याध ने कौशिक ब्राह्मण को अपने माता-पिता रूप दोनों गुरुजनों का दर्शन कराकर पुनः उससे इस प्रकार कहा—।।1।। 'ब्राह्मण! माता-पिता की सेवा ही मेरी तपस्या है। इस तपस्या का प्रभाव देखिये। मुझे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है, जिसके कारण उस पतिव्रता देवी ने, जो सदा पति की ही सेवा में संलग्न रहने वाली, जितेन्द्रिय तथा सत्य एवं सदाचार में तत्पर है,

आपको यह कहकर यहाँ भेजा था कि 'आप मिथिलापुरी को जाइये। वहाँ एक व्याध रहता है। वह आपको सब धर्मों का उपदेश करेगा'।।2-3।।

ब्राह्मण उवाच

पतिव्रतायाः सत्यायाः शीलाढ्याया यतव्रत।
संस्मृत्य वाक्यं धर्मज्ञ गुणवान्सि मे मतः॥4।।

ब्राह्मण बोला—उत्तम व्रत का पालन करने वाले धर्मज्ञ व्याध! उस सत्यपरायणा और सुशीला पतिव्रता देवी के वचनों का स्मरण करके मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि तुम उत्तम गुणों से सम्पन्न हो।।4।।

व्याध उवाच

यत् तदा त्वं द्विजश्रेष्ठ तयोक्तो मां प्रति प्रभो।
दृष्टमेव तया सम्यगेकपत्न्या न संशयः॥5।।
त्वदनुग्रहबुद्ध्या तु विप्रैतद् दर्शितं मया।
वाक्यं च शृणु मे तात यत् ते वक्ष्ये हितं द्विज॥6।।
त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम।
अनिसृष्टोऽसि निष्क्रान्तो गृहात् ताभ्यामनिन्दित॥7।।
वेदोच्चारणकार्यार्थमयुक्तं तत् त्वया कृतम्।
तव शोकेन वृद्धौ तावन् धीभूतौ तपस्विनौ॥8।।
तौ प्रसादयितुं गच्छ मा त्वां धर्मोऽत्यगादयम्।
तपस्वी त्वं महात्मा च धर्मे च निरतः सदा॥9।।
सर्वमेतदपार्थं ते क्षिप्रं तौ सम्प्रसादय।
श्रद्दधस्व मम ब्रह्मन् नान्यथा कर्तुमर्हसि।
गम्यतामद्य विप्रर्षे श्रेयस्ते कथयाम्यहम्॥10।।

धर्मव्याध ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! प्रभो! उस पतिव्रता देवी ने पहले आपसे मेरे विषय में जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है। इसमें सन्देह नहीं कि उसने पातिव्रत्य के प्रभाव से सब कुछ प्रत्यक्ष देखा है।।5।। विप्रवर! आप पर अनुग्रह करने के विचार से ही मैंने ये सब बातें आपके सामने रखी हैं। तात! आप मेरी बात सुनिये। ब्रह्मन्! आपके लिए जो हितकर है, वही बात बताऊँगा।।6।। द्विजश्रेष्ठ! आपने माता-पिता की उपेक्षा की है। वेदाध्ययन करके लिए उन दोनों की आज्ञा लिए बिना ही आप घर से निकल पड़े हैं। अनिन्द्य ब्राह्मण! यह आपके द्वारा अनुचित कार्य हुआ है। आपके शोक से वे दोनों बूढ़े एवं तपस्वी माता-पिता अन्धे हो गये हैं।।7-8।। आप उन्हें प्रसन्न करने के लिए घर जाइये। ऐसा करने से आपका धर्म नष्ट नहीं होगा। आप तपस्वी, महात्मा तथा निरन्तर धर्म में तत्पर रहने वाले हैं।।।9।। परन्तु माता-पिता को सन्तुष्ट न करने के कारण आपका यह सारा धर्म और व्रत व्यर्थ हो गया है। अतः शीघ्र जाकर उन दोनों को प्रसन्न कीजिये। ब्रह्मन्! मेरी बात पर श्रद्धा कीजिये। इसके विपरीत कुछ न कीजिये।

ब्रह्मर्षे! आप अपने घर जाइये और माता-पिता की सेवा कीजिये। यह मैं आपके लिए परम कल्याण की बात बता रहा हूँ।।10।।

ब्राह्मण उवाच

यदेतदुक्तं भवता सर्वं सत्यमसंशयम्।
प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते धर्माचारगुणान्वित॥11।।

ब्राह्मण बोला—धर्म, सदाचार और सद्गुणों से सम्पन्न व्याध! आपका भला हो। आपने यह जो कुछ बताया है, सब निःसन्देह सत्य है। मैं आप पर बहुत प्रसन्न हूँ।।11।।

व्याध उवाच

दैवतप्रतिमो हि त्वं यस्त्वं धर्ममनुव्रतः।
पुराणं शाश्वतं दिव्यं दुष्प्राप्यमकृतात्मभिः॥12।।
मातापित्रोः सकाशं हि गत्वा त्वं द्विजसत्तम।
अतन्द्रितः कुरु क्षिप्रं मातापित्रोर्हि पूजनम्।
अतः परमहं धर्मं नान्यं पश्यामि कञ्चन॥13।।

धर्मव्याध ने कहा—विप्रवर! आप देवताओं के समान हैं; क्योंकि आपने उस धर्म में मन लगाया है, जो पुरातन, सनातन, दिव्य तथा मन को जीतने वाले पुरुषों के लिए दुर्लभ है।।12।। द्विजश्रेष्ठ! आप माता-पिता के पास जाकर आलस्यरहित हो शीघ्र ही उनकी सेवा में लग जाइये। मैं इससे बढ़ कर और कोई धर्म नहीं देखता।।13।।

ब्राह्मण उवाच

इहाहमागतो दिष्ट्या दिष्ट्या मे सङ्गतं त्वया।
ईदृशा दुर्लभा लोके नरा धर्मप्रदर्शकाः॥14।।
एको नरसहस्रेषु धर्मविद् विद्यते न वा।
प्रीतोऽस्मि तव सत्येन भद्रं ते पुरुषर्षभ॥15।।
पतमानोऽद्य नरके भवतास्मि समुद्धृतः।
भवितव्यमथैवं च यद् दृष्टोऽसि मयानघ॥16।।
राजा ययातिर्दौहित्रैः पतितस्तारितो यथा।
सद्भिः पुरुषशार्दूल तथाहं भवता द्विजः॥17।।
मातापितृभ्यां शुश्रूषां करिष्ये वचनात् तव।
नाकृतात्मा वेदयति धर्माधर्मविनिश्चयम्॥18।।
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः शूद्रयोनौ हि वर्तते।
न त्वां शूद्रमहं मन्ये भवितव्यं हि कारणम्॥19।।
येन कर्मविशेषेण प्राप्तेयं शूद्रता त्वया।

एतदिच्छामि विज्ञातुं तत्त्वेन हि महामते।
कामया ब्रूहि मे सर्वं सत्येन प्रयतात्मना॥20॥

ब्राह्मण बोला—नरश्रेष्ठ! मेरा बड़ा भाग्य था, जो यहाँ आया और सौभाग्य से ही मुझे आपका सङ्ग प्राप्त हो गया। संसार में आप जैसे धर्म का मार्ग दिखाने वाले मनुष्य दुर्लभ हैं॥14॥ हजारों मनुष्यों में से कोई एक भी धर्म के तत्त्व को जानने वाला नहीं है—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पुरुषर्षभ! आपका कल्याण हो। आज मैं आपके सत्य के कारण आप पर बहुत प्रसन्न हूँ॥15॥ अनघ! मैं नरक में गिर रहा था। आज आपने मेरा उद्धार कर दिया। इस प्रकार जब मुझे आपका दर्शन मिल गया, तब निश्चय ही आपके उपदेश के अनुसार भविष्य में सब कुछ होगा॥16॥ राजा ययाति स्वर्ग से गिर गये थे; परन्तु उनके उत्तम स्वभाव वाले दौहित्रों (पुत्री के पुत्रों) ने पुन: उनका उद्धार कर दिया—वे पूर्ववत् स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित हो गये। पुरुषसिंह! इसी प्रकार आपने भी आज मुझ ब्राह्मण को नरक में गिरने से बचाया है॥17॥ मैं आपके कहने के अनुसार माता-पिता की सेवा करूँगा। जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह धर्म अधर्म के निर्णय को बतला नहीं सकता॥18॥ आश्चर्य है कि यह सनातन धर्म, जिसके स्वरूप को समझता अत्यन्त कठिन है, शूद्रयोनि के मनुष्य में भी विद्यमान है। मैं आपको शूद्र नहीं मानता। आपका जो शूद्रयोनि में जन्म हो गया है, इसका कोई विशेष कारण होना चाहिए॥19॥ महामते! जिस विशेष कर्म के कारण आपको यह शूद्रयोनि प्राप्त हुई है, उसे मैं यथार्थरूप से जानना चाहता हूँ॥20॥

व्याध उवाच

अनतिक्रमणीया वै ब्राह्मणा मे द्विजोत्तम।
शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममानघ॥21॥
अहं हि ब्राह्मण: पूर्वमासं द्विजवरात्मज:।
वेदाध्यायी सुकुशलो वेदाङ्गानां च पारग:॥22॥
आत्मदोषकृतैर्ब्रह्मन्नवस्थामाप्तवानिमाम्।
कश्चिद् राजा मम सखा धनुर्वेदपरायण:॥23॥
संसर्गाद् धनुषि श्रेष्ठस्ततोऽहमभवं द्विज।
एतस्मिन्नेव काले तु मृगयां निर्गतो नृप:॥24॥
सहितो योधमुख्यैश्च मन्त्रिभिश्च सुसंवृत:।
ततोऽभ्यहन् मृगांस्तत्र सुबहूनाश्रमं प्रति॥25॥
अथ क्षिप्त: शरो घोरो मयापि द्विजसत्तम।
ताडितश्च ऋषिस्तेन शरेणानतपर्वणा॥26॥
भूमौ निपतितो ब्रह्मन्नुवाच प्रतिनादयन्।
नापराध्याम्यहं किञ्चित् केन पापमिदं कृतम्॥27॥

मन्वानस्तं मृगं चाहं सम्प्राप्तः सहसा प्रभो।
अपश्यं तमृषिं विद्धं शरेणानतपर्वणा॥28॥
अकार्यकरणाच्चापि भृशं मे व्यथितं मनः।
तमुग्रतपसं विप्रं निष्टनन्तं महीतले॥29॥
अजानता कृतमिदं मयेत्यहमथाब्रुवम्।
क्षन्तुमर्हसि मे सर्वमिति चोक्तो मया मुनिः॥30॥
ततः प्रत्यब्रवीद् वाक्यमृषिर्मां क्रोधमूर्छितः।
व्याधस्त्वं भविता क्रूर शूद्रयोनाविति द्विज॥31॥

धर्मव्याध ने कहा—विप्रवर! मुझे ब्राह्मणों का अपराध कभी नहीं करना चाहिये। अनघ! मेरे पूर्वजन्म के शरीर द्वारा जो घटना घटित हुई है, वह सब बताता हूँ, सुनिये॥21॥ मैं पूर्वजन्म में एक श्रेष्ठ ब्राह्मण का पुत्र और वेदाध्ययन परायण ब्राह्मण था। वेदाङ्गों का पारङ्गत विद्वान् माना जाता था। मैं विद्याध्ययन में अत्यन्त कुशल था॥22॥ ब्राह्मण! अपने ही दोषों के कारण मुझे इस दुरवस्था में आना पड़ा है। पूर्वजन्म में जब मैं ब्राह्मण था, एक धनुर्वेदपरायण राजा के साथ मेरी मित्रता हो गयी थी। उनके संसर्ग से मैं धनुर्वेद की शिक्षा लेने लगा और धनुष चलने की कला में मैंने श्रेष्ठ योग्यता प्राप्त कर ली। ब्रह्मन्! इसी समय राजा अपने मन्त्रियों तथा प्रधान योद्धाओं के साथ शिकार खेलने के लिए निकले। उन्होंने एक ऋषि के आश्रम के निकट बहुत-से हिंसक पशुओं का वध किया॥23-25॥ द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने भी एक भयानक बाण छोड़ा। उसकी गाँठ कुछ झुकी हुई थी। उस बाण से एक ऋषि मारे गये॥26॥ ब्रह्मन्! बाण लगते ही वे मुनि पृथिवी पर गिर पड़े और अपने आर्त्तनाद से उस वन्य प्रदेश को गुंजाते हुए बोले—'आह! मैं तो किसी का कोई अपराध नहीं करता हूँ। फिर किसने यह पापकर्म कर डाला?'॥27॥ प्रभो! मैंने उन्हें हिंसक पशु समझकर बाण मारा था। अतः सहसा उनके पास जा पहुँचा। वहाँ जाकर देखा कि झुकी हुई गाँठ वाले उस बाण से एक ऋषि घायल होकर धरती पर पड़े हैं॥28॥ यह न करने योग्य पाप कर डालने के कारण मेरे मन में उस समय बड़ी पीड़ा हुई। वे उग्र तपस्वी ब्राह्मण उस समय धरती पर पड़े-पड़े कराह रहे थे॥29॥ मैंने साहस करके उन मुनीश्वर से कहा—'भगवन्! अनजान में मेरे द्वारा यह अपराध बन गया है। अतः आप यह सब क्षमा कर दें'॥30॥ मेरी बात सुनकर ऋषि क्रोध से व्याकुल हो गये और उत्तर देते हुए बोले—'निर्दयी ब्राह्मण! तू शूद्रयोनि में जन्म लेकर व्याध होगा'॥31॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 215 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में ब्राह्मण व्याध संवाद विषयक दो सौ पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥215॥

द्वादशोऽध्याय:

कौशिक धर्मव्याध संवाद का उपसंहार तथा कौशिक का अपने घर को प्रस्थान

व्याध उवाच

एवं शप्तोऽहमृषिणा तदा द्विजवरोत्तम।
अभिप्रसादयमृषिं गिरा त्राहीति मां तदा॥1।।
अजानता मयाकार्यमिदमद्य कृतं मुने।
क्षन्तुमर्हसि तत् सर्वं प्रसीद भगवन्निति॥2।।

धर्मव्याध कहता है—विप्रवर! जब इस प्रकार ऋषि ने मुझे शाप दे दिया, तब मैंने कहा—'भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये—मुझे उबारिये। मुने! मैंने अनजान में यह आज अनुचित काम कर डाला है। मेरा सब अपराध क्षमा कीजिये और मुझ पर प्रसन्न हो जाइये।' ऐसा कहकर उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा की।।1-2।।

ऋषिरुवाच

नान्यथा भविता शाप एवमेतदसंशयम्।
आनृशंस्यात् त्वहं किञ्चित् कर्तानुग्रहमद्य ते॥3।।
शूद्रयोन्यां वर्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि।
मातापित्रोश्च शुश्रूषां करिष्यसि न संशयः॥4।।
तया शुश्रूषया सिद्धिं महत्त्वं समवाप्स्यसि।
जातिस्मरश्च भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि।।5।।
शापक्षये तु निर्वृत्ते भवितासि पुनर्द्विजः।
एवं शप्तः पुरा तेन ऋषिणास्म्युग्रतेजसा॥6।।
प्रसादश्च कृतस्तेन ममैव द्विपदां वर।
शरं चोद्धृतवानस्मि तस्य वै द्विजसत्तम॥7।।
आश्रमं च मया नीतो न च प्राणैर्व्ययुज्यत।
एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराभवत्।।8।।
अभितश्चापि गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम॥9।।

ऋषि ने कहा—यह शाप टल नहीं सकता। ऐसा होकर ही रहेगा, इसमें संशय नहीं है। परन्तु मेरा स्वभाव क्रूर नहीं है, इसलिए मैं तुझ पर आज कुछ अनुग्रह करता हूँ।।3।। तू शूद्रयोनि में रहकर धर्मज्ञ होगा और माता-पिता की सेवा करेगा। इसमें तनिक भी सन्देह के लिए स्थान नहीं है।।4।। उस सेवा से तुझे सिद्धि और महत्ता प्राप्त होगी। तू पूर्वजन्म की बातों को स्मरण रखने वाला होगा और अन्त में स्वर्गलोग में जाएगा।।5।। शाप का निवारण हो जाने पर तू फिर ब्राह्मण होगा। इस प्रकार उन उग्र तेजस्वी महर्षि ने पूर्वकाल में मुझे शाप दिया था।।6।। नरश्रेष्ठ! फिर उन्होंने ही मेरे ऊपर अनुग्रह किया। द्विजश्रेष्ठ! तदनन्तर मैंने उनके शरीर से बाण निकाला और उन्हें उनके आश्रम पर पहुँचा

दिया। परन्तु उनके प्राण नहीं गये। विप्रवर! पूर्वजन्म में मेरे ऊपर जो कुछ बीता था, वह सब मैंने आपको कह सुनाया। अब इस जीवन के पश्चात् मुझे स्वर्गलोक में जाना है।।7-9।।

ब्राह्मण उवाच

एवमेतानि पुरुषा दुःखानि च सुखानि च।
आप्नुवन्ति महाबुद्धे नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि॥10।।
दुष्करं हि कृतं कर्म जानता जातिमात्मनः।
लोकवृत्तान्ततत्त्वज्ञ नित्यं धर्मपरायण॥11।।
कर्मदोषश्च वै विद्वन्नात्मजातिकृतेन ते।
कञ्चित् कालमुष्यतां वै ततोऽसि भविता द्विजः॥12।।
साम्प्रतं च मतो मेऽसि ब्राह्मणो नात्र संशयः।
ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु॥13।।
दाम्भिको दुष्कृतः प्रायः शूद्रेण सदृशो भवेत्।
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः॥14।।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः।
कर्मदोषेण विषमां गतिमाप्नोति दारुणाम्॥15।।
क्षीणदोषमहं मन्ये चाभितस्त्वां नरोत्तम।
कर्तुमर्हसि नोत्कण्ठां त्वद् विधा ह्यविषादिनः।
लोकवृत्तानुवृत्तज्ञा नित्यं धर्मपरायणाः॥16।।

ब्राह्मण बोला—महामते! मनुष्य इसी प्रकार दुःख और सुख पाते रहते हैं। इसके लिए आपको चिन्ता नहीं करनी चाहिए।।10।। जिसके फलस्वरूप आपको अपने पूर्वजन्म की बातों का ज्ञान हुआ है, वह पिता माता की सेवा रूप कर्म दूसरों के लिए दुष्कर है; किन्तु आपने उसे सम्पन्न कर लिया है। आप लोक वृत्तान्त तत्त्व जानते हैं और सदा धर्म में तत्पर रहते हैं।।11।। विद्वन्! आपको जो यह कर्म दोष (दूषित कर्म) प्राप्त हुआ है, वह आपके पूर्वजन्म के कर्म का फल है। इस जन्म के नहीं। अतः कुछ काल तक और इसी रूप में रहें। फिर आप ब्राह्मण हो जाएँगे।।12।। मैं तो अभी आपको ब्राह्मण मानता हूँ। आपके ब्राह्मण होने में सन्देह नहीं है। जो ब्राह्मण होकर भी पतन के गर्त में गिराने वाले पाप कर्मों में फँसा हुआ है और प्रायः दुष्कर्म परायण तथा पाखण्डी है, वह शूद्र के समान है। इसके विपरीत जो शूद्र होकर भी (शम), दम, सत्य तथा धर्म का पालन करने के लिए सदा उद्यत रहता है, उसे मैं ब्राह्मण ही मानता हूँ; क्योंकि मनुष्य सदाचार से ही द्विज होता है। कर्मदोष से ही मनुष्य विषम एवं भयङ्कर दुर्गति में पड़ जाता है। परन्तु नरश्रेष्ठ! मैं तो समझता हूँ कि आपके सारे कर्मदोष सर्वदा नष्ट हो गए हैं। अतः आपको अपने विषय में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। आपके जैसे ज्ञानी पुरुष, जो लोक वृत्तान्त के अनुवर्तन का रहस्य जानने वाले तथा नित्य धर्मपरायण हैं, कभी विषादग्रस्त नहीं होते हैं।।13-16।।

व्याध उवाच

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात्॥17॥
अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते चाल्पबुद्धयः॥18॥
गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते॥19॥
अनिष्टं चान्वितं पश्यंस्तथा क्षिप्रं विरज्यते।
ततश्च प्रतिकुर्वन्ति यदि पश्यन्त्युपक्रमात्॥20॥
शोचतो न भवेत् किञ्चित् केवलं परितप्यते।
परित्यजन्ति ये दुःखं सुखं वाप्युभयं नराः॥21॥
त एव सुखमेधन्ते ज्ञानतृप्ता मनीषिणः।
असन्तोषपरा मूढाः सन्तोषं यान्ति पण्डिताः॥22॥
असन्तोषस्य नास्त्यन्तस्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम्॥23॥
न विषादे मनः कार्यं विषादो विषमुत्तमम्।
मारयत्यकृतप्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगः॥24॥
यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते॥25॥
अवश्यं क्रियमाणस्य कर्मणो दृश्यते फलम्।
न हि निर्वेदमागम्य किञ्चित् प्राप्नोति शोभनम्॥26॥
अथाप्युपायं पश्येत दुःखस्य परिमोक्षणे।
अशोचन्नारभेतैवं मुक्तश्चाव्यसनी भवेत्॥27॥
भूतेष्वभावं सञ्चिन्त्य ये तु बुद्धेः परं गताः।
न शोचन्ति कृतप्रज्ञाः पश्यन्तः परमां गतिम्॥28॥
न शोचामि च वै विद्वन् कालाकाङ्क्षी स्थितो ह्यहम्।
एतैर्निदर्शनैर्ब्रह्मन् नावसीदामि सत्तम॥29॥

धर्मव्याध ने कहा—ज्ञानी पुरुष शारीरिक कष्ट का औषध सेवन द्वारा नाश करे और विवेकशील बुद्धि द्वारा मानसिक दुःख को नष्ट करे। यही ज्ञान की शक्ति है। बुद्धिमान् मनुष्य को बालकों के समान शोक या विलाप नहीं करना चाहिए॥17॥ मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तु के संयोग और प्रिय वस्तु के वियोग में मानसिक दुःख से दुःखी होते हैं॥18॥ सभी प्राणी तीनों गुणों के कार्यभूत विभिन्न वस्तु आदि से जिस प्रकार संयुक्त होते हैं, वैसे ही वियुक्त भी होते रहते हैं। अतः किसी एक का संयोग और किसी एक का वियोग वास्तव में शोक का कारण नहीं है॥19॥ यदि किसी कार्य में अनिष्ट का संयोग दिखायी देता है, तो मनुष्य शीघ्र ही उससे निवृत्त हो जाता है और यदि

आरम्भ होने से पहले ही उस अनिष्ट का पता लग जाता है, तो लोग उसके प्रतीकार का उपाय करने लगते हैं।।20।। केवल शोक करने से कुछ नहीं होता, संताप मात्र ही हाथ लगता है। जो ज्ञान तृप्त मनीषी मानव सुख और दुःख दोनों का परित्याग कर देते हैं, वे ही सुखी होते हैं। मूढ़ मनुष्य असन्तोषी होते हैं और ज्ञानवानों को सन्तोष प्राप्त होता है।।21-22।। असन्तोष का अन्त नहीं है, अतः सन्तोष ही परम सुख है। जिन्होंने ज्ञान मार्ग को पार करके परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, वे कभी शोक में नहीं पड़ते हैं।।23।। मन को विषाद की ओर न जाने दे। विषाद उग्र विष है। वह क्रोध में भरे हुए सर्प की भाँति विवेकहीन अज्ञानी मनुष्य को मार डालता है।।24।। पराक्रम का अवसर उपस्थित होने पर जिसे विषाद घेर लेता है, उस तेजोहीन पुरुष का कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता।।25।। किए जाने वाले कर्म का फल अवश्य दृष्टिगोचर होता है। केवल खिन्न होकर बैठ रहने से कोई अच्छा परिणाम हाथ नहीं लगता।।26।। अतः दुःख से छूटने के उपाय को अवश्य देखे। शोक और विषाद में न पड़कर आवश्यक कार्य आरम्भ कर दे। इस प्रकार प्रयत्न करने से मनुष्य निश्चय ही दुःख से छूट जाता है और फिर किसी सङ्कट या व्यसन में नहीं फँसता।।27।। संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा सोचकर जो बुद्धि से पार होकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो गये हैं, वे ज्ञानी महापुरुष परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए कभी शोक में नहीं पड़ते।।28।। विद्वन्! मैं अन्त काल की प्रतीक्षा करता हूँ। अतः कभी शोकमग्न नहीं होता। सत्पुरुषों में श्रेष्ठ ब्राह्मण! उपर्युक्त विचारों का मनन करते रहने से मुझे कभी दुःख या अनुत्साह नहीं होता।।29।।

ब्राह्मण उवाच

कृतप्रज्ञोऽसि मेधावी बुद्धिर्हि विपुला तव।
नाहं भवन्तं शोचामि ज्ञानतृप्तोऽसि धर्मवित्॥30।।
आपृच्छे त्वां स्वस्ति तेऽस्तु धर्मस्त्वां परिरक्षतु।
अप्रमादस्तु कर्तव्यो धर्मे धर्मभृतां वर॥31।।

ब्राह्मण बोला—धर्मव्याध! आप ज्ञानी और बुद्धिमान् हैं। आपकी बुद्धि विशाल है। आप धर्म के तत्त्व को जानते हैं और ज्ञानानन्द से तृप्त रहते हैं। अतः मैं आपके लिए शोक नहीं करता।।30।। अब मैं जाने के लिए आपकी अनुमति चाहता हूँ। आपका कल्याण हो और धर्म सदा आपकी रक्षा करे। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ व्याध! आप धर्माचरण में कभी प्रमाद न करें।।31।।

मार्कण्डेय उवाच

बाढमित्येव तं व्याधः कृताञ्जलिरुवाच ह।
प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः॥32।।
स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा।
मातापितृभ्यां वृद्धाभ्यां यथान्यायं सुशंसितः॥33।।
एतत् ते सर्वमाख्यातं निखिलेन युधिष्ठिर।
पृष्टवानसि यं तात धर्मं धर्मभृतां वर॥34।।

पतिव्रताया माहात्म्यं ब्राह्मणस्य च सत्तम।
मातापित्रोश्च शुश्रूषा धर्मव्याधेन कीर्तिता॥35॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! कौशिक ब्राह्मण की बात सुनकर धर्मव्याध ने हाथ जोड़कर कहा—'बहुत अच्छा! अब आप अपने घर को पधारें।' तदनन्तर विप्रवर कौशिक धर्मव्याध की परिक्रमा करके वहाँ से चल दिया॥32॥ घर जाकर उस ब्राह्मण ने अपने माता-पिता की सब प्रकार की सेवा शुश्रूषा की और उन बूढ़े माता-पिता ने प्रसन्न होकर उसकी यथायोग्य प्रशंसा की॥33॥ धर्मात्माओं में श्रेष्ठ तात युधिष्ठिर! तुमने जो प्रश्न किया था, उसके अनुसार मैंने ये सब बातें कह सुनायीं॥34॥ साधुश्रेष्ठ! पतिव्रता का माहात्म्य और धर्मव्याध के द्वारा ब्राह्मण से कही हुई माता-पिता की सेवा आदि की बातें बता दीं॥35॥

युधिष्ठिर उवाच

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् धर्माख्यानमनुत्तमम्।
सर्वधर्मविदां श्रेष्ठ कथितं मुनिसत्तम॥36॥
सुखश्रव्यतया विद्वन् मुहूर्त इव मे गतः।
न हि तृप्तोऽस्मि भगवन्शृण्वानो धर्ममुत्तमम्॥37॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! आपने धर्म के विषय में यह अत्यन्त अद्भुत और उत्तम उपाख्यान सुनाया है। मुनिवर! आप समस्त धर्मज्ञों में श्रेष्ठ हैं॥36॥ विद्वन्! यह कथा सुनने में इतनी सुखद थी कि मेरा बहुत-सा समय भी दो घड़ी के समय बीत गया। भगवन्! आपके मुख से यह धर्म की उत्तम कथा सुनते-सुनते मुझे तृप्ति ही नहीं हो रही है॥37॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि मार्कण्डेयसमास्यापर्वणि ब्राह्मणव्याधसंवादे षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ 216 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समास्या पर्व में बाह्मण व्याध संवाद विषयक दो सौ सौलहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥216॥

कौशिकगीता (व्याधगीता) सम्पूर्णा

सावित्री गीता

प्रथमोऽध्याय :

सावित्री और यम का संवाद, यमराज का सन्तुष्ट होकर सावित्री को अनेक वरदान देते हुए मरे हुए सत्यवान् को भी जीवित कर देना

मार्कण्डेय उवाच

अथ भार्यासहायः स फलान्यादाय वीर्यवान्।
कठिनं पूरयामास ततः काष्ठान्यपाटयत्॥1।।
तस्य पाटयतः काष्ठं स्वेदो वै समजायत।
व्यायामेन च तेनास्य जज्ञे शिरसि वेदना।
सोऽभिगम्य प्रियां भार्यामुवाच श्रमपीडितः॥2।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—तदनन्तर पत्नी सहित शक्तिशाली सत्यवान् ने फल चुनकर एक काठ की टोकरी भर ली। तत्पश्चात् वे लकड़ी चीरने लगे।।1।। लकड़ी चीरते समय परिश्रम के कारण उनके शरीर से पसीना निकल आया और उसी परिश्रम से उनके सिर में दर्द होने लगा। तब वे श्रम से पीड़ित होकर अपनी प्यारी पत्नी के पास जाकर बोले।।2।।

सत्यवानुवाच

व्यायामेन ममानेन जाता शिरसि वेदना।
अङ्गानि चैव सावित्रि हृदयं दूयतीव च॥3।।
अस्वस्थमिव चात्मानं लक्षये मितभाषिणि।
शूलैरिव शिरो विद्धमिदं संलक्षयाम्यहम्॥4।।
भ्रमन्तीव दिशः सर्वाश्चक्रारूढं मनो मम।
तत् स्वप्तुमिच्छे कल्याणि न स्थातुं शक्तिरस्ति मे॥5।।
सा समासाद्य सावित्री भर्तारमुपगम्य च।
उत्सङ्गेऽस्य शिरः कृत्वा निषसाद महीतले॥6।।
ततः सा नारदवचो विमृशन्ती तपस्विनी।
तं मुहूर्तं क्षणं वेलां दिवसं च युयोज ह॥7।।
मुहूर्तादेव चापश्यत् पुरुषं रक्तवाससम्।
बद्धमौलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम्॥8।।
श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम्।
स्थितं सत्यवतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च॥9।।

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय भर्तुर्न्यस्य शनैः शिरः।
कृताञ्जलिरुवाचार्ता हृदयेन प्रवेपती ॥10॥

सत्यवान् ने कहा—सावित्री! आज लकड़ी काटने के परिश्रम से मेरे सिर में दर्द होने लगा है, सारे अङ्गों में पीड़ा हो रही है और हृदय दग्ध सा होता जान पड़ता है। मितभाषिणी प्रिये! मैं अपने आपको अस्वस्थ सा देख रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है, कोई शूलों से मेरे सिर को छेद रहा है। कल्याणि! अब मैं सोना चाहता हूँ। मुझमें खड़े रहने की शक्ति नहीं रह गई है॥3-5॥ यह सुनकर सावित्री शीघ्र अपने पति के पास आयी ओर उनका सिर गोदी में लेकर पृथ्वी पर बैठ गई॥6॥ फिर वह तपस्विनी राजकन्या नारदजी की बात याद करके उस मुहूर्त, क्षण, समय और दिन का योग मिलाने लगी॥7॥ दो ही घड़ी में उसने देखा, एक दिव्य पुरुष प्रकट हुए हैं, जिनके शरीर पर लाल रङ्ग का वस्त्र शोभा पा रहा है। सिर पर मुकुट बँधा हुआ है। सूर्य के समान तेजस्वी होने के कारण वे मूर्तिमान् सूर्य ही जान पड़ते हैं। उनका शरीर श्याम एवं उज्ज्वल प्रभा से उद्भासित है, नेत्र लाल हैं। उनके हाथ में पाश है। उनका स्वरूप डरावना है। वे सत्यवान् के पास खड़े हैं और बार-बार उन्हीं की ओर देख रहे हैं॥8-9॥ उन्हें देखते ही सावित्री ने धीरे-से पति का मस्तक भूमि पर रख दिया और सहसा खड़ी हो हाथ जोड़कर काँपते हुए हृदय से वह आर्त्त वाणी में बोली॥10॥

सावित्र्युवाच

दैवतं त्वाभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम्।
कामया ब्रूहि देवेश कस्त्वं किं च चिकीर्षसि॥11॥

सावित्री ने कहा—मैं समझती हूँ, आप कोई देवता हैं; क्योंकि आपका यह शरीर मनुष्यों जैसा नहीं है। देवेश्वर! यदि आपकी इच्छा हो तो बताइये आप कौन हैं ओर क्या करना चाहते हैं॥11॥

यम उवाच

पतिव्रतासि सावित्रि तथैव च तपोऽन्विता।
अतस्त्वामभिभाषामि विद्धि मां त्वं शुभे यमम्॥12॥
अयं ते सत्यवान् भर्ता क्षीणायुः पार्थिवात्मजः।
नेष्यामि तमहं बद्ध्वा विद्ध्येतन्मे चिकीर्षितम्॥13॥

यमराज बोले—सावित्री! तू पतिव्रता और तपस्विनी है, इसलिए मैं तुझसे वार्तालाप कर सकता हूँ। शुभे! तू मुझे यमराज जान॥12॥ तेरे पति इस राजकुमार सत्यवान् की आयु समाप्त हो गई है, अत: मैं इसे बाँध कर ले जाऊँगा। बस, मैं यही करना चाहता हूँ॥13॥

सावित्र्युवाच

श्रूयते भगवन् दूतास्तवागच्छन्ति मानवान्।
नेतुं किल भवान् कस्मादागतोऽसि स्वयं प्रभो॥14॥

सावित्री ने पूछा—भगवन्! मैंने तो सुना है कि मनुष्यों को ले जाने के लिए आपके दूत आया करते हैं। प्रभो! आप स्वयं यहाँ कैसे चले आये?।।14।।

मार्कण्डेय उवाच

इत्युक्तः पितृराजस्तां भगवान् स्वचिकीर्षितम्।
यथावत् सर्वमाख्यातुं तत्प्रियार्थं प्रचक्रमे॥15।।
अयं च धर्मसंयुक्तो रूपवान् गुणसागरः।
नार्हो मत्पुरुषैर्नेतुमतोऽस्मि स्वयमागतः॥16।।
ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥17।।
ततः समुद्धृतप्राणं गतश्वासं हतप्रभम्।
निर्विचेष्टं शरीरं तद् बभूवाप्रियदर्शनम्॥18।।
यमस्तु तं ततो बद्ध्वा प्रयातो दक्षिणामुखः।
सावित्री चैव दुःखार्ता यममेवान्वगच्छत।
नियमव्रतसंसिद्धा महाभागा पतिव्रता॥19।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! सावित्री के इस प्रकार पूछने पर पितृराज भगवान् यम ने उसका प्रिय करने के लिए अपना सारा अभिप्राय यथार्थ रूप से बताना आरम्भ किया।।15।। 'यह सत्यवान् धर्मात्मा, रूपवान और गुणों का समुद्र है। मेरे दूतों द्वारा ले जाया जाने योग्य नहीं है। इसीलिए मैं स्वयं आया हूँ'।।16।। तदनन्तर यमराज ने सत्यवान् के शरीर से पाश में बँधे हुए अङ्गुष्ठ मात्र परिमाण वाले विवश हुए जीव को बलपूर्वक खींचकर निकाला।।17।। फिर तो प्राण निकल जाने से उसकी साँस बन्द हो गई—अङ्ग कान्ति फीकी पड़ गई और शरीर निश्चेष्ट होकर अपरूप दिखायी देने लगा।।18।। यमराज उस जीव को बाँध कर साथ लिए दक्षिण दिशा की ओर चल दिये। सावित्री दुःख से आतुर हो यमराज के ही पीछे-पीछे चल पड़ी। वह परम सौभाग्यवती पतिव्रता राजकन्या नियमपूर्वक व्रतों के पालन से पूर्णतः सिद्ध हो चुकी थी (अतः निर्बाध गति से सर्वत्र आने-जाने में समर्थ थी)।।19।।

यम उवाच

निवर्त गच्छ सावित्रि कुरुष्वास्यौर्ध्वदैहिकम्।
कृतं भर्तुस्त्वयाऽऽनृण्यं यावद् गम्यं गतं त्वया॥20।।

यमराज बोले—सावित्री! अब तू लौट जा, सत्यवान् का अन्त्येष्टि संस्कार कर। अब तू पति के ऋण से उऋण हो गई। पति के पीछे तुझे जहाँ तक आना चाहिए था, तू वहाँ तक आ चुकी।।20।।

सावित्र्युवाच

यत्र मे नीयते भर्ता स्वयं वा यत्र गच्छति।
मया च तत्र गन्तव्यमेष धर्मः सनातनः॥21।।

तपसा गुरुभक्त्या च भर्तुः स्नेहाद् व्रतेन च।
तव चैव प्रसादेन न मे प्रतिहता गतिः॥22॥
प्राहुः साप्तपदं मैत्रं बुधास्तत्त्वार्थदर्शिनः।
मित्रतां च पुरस्कृत्य किञ्चिद् वक्ष्यामि तच्छृणु॥23॥
नानात्मवन्तस्तु वने चरन्ति धर्मं च वासं च परिश्रमं च।
विज्ञानतो धर्ममुदाहरन्ति तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम्॥24॥
एकस्य धर्मेण सतां मतेन सर्वे स्म तं मार्गमनुप्रपन्नाः।
मा वै द्वितीयं मा तृतीयं च वाञ्छेत् तस्मात् सन्तो धर्ममाहुः प्रधानम्॥25॥

सावित्री ने कहा—जहाँ मेरे पति ले जाये जाते हैं अथवा ये स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वही मुझे भी जाना चाहिये; यही सनातन धर्म है॥21॥ तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रत पालन तथा आपकी कृपा से मेरी गति कहीं भी रुक नहीं सकती॥22॥ तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् ऐसा कहते हैं कि सात पग साथ चलने मात्र से मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसी मित्रता को सामने रखकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगी, उसे सुनिये॥23॥ जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वे वन में रहकर धर्मपालन, गुरुकुलवास तथा कष्ट सहन रूप तपस्या नहीं कर सकते हैं। जितेन्द्रिय पुरुष ही यह सब कुछ करने में समर्थ है। महात्मा लोग विवेक विचार से ही धर्म प्राप्ति बताते हैं, अत: सभी सत्पुरुष धर्म को ही श्रेष्ठ मानते हैं॥24॥ अपने एक ही वर्ण के सत्पुरुष सम्मत धर्म का पालन करने से सभी लोग उस विज्ञान मार्ग पर पहुँच जाते हैं, जो सबका लक्ष्य है। अत: दूसरे या तीसरे वर्ण की इच्छा नहीं रखनी चाहिये। इसलिए साधु पुरुष केवल वर्ण धर्म को ही प्रधानता देते हैं॥25॥

यम उवाच

निवर्त तुष्टोऽस्मि तवानया गिरा स्वराक्षरव्यञ्जनहेतुयुक्तया।
वरं वृणीष्वेह विनास्य जीवितं ददानि ते सर्वमनिन्दिते वरम्॥26॥

यमराज बोले—अनिन्दिते! तू लौट जा। स्वर, अक्षर, व्यञ्जन एवं युक्तियों से युक्त तेरी इन बातों से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तू यहाँ मुझसे कोई वर माँग ले। सत्यवान् के जीवन के सिवा मैं और सब कुछ तुझे दे सकता हूँ॥26॥

सावित्र्युवाच

च्युतः स्वराज्याद् वनवासमाश्रितो विनष्टचक्षुः श्वशुरो ममाश्रमे।
स लब्धचक्षुर्बलवान् भवेन्नृपस्तव प्रसादाज्ज्वलनार्कसंनिभः॥27॥

सावित्री बोली—भगवन्! मेरे श्वशुर अपने राज्य से भ्रष्ट होकर वन में रहते हैं। उनकी आँखें भी नष्ट हो गई है। मैं चाहती हूँ, आपकी कृपा से उन महाराज को उनकी आँखें मिल जाएँ और वे बलवान् तथा अग्नि एवं सूर्य के समान तेजस्वी हो जाएँ॥27॥

यम उवाच

ददानि तेऽहं तमनिन्दिते वरं यथा त्वयोक्तं भविता च तत् तथा।
तवाध्वना ग्लानिमिवोपलक्षये निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत्॥28॥

यमराज बोले—अनिन्दिते! मैं तुझे वर देता हूँ। तूने जैसा कहा है, वह सब वैसा ही होगा। मैं देखता हूँ, तू राह चलने के कारण बहुत थक गई है। अब लौट जा, जिससे तुझे अधिक परिश्रम न हो।।28।।

सावित्र्युवाच

श्रमः कुतो भर्तृसमीपतो हि मे यतो हि भर्ता मम सा गतिर्ध्रुवा।
यतः पतिं नेष्यसि तत्र मे गतिः सुरेश भूयश्च वचो निबोध मे॥29।।
सतां सकृत्संगतमीप्सितं परं ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते।
न चाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं ततः सतां सन्निवसेत् समागमे॥30।।

सावित्री बोली—स्वामी के समीप रहते हुए मुझे श्रम हो ही कैसे सकता है। जहाँ मेरे पतिदेव रहेंगे, वहीं मेरी भी गति निश्चित है। आप जहाँ मेरे प्राणनाथ को ले जाएँगे, वहीं मेरा जाना भी अवश्यम्भावी है। देवेश्वर! आप फिर मेरी बात सुनिये।।29।। सत्पुरुषों का एक बार का समागम भी अत्यन्त अभीष्ट होता है। उनके साथ मित्रता हो जाना उससे भी बढ़कर बताया गया है। साधु पुरुष का सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता; अतः सदा सत्पुरुषों के ही समीप रहना चाहिए।।30।।

यम उवाच

मनोऽनुकूलं बुधबुद्धिवर्धनं त्वया यदुक्तं वचनं हिताश्रयम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं द्वितीयं वरयस्व भामिनि॥31।।

यमराज बोले—भामिनी! तूने जो सबके हित की बात कही है, वह मेरे मन के अनुकूल है तथा विद्वानों की भी बुद्धि को बढ़ाने वाली है; अतः इस सत्यवान् के जीवन को छोड़कर तू दूसरा कोई वर और माँग ले।।31।।

सावित्र्युवाच

हृतं पुरा मे श्वशुरस्य धीमतः स्वमेव राज्यं लभतां स पार्थिवः।
जह्यात् स्वधर्मं न च मे गुरुर्यथा द्वितीयमेतद् वरयामि ते वरम्॥32।।

सावित्री बोली—मेरे बुद्धिमान् श्वशुर का राज्य, जो पहले उनसे छीन लिया गया है, उसे वे महाराज पुनः प्राप्त कर लें तथा वे मेरे पूज्य गुरु महाराज द्युमत्सेन कभी अपना धर्म न छोड़ें; यही दूसरा वर मैं आपसे माँगती हूँ।।32।।

यम उवाच

स्वमेव राज्यं प्रतिपत्स्यतेऽचिरान्न च स्वधर्मात् परिहास्यते नृपः।
कृतेन कामेन मया नृपात्मजे निवर्त गच्छस्व न ते श्रमो भवेत्॥33।।

यमराज बोले—राजा द्युमत्सेन शीघ्र एवं अनायास ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे और वे कभी अपने धर्म का भी परित्याग नहीं करेंगे। राजकुमारी! मेरे द्वारा अब तेरी इच्छा पूरी हो गई। तू लौट जा, जिससे तुझे परिश्रम न हो।।33।।

सावित्र्युवाच

प्रजास्त्वयैता नियमेन संयता नियम्य चैता नयसे निकामया।
ततो यम त्वं तव देव विश्रुतं निबोध चेमां गिरमीरितां मया॥34॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥35॥
एवं प्रायश्च लोकोऽयं मनुष्याः शक्तिपेशलाः।
सन्तस्त्वेवाप्यमित्रेषु दयां प्राप्तेषु कुर्वते॥36॥

सावित्री बोली—देव! इस सारी प्रजा को आप नियम से संयम में रखते हैं और उसका नियमन करके आप अपनी इच्छा के अनुसार उसे विभिन्न लोकों में ले जाते हैं। इसीलिए आपका 'यम' नाम सर्वत्र विख्यात है। मैं जो बात कहती हूँ, उसे सुनिये॥34॥ मन, वाणी और क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी से द्रोह न करना, सब पर दया भाव बनाये रखना और दान देना यह साधु पुरुषों का सनातन धर्म है॥35॥ प्राय: इस संसार के लोग अल्पायु होते हैं, मनुष्यों की शक्तिहीनता तो प्रसिद्ध ही है। आप जैसे सन्त-महात्मा तो अपनी शरण में आये हुए शत्रुओं पर भी दया करते हैं (फिर हम जैसे दीन मनुष्यों पर दया क्यों न करेंगे?)॥36॥

यम उवाच

पिपासितस्येव भवेद् यथा पयस्तथा त्वया वाक्यमिदं समीरितम्।
विना पुनः सत्यवतोऽस्य जीवितं वरं वृणीष्वेह शुभे यदिच्छसि॥37॥

यमराज बोले—शुभे! जैसे प्यासे मनुष्य को प्राप्त हुआ जल आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार तेरी कही हुई यह बात मुझे अत्यन्त सुख दे रही है। अत: तू सत्यवान् के जीवन के सिवा और कोई वर, जिसे तू लेना चाहे, माँग ले॥37॥

सावित्र्युवाच

ममानपत्यः पृथिवीपतिः पिता भवेत् पितुः पुत्रशतं तथौरसम्।
कुलस्य सन्तानकरं च यद् भवेत् तृतीयमेतद् वरयामि ते वरम्॥38॥

सावित्री ने कहा—भगवन्! मेरे पिता महाराज अश्वपति पुत्रहीन हैं, उन्हें सौ ऐसे औरस पुत्र प्राप्त हों, जो उनके कुल की सन्तान परम्परा को चलाने वाले हों। मैं आपसे यही तीसरा वर माँगती हूँ॥38॥

यम उवाच

कुलस्य सन्तानकरं सुवर्चसं शतं सुतानां पितुरस्तु ते शुभे।
कृतेन कामेन नारधिपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता॥39॥

यमराज बोले—शुभे! तेरे पिता के कुल की सन्तान परम्परा को चलाने वाले सौ तेजस्वी पुत्र होगे। राजकुमारी! तेरी यह कामना भी पूरी हुई। अब लौट जा, तू रास्ते से बड़ी दूर चली आयी है॥39॥

सावित्र्युवाच

न दूरमेतन्मम भर्तृसंनिधौ मनो हि मे दूरतरं प्रधावति।
अथ व्रजन्नेव गिरं समुद्यतां मयोच्यमानां शृणु भूय एव च॥40॥
विवस्वतस्त्वं तनयः प्रतापवांस्ततो हि वैवस्वत उच्यसे बुधैः।
समेन धर्मेण चरन्ति ताः प्रजास्ततस्तवेहेश्वर धर्मराजता॥41॥
आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः।
तस्मात् सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति॥42॥
सौहृदात् सर्वभूतानां विश्वासो नाम जायते।
तस्मात् सत्सु विशेषेण विश्वासं कुरुते जनः॥43॥

सावित्री ने कहा—भगवन्! मैं अपने स्वामी के समीप हूँ। इसलिए यह स्थान मेरे लिए दूर नहीं है। मेरा मन तो और भी दूर तक दौड़ लगाता है। आप चलते-चलते ही मेरी कही हुई ये प्रस्तुत बातें पुनः सुनें॥40॥ देवेश्वर! आप विवस्वान (सूर्य) के प्रतापी पुत्र हैं, इसलिए विद्वान् पुरुष आपको वैवस्वत कहते हैं। आप समस्त प्रजा के साथ समतापूर्वक धर्मानुसार आचरण करते हैं, इसलिए आप धर्मराज कहलाते हैं॥41॥ मनुष्य को अपने आप पर भी उतना विश्वास नहीं होता है, जितना सन्तों पर होता है। इसलिए सब लोग सन्तों से विशेष प्रेम करना चाहते हैं॥42॥ सौहार्द्र से ही समस्त प्राणियों का एक-दूसरे के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। सन्तों में सौहार्द्र होने के कारण ही सब लोग उन पर अधिक विश्वास करते हैं॥43॥

यम उवाच

उदाहृतं ते वचनं यदङ्गने शुभे न तादृक् त्वदृते श्रुतं मया।
अनेन तुष्टोऽस्मि विनास्य जीवितं वरं चतुर्थं वरयस्व गच्छ च॥44॥

यमराज बोले—कल्याणि! तूने जैसी बात कही है, वैसी मैंने तेरे सिवा किसी दूसरे के मुख से नहीं सुनी है। शुभे! तेरी इस बात से मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ; तू सत्यवान् के जीवन के सिवा और कोई चौथा वर माँग ले और यहाँ से लौट जा॥44॥

सावित्र्युवाच

ममात्मजं सत्यवतस्तथौरसं भवेदुभाभ्यामिह यत् कुलोद्वहम्।
शतं सुतानां बलवीर्यशालिनामिदं चतुर्थं वरयामि ते वरम्॥45॥

सावित्री ने कहा—मेरे और सत्यवान्—दोनों के संयोग से कुल की वृद्धि करने वाले, बल और पराक्रम से सुशोभित सौ औरस पुत्र हों। यह मैं आपसे चौथा वर माँगती हूँ॥45॥

यम उवाच

शतं सुतानां बलवीर्यशालिनां भविष्यति प्रीतिकरं तवाबले।
परिश्रमस्ते न भवेन्नृपात्मजे निवर्त दूरं हि पथस्त्वमागता॥46॥

यमराज बोले—अबले! तुझे बल और पराक्रम से सम्पन्न सौ पुत्र प्राप्त होंगे; जो तेरी प्रसन्नता को बढ़ाने वाले होंगे। राजकुमारी! अब तू लौट जा, जिससे तुझे थकावट न हो। तू रास्ते से बहुत दूर चली आयी है।।46।।

सावित्र्युवाच

सतां सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः सन्तो न सीदन्ति न च व्यथन्ति।
सतां सद्भिर्नाफलं सङ्गमोऽस्ति सद्भ्यो भयं नानुवर्तन्ति सन्तः॥47।।
सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन् सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः॥48।।
आर्यजुष्टमिदं वृत्तमिति विज्ञाय शाश्वतम्।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ति परस्परम्॥49।।
न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति॥50।।

सावित्री ने कहा—सत्पुरुषों की वृत्ति निरन्तर धर्म में ही लगी रहती है। श्रेष्ठ पुरुष कभी दुःखी या व्यथित नहीं होते। सत्पुरुषों का सन्तों के साथ जो समागम होता है, वह कभी निष्फल नहीं होता है। श्रेष्ठ पुरुष सन्तों से कभी भय नहीं मानते हैं।।47।। श्रेष्ठ पुरुष सत्य के बल से सूर्य का सञ्चालन करते हैं। सन्त-महात्मा अपनी तपस्या से इस पृथ्वी को धारण करते हैं। राजन्! सत्पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्य के आश्रय हैं। श्रेष्ठ पुरुष सन्तों के बीच में रहकर कभी दुःख नहीं उठाते हैं।।48।। यह सनातन सदाचार सत्पुरुषों द्वारा सेवित है। यह जानकर सभी श्रेष्ठ पुरुष परोपकार करते हैं और आपस में एक-दूसरे की ओर स्वार्थ की दृष्टि से कभी नहीं देखते हैं।।49।। सत्पुरुषों का प्रसाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। वहाँ किसी को स्वार्थ की हानि नहीं उठानी पड़ती है और न मान-सम्मान ही नष्ट होता है। ये तीनों (प्रसाद, अर्थ और मान) सन्तों में नित्य निरन्तर बने रहते हैं; इसलिए वे सम्पूर्ण जगत् के रक्षक होते हैं।।50।।

यम उवाच

यथा यथा भाषसि धर्मसंहितं मनोऽनुकूलं सुपदं महार्थवत्।
तथा तथा मे त्वयि भक्तिरुत्तमा वरं वृणीष्वाप्रतिमं पतिव्रते॥51।।

यमराज बोले—पतिव्रते! जैसे-जैसे तू गम्भीर अर्थ से युक्त और सुन्दर पदों से विभूषित, मन के अनुकूल धर्मसङ्गत बातें मुझे सुनाती जा रही है, वैसे ही वैसे तेरे प्रति मेरी उत्तम भक्ति बढ़ती जाती है; अत: तू मुझसे कोई अनुपम वर माँग ले।।51।।

सावित्र्युवाच

न तेऽपवर्गः सुकृताद् विनाकृतस्तथा यथान्येषु वरेषु मानद।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं यथा मृता ह्येवमहं पतिं विना॥52।।
न कामये भर्तृविनाकृता सुखं न कामये भर्तृविनाकृता दिवम्।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम्॥53।।

वरातिसर्गः शतपुत्रता मम त्वयैव दत्तो ह्रियते च मे पतिः।
वरं वृणे जीवतु सत्यवानयं तवैव सत्यं वचनं भविष्यति॥54॥

सावित्री ने कहा—मानद! आपने मुझे पुत्र प्राप्ति का वर दिया है, वह पुण्यमय दाम्पत्य संयोग के बिना सफल नहीं हो सकता। अन्य वरों की जैसी स्थिति है, वैसी इस अन्तिम वर की नहीं है। इसलिए मैं पुनः यह वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जाएँ; क्योंकि इन पति देवता के बिना मैं मरी हुई के ही समान हूँ॥52॥ पति के बिना यदि कोई सुख मिलता है, तो वह मुझे नहीं चाहिये। पतिदेव के बिना मैं स्वर्गलोक में भी जाने की इच्छा नहीं रखती। पति के बिना मुझे धन सम्पत्ति की भी इच्छा नहीं है। अधिक क्या कहूँ, मैं पति के बिना जीवित रहना भी नहीं चाहती॥53॥ आपने ही मुझे सौ पुत्र होने का वर दिया है और आप ही मेरे पति को अन्यत्र लिए जा रहे हैं; अतः मैं वही वर माँगती हूँ कि ये सत्यवान् जीवित हो जाएँ, इससे आपका ही वचन सत्य होगा॥54॥

मार्कण्डेय उवाच

तथेत्युक्त्वा तु तं पाशं मुक्त्वा वैवस्वतो यमोः।
धर्मराजः प्रहृष्टात्मा सावित्रीमिदमब्रवीत्॥55॥
एष भद्रे मया मुक्तो भर्ता ते कुलनन्दिनि।
(तोषितोऽहं त्वया साध्वि वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः।)
अरोगस्तव नेयश्च सिद्धार्थः स भविष्यति॥56॥
चतुर्वर्षशतायुश्च त्वया सार्धमवाप्स्यति।
इष्ट्वा यज्ञैश्च धर्मेण ख्यातिं लोके गमिष्यति॥57॥
त्वयि पुत्रशतं चैव सत्यवाञ्जनयिष्यति।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः॥58॥
ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः।
पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि॥59॥
मालव्यां मालवा नाम शाश्वताः पुत्रपौत्रिणः।
भ्रातरस्ते भविष्यन्ति क्षत्रियास्त्रिदशोपमाः॥60॥
एवं तस्यै वरं दत्त्वा धर्मराजः प्रतापवान्।
निवर्तयित्वा सावित्रीं स्वमेव भवनं ययौ॥61॥
सावित्र्यपि यमे याते भर्तारं प्रतिलभ्य च।
जगाम तत्र यत्रास्या भर्तुः शावं कलेवरम्॥62॥
सा भूमौ प्रेक्ष्य भर्तारमुपसृत्योपगृह्य च।
उत्सङ्गे शिर आरोप्य भूमावुपविवेश ह॥63॥
संज्ञां च स पुनर्लब्ध्वा सावित्रीमभ्यभाषत।
प्रोष्यागत इव प्रेम्णा पुनः पुनरुदीक्ष्य वै॥64॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर 'तथास्तु' कहकर सूर्यपुत्र धर्मराज यम ने सत्यवान् का बन्धन खोल दिया और प्रसन्नचित्त होकर सावित्री से इस प्रकार कहा—।।55।। 'भद्रे! यह ले, मैंने तेरे पति को छोड़ दिया। कुलनन्दिनी! तूने अपने धर्मार्थयुक्त वचनों द्वारा मुझे पूर्ण सन्तुष्ट कर दिया है। साध्वी! यह सत्यवान् नीरोग, सफल मनोरथ तथा तेरे द्वारा ले जाने योग्य हो गया।।56।। यह तेरे साथ रहकर चार सौ वर्षों की आयु प्राप्त करेगा। यज्ञों द्वारा भगवान् का यजन करके यह अपने धर्माचरण के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में विख्यात होगा।।57।। सत्यवान् तेरे गर्भ से सौ पुत्र उत्पन्न करेगा और वे सभी राजकुमार राजा होने के साथ ही पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न होंगे।।58।। तेरे ही नाम से उनकी सदा ख्याति होगी अर्थात् वे सावित्री नाम से प्रसिद्ध होंगे। तेरे पिता के भी तेरी माता के ही गर्भ से सौ पुत्र होंगे।।59।। वे तेरी माता मालवी से उत्पन्न होने के कारण मालव नाम से विख्यात होंगे। तेरे भाई मालव क्षत्रिय पुत्र पौत्रों से सम्पन्न तथा देवताओं के समान तेजस्वी होंगे'।।60।। सावित्री को इस प्रकार वरदान दे प्रतापी धर्मराज उसे लौटाकर अपने लोक को चले गये।।61।। यमराज के चले जाने पर सावित्री अपने पति को पाकर उसी स्थान पर गयी; जहाँ पति का मृत शरीर पड़ा था।।62।। वह पृथ्वी पर अपने पति को पड़ा देख उनके पास गयी और पृथ्वी पर बैठ गयी, फिर पति को उठाकर उसने उनके मस्तक को गोदी में रख लिया।।63।। तदनन्तर पुन: चेतना प्राप्त करके सत्यवान् परदेश में रहकर लौटे हुए पुरुष की भाँति बार-बार प्रेमपूर्वक सावित्री की ओर देखते हुए उससे बोले।।64।।

सत्यवानुवाच

सुचिरं बत सुप्तोऽस्मि किमर्थं नावबोधित:।
क्व चासौ पुरुष: श्यामो योऽसौ मां सञ्चकर्ष ह॥65।।

सत्यवान् ने कहा—प्रिये! खेद है कि मैं बहुत देर तक सोता रह गया। तुमने मुझे जगा क्यों नहीं दिया? वे श्याम वर्ण के पुरुष कहाँ हैं, जिन्होंने मुझे खींचा था?।।65।।

सावित्र्युवाच

सुचिरं त्वं प्रसुप्तोऽसि ममाङ्के पुरुषर्षभ।
गत: स भगवान् देव: प्रजासंयमनो यम:॥66।।
विश्रान्तोऽसि महाभाग विनिद्रश्च नृपात्मज।
यदि शक्यं समुत्तिष्ठ विगाढां पश्य शर्वरीम्॥67।।

सावित्री बोली—नरश्रेष्ठ! आप मेरी गोद में बहुत देर तक सोते रह गये। वे श्याम वर्ण के पुरुष प्रजा को संयम में रखने वाले साक्षात् भगवान् यम थे, जो अब चले गये हैं।।66।। महाभाग! आपने विश्राम कर लिया। राजकुमार! अब आपकी नींद भी टूट चुकी है। यदि शक्ति हो तो उठिये; देखिये, प्रगाढ़ अन्धकार से युक्त रात्रि हो गई है।।67।।

मार्कण्डेय उवाच

उपलभ्य ततः संज्ञं सुखसुप्त इवोत्थितः।
दिशः सर्वा वनान्तांश्च निरीक्ष्योवाच सत्यवान्॥68॥
फलाहारोऽस्मि निष्क्रान्तस्त्वया सह सुमध्यमे।
ततः पाटयतः काष्ठं शिरसो मे रुजाभवत्॥69॥
शिरोऽभितापसन्तप्तः स्थातुं चिरमशक्नुवन्।
तवोत्सङ्गे प्रसुप्तोऽस्मि इति सर्वं स्मरे शुभे॥70॥
त्वयोपगूढस्य च मे निद्रयापहृतं मनः।
ततोऽपश्यं तमो घोरं पुरुषं च महौजसम्॥71॥
तद् यदि त्वं विजानासि किं तद् ब्रूहि सुमध्यमे।
स्वप्नो मे यदि वा दृष्टो यदि वा सत्यमेव तत्॥72॥
तमुवाचाथ सावित्री रजनी व्यवगाहते।
श्वस्ते सर्वं यथावृत्तमाख्यास्यामि नृपात्मज॥73॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते पितरौ पश्य सुव्रत।
विगाढा रजनी चेयं निवृत्तश्च दिवाकरः॥74॥
नक्तञ्चराश्चरन्त्येते हृष्टाः क्रूराभिभाषिणः।
श्रूयन्ते पर्णशब्दाश्च मृगाणां चरतां वने॥75॥
एता घोरं शिवा नादान् दिशं दक्षिणपश्चिमाम्।
आस्थाय विरुवन्त्युग्राः कम्पयन्त्यो मनो मम॥76॥

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब होश में आकर सत्यवान् सुखपूर्वक सोये हुए पुरुष की भाँति उठकर सम्पूर्ण दिशाओं तथा वन प्रान्त की ओर दृष्टि डालकर बोले—'सुमध्यमे! मैं फल लाने के लिए तुम्हारे साथ घर से निकला था, फिर लकड़ी चीरते समय मेरे सिर में जोर-जोर से दर्द होने लगा था॥68-69॥ शुभे! मस्तक की उसी पीड़ा से संतप्त हो मैं देर तक खड़ा रहने में असमर्थ हो गया और तुम्हारी गोद में सिर रख कर सो रहा। ये सारी बातें मुझे क्रमशः याद आ रही हैं॥70॥ तुम्हारे अङ्गों का स्पर्श होने से मेरा मन नींद में खो गया। तत्पश्चात् मुझे घोर अन्धकार दिखायी दिया। साथ ही एक महातेजस्वी दिव्य पुरुष का दर्शन हुआ॥71॥ सुमध्यमे! यदि तुम जानती हो तो बताओ; वह सब क्या था? मैंने जो कुछ देखा है, वह स्वप्न तो नहीं था? अथवा वह सब सत्य ही था'॥72॥ तब सवित्री उनसे बोली—राजकुमार! रात बढ़ती जा रही है। कल सबेरे मैं आपसे सब बातें ठीक-ठीक बताऊँगी॥73॥ सुव्रत! उठिये, उठिये, आपका कल्याण हो। आप चलकर माता-पिता का दर्शन तो कीजिये। सूर्य डूब गये तथा रात घनी हो गई है॥74॥ ये क्रूर बोली बोलने वाले निशाचर यहाँ प्रसन्नतापूर्वक विचर रहे हैं। वन में घूमते हुए मृगों के पैरों से लगकर पत्तों के मर्मर शब्द सुनायी पड़ते हैं॥75॥ दक्षिण और पश्चिम के कोण की दिशा में जाकर ये उग्र सियारिनें भयङ्कर शब्द कर रही हैं, जिससे मेरा हृदय काँप उठता है॥76॥

सत्यवानुवाच

वनं प्रतिभयाकारं घनेन तमसाऽऽवृतम्।
न विज्ञास्यसि पन्थानं गन्तुं चैव न शक्ष्यसि॥77।।

सत्यवान् बोले—प्रिये! यह वन गाढ़ अन्धकार से आच्छादित होकर अत्यन्त भयङ्कर दिखायी दे रहा है। इस समय न तो तुम्हें रास्ता सूझेगा और न तुम चल ही सकोगी।।77।।

सावित्र्युवाच

अस्मिन्नद्य वने दग्धे शुष्कवृक्षः स्थितोज्वलन्।
वायुना धम्यमानोऽत्र दृश्यतेऽग्निः क्वचित् क्वचित्॥78।।
ततोऽग्निमानयित्वेह ज्वालयिष्यामि सर्वतः।
काष्ठानीमानि सन्तीह जहि सन्तापमात्मनः॥79।।
यदि नोत्सहसे गन्तुं सरुजं त्वां हि लक्षये।
न च ज्ञास्यासि पन्थानं तमसा संवृते वने॥80।।
श्वः प्रभाते वने दृश्ये यास्यावोऽनुमते तव।
वसावेह क्षपामेकां रुचितं यदि तेऽनघ॥81।।

सावित्री ने कहा—आज इस वन में आग लगी थी। इसमें एक सूखा वृक्ष खड़ा है, जो जल रहा है। हवा लगने से उसमें कहीं-कहीं आग दिखायी देती है।।78।। वहीं से आग ले आकर मैं सब ओर लकड़ियाँ जलाऊंगी। यहाँ बहुत-से काठ कबाड़ पड़े हैं। आप मन से चिन्ता निकाल दीजिये।।79।। परन्तु मैं आपको रुग्ण देख रही हूँ। ऐसी दशा में यदि आपके मन में चलने का उत्साह न हो अथवा इस तिमिराचछन्न वन में यदि आपको रास्ते का ज्ञान न हो सके तो आपकी अनुमति होने पर हम दोनों कल सबेरे, जब वन की हर एक वस्तु स्पष्ट दीखने लगे, घर चलेंगे। अनघ! यदि आपकी रुचि हो तो एक रात हम लोग यहीं निवास करें।।80-81।।

सत्यवानुवाच

शिरोरुजा निवृत्ता मे स्वस्थान्यङ्गानि लक्षये।
मातापितृभ्यामिच्छामि सङ्गमं त्वत्प्रसादजम्॥82।।
न कदाचिद् विकालं हि गतपूर्वो मयाऽऽश्रमः।
अनागतायां सन्ध्यायां माता मे प्ररुणद्धि माम्॥83।।
दिवापि मयि निष्क्रान्ते सन्तप्येते गुरू मम।
विचिनोति हि मां तातः सहैवाश्रमवासिभिः॥84।।
मात्रा पित्रा च सुभृशं दुःखिताभ्यामहं पुरा।
उपालब्धश्च बहुशश्चिरेणागच्छसीति ह॥85।।
का त्ववस्था तयोरद्य मदर्थमिति चिन्तये।
तयोरदृश्ये मयि च महद् दुःखं भविष्यति॥86।।

पुरा मामूचतुश्चैव रात्रावस्त्रायमाणकौ।
भृशं सुदुःखितौ वृद्धौ बहुशः प्रीतिसंयुतौ॥87॥
त्वया हीनौ न जीवाव मुहूर्तमपि पुत्रक।
यावद् धरिष्यसे पुत्र तावन्नौ जीवितं ध्रुवम्॥88॥
वृद्धयोरन्धयोर्दृष्टिस्त्वयि वंशः प्रतिष्ठितः।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च सन्तानं चावयोरिति॥89॥
माता वृद्धा पिता वृद्धस्तयोर्यष्टिरहं किल।
तौ रात्रौ मामपश्यन्तौ कामवस्थां गमिष्यतः॥90॥
निद्रायाश्चाभ्यसूयामि यस्या हेतोः पिता मम।
माता च संशयं प्राप्ता मत्कृतेऽनपकारिणी॥91॥
अहं च संशयं प्राप्तः कृच्छ्रामापदमास्थितः।
मातापितृभ्यां हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे॥92॥
व्यक्तमाकुलया बुद्ध्या प्रज्ञाचक्षुः पिता मम।
एकैकमस्यां वेलायां पृच्छत्याश्रमवासिनम्॥93॥
नात्मानमनुशोचामि यथाहं पितरं शुभे।
भर्तारं चाप्यनुगतां मातरं परिदुर्बलाम्॥94॥
मत्कृतेन हि तावद्य सन्तापं परमेष्यतः।
जीवन्तावनुजीवामि भर्तव्यौ तौ मयेति ह॥95॥
तयोः प्रियं मे कर्तव्यमिति जानामि चाप्यहम्।

सत्यवान् ने कहा—प्रिये! मेरे सिर का दर्द दूर हो गया है। मुझे अपने सब अङ्ग स्वस्थ दिखायी देते हैं। अब तुम्हारे कृपाप्रसाद से मैं अपने माता-पिता से मिलना चाहता हूँ॥82॥ आज से पहले कभी भी मैं इतनी देर करके असमय में अपने आश्रम पर नहीं लौटा हूँ। संध्या होने से पहले ही माता मुझे रोक लेती है—आश्रम से बाहर नहीं जाने देती है॥83॥ दिन में भी यदि मैं आश्रम से दूर निकल जाता हूँ तो मेरे माता-पिता व्याकुल हो उठते हैं एवं पिताजी आश्रमवासियों के साथ मुझे खोजने निकल पड़ते हैं॥84॥ मेरे माता-पिता ने अत्यन्त दुःखी होकर पहले कई बार मुझे उलाहना दिया है कि 'तू देर से घर लौटता है'॥85॥ आज मेरे लिए उन दोनों की क्या अवस्था हुई होगी? यह सोचकर मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। मुझे न देखने पर उन दोनों को महान् दुःख होगा॥86॥ पहले की बात है, मेरे वृद्ध माता-पिता ने अत्यन्त दुःखी हो रात में आँसू बहाते हुए मुझसे बारम्बार प्रेमपूर्वक कहा था—॥87॥ 'बेटा! तुम्हारे बिना हम दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते। वत्स! तुम जब तक जीवित रहोगे, तभी तक हमारा भी जीवन निश्चित है॥88॥ हम दोनों बूढ़े और अन्धे हैं। तुम्हीं हमारी दृष्टि हो तथा तुम्हीं पर हमारा वंश प्रतिष्ठित है। हम दोनों का पिण्ड, कीर्ति और कुल परम्परा सब कुछ तुम पर ही अवलम्बित है'॥89॥ मेरी माता बूढ़ी है। पिता भी वृद्ध हैं, केवल मैं ही उन दोनों के लिए लाठी का सहारा हूँ। वे दोनों रात में मुझे न देखकर पता नहीं किस दशा को पहुँच जाएँगे?॥90॥ मैं अपनी इस नींद को कोसता हूँ, जिसके कारण मेरे पिता

कभी मेरा अपकार न करने वाली मेरी माता का जीवन संशय में पड़ गया है।।91।। मैं भी कठिन विपत्ति में फँस कर प्राण संशय की दशा में आ पहुँचा हूँ। माता-पिता के बिना तो मैं कदापि जीवित नहीं रह सकता।।92।। निश्चय ही इस समय मेरे प्रज्ञाचक्षु (अन्धे) पिता व्याकुल हृदय से एक-एक आश्रमवासी के पास जाकर मेरे विषय में पूछ रहे होंगे।।93।। शुभे! मुझे अपने लिए उतना शोक नहीं है, जितना कि पिता के लिए और उन्हीं का अनुसरण करने वाली दुबली-पतली माता के लिए है।।94।। मेरे कारण आज मेरे माता-पिता बहुत संतप्त होंगे। उन्हें जीवित देखकर ही मैं जी रहा हूँ। मुझे उन दोनों का भरण-पोषण करना चाहिए। मैं यह भी जानता हूँ कि माता-पिता का प्रिय करना ही मेरा कर्त्तव्य है।।95।।

मार्कण्डेय उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा गुरुभक्तो गुरुप्रियः।।96।।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्तः सुस्वरं प्ररुरोद ह।
ततोऽब्रवीत् तथा दृष्ट्वा भर्तारं शोककर्शितम्॥97।।
प्रमृज्याश्रूणि नेत्राभ्यां सावित्री धर्मचारिणी।
यदि मेऽस्ति तपस्तप्तं यदि दत्तं हुतं यदि॥98।।
श्वश्रूश्वशुरभर्तॄणां मम पुण्यास्तु शर्वरी।
न स्मराम्युक्तपूर्वं वै स्वैरेष्वप्यनृतां गिरम्।।99।।
तेन सत्येन तावद्य ध्रियेतां श्वशुरौ मम।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यों कह कर धर्मात्मा, गुरुभक्त एवं गुरुजनों के प्रिय सत्यवान् दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःख से आतुर हो फूट-फूट कर रोने लगे। अपने पति को इस प्रकार शोक से कातर हुआ देख धर्म का पालन करने वाली सावित्री ने नेत्रों से बहुते हुए आँसुओं को पोंछ कर कहा—'यदि मैंने कोई तपस्या की हो, यदि दान दिया हो और होम किया हो तो मेरे सास ससुर और पति के लिए रात पुण्यमयी हो।' मैंने पहले कभी इच्छानुसार किए जाने वाले क्रीड़ा-विनोद में भी झूठी बात कही हो, मुझे इसका स्मरण नहीं है। उस सत्य के प्रभाव से इस समय मेरे सास ससुर जीवित रहें।।96-99।।

सत्यवानुवाच

कामये दर्शनं पित्रोर्याहि सावित्रि मा चिरम्।।100।।
(अपि नाम गुरू तौ हि पश्येयं प्रीयमाणकौ)
पुरा मातु पितुर्वापि यदि पश्यामि विप्रियम्।
न जीविष्ये वरारोहे सत्येनात्मानमालभे॥101।।
यदि धर्मे च ते बुद्धिर्मां चेज्जीवन्तमिच्छसि।
मम प्रियं वा कर्तव्यं गच्छावाश्रममन्तिकात्॥102।।

सत्यवान् ने कहा—सावित्री! चलो, मैं शीघ्र ही माता-पिता का दर्शन करना चाहता हूँ। क्या मैं उन दोनों को प्रसन्न देख सकूँगा?।।100।। वरारोहे! मैं सत्य की शपथ खाकर अपना शरीर छूकर कहता हूँ, यदि मैं माता अथवा पिता का अप्रिय देखूँगा तो जीवित नहीं रहूँगा।।101।। यदि तुम्हारी बुद्धि धर्म में रत है, यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो अथवा मेरा प्रिय करना अपना कर्त्तव्य समझती हो, तो हम दोनों शीघ्र ही आश्रम के समीप चलें।।102।।

मार्कण्डेय उवाच

सावित्री तत उत्थाय केशान् संयम्य भाविनी।
पतिमुत्थापयामास बाहुभ्यां परिगृह्य वै॥103।।
उत्थाय सत्यवांश्चापि प्रमृज्याङ्गानि पाणिना।
सर्वा दिशः समालोक्य कठिने दृष्टिमादधे॥104।।
तमुवाचाथ सावित्री श्वः फलानि हरिष्यसि।
योगक्षेमार्थमेतं ते नेष्यामि परशुं त्वहम्॥105।।
कृत्वा कठिनभारं सा वृक्षशाखावलम्बिनम्।
गृहीत्वा परशुं भर्तुः सकाशे पुनरागमत्॥106।।
वामे स्कन्धे तु वामोरूर्भर्तुर्बाहुं निवेश्य च।
दक्षिणेन परिष्वज्य जगाम गजगामिनी॥107।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब पति का हित चिन्तन करने वाली सावित्री ने उठकर अपने खुले हुए केशों को बाँध लिया और दोनों हाथों से पकड़ कर पति को उठाया।।।103।। सत्यवान् ने भी उठकर एक हाथ से अपने सभी अङ्ग पोंछे और चारों ओर देखकर फलों की टोकरी पर दृष्टि डाली।।104।। तब सावित्री ने उनसे कहा—'कल सबेरे फलों को ले चलियेगा। इस समय आपके योग-क्षेम के लिए इस कुल्हाड़ी को मैं साथ ले चलूँगी'।।105।। फिर उसने टोकरी के बोझ को पेड़ की डाल में लटका दिया और कुल्हाड़ी लेकर वह पुनः पति के पास आ गयी।।106।। कमनीय ऊरुओं से सुशोभित तथा हाथी के समान मन्द गति से चलने वाली सावित्री ने पति की दाहिनी भुजा को अपने बाएँ कन्धे पर रखकर दाहिने हाथ से उन्हें अपने पार्श्व भाग में सटा लिया और धीरे-धीरे चलने लगी।।107।।

सत्यवानुवाच

अभ्यासगमनाद् भीरु पन्थानो विदिता मम।
वृक्षान्तरालोकितया ज्योत्स्नया चापि लक्षये॥108।।
आगतौ स्वः पथा येन फलान्यवचितानि च।
यथागतं शुभे गच्छ पन्थानं मा विचारय॥109।।
पलाशखण्डे चैतस्मिन् पन्था व्यावर्तते द्विधा।
तस्योत्तरेण यः पन्थास्तेन गच्छ त्वरस्व च।।110।।
स्वस्थोऽस्मि बलवानस्मि दिदृक्षुः पितरावुभौ।

उस समय सत्यवान् ने कहा—भीरु! बार-बार आने-जाने से यहाँ के सभी मार्ग मेरे परिचित हैं। वृक्षों के भीतर से दिखायी देने वाली चाँदनी से भी मैं रास्तों की पहचान कर लेता हूँ।।108।। यह वही मार्ग है, जिससे हम दोनों आये थे और हमने फल चुने थे। शुभे! तुम जैसे आयी हो, वैसे चली चलो। रास्ते का विचार न करो।।109।। पलाश वृक्षों के इस वनप्रदेश में यह मार्ग अलग-अलग दो दिशाओं की ओर मुड़ जाता है। इन दोनों में से जो मार्ग उत्तर की ओर जाता है, उसी से चलो और शीघ्रतापूर्वक पैर बढ़ाओ। अब मैं स्वस्थ हूँ, बलवान् हूँ और अपने माता तथा पिता दोनों को देखने के लिए उत्सुक हूँ।।110।।

मार्कण्डेय उवाच

ब्रुवन्नेवं त्वरायुक्तः सम्प्रायादाश्रमं प्रति॥111।।

मार्कण्डेयजी कहते हैं—ऐसा कहते हुए सत्यवान् बड़ी उतावली के साथ आश्रम की ओर चलने लगे।।111।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि पतिव्रतामाहात्म्यपर्वणि सावित्र्युपाख्याने सप्तनवत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 297 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत पतिव्रता माहात्म्य पर्व में सावित्री उपाख्यान विषयक दो सौ सत्तानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।297।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठ का एक श्लोक मिलाकर कुल 112 श्लोक हैं।)

सावित्रीगीता सम्पूर्णा

युधिष्ठिरगीता–II

प्रथमोऽध्यायः

ब्राह्मण अरणि एवं मन्थन काष्ठ का पता लगाने के लिए पाण्डवों का मृग के पीछे दौड़ना और दुःखी होना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पाण्डवाः॥1॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन्! इस प्रकार अपनी पत्नी द्रौपदी का अपहरण होने पर अत्यन्त क्लेश उठाकर पाण्डवों ने जब उन्हें पुनः प्राप्त कर लिया, उसके बाद उन्होंने क्या किया?॥1॥

वैशम्पायन उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः॥2॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम्॥3॥
अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः।
न्यवसन् पाण्डवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया॥4॥
वसन् द्वैतवने राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ॥5॥
ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ता धर्मात्मानो यतव्रताः।
क्लेशमार्च्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परन्तपाः॥6॥
तस्मिन् प्रतिवसन्तस्ते यत् प्रापुः कुरुसत्तमाः।
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत् प्रवक्ष्यामि ते शृणु॥7॥
अरणीसहितं मन्थं ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत॥8॥
तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः।
आश्रमान्तरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः॥9॥
ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम।
त्वरितोऽभ्यागमत् तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया॥10॥

वैशम्पायनजी ने कहा—राजन्! पूर्वोक्त प्रकार से द्रौपदी का हरण होने पर भारी क्लेश उठाने के बाद जब पाण्डवों ने उन्हें पा लिया, तब धर्म से कभी च्युत न होने वाले राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ काम्यक वन छोड़कर पुन: रमणीय द्वैतवन में ही चले आये। वहाँ स्वादिष्ट फल-मूलों की बहुतायत थी तथा बहुत-से विचित्र वृक्ष उस वन की शोभा बढ़ाते थे।।2-3।। वहाँ सब पाण्डव अपनी पत्नी द्रौपदी के साथ केवल फलाहार करके परिमित भोजन पर जीवन निर्वाह करते हुए रहते थे।।4।। द्वैतवन में रहते समय कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेव—इन सभी शत्रुसंतापी संयम-नियम परायण धर्मात्मा पाण्डवों ने एक दिन एक ब्राह्मण के लिए पराक्रम करते हुए महान् क्लेश उठाया, परन्तु उसका भावी परिणाम सुखमय ही हुआ।।5-6।। राजन्! उस वन में रहते हुए उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों ने जो भविष्य में सुख देने वाला क्लेश उठाया, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो।।7।। एक तपस्वी ब्राह्मण का (रस्सी में बँधा) अरणी सहित मन्थन काष्ठ एक वृक्ष में टंगा था; वहीं एक मृग आकर उस वृक्ष से अपना शरीर रगड़ने लगा। उस समय वे दोनों काष्ठ उस मृग के सींग में अटग गये।।8।। राजन्! उन काष्ठों को लेकर वह महामृग बड़ी उतावली से भागा और बड़े वेग से चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रम से ओझल हो गया।।9।। कुरुश्रेष्ठ! उस ब्राह्मण ने जब देखा कि मृग मेरी अरणी और मथानी को लेकर तेजी से भागा जा रहा है, तब वह अग्निहोत्र की रक्षा के लिए तुरन्त वहीं (पाण्डवों के आश्रम में) आया।।10।।

तेजस्तु वसतां तत्र पाण्डवानां महारथम्।
अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभि: सहितं वने।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं सन्तप्तश्चेदमब्रवीत्॥11।।
अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत॥12।।
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृग:।
आश्रमात् त्वरित: शीघ्रं प्लवमानो महाजव:॥13।।
तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम्।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवा:॥14।।
ब्राह्मणस्य वच: श्रुत्वा सन्तप्तोऽथ युधिष्ठिर:।
धनुरादाय कौन्तेय: प्राद्रवद् भ्रातृभि: सह॥15।।
सन्नद्धा धन्विन: सर्वे प्राद्रवन्नरपुङ्गवा:।
ब्राह्मणार्थे यतन्तस्ते शीघ्रमन्वगमन् मृगम्॥16।।
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्तो महारथा:।
नाविध्यन् पाण्डवास्तत्र पश्यन्तो मृगमन्तिकात्॥17।।
तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृग:।
अपश्यन्तो मृगं शान्ता दु:खं प्राप्ता मनस्विन:॥18।।
शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने।

क्षुत्पिपासापरीताङ्गाः पाण्डवाः समुपाविशन्॥19॥
तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा।
अब्रवीद् भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात् कुरुनन्दनम्॥20॥
नास्मिन् कुले जातु ममज्ज धर्मो न चालस्यादर्थलोपो बभूव।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः सम्प्राप्ताः स्मः संशयं किंनु राजन्॥21॥

वन में भाइयों के साथ बैठे हुए अजातशत्रु युधिष्ठिर के पास तुरन्त आकर संतप्त हुए उस ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा—॥11॥ 'राजन्! मैंने अपनी अरणी और मथानी एक वृक्ष पर रख दी थी। एक मृग वहाँ आकर उस वृक्ष से शरीर रगड़ने लगा और उसके सींग में वे दोनों काष्ठ फँस गये। वह महान् मृग उन काष्ठों को लेकर बड़ी उतावली के साथ भाग गया है और अत्यन्त वेगवान होने के कारण चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रम से बहुत दूर निकल गया है॥12-13॥ महाराज युधिष्ठिर! तथा वीर पाण्डवो! तुम सब लोग उसके पदचिह्नों को देखते हुए उस महामृग के पास पहुँचो और वे दोनों काष्ठ ले आओ, जिससे मेरा अग्निहोत्र कर्म लुप्त न हो'॥14॥ ब्राह्मण की बात सुन कर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर बहुत दुःखी हुए ओर मृग का पता लगाने के लिए वे धनुष लेकर भाइयों सहित दौड़े॥15॥ वे सभी नरश्रेष्ठ कवच बाँध एवं कमर कसकर धनुष लिए आश्रम से दौड़े और ब्राह्मण की कार्यसिद्धि के लिए प्रयत्नशील होकर तीव्र गति से मृग का पीछा करने लगे॥16॥ कुछ दूर जाने पर उन्हें वह मृग अपने पास ही दिखायी दिया। तब वे महारथी पाण्डव कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाण उस पर छोड़ने लगे; किन्तु वे देखते हुए भी वहाँ उस मृग को बींध न सके॥17॥ घोर प्रयत्न करने पर भी वह महामृग उनके हाथ न लगा; सहसा अदृश्य हो गया। मृग को न देखकर वे मनस्वी वीर हतोत्साह और दुःखी हो गये॥18॥ तत्पश्चात् उस गहन वन में भूख-प्यास से पीड़ित अङ्गों वाले पाण्डव एक शीतल छाया वाले बरगद के पास आकर बैठ गये॥19॥ उनके बैठ जाने पर नकुल अत्यन्त दुःखी हो अमर्ष में आकर बड़े भाई कुरुनन्दन युधिष्ठिर से इस प्रकार बोले—॥20॥ 'राजन्! हमारे कुल में कभी आलस्य वश धर्म का लोप नहीं हुआ; अर्थ का कभी नाश नहीं हुआ। हमने किसी भी प्राणी के प्रार्थना करने पर कभी उसे कोरा जवाब नहीं दिया—निराश नहीं किया। फिर भी हम धर्मसङ्कट में कैसे पड़ गये?'॥21॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि मृगान्वेषणे
एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ 311 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत आरणेयपर्व में मृग का अनुसन्धान विषयक तीन सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥311॥

द्वितीयोऽध्याय :

पानी लाने के लिए गए हुए नकुल आदि चार भाइयों का सरोवर के तट पर अचेत होकर गिरना

युधिष्ठिर उवाच

नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम्।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः॥1॥

युधिष्ठिर बोले—भैया! आपत्तियों की न कोई सीमा है, न कोई निमित्त दिखायी देता है और न कोई विशेष कारण ही परिलक्षित होता है। पहले किया हुआ पुण्य और पापरूप कर्म ही प्रारब्ध बनकर सुख और दुःख रूप फल बाँटता रहता है॥1॥

भीम उवाच

प्रातिकाम्यनयत् कृष्णां सभायां प्रेष्यवत् तदा।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम्॥2॥

भीमसेन ने कहा—जब प्रातिकामी की जगह दूत बन कर गया हुआ दुःशासन द्रौपदी को कौरवों की सभा में दासी की भाँति बलपूर्वक खींच ले आया, उस समय मैंने जो उसका वध नहीं कर डाला; इसी के कारण हम लोग ऐसे धर्मसङ्कट में पड़े हैं॥2॥

अर्जुन उवाच

वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः।
अतितीव्रा मया क्षान्तास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम्॥3॥

अर्जुन बोले—सूतपुत्र कर्ण के कहे हुए कठोर अस्थियों को भी विदीर्ण कर देने वाले अत्यन्त कड़वे वचन सुनकर भी जो हमने सहन कर लिये; उसी से आज हम धर्मसङ्कट की अवस्था में आ पहुँचे हैं॥3॥

सहदेव उवाच

शकुनिस्त्वां यदाजैषीदक्षद्यूतेन भारत।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम्॥4॥

सहदेव ने कहा—भारत! जब शकुनि ने आपको जूए में जीत लिया और उस समय मैंने उसे मार नहीं डाला, उसी का यह फल है कि आज हम लोग धर्मसङ्कट में पड़ गये हैं॥4॥

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत्।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश॥5॥
पानीयमन्तिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान्।
एते हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः॥6॥

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम्।
अब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समन्ततः॥7॥
पश्यामि बहुलान् राजन् वृक्षानुदकसंश्रयान्।
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम्॥8॥
ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूणैः पानीयमानय॥9॥
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात्।
प्राद्रवद् यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत॥10॥
स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम्।
पातुकामस्ततो वाचमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे॥11॥

वैयाम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर राजा युधिष्ठिर ने नकुल से कहा—'माद्रीनन्दन! किसी वृक्ष पर चढ़कर सब दिशाओं में दृष्टिपात करो। कहीं आस-पास पानी हो, तो देखा अथवा जल के किनारे होने वाले वृक्षों पर भी दृष्टि डालो। तात! तुम्हारे ये भाई थके माँदे और प्यासे हैं'॥5-6॥ तब नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्र ही एक पेड़ पर चढ़ गये और चारों ओर दृष्टि डालकर अपने बड़े भाई से बोले—॥7॥ 'राजन्! मैं ऐसे बहुतेरे वृक्ष देख रहा हूँ, जो जल के किनारे ही होते हैं। सारसों की आवाज भी सुनायी देती है; अतः निःसन्देह यहाँ आस-पास ही कोई जलाशय है'॥8॥ तब सत्य का पालन करने वाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने नकुल से कहा—'सौम्य! शीघ्र जाओ और तरकसों में पानी भर लाओ'॥9॥ नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर बड़े भाई की आज्ञा से शीघ्रतापूर्वक गये और जहाँ जलाशय था, वहाँ तुरन्त पहुँच गये॥10॥ वहाँ सारसों से घिरे हुए जलाशय का स्वच्छ जल देखकर नकुल को उसे पीने की इच्छा हुई। इतने में ही आकाश से उनके कानों में एक स्पष्ट वाणी सुनायी दी॥11॥

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च॥12॥
अनादृत्य तु तद् वाक्यं नकुलः सुपिपासितः।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह॥13॥
चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं सहदेवमरिन्दमम्॥14॥
भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः।
तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय॥15॥
सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा॥16॥
भ्रातृशोकाभिसन्तप्तस्तृषया च प्रपीडितः।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत॥17॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च॥18॥
अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह॥19॥
अथाब्रवीत् स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भ्रातरौ ते चिरगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन॥20॥
तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः॥21॥

यक्ष बोला—तात! तुम इस सरोवर का पानी पीने का साहस न करो। इस पर पहले से ही मेरा अधिकार हो चुका है। माद्रीकुमार! पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ॥12॥ नकुल की प्यास बहुत बढ़ गयी थी। उन्होंने यक्ष के कथन की अवहेलना करके वहाँ का शीतल जल पी लिया। पीते ही वह अचेत होकर गिर पड़े॥13॥ नकुल के लौटने में जब अधिक विलम्ब हो गया, तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने अपने शत्रुहन्ता वीर भ्राता सहदेव से कहा—॥14॥ 'सहदेव! हमारे अनुज और तुम्हारे अग्रज भ्राता नकुल को यहाँ से गये बहुत देर हो गयी। तुम जाकर अपने सहोदर भाई को बुला लाओ और पानी भी ले आओ'॥15॥ तब सहदेव 'बहुत अच्छा' कहकर उसी दिशा की ओर चल दिये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा, भाई नकुल पृथ्वी पर मरे पड़े हैं॥16॥ भाई के शोक से उनका हृदय संतप्त हो उठा। साथ ही प्यास से भी वे बहुत कष्ट पा रहे थे; अत: पानी की ओर दौड़े। उसी समय आकाशवाणी बोल उठी—॥17॥ 'तात! पानी पीने का साहस न करो। यहाँ पहले से ही मेरा अधिकार हो चुका है। तुम पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दो, फिर इच्छानुसार जल पीओ और साथ ले भी जाओ'॥18॥ प्यासे सहदेव उस वचन की अवहेलना करके वहाँ का ठण्डा जल पीने लगे एवं पीते ही अचेत होकर गिर पड़े॥19॥ तदनन्तर कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—'शत्रुनाशन बीभत्सो! तुम्हारे दोनों भाइयों को गये बहुत देर हो गयी॥20॥ तुम्हारा कल्याण हो। तुम उन दोनों को बुला लाओ ओर साथ ही पानी भी ले आओ। तात! तुम्ही हम सब दुःखी बन्धुओं के सहारे हो'॥21॥

एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत् सरः प्रत्यपद्यत॥22॥
ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः॥23॥
प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः।
धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद् वनम्॥24॥
नापश्यत् तत्र किञ्चित् स भूतमस्मिन् महावने।
सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत॥25॥
अभिधावंस्ततो वाक्यमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे।

किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात् त्वया॥26॥
कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान् मयोक्तान् प्रतिपत्स्यसे।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत॥27॥
वारितस्त्वब्रवीत् पार्थो दृश्यमानो निवारय।
यावद् बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि॥28॥
एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन्॥29॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ।
स त्वमोघानिषून् मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः।
अनेकैरिषुसङ्घातैरन्तरिक्षे ववर्ष ह॥

यक्ष उवाच

किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब।30॥
अनुक्त्वा च पिबन्प्रश्नान्पीत्वैव न भविष्यसि।
एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनञ्जयः॥31॥
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह।
अथाब्रवीद्भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः॥32॥
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परन्तप।
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत॥33॥
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय।
भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत॥35॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः।
तान्दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडिताः॥36॥
अमन्यत महाबाहुः कर्म तद् यक्षरक्षसाम्।
स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै॥37॥
पास्यामि तावत्पानीयमिति पार्थो वृकोदरः।
ततोऽभ्यधावत्पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः॥38

युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर निद्राविजयी बुद्धिमान् अर्जुन धनुष-बाण और खड्ग लिए उस सरोवर के तट पर गये॥22॥ श्वेतवाहन अर्जुन ने जल लाने के लिए गए हुए उन दोनों पुरुषसिंह भाइयों को वहाँ मरे हुए देखा॥23॥ दोनों को प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए की भाँति देखकर मनुष्यों में सिंह के समान पराक्रमी अर्जुन को बहुत दुःख हुआ। उन्होंने धनुष उठाकर उस वन का अच्छी तरह निरीक्षण किया॥24॥ जब उस विशाल वन में उन्हें कोई भी हिंसक प्राणी नहीं दिखायी दिया, तब सव्यसाची अर्जुन थककर पानी की ओर दौड़े॥25॥ दौड़ते समय उन्हें आकाश की ओर से आती हुई वाणी सुनायी दी—'कुन्तीनन्दन! क्यों पानी के निकट जा रहे हो? तुम जबरदस्ती यह जल नहीं पी सकते। भारत! यदि मेरे उन प्रश्नों का उत्तर दे सको, तो यहाँ का पानी पीओ

और साथ भी ले जाओ'।।26-27।। इस प्रकार रोके जाने पर अर्जुन ने कहा—'जरा सामने आकर रोको। सामने आते ही बाणों से टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर फिर तुम इस प्रकार नहीं बोल पाओगे'।।28।। ऐसा कहकर अर्जुन ने अपनी शब्दवेध कला का परिचय देते हुए दिव्यास्त्रों से अभिमन्त्रित बाणों की सब ओर झड़ी लगा दी।।29।। भरतश्रेष्ठ जनमेजय! अर्जुन उस समय कर्णी, नालीक तथा नाराच आदि बाणों की वर्षा कर रहे थे। प्यास से पीड़ित हुए अर्जुन ने कितने ही अमोघ बाणों का प्रयोग करके आकाश में भी कई बार बाण समूह की वर्षा की।।30।।

यक्ष बोला—पार्थ! इस प्रकार प्राणियों पर आघात करने से क्या लाभ? पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर जल पीओ। यदि तुम प्रश्नों का उत्तर दिए बिना ही यहाँ का जल पीओगे, तो पीते ही मर जाओगे। उसके ऐसा कहने पर कुन्तीपुत्र सव्यसाची धनञ्जय उसके वचनों की अवहेलना करके जल पीने लगे और पीते ही अचेत होकर गिर पड़े। तब कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—'परन्तप! भरतनन्दन! नकुल, सहदेव और अर्जुन को पानी के लिए गये बहुत देर हो गयी। वे अभी तक नहीं आ रहे हैं। तुम्हारा कल्याण हो। तुम जाकर उन्हें बुला लाओ और पानी भी ले आओ'। तब भीमसेन 'बहुत अच्छा' कहकर उस स्थान पर गये, जहाँ वे पुरुषसिंह तीनों भाई पृथ्वी पर पड़े थे। उन्हं उस अवस्था में देखकर भीमसेन को बड़ा दुःख हुआ। इधर प्यास भी उन्हें बहुत कष्ट दे रही थी।।31-36।। महाबाहु भीमसेन ने मन-ही-मन यह निश्चय किया कि 'यह यक्षों तथा राक्षसों का काम है।' फिर उन्होंने सोचा; 'आज निश्चय ही मुझे शत्रु के साथ युद्ध करना पड़ेगा, अत: पहले जल तो पी लूँ।' ऐसा निश्चय करके प्यासे नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार भीमसेन जल की ओर दौड़े।।37-38।।

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च॥39।।
एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा।
अनुक्त्वैव तु तान् प्रश्नान् पीत्वैव निपपात ह॥40।।
ततः कुन्तीसुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुषर्षभः।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा॥41।।
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम्।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम्॥42।।
नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम्।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः॥43।।
स गच्छन् कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम्।
ददर्श तत्सरः श्रीमान्विश्वकर्मकृतं यथा॥44।।
उपेतं नलिनीजालैः सिन्धुवारैः सवेतसैः।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम्।

(ततो धर्मसुतः श्रीमान्भ्रातृदर्शनलालसः।)
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाथ विस्मितः॥45॥

यक्ष बोला—तात! पानी पीने का साहस न करना। इस जल पर पहले से ही मेरा अधिकार स्थापित हो चुका है। कुन्तीकुमार! पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ॥39॥ अमित तेजस्वी यक्ष के ऐसा कहने पर भी भीमसेन उन प्रश्नों का उत्तर दिए बिना ही जल पीने लगे और पीते ही मूर्छित होकर गिर पड़े॥40॥ तदनन्तर कुन्तीपुत्र पुरुषरत्न महाबाहु राजा युधिष्ठिर बहुत देर तक सोच-विचार करके उठे ओर और जलते हुए हृदय से उन्होंने उस विशाल वन में प्रवेश किया, जहाँ मनुष्यों की आवाज तक नहीं सुनायी देती थी। वहाँ रुरु मृग, वराह तथा पक्षियों के समुदाय ही निवास करते थे॥41-42॥ नीले रङ्ग के चमकीले वृक्ष उस वन की शोभा बढ़ा रहे थे। भ्रमरों के गुञ्जन और विहङ्गों के कलरव से वनप्रान्त शब्दायमान हो रहा था॥43॥ महायशस्वी श्रीमान् युधिष्ठिर ने उस वन में विचरण करते हुए उस सरोवर को देखा, जो सुनहरे रङ्ग के कुसुमकेसरों से विभूषित था। जान पड़ता था; साक्षात् विश्वकर्मा ने उसका निर्माण किया है॥44॥ उस सरोवर का जल कमल की बेलों से आच्छादित हो रहा था और उसके चारों किनारों पर सिंदुवार, बेंत, केवड़े, करवीर तथा पीपल के वृक्ष उसे घेरे हुए थे। उस समय भाइयों से मिलने के लिए उत्सुक श्रीमान् धर्मनन्दन युधिष्ठिर थकावट से पीड़ित हो उस सरोवर पर आये और वहाँ की अवस्था देखकर बड़े विस्मित हुए॥45॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिपतने
द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ 312 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत आरणेय पर्व में नकुल आदि चारों भाइयों के मूर्छित होकर गिरने से सम्बन्ध रखने वाला तीन सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥312॥

तृतीयोऽध्याय :

यक्ष और युधिष्ठिर का प्रश्नोत्तर तथा युधिष्ठिर के उत्तर से सन्तुष्ट हुए यक्ष का चारों भाइयों के जीवित होने का वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

स ददर्श हतान् भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान्।
युगान्ते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान्॥1॥
विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम्।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान् गतायुषः॥2॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकवाष्पपरिप्लुतः।
तान् दृष्ट्वा पतितान् भ्रातॄन् सर्वांश्चिन्तासमन्वितः॥3॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम्।

ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर॥4॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे।
व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीर निपातिते॥5॥
महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने।
मनुष्यसम्भवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः॥6॥
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवन्तु कथं मृषा।
देवाश्चापि यदावोचन् सूतके त्वां धनञ्जय॥7॥
सहस्राक्षादनवरः कुन्ति पुत्रस्तवेति वै।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः॥8॥
विप्रणष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरञ्जसा।
नास्य जेता रणे कश्चिदजेता नैष कस्यचित्॥9॥
सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः।
अयं ममाशां संहत्य शेते भूमौ धनञ्जयः॥10॥
आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम।
रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ॥11॥
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ।
यौ सर्वस्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनञ्जयौ॥12॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिर ने इन्द्र के समान गौरवशाली अपने भाइयों को सरोवर के तट पर निर्जीव की भाँति पड़े हुए देखा; मानो प्रलयकाल में सम्पूर्ण लोकपाल अपने लोकों से भ्रष्ट होकर गिर गये हों।।1।। अर्जुन मरे पड़े थे; उनके धनुष बाण अधर उधर बिखरे थे। भीमसेन और नकुल-सहदेव भी प्राणरहित हो निश्चेष्ट हो गए थे। इन सबको देखकर युधिष्ठिर गरम गरम लम्बी साँसें खींचने लगे। उनके नेत्रों से शोक के आँसू उमड़ कर उन्हें भिगो रहे थे। अपने समस्त भ्राताओं को इस प्रकार धराशायी हुए देख महाबाहु धर्मपुत्र युधिष्ठिर गहरी चिन्ता में डूब गये और देर तक विलाप करते रहे। वे बोले—'महाबाहु वृकोदर! तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं युद्ध में अपनी गदा से दुर्योधर की दोनों जांघें तोड़ डालूँगा।' महाबाहो! तुम कुरुकुल की कीर्ति बढ़ाने वाले थे। तुम्हारा हृदय विशाल था। वीर! आज तुम्हारे गिर जाने से मेरे लिए वह सब कुछ व्यर्थ हो गया। साधारण मनुष्य की बातें तथा उनकी प्रतिज्ञाएँ तो झूठी निकल जाती हैं; परन्तु तुम लोगों के सम्बन्ध में जो दिव्य वाणियाँ हुई थीं, वे कैसे मिथ्या हो सकती हैं? धनञ्जय! जब तुम्हारा जन्म हुआ था, उस समय देवताओं ने भी कहा था कि 'कुन्ती! तुम्हारा यह पुत्र सहस्र नेत्रधारी इन्द्र से किसी बात में कम न होगा।' उत्तर पारियात्र पर्वत पर सब प्राणियों ने तुम्हारे विषय में यही कहा था कि 'ये अर्जुन शीघ्र ही पाण्डवों की खोयी हुई राजलक्ष्मी को पुनः लौटा जायेंगे। युद्ध में कोई भी इन पर विजय पाने वाला न होगा और ये भी किसी को परास्त किए बिना न रहेंगे।।2-9।। वे ही महाबली अर्जुन आज मृत्यु के अधीन कैसे हो गये? ये वे ही धनञ्जय मेरी आशालता को छिन्न-भिन्न करके धरती पर पड़े हैं; जिन्हें अपना रक्षक बनाकर और जिनका ही

भारी भरोसा करके हम लोग ये सारे दुःख सहते आये हैं। कुन्ती के ये दोनों महाबली पुत्र भीमसेन और अर्जुन—जो किसी भी अस्त्र से प्रतिहत न होने वाले, समराङ्गण में उन्मत्त होकर लड़ने वाले तथा सदैव शत्रुओं का संहार करने वाले वीर थे, वे आज सहसा शत्रु के अधीन कैसे हो गये?।।10-12।।

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते॥13।।
शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः॥14।।
अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः।
असंज्ञा भुवि सङ्गम्य किं शेध्वमपराजिताः॥15।।
सानूनिवाद्रेः संसुप्तान् दृष्ट्वा भ्रातॄन् महामतिः।
सुखं प्रसुप्तान् प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः॥16।।
एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः॥17।।
इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित्।
नाभिपेदे महाबाहुश्चिन्तयानो महामतिः॥18।।
अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदाऽऽत्मानं तपोयुतः।
एवं विलप्य बुहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः॥19।।
बुद्ध्या विचिन्तयामास वीराः केन निपातिताः॥20।।
नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित्।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः॥21।।

मुझ दुष्ट का हृदय निश्चय ही पत्थर और लोहे का बना हुआ है, जो कि आज इन दोनों भाई नकुल और सहदेव को धरती पर पड़ा देख विदीर्ण नहीं हो जाता है।।13।। पुरुषसिंह बन्धुओ! तुम लोग शास्त्रों के विद्वान्, देशकाल को समझने वाले, तपस्वी और कर्मठ वीर थे। अपने योग्य पराक्रम किए बिना ही तुम लोग (प्राण हीन हो) कैसे सो रहे हो?।।14।। तुम्हारे शरीर में कोई घाव नहीं है, तुमने धनुष बाण का स्पर्श तक नहीं किया है तथा तुम किसी से परास्त होने वाले नहीं हो; ऐसी दशा में इस पृथ्वी पर संज्ञाशून्य होकर क्यों पड़े हो?।।15।। परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर धरती पर पड़े हुए पर्वत शिखरों के समान अपने भाइयों को इस प्रकार सुख की नींद सोते देखकर बहुत दुःखी हुए। उनके सारे अङ्गों में पसीना निकल आया और वे अत्यन्त कष्टप्रद अवस्था में पहुँच गये।।16।। 'यह ऐसी ही होनहार है' ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर शोकसागर में मग्न तथा व्याकुल होकर भाइयों की मृत्यु के कारण पर विचार करने लगे।।17।। वे यह भी सोचने लगे कि 'अब क्या करना चाहिये?' महाबुद्धिमान् महाबाहु युधिष्ठिर देश और काल के तत्त्व को पृथक् पृथक् जानने वाले थे; तो भी बहुत सोचने विचारने पर भी वे किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके।।18।। तत्पश्चात् धर्मात्मा और तपस्वी धर्मपुत्र

युधिष्ठिर अपने मन को स्थिर करके बहुत विलाप करने के पश्चात् अपनी बुद्धि द्वारा यह विचार करने लगे—'इन वीरों को किसने मार गिराया है? इनके शरीरों में अस्त्र शस्त्रों के आघात का कोई चिह्न नहीं है और न इस स्थान पर किसी दूसरे के पैरों का निशान ही है। मैं समझता हूँ, अवश्य वह कोई भारी भूत है, जिसने मेरे भाइयों को मारा है'।।19-21।।

एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम्।
भ्रातृणां व्यसनं घोरं सममेव महात्मनाम्।
स्यात् तु दुर्योधनेनेदमुपांशुविहितं कृतम्॥22।।
गान्धारराजरचितं सततं जिह्मबुद्धिना।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत॥23।।
कस्तस्य विश्वसेद् वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः॥24।।
भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिन्तयत्।
तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा॥25।।
मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातृणामित्यचिन्तयत्॥26।।
एकैकशश्चौघबलानिमान् पुरुषसत्तमान्।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालान्तकयमादृते॥27।।
एतेन व्यवसायेन तत् तोयं व्यवगाढवान्।
गाहमानश्च तत् तोयमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे॥28

इस विषय में मैं चित्त को एकाग्र करके फिर सोचूंगा अथवा पानी पीकर इस रहस्य को समझने की चेष्टा करूँगा। सम्भव है, दुर्योधन ने चुपके-चुपके कोई षड्यन्त्र किया हो।।22।। अथवा जिसकी बुद्धि में सदा कुटिलता ही निवास करती है, उस गान्धारराज शकुनि की भी यह करतूत हो सकती है। जिसके लिए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य दोनों बराबर हैं, उस अजितात्मा पापी शकुनि पर कौन वीर पुरुष विश्वास कर सकता है? अथवा गुप्तरूप से नियुक्त किए हुए पुरुषों द्वारा दुरात्मा दुर्योधन ने ही यह हिंसात्मक प्रयोग किया होगा।।23-24।। इस प्रकार परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर भाँति-भाँति की चिन्ता करने लगे। (परीक्षा करने पर) उन्हें इस बात का निश्चय हो गया था कि इस सरोवर के जल में जहर नहीं मिलाया गया है।।25।। क्योंकि मर जाने पर भी मेरे इन भाइयों के शरीर में कोई विकृति नहीं उत्पन्न हुई है। अब भी मेरे भाइयों के मुख की कान्ति प्रसन्न है।' इस तरह वे सोच-विचार में ही डूबे रहे।।26।। 'मेरे इन पुरुषरत्न भाइयों में से प्रत्येक के शरीर में बल का अगाध सिन्धु लहराता था। आयु पूर्ण होने पर सबका अन्त कर देने वाले यमराज के सिवा दूसरा कौन इनसे भिड़ सकता था?'।।27।। इस प्रकार निश्चय करके युधिष्ठिर जल में उतरे। पानी में प्रवेश करते ही उनके कानों में आकाशवाणी सुनायी दी।।28।।

यक्ष उवाच

अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः।
त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र न चेत् प्रश्नान् पृच्छतो व्याकरोषि॥29॥
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च॥30॥

यक्ष बोला—राजकुमार! मैं सेवार और मछली खाने वाला बगुला हूँ। मैंने ही तुम्हारे छोटे भाइयों को यमलोक भेजा है; अतः मेरे पूछने पर यदि तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर न दोगे, तो तुम भी यमलोक के पाँचवें अतिथि होओगे॥29॥ तात! जल पीने का साहस न करना। इस पर मेरा पहले से ही अधिकार हो गया है। कुन्तीकुमार! मेरे प्रश्नों का उत्तर दो और तब जल पीओ और ले भी जाओ॥30॥

युधिष्ठिर उवाच

रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक्।
पृच्छामि को भवान् देवो नैतच्छकुनिना कृतम्॥31॥
हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यो मलय एव च।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः॥32॥
अतीव ते महत् कर्म कृतं च बलिनां वर।
यान् न देवा न गन्धर्वा नासुराश्च न राक्षसाः॥33॥
विषहेरन् महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम्।
न ते जानामि यत् कार्यं नाभिजानामि काङ्क्षितम्॥34॥
कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम।
येनास्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः॥35॥
पृच्छामि भगवंस्तस्मात् को भवानिह तिष्ठति।

यक्ष उवाच

यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः॥36॥
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः।

वैशम्पयान उवाच

ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम्॥37॥
यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम्॥38॥
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम्।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभः॥39॥
मेघगम्भीरनादेन तर्जयन्तं महास्वनम्।

यक्ष उवाच

इमे ते भ्रातरो राजन् वार्यमाणा मयासकृत्॥40॥
बलात् तोयं जिहीर्षन् तस्ततो वै मृदिता मया।

न पेयमुदकं राजन् प्राणानिह परीप्सता॥41॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च॥42

युधिष्ठिर बोले—मैं पूछता हूँ, तुम रुद्रों, वसुओं अथवा मरुद्गणों में से कौन-से प्रधान देवता हो? बताओ। यह काम किसी पक्षी का किया हुआ नहीं हो सकता॥31॥ मेरे महातेजस्वी भाई हिमान, पारियात्र, विन्ध्य तथा मलय—इन चारों पर्वतों के समान हैं। इन्हें किसने मार गिराया है?॥32॥ बलवानों में श्रेष्ठ वीर! तुमने यह अत्यन्त महान् कर्म किया है। बड़े-बड़े युद्धों में जिन वीरों (के प्रभाव) को देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी नहीं सह सकते थे, उन्हें गिरा कर तुमने परम अद्भुत पराक्रम किया है। तुम्हारा कार्य क्या है? यह मैं नहीं जानता। तुम क्या चाहते हो? इसका भी मुझे पता नहीं है॥33-34॥ तुम्हारे विषय में मुझे महान् कौतूहल हो गया है। तुमसे मुझे कुछ भय भी लगने लगा है, जिससे मेरा हृदय उद्विग्न हो उठा है और सिर में संताप होने लगा है। अतः भगवन्! मैं विनयपूर्वक पूछता हूँ, तुम यहाँ कौन विराज रहे हो?॥35॥

यक्ष ने कहा—तुम्हारा कल्याण हो। मैं जलचर पक्षी नहीं हूँ, यक्ष हूँ। तुम्हारे ये सभी महान् तेजस्वी भाई मेरे द्वारा ही मारे गये हैं॥36॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् उस समय इस प्रकार बोलने वाले उस यक्ष की वह अमङ्गलमयी और कठोर वाणी सुनकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर उसके पास जाकर खड़े हो गये। उन्होंने देखा, एक विकट नेत्रों वाला विशालकाय यक्ष वृक्ष के ऊपर बैठा है। वह बड़ा ही दुर्धर्ष, ताड़ के समान लम्बा, अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी तथा पर्वत के समान ऊँचा है। वही अपनी मेघ के समान गम्भीर नादयुक्त वाणी से उन्हें फटकार रहा है। उसकी आवाज बहुत ऊँची है॥37-39॥

यक्ष ने कहा—राजन्! तुम्हारे इन भाइयों को मैंने बार-बार रोका था; फिर भी ये बलपूर्वक जल ले जाना चाहते थे; इसी से मैंने इन्हें मार डाला। महाराज युधिष्ठिर! यदि तुम्हें अपने प्राण बचाने की इच्छा हो, तो वहाँ जल नहीं पीना चाहिये। पार्थ! तुम पानी पीने का साहस न करना, यह पहले से ही मेरे अधिकार की वस्तु है। कुन्तीनन्दन! पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, उसके बाद जल पीओ ओर ले भी जाओ॥40-42॥

युधिष्ठिर उवाच

न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम्।
कामं नैतत् प्रशंसन्ति सन्तो हि पुरुषाः सदा॥43॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसे पुरुषर्षभ।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम्॥44॥

युधिष्ठिर ने कहा—यक्ष! मैं तुम्हारे अधिकार की वस्तु को नहीं ले जाना चाहता। मैं स्वयं ही अपनी बड़ाई करूँ; इस बात की सत्पुरुष कभी प्रशंसा नहीं करते। मैं अपनी बुद्धि के अनुसार तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूँगा, तुम मुझसे प्रश्न करो॥43-44॥

यक्ष उवाच

किं स्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति॥45॥

यक्ष ने पूछा—सूर्य को कौन ऊपर उठाता (उदित) करता है? उसके चारों ओर कौन चलते हैं? उसे अस्त कौन करता है? और वह किसमें प्रतिष्ठित है?॥45॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति॥46॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्म सूर्य को ऊपर उठाता है (उदित करता) है, देवता उसके चारों ओर चलते हैं, धर्म उसे अस्त करता है और वह सत्य में प्रतिष्ठित है॥46॥

यक्ष उवाच

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद् विन्दते महत्।
केनस्विद् द्वितीयवान् भवति राजन् केन च बुद्धिमान्॥47॥

यक्ष ने पूछा—राजन्! मनुष्य श्रोत्रिय किससे होता है? महत्पद को किसके द्वारा प्राप्त करता है? वह किसके द्वारा द्वितीयवान् होता है? और किससे बुद्धिमान् होता है॥47॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत्।
धृत्या द्वितीयवान्भवति बुद्धिमान् वृद्धसेवया॥48॥

युधिष्ठिर बोले—वेदाध्ययन के द्वारा मनुष्य श्रोत्रिय होता है, तप से महत्पद प्राप्त करता है, धैर्य से द्वितीयवान् (दूसरे साथी से युक्त) होता है और वृद्ध पुरुषों की सेवा से बुद्धिमान् होता है॥48॥

यक्ष उवाच

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव॥49॥

यक्ष ने पूछा—ब्राह्मणों में देवत्व क्या है? उनसे सत्पुरुषों का-सा धर्म क्या है? उनका मनुष्य भाव क्या है? और उनमें असत्पुरुषों सा आचरण क्या है?॥49॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव॥50॥

युधिष्ठिर बोले—वेदों का स्वाध्याय ही ब्राह्मणों में देवत्व है, तप सत्पुरुषों का-सा धर्म है, मरना मनुष्य भाव है और निन्दा करना असत्पुरुषों का-सा आचरण है॥50॥

यक्ष उवाच

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव॥51॥

यक्ष ने पूछा—क्षत्रियों में देवत्व क्या है? उनमें सत्पुरुषों का-सा धर्म क्या है? उनका मनुष्य भाव क्या है? और उनमें असत्पुरुषों का-सा आचरण क्या है?॥51॥

युधिष्ठिर उवाच

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव॥52॥

युधिष्ठिर बोले—बाण विद्या क्षत्रियों का देवत्व है, यज्ञ उनका सत्पुरुषों का-सा धर्म है, भय मानवीय भाव है और शरण में आये हुए दुखियों का परित्याग कर देना उनमें असत्पुरुषों का-सा आचरण है॥52॥

यक्ष उवाच

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते॥53॥

यक्ष ने पूछा—कौन एक वस्तु यज्ञिय साम है? कौन एक (यज्ञ सम्बन्धी) यज्ञिय यजु है? कौन एक वस्तु यज्ञ का वरण करती है? और किस एक का यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता?॥53॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते॥54

युधिष्ठिर बोले—प्राण ही यज्ञिय साम है, मन ही यज्ञ सम्बन्धी यजु है, एकमात्र ऋचा ही यज्ञ का वरण करती है और उसी का यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता॥54॥

यक्ष उवाच

किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निवपतां वरम्।
किंस्वित्प्रतिष्ठमानानां किंस्वित्प्रसवतां वरम्॥55॥

यक्ष ने पूछा—खेती करने वालों के लिए कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? बिखेरने (बोने) वालों के लिए क्या श्रेष्ठ है? प्रतिष्ठा प्राप्त धनियों के लिए कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? तथा सन्तानोत्पादन करने वालों के लिए क्या श्रेष्ठ है?॥55॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम्।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः॥56॥

युधिष्ठिर बोले—खेती करने वालों के लिए वर्षा श्रेष्ठ है। बिखेरने (बोने) वालों के लिए बीज श्रेष्ठ है। प्रतिष्ठा प्राप्त धनियों के लिए गौ (का पालन-पोषण और संग्रह) श्रेष्ठ है और सन्तानोत्पादन करने वालों के लिए पुत्र श्रेष्ठ है।।56।।

यक्ष उवाच

इन्द्रियार्थाननुभवन् बुद्धिमाँल्लोकपूजितः।
सम्मतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन् को न जीवति॥57।।

यक्ष ने पूछा—ऐसा कौन पुरुष है, जो बुद्धिमान्, लोक में सम्मानित और सब प्राणियों का माननीय होकर एवं इन्द्रियों के विषयों को अनुभव करते तथा श्वास लेते हुए भी वास्तव में जीवित नहीं है।।57।।

युधिष्ठिर उवाच

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति॥58।।

युधिष्ठिर ने कहा—जो देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन, पितर और आत्मा—इन पाँचों का पोषण नहीं करता, वह श्वास लेने पर भी जीवित नहीं है।।58।।

यक्ष उवाच

किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात्।
किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद् बहुतरं तृणात्॥59।।

यक्ष ने पूछा—पृथ्वी से भारी क्या है? आकाश से भी ऊँचा क्या है? वायु से भी तेज चलने वाला क्या है? और तिनकों से भी अधिक (असंख्य) क्या है?।।59।।

युधिष्ठिर उवाच

माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात्॥60।।

युधिष्ठिर बोले—माता का गौरव पृथ्वी से भी अधिक है। पिता आकाश से भी ऊँचा है। मन वायु से भी तेज चलने वाला है और चिन्ता तिनकों से भी अधिक असंख्य एवं अनन्त है।।60।।

यक्ष उवाच

किंस्वित् सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति।
कस्यस्विद् धृदयं नास्ति किंस्विद् वेगेन वर्धते॥61।।

यक्ष ने पूछा—कौन सोने पर भी आँखें नहीं मूंदता? उत्पन्न होकर भी कौन चेष्टा नहीं करता? किसमें हृदय नहीं है? और कौन वेग से बढ़ता है?।।61।।

युधिष्ठिर उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते॥62।।

युधिष्ठिर बोले—मछली सोने पर भी आँखें नहीं मूंदती, अण्डा उत्पन्न होकर भी चेष्टा नहीं करता, पत्थर में हृदय नहीं है और नदी वेग से बढ़ती है।।62।।

यक्ष उवाच

किंस्वित् प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः।
आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः॥63।।

यक्ष ने पूछा—प्रवासी (परदेश के यात्री) का मित्र कौन है? गृहवासी (गृहस्थ) का मित्र कौन है? रोगी का मित्र कौन है? और मृत्यु के समीप पहुँचे हुए पुरुष का मित्र कौन है?।।63।।

युधिष्ठिर उवाच

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः।
आतुरस्य भिषङ् मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः॥64।।

युधिष्ठिर बोले—सहयात्रियों का समुदाय अथवा साथ में यात्रा करने वाला साथी ही प्रवासी का मित्र है, पत्नी गृहवासी का मित्र है, वैद्य रोगी का मित्र है और दान मुमूर्षु (अर्थात् मरने वाले) मनुष्य का मित्र है।।64।।

यक्ष उवाच

कोऽतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद् धर्मं सनातनम्।
अमृतं किंस्विद् राजेन्द्र किंस्वित् सर्वमिदं जगत्॥65।।

यक्ष ने पूछा—राजेन्द्र! समस्त प्राणियों का अतिथि कौन है? सनातन धर्म क्या है? अमृत क्या है? और यह सारा जगत् क्या है?।।65।।

युधिष्ठिर उवाच

अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम्।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत्॥66।।

युधिष्ठिर बोले—अग्नि समस्त प्राणियों का अतिथि है, गौ का दूध अमृत है, अविनाशी नित्य धर्म ही सनातन धर्म है और वायु यह सारा जगत् है।।66।।

यक्ष उवाच

किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः।
किंस्विद्धिमस्य भैषज्यं किंस्विदावपनं महत्॥67।।

यक्ष ने पूछा—अकेला कौन विचरता है? एक बार उत्पन्न होकर पुनः कौन उत्पन्न होता है? शीत की ओषधि क्या है? और महान् आवपन (क्षेत्र) क्या है?।।67।।

युधिष्ठिर उवाच

सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत्॥68।।

युधिष्ठिर बोले—सूर्य अकेला विचरता है, चन्द्रमा एक बार जन्म लेकर पुनः जन्म लेता है, अग्नि शीत की ओषधि है और पृथ्वी बड़ा भारी आवपन है।।68।।

यक्ष उवाच

किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः।
किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम्॥69।।

यक्ष ने पूछा—धर्म का मुख्य स्थान क्या है? यश का मुख्य स्थान क्या है? स्वर्ग का मुख्य स्थान क्या है? और सुख का मुख्य स्थान क्या है?।।69।।

युधिष्ठिर उवाच

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम्॥70।।

युधिष्ठिर बोले—धर्म का मुख्य स्थान दक्षता है, यश का मुख्य स्थान दान है, स्वर्ग का मुख्य स्थान सत्य है और सुख का मुख्य स्थान शील है।।70।।

यक्ष उवाच

किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद् दैवकृतः सखा।
उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम्॥71।।

यक्ष ने पूछा—मनुष्य की आत्मा क्या है? इसका दैवकृत सखा कौन है? इसका उपजीवन (जीवन का सहारा) क्या है? और इसका परम आश्रय क्या है?।।71।।

युधिष्ठिर उवाच

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम्॥72।।

युधिष्ठिर बोले—पुत्र मनुष्य की आत्मा है, स्त्री इसकी दैवकृत सहचरी है, मेघ उपजीवन है और दान इसका परम आश्रय है।।72।।

यक्ष उवाच

धन्यानामुत्तमं किंस्विद् धनानां स्यात् किमुत्तमम्।
लाभानामुत्तमं किं स्यात् सुखानां स्यात् किमुत्तमम्॥73।।

यक्ष ने पूछा—धन्यवाद के योग्य पुरुषों में उत्तम गुण क्या है? धनों में उत्तम धन क्या है? लाभों में प्रधान लाभ क्या है? और सुखों में उत्तम सुख क्या है?।।73।।

युधिष्ठिर उवाच

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम्।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा॥74।।

युधिष्ठिर बोले—धन्य पुरुषों में दक्षता ही उत्तम गुण है, धनों में शास्त्र ज्ञान प्रधान है, लाभों में आरोग्य श्रेष्ठ है और सुखों में सन्तोष ही उत्तम सुख है।।74।।

यक्ष उवाच

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः।
किं नयम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्न जीर्यते॥75॥

यक्ष ने पूछा—लोक में श्रेष्ठ धर्म क्या है? नित्य फल वाला धर्म क्या है? किसको वश में रखने से मनुष्य शोक नहीं करते? और किनके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती?॥75॥

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः।
मनो यम्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भिर्न जीर्यते॥76॥

युधिष्ठिर बोले—लोक में दया श्रेष्ठ धर्म है, वेदोक्त धर्म नित्य फल वाला है, मन को वश में रखने से मनुष्य शोक नहीं करते और सत्पुरुषों के साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती॥76॥

यक्ष उवाच

किं नु हित्वा प्रियो भवति किं नु हित्वा न शोचति।
किं नु हित्वार्थवान् भवति किं नु हित्वा सुखी भवेत्॥77॥

यक्ष ने पूछा—किस वस्तु को त्याग कर मनुष्य प्रिय होता है? किसको त्यागकर शोक नहीं करता? किसको त्यागकर वह अर्थवान् होता है? और किसको त्यागकर सुखी होता है?॥77॥

युधिष्ठिर उवाच

मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति।
कामं हित्वार्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत्॥78॥

युधिष्ठिर बोले—मान को त्याग देने पर मनुष्य प्रिय होता है, क्रोध को त्याग कर शोक नहीं करता, काम को त्याग कर वह अर्थवान् होता है और लोभ को त्याग कर सुखी होता है॥78॥

यक्ष उवाच

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु॥79॥

यक्ष ने पूछा—ब्राह्मण को किसलिए दान दिया जाता है? नट और नर्तकों को क्यों दान देते हैं? सेवकों को दान देने का क्या प्रयोजन है? और राजाओं को क्यों दान दिया जाता है?॥79॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थं नटनर्तके।
भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु॥80॥

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मण को धर्म के लिए दान दिया जाता है, नट-नर्तकों को यश के लिए दान (धन) देते हैं, सेवकों को उनके भरण-पोषण के लिए दान (वेतन) दिया जाता है और राजाओं को भय के कारण दान (कर) देते हैं।।80।।

यक्ष उवाच

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति॥81।।

यक्ष ने पूछा—जगत् किस वस्तु से ढका हुआ है? किसके कारण वह प्रकाशित नहीं होता? मनुष्य मित्रों को किसलिए त्याग देता है? और स्वर्ग में किस कारण नहीं जाता?।।81।।

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते।
लोभात् मित्राणि सङ्गात् स्वर्गं न गच्छति॥82।।

युधिष्ठिर बोले—जगत् अज्ञान से ढका हुआ है, तमोगुण के कारण वह प्रकाशित नहीं होता, लोभ के कारण मनुष्य मित्रों को त्याग देता है और आसक्ति के कारण स्वर्ग में नहीं जाता।।82।।

यक्ष उवाच

मृतः कथं स्यात्पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत्।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत्॥83।।

यक्ष ने पूछा—पुरुष किस प्रकार मरा हुआ कहा जाता है? राष्ट्र किस प्रकार मर जाता है? श्राद्ध किस प्रकार मृत हो जाता है? और यज्ञ कैसे नष्ट हो जाता है?।।83।।

युधिष्ठिर उवाच

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम्।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः॥84।।

युधिष्ठिर बोले—दरद्रि पुरुष मरा हुआ है यानी मरे हुए के समान है, बिना राजा का राज्य मर जाता है यानी नष्ट हो जाता है, श्रोत्रिय ब्राह्मण के बिना श्राद्ध मृत हो जाता है और बिना दक्षिणा का यज्ञ नष्ट हो जाता है।।84।।

यक्ष उवाच

का दिक् किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम्।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च॥85।।

यक्ष ने पूछा—दिशा क्या है? जल क्या है? अन्न क्या है? विष क्या है? और श्राद्ध का समय क्या है? यह बताओ। इसके बाद जल पीओ और ले भी जाओ।।85।।

युधिष्ठिर उवाच

सन्तो दिग् जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम्।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे॥86।।

युधिष्ठिर बोले—सत्पुरुष दिशा हैं, आकाश जल है, पृथ्वी अन्न है, प्रार्थना (कामना) विष है और ब्राह्मण ही श्राद्ध का समय है अथवा यक्ष! इस विषय में तुम्हारी क्या मान्यता है?।।86।।

यक्ष उवाच

तपः किंलक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता॥87।।

यक्ष ने पूछा—तप का क्या लक्षण बताया गया है? दम किसे कहा गया है? उत्तम क्षमा क्या बतायी गयी है? और लज्जा किसको कहा गया है?।।87।।

युधिष्ठिर उवाच

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम्॥88।।

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्म में तत्पर रहना तप है, मन के दमन का ही नाम दम है, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करना क्षमा है तथा न करने योग्य काम से दूर रहना लज्जा है।।88।।

यक्ष उवाच

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः।
दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम्॥89।।

यक्ष ने पूछा—राजन्! ज्ञान किसे कहते हैं? शम क्या कहलाता है? उत्तम दया किसका नाम है? और आर्जव (सरलता) किसे कहते हैं?।।89।।

युधिष्ठिर उवाच

ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता॥90।।

युधिष्ठिर बोले—परमात्म तत्त्व का यथार्थ बोध ही ज्ञान है, चित्त की शान्ति ही शम है, सबके सुख की इच्छा रखना ही उत्तम दया है और समचित्त होना ही आर्जव (सरलता) है।।90।।

यक्ष उवाच

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः॥91।।

यक्ष ने पूछा—मनुष्यों का दुर्जय शत्रु कौन है? अनन्त व्याधि क्या है? साधु कौन माना जाता है? और असाधु किसे कहते हैं?।।91।।

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः॥92।।

युधिष्ठिर बोले—क्रोध दुर्जय शत्रु है, लोभ अनन्त व्याधि है तथा जो समस्त प्राणियों का हित करने वाला हो, वही साधु है और निर्दयी पुरुष को ही असाधु माना गया है।।92।।

यक्ष उवाच

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः॥93।।

यक्ष ने पूछा—राजन्! मोह किसे कहते हैं? मान क्या कहलाता है? आलस्य किसे जानना चाहिये? और शोक किसे कहते हैं?।।93।।

युधिष्ठिर उवाच

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता।
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते॥94।।

युधिष्ठिर बोले—धर्ममूढ़ता ही मोह है, आत्माभिमान ही मान है, धर्म का पालन न करना आलस्य है और अज्ञान को ही शोक कहते हैं।।94।।

यक्ष उवाच

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम्।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते॥95।।

यक्ष ने पूछा—ऋषियों ने स्थिरता किसे कहा है? धैर्य क्या कहलाता है? परम स्नान किसे कहते हैं? और दान किसका नाम है?।।95।।

युधिष्ठिर उवाच

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम्॥96।।

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्म में स्थिर रहना ही स्थिरता है, इन्द्रिय निग्रह धैर्य है, मानसिक मलों का त्याग करना परम स्नान है और प्राणियों की रक्षा करना ही दान है।।96।।

यक्ष उवाच

कः पण्डितः पुमाञ्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते।
को मूर्खः कश्च कामः स्यात् को मत्सर इति स्मृतः॥97।।

यक्ष ने पूछा—किस पुरुष को पण्डित समझना चाहिए, नास्तिक कौन कहलाता है? मूर्ख कौन है? काम क्या है? तथा मत्सर किसे कहते हैं?।।97।।

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः॥98।।

युधिष्ठिर बोले—धर्मज्ञ को पण्डित समझना चाहिये, मूर्ख नास्तिक कहलाता है और नास्तिक मूर्ख है तथा जो जन्म मरण रूप संसार का कारण है, वह वासना काम है और हृदय की जलन ही मत्सर है।।98।।

यक्ष उवाच

कोऽहङ्कार इति प्रोक्तः कश्च दम्भः प्रकीर्तितः।
किं तद् दैवं परं प्रोक्तं किं तत् पैशुन्यमुच्यते॥99।।

यक्ष ने पूछा—अहङ्कार किसे कहते हैं? दम्भ क्या कहलाता है? जिसे परम दैव कहते हैं, वह क्या है? और पैशुन्य किसका नाम है?।।99।।

युधिष्ठिर उवाच

महाज्ञानमहङ्कारो दम्भो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम्॥100।।

युधिष्ठिर बोले—महान् अज्ञान अहङ्कार है, अपने को झूठ मूठ बड़ा धर्मात्मा प्रसिद्ध करना दम्भ है, दान का फल दैव कहलाता है और दूसरों को दोष लगाना पैशुन्य (चुगली) है।।100।।

यक्ष उवाच

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र सङ्गमः॥101।।

यक्ष ने पूछा—धर्म, अर्थ और काम—ये सब परस्पर विरोधी हैं। इन नित्य-विरुद्ध पुरुषार्थों का एक स्थान पर कैसे संयोग हो सकता है?।।101।।

युधिष्ठिर उवाच

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि सङ्गमः॥102।।

युधिष्ठिर बोले—जब धर्म और भार्या—ये दोनों परस्पर अविरोधी होकर मनुष्य के वश में हो जाते हैं, उस समय धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों परस्पर विरोधियों का भी एक साथ रहना सहज हो जाता है[1]।।102।।

यक्ष उवाच

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि॥103।।

---

1. धर्मानुकूल प्राप्त भार्या से धर्म का विरोध नहीं होता एवं वह पातिव्रत्य धर्म का पालन करने वाली हो, तो धर्म से उसका विरोध नहीं होता। इस प्रकार धर्मानुसार प्राप्त पातिव्रत्य धर्म का पालन करने वाली स्त्री और धर्म दोनों जिसके अनुकूल हो जाते हैं, वह धर्मात्मा गृहस्थ कभी दरिद्र नहीं होता। इसलिए उसके घर में धर्म, अर्थ और काम तीनों बिना विरोध के एक साथ रह सकते हैं।

यक्ष ने पूछा—भरतश्रेष्ठ! अक्षय नरक किस पुरुष को प्राप्त होता है? मेरे इस प्रश्न का शीघ्र ही उत्तर दो।।103।।

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिञ्चिनम्।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत्॥104।।
वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत्॥105।।
विद्यमाने धने लोभाद्दानभोगविवर्जितः।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत्॥106।।

युधिष्ठिर बोले—जो पुरुष भिक्षा माँगने वाले किसी अकिञ्चन ब्राह्मण को स्वयं बुलाकर फिर उसे 'नाहीं' कर देता है, वह अक्षय नरक में जाता है।।104।। जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता और पितृधर्मों में मिथ्याबुद्धि रखता है, वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है।।105।। धन पास रहते हुए भी जो लोभवश दान और भोग से रहित है तथा (माँगने वाले ब्राह्मणादि एवं न्याय युक्त भोग के लिए स्त्री पुत्रादि को) पीछे से यह कह देता है कि मेरे पास कुछ नहीं है, वह अक्षय नरक में जाता है।।106।।

यक्ष उवाच

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम्॥107।।

यक्ष ने पूछा—राजन्! कुल, आचार, स्वाध्याय और शास्त्र श्रवण—इनमें से किसके द्वारा ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है? यह बात निश्चय करके बताओ।।107।।

युधिष्ठिर उवाच

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥108।।
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥109।।
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥110।।
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥111।।

युधिष्ठिर बोले—तात यक्ष! सुनो न तो कुल ब्राह्मणत्व में कारण है न स्वाध्याय और न शास्त्र श्रवण। ब्राह्मणत्व का हेतु आचार ही है, इसमें संशय नहीं है।।108।। इसलिए प्रयत्नपूर्वक सदाचार की ही रक्षा करनी चाहिए। ब्राह्मण को तो उस पर विशेष रूप से दृष्टि रखनी जरूरी है; क्योंकि जिसका सदाचार अक्षुण्ण है, उसका ब्राह्मणत्व भी बना हुआ है और जिसका आचार नष्ट हो गया, वह तो स्वयं भी नष्ट हो गया।।109।।

पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले तथा शास्त्र का विचार करने वाले—ये सब तो व्यसनी और मूर्ख ही हैं। पण्डित तो वही है, जो अपने (शास्त्रोक्त) कर्त्तव्य का पालन करता है।।110।। चारों वेद पढ़ा होने पर भी जो दुराचारी है, वह अधमता में शूद्र से भी बढ़कर है। जो (नित्य) अग्निहोत्र में तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही 'ब्राह्मण' कहा जाता है।।111।।

यक्ष उवाच

प्रियवचनवादी किं लभते विमृशितकार्यकरः किं लभते।
बहुमित्रकरः किं लभते धर्मरतः किं लभते कथय॥112।।

यक्ष ने पूछा—बताओ! मधुर वचन बोलने वाले को क्या मिलता है? सोच-विचार कर काम करने वाला क्या पा लेता है? जो बहुत-से मित्र बना लेता है, उसे क्या लाभ होता है? और जो धर्मनिष्ठ है, उसे क्या मिलता है?।।112।।

युधिष्ठिर उवाच

प्रियवचनवादी प्रियो भवति विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति।
बहुमित्रकरः सुखं वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते॥113।।

युधिष्ठिर बोले—मधुर वचन बोलने वाला सबको प्रिय होता है, सोच-विचार कर काम करने वाले को अधिकतर सफलता मिलती है एवं जो बहुत-से मित्र बना लेता है, वह सुख से रहता है ओर धर्मनिष्ठ है, वह सद्गति पाता है।।113।।

यक्ष उवाच

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका।
ममैतांश्चतुरः प्रश्नान् कथयित्वा जलं पिब।।114।।

यक्ष ने पूछा—सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है?मार्ग क्या है और वार्ता क्या है? मेरे इन चार प्रश्नों का उत्तर देकर जल पीओ।।114।।

युधिष्ठिर उवाच

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥115।।
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥116।।
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः॥117।।
अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥118।।

युधिष्ठिर बोले—जलचर यक्ष! जिस पुरुष पर ऋण नहीं है और जो परदेश में नहीं है, वह भले ही पाँचवें या छठे दिन अपने घर के भीतर साग पात ही पकाकर खाता हो, तो भी वह सुखी है।।115।। संसार से रोज-रोज प्राणी यमलोक में जा रहे हैं; किन्तु

जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहने की इच्छा करते हैं; इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा?।।116।। तर्क की स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाए तथा धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है; अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।।117।। इस महामोह रूपी कड़ाहें में भगवान् काल समस्त प्राणियों को मास और ऋतुरूप करछी से उलट पलट कर सूर्य रूप अग्नि और रात-दिन रूप ईंधन के द्वारा राँध रहे हैं, यही वार्त्ता है।।118।।

यक्ष उवाच

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परन्तपः।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः॥119।।

यक्ष ने पूछा—परन्तप! तुमने मेरे सब प्रश्नों के उत्तर ठीक-ठीक दे दिये, अब तुम पुरुष की भी व्याख्या कर दो और यह बताओ कि सबसे बड़ा धनी कौन है?।।119।।

युधिष्ठिर उवाच

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा।
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते॥120।।
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥121।।
(भूतभव्यभविष्येषु निःस्पृहः शान्तमानसः।
सुप्रसन्नः सदा योगी स वै सर्वधनीश्वरः॥)

युधिष्ठिर बोले—जिस व्यक्ति के पुण्य कर्मों की कीर्ति का शब्द जब तक स्वर्ग और भूमि को स्पर्श करता है, तब तक वह पुरुष कहलाता है।।120।। जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और भूत-भविष्यत्—इन द्वन्द्वों में सम है, वही सबसे बड़ा धनी है। जो भूत, वर्तमान और भविष्य सभी विषयों की ओर से निःस्पृह, शान्तचित्त, सुप्रसन्न और सदा योगयुक्त है, वही सब धनियों का स्वामी है।।121।।

यक्ष उवाच

व्याख्यातः पुरुषो राजन् यश्च सर्वधनी नरः।
तस्मात् त्वमेकं भ्रातृणां यमिच्छसि स जीवतु॥122।।

यक्ष ने कहा—राजन्! जो सबसे बढ़कर धनी पुरुष है, उसकी तुमने ठीक-ठीक व्याख्या कर दी; इसलिए अपने भाइयों में से जिस एक को तुम चाहो, वही जीवित हो सकता है।।122।।

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो य रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु॥123।।

युधिष्ठिर बोले—यक्ष! यह जो श्यामवर्ण, अरुणनयन, सुविशाल शाल वृक्ष के समान ऊँचा और चौड़ी छाती वाला महाबाहु नकुल है, वही जीवित हो जाय।।123।।

यक्ष उवाच

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम्।
स कस्मान्नकुलं राजन् सापत्नं जीवमिच्छसि॥124।।
यस्य नागसहस्रेण दशसङ्ख्येन वै बलम्।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि॥125।।
तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव।
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि॥126।।
यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः समुपासते।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि॥127।।

यक्ष ने कहा—राजन्! यह तुम्हारा प्रिय भीमसेन है और यह तुम लोगों का सबसे बड़ा सहारा अर्जुन है; इन्हें छोड़कर तुम किसलिए सौतेले भाई नकुल को जिलाना चाहते हो?।।124।। जिसमें दस हजार हाथियों के समान बल है, उस भीम को छोड़कर तुम नकुल को ही क्यों जिलाना चाहते हो?।।125।। सभी मनुष्य भीमसेन को तुम्हारा प्रिय बतलाते हैं; उसे छोड़कर भला सौतेले भाई नकुल में तुम कौन-सा सामर्थ्य देखकर उसे जिलाना चाहते हो?।।126।। जिसके बाहुबल का सभी पाण्डवों को पूरा भरोसा है, उस अर्जुन को भी छोड़कर तुम्हें नकुल को जिला देने की इच्छा क्यों है?।।127।।

युधिष्ठिर उवाच

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मं न त्यजामि मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥128।।
आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम्।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु॥129।।
धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु॥130।।
कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः॥131।।
यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु॥132

युधिष्ठिर बोले—यदि धर्म का नाश किया जाए, तो वह नष्ट हुआ धर्म ही कर्त्ता को भी नष्ट कर देता है और यदि उसकी रक्षा की जाए, तो वही कर्त्ता की भी रक्षा कर लेता है। इसी से मैं धर्म का त्याग नहीं करता कि कहीं नष्ट होकर वह धर्म मेरा ही नाश न कर दे।।128।। यक्ष! मेरा ऐसा विचार है कि वस्तुतः अनृशंसता (दया तथा समता) ही परम धर्म है। यही सोचकर मैं सबके प्रति दया और समान भाव रखना चाहता हूँ; इसलिए नकुल ही जीवित हो जाए।।129।। यक्ष! लोग मेरे विषय में ऐसा समझते हैं कि

राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं; अतएव मैं अपने धर्म से विचलित नहीं होऊँगा। मेरा भाई नकुल जीवित हो जाय।।130।। मेरे पिता के कुन्ती और माद्री नाम की दो भार्याएँ रहीं। वे दोनों ही पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा विचार है।।131।। यक्ष! मेरे लिए जैसी कुन्ती है, वैसी ही माद्री। उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मैं दोनों माताओं के प्रति समान भाव ही रखना चाहता हूँ। इसलिए नकुल ही जीवित हो।।132।।

यक्ष उवाच

तस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्।
तस्मात् ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ॥133।।

यक्ष ने कहा—भरतश्रेष्ठ! तुमने अर्थ और काम से भी अधिक दया और समता का आदर किया है, इसलिए तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जाएँ।।133।।

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने
त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ 313 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत आरणेयपर्व में यक्ष प्रश्न विषय तीन सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।313।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठ का 1 श्लोक मिलाकर कुल 134 श्लोक हैं)

चतुर्थोऽध्याय :

यक्ष का चारों भाइयों को जिलाकर धर्म के रूप में प्रकट हो युधिष्ठिर को वरदान देना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम्॥1।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर यक्ष के कहते ही सब पाण्डव उठकर खड़े हो गये तथा एक क्षण में उन सबकी भूख-प्यास जाती रही।।1।।

युधिष्ठिर उवाच

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम्।
पृच्छामि को भवान् देवो न मे यक्षो मतो भवान्॥2।।
वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान्।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः॥3।।
मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः॥4।।
सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये।
स भवान् सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान्॥5।।

युधिष्ठिर बोले—इस सरोवर में एक पैर से खड़े हुए, किसी से भी पराजित न होने वाले आपसे मैं पूछता हूँ—आप कौन देवश्रेष्ठ हैं? मुझे तो आप यक्ष नहीं मालूम होते।।2।। आप वसुओं में से, रुद्रों में से अथवा मरुद्गणों में से कोई एक श्रेष्ठ पुरुष तो नहीं है? अथवा आप स्वयं वज्रधारी देवराज इन्द्र ही हैं?।।3।। मेरे ये भाई तो लाखों वीरों से युद्ध करने वाले हैं। ऐसा तो मैंने कोई योद्धा नहीं देखा, जिसने इन सभी को रणभूमि में गिरा दिया हो।।4।। अब जीवित होने पर भी इनकी इन्द्रियाँ सुख की नींद सोकर उठे हुए पुरुषों के समान स्वस्थ दिखायी देती हैं, अत: आप हमारे कोई सुहृद हैं अथवा पिता?।।5।।

यक्ष उवाच

अहं ते जनकस्तात धर्मोऽमृदुपराक्रम।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ॥6।।
यश: सत्यं दम: शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम॥7।।
अहिंसा समता शान्तिरानृशंस्यममत्सर:।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम॥8।।
दिष्ट्या पञ्चसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते साम्परायिके॥9।।
धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागत:।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ॥10।।
वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गति:॥11।।

यक्ष ने कहा—प्रचण्ड पराक्रमी भरतश्रेष्ठ तात युधिष्ठिर! मैं तुम्हारा जन्मदाता पिता धर्मराज हूँ। तुम्हें देखने की इच्छा से ही मैं यहाँ आया हूँ, मुझे पहचानो।।6।। यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचञ्चलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य—ये सब मेरे शरीर हैं।।7।। अहिंसा, समता, शान्ति, दया और अमत्सर—डाह का न होना—इन्हें मेरे पास पहुँचने के द्वार समझो। तुम मुझे सदा प्रिय हो।।8।। सौभाग्यवश तुम्हारा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान—इन पाँचों साधनों पर अनुराग है तथा सौभाग्य से तुम्हें भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—इन छहों दोषों को जीत लिया है। इनमें से पहले दो दोष आरम्भ से ही रहते हैं, बीच के दो तरुणावस्था आने पर होते हैं तथा बाद वाले दो दोष अन्तिम समय पर आते हैं।।9।। तुम्हारा मङ्गल हो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा व्यवहार जानने की इच्छा से ही यहाँ आया हूँ। निष्पाप राजन्! तुम्हारी दयालुता और समदर्शिता से मैं तुम पर प्रसन्न हूँ और तुम्हें वर देना चाहता हूँ।।10।। पापरहित राजेन्द्र! तुम मनोनुकूल वर माँग लो। मैं तुम्हें अवश्य दे दूँगा। जो मनुष्य मेरे भक्त हैं, उनकी कभी दुर्गति नहीं होती।।11।।

युधिष्ठिर उवाच

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति।
तस्याग्नयो न लुप्येरन् प्रथमोऽस्तु वरो मम॥12॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन्! पहला वर तो मैं यही माँगता हूँ कि जिस ब्राह्मण के अरणी सहित मन्थन काष्ठ को मृग लेकर भाग गया है, उसके अग्निहोत्र का लोप न हो॥12॥

यक्ष उवाच

अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया।
मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो॥13॥

यक्ष ने कहा—कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर! उस ब्राह्मण के अरणी सहित मन्थनकाष्ठ को तो तुम्हारी परीक्षा के लिए मैं ही मृगरूप से लेकर भाग गया था॥13॥

वैशम्पयान उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम॥14॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इसके बाद भगवान् धर्म ने उत्तर दिया कि (लो, अरणी और मन्थनकाष्ठ) तुम्हें दे ही देता हूँ। देवोपम नरेश! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम कोई दूसरा वर माँगो॥14॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदशमुपस्थितम्।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित्॥15॥

युधिष्ठिर बोले—हम बारह वर्ष तक वन में रह चुके। अब तेरहवाँ वर्ष आ गया है। अतः ऐसा वर दीजिये कि इसमें कहीं भी रहने पर लोग हमें पहचान न सकें॥15॥

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत।
भूयश्चाश्वासयामास कौन्तेयं सत्यविक्रमम्॥16॥
यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम्।
न वो विज्ञास्यते कश्चित् त्रिषु लोकेषु भारत॥17॥
वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात् कुरूद्वहाः।
विराट्नगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ॥18॥
यद् वः सङ्कल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम्।
तादृशं तादृशं सर्वे छन्दतो धारयिष्यथ॥19॥
अरणीसहितं चेद् ब्राह्मणाय प्रयच्छत।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा॥20॥

प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन् वै वरांस्तथा॥21॥
तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत्।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः॥22॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर भगवान् धर्म ने उत्तर में कहा—'मैं तुम्हें यह वर भी देता हूँ।' इसके बाद धर्मराज ने पुनः सत्यपराक्रमी युधिष्ठिर को आश्वासन देते हुए कहा—॥16॥ 'भरतनन्दन! यद्यपि तुम इस पृथ्वी पर इसी रूप से विचरोगे, तो भी तीनों लोकों में कोई भी तुम्हें नहीं पहचान सकेगा॥17॥ कुरुनन्दन पाण्डवगण! मेरी कृपा से तुम लोग तेरहवें वर्ष में गुप्त रूप से विराट्नगर में रहते हुए किसी से भी पहचाने न जाकर विचरण करोगे॥18॥ तथा तुममें से जो-जो मन से जैसा सङ्कल्प करेगा, वह इच्छानुसार वैसा वैसा ही रूप धारण कर सकेगा॥19॥ यह अरणी सहित मन्थनकाष्ठ उस ब्राह्मण को दे दो। तुम्हारी परीक्षा के लिए ही मैंने मृग का रूप धारण करके इसका हरण किया था॥20॥ सौम्य! इसके अतिरिक्त तुम एक और भी अभीष्ट वर माँग लो। वह मैं तुम्हें दूँगा। नरश्रेष्ठ! तुम्हें वर देते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है॥21॥ बेटा! तुम तीसरा भी महान् एवं अनुपम वर माँग लो। राजन्! तुम मेरे पुत्र हो और विदुर ने भी मेरे ही अंश से जन्म लिया है'॥22॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवो मया दृष्टो भवान्साक्षात्सनातनः।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः॥23॥
जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत्॥24॥

युधिष्ठिर बोले—पिताजी! आप सनातन देवाधिदेव हैं। आज मुझे साक्षात् आपके दर्शन हो गये। आप प्रसन्न होकर मुझे जो भी वर देंगे; उसे मैं शिरोधार्य करूँगा॥23॥ विभो! मुझे ऐसा वर दीजिये कि मैं लोभ, मोह और क्रोध को जीत सकूँ तथा दान, तप और सत्य में मेरा मन सदा लगा रहे॥24॥

धर्म उवाच

उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव।
भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति॥25॥

धर्मराज ने कहा—पाण्डुपुत्र! तुम तो स्वयं धर्मस्वरूप ही हो। अतः इन गुणों से तो स्वभाव से ही सम्पन्न हो। आगे भी तुम्हारे कथनानुसार तुममें ये सब धर्म बने रहेंगे॥25॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वान्तर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः।
समेताः पाण्डवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः॥26॥

उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने॥27॥
इदं समुत्थानसमागतं महत् पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम्।
पठन् नरः स्याद् विजितेन्द्रियो वशी सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग् भवेत्॥28॥
न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने परस्वहारे परदारमर्शने।
कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम्॥29॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर लोकरक्षक भगवान् धर्म अन्तर्धान हो गये एवं सुखपूर्वक सोकर उठने से श्रमरहित हुए मनस्वी वीर पाण्डवगण एकत्र होकर आश्रम में लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने उस तपस्वी ब्राह्मण को उसकी अरणी एवं मन्थनकाष्ठ दे दिये॥26-27॥ भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के पुनः जीवन लाभ करने से सम्बन्ध रखने वाले तथा पिता धर्म और पुत्र युधिष्ठिर के संवाद तथा समागम रूप कीर्ति को बढ़ाने वाले इस प्रशस्त उपाख्यान का जो पुरुष पाठ करता है, वह जितेन्द्रिय, वशी तथा पुत्र-पौत्रों से सम्पन्न होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है॥28॥ तथा जो लोग सदा इस मनोहर उपाख्यान को स्मरण रखेंगे; उनका मन अधर्म में, सुहृदों के भीतर फूट डालने में, दूसरों का धन हरने में, परस्त्रीगमन में अथवा कृपणता में कभी प्रवृत्त नहीं होगा॥29॥

इति श्रीमहाभारते वनपर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ 314 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत वनपर्व के अन्तर्गत आरणेयपर्व में नकुल आदि के जीवित होने आदि वरों की प्राप्ति विषयक तीन सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥314॥

युधिष्ठिरगीता-II सम्पूर्णा

सनत्सुजातीयगीता

प्रथमोऽध्याय:

विदुरजी के द्वारा स्मरण करने पर आये हुए सनत्सुजात ऋषि से धृतराष्ट्र को उपदेश देने के लिए उनकी प्रार्थना

धृतराष्ट्र उवाच

अनुक्तं यदि ते किञ्चिद्वाचा विदुर विद्यते।
तन्मे शुश्रूषतो ब्रूहि विचित्राणि हि भाषसे॥1॥

धतृराष्ट्र बोले—विदुर! यदि तुम्हारी वाणी से कुछ और कहना शेष रह गया हो तो कहो, मुझे उसे सुनने की बड़ी इच्छा है; क्योंकि तुम्हारे कहने का ढंग विलक्षण है॥1॥

विदुर उवाच

धृतराष्ट्र कुमारो वै यः पुराणः सनातनः।
सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत॥2॥
स ते गुह्यान् प्रकाशांश्च सर्वान् हृदयसंश्रयान्।
प्रवक्ष्यति महाराज सर्वबुद्धिमतां वरः॥3॥

विदुर ने कहा—भरतवंशी धृतराष्ट्र! कुमार 'सनत्सुजात' नाम से विख्यात जो (ब्रह्माजी के पुत्र) परम प्राचीन सनातन ऋषि हैं, उन्होंने (एक बार) कहा था—'मृत्यु है ही नहीं'॥2॥ महाराज! वे समस्त बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हैं, वे ही आपके हृदय में स्थित व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देंगे॥3॥

धृतराष्ट्र उवाच

किं त्वं न वेद तद् भूयो यन्मे ब्रूयात् सनातनः।
त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत् तव॥4॥

धृतराष्ट्र ने कहा—विदुर! क्या तुम उस तत्त्व को नहीं जानते, जिसे अब पुनः सनातन ऋषि मुझे बतावेंगे? यदि तुम्हारी बुद्धि कुछ भी काम देती हो तो तुम्हीं मुझे उपदेश करो॥4॥

विदुर उवाच

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम्॥5॥
ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत्।
न तेन गर्ह्यो देवानां तस्मादेतद् ब्रवीमि ते॥6॥

विदुर बोले—राजन्! मेरा जन्म शूद्रा स्त्री के गर्भ से हुआ है, अतः (मेरा अधिकार न होने से) इसके अतिरिक्त और कोई उपदेश देने का मैं साहस नहीं कर सकता, किन्तु कुमार सनत्सुजात की बुद्धि सनातन है, मैं उसे जानता हूँ।।5।। ब्राह्मण योनि में जिसका जन्म हुआ है, वह यदि गोपनीय तत्त्व का प्रतिपादन कर दे तो देवताओं की निन्दा का पात्र नहीं बनता। इसी कारण मैं आपको ऐसा कह रहा हूँ।।6।।

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रवीहि विदुर त्वं मे पुराणं तं सनातनम्।
कथमेतेन देहेन स्यादिहैव समागमः॥7।।

धृतराष्ट्र ने कहा—विदुर! उन परम प्राचीन सनातन ऋषि का पता मुझे बताओ। भला, इसी देह से यहाँ ही उनका समागम कैसे हो सकता है?।।7।।

वैशम्पायन उवाच

चिन्तयामास विदुरस्तमृषिं शंसितव्रतम्।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास भारत॥8।।
स चैनं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा।
सुखोपविष्टं विश्रान्तमथैनं विदुरोऽब्रवीत्॥9।।
भगवन् संशयः कश्चिद् धृतराष्ट्रस्य मानसः।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि॥10।।
यं श्रुत्वायं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत्।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ यथैनं न जरान्तकौ॥11।।
विषहेरन् भयामर्षौ क्षुत्पिपासे मदोद्भवौ।
अरतिश्चैव तन्द्री च कामक्रोधौ क्षयोदयौ॥12।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर विदुरजी ने उत्तम व्रत वाले उन सनातन ऋषि का स्मरण किया। उन्होंने भी यह जानकर कि विदुर मेरा स्मरण कर रहे हैं, प्रत्यक्ष दर्शन दिया।।8।। विदुर ने शास्त्रोक्त विधि से पाद्य, अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि अर्पण करके उनका स्वागत किया। इसके बाद जब वे सुखपूर्वक बैठकर विश्राम करने लगे, तब विदुर ने उनसे कहा—।।9।। 'भगवन्! धृतराष्ट्र के हृदय में कुछ संशय है, जिसका समाधान मेरे द्वारा किया जाना उचित नहीं है। आप ही इस विषय का निरूपण करने योग्य हैं।।10।। जिसे सुनकर ये नरेश सब दुःखों से पार हो जाएँ और लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, जरा-मृत्यु, भय-अमर्ष, भूख-प्यास, मद-ऐश्वर्य, चिन्ता-आलस्य, काम-क्रोध तथा अनवति-उन्नति—ये इन्हें कष्ट न पहुँचा सकें।।11-12।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि विदुरकृतसनत्सुजातप्रार्थने एकचत्वारिंशोऽध्यायः॥ 41 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्व के अन्तर्गत सनत्सुजात पर्व में विदुरजी के द्वारा सनत्सुजात की प्रार्थना विषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।41।।

द्वितीयोऽध्याय:

सनत्सुजातजी के द्वारा धृतराष्ट्र के विविध प्रश्नों का उत्तर

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी सम्पूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत्।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन्॥1।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर बुद्धिमान् एवं महामना राजा धृतराष्ट्र ने विदुर के कहे हुए उस वचन का भलीभाँति आदि करके उत्कृष्ट ज्ञान की इच्छा से एकान्त में सनत्सुजात मुनि से प्रश्न किया।।1।।

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि न मृत्युरस्तीति तव प्रवादम्।
देवासुरा ह्याचरन् ब्रह्मचर्यममृत्यवे तत् कतरन्नु सत्यम्॥2।।

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी! मैं यह सुना करता हूँ कि मृत्यु है ही नहीं, ऐसा आपका सिद्धान्त है। साथ ही यह भी सुना है कि देवता और असुरों ने मृत्यु से बचने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया था। इन दोनों में कौन-सी बात यथार्थ है?।।2।।

सनत्सुजात उवाच

अमृत्युः कर्मणा केचिन्मृत्युर्नास्तीति चापरे।
शृणु मे ब्रुवतो राजन् यथैतन्मा विशङ्किथाः॥3।।
उभे सत्ये क्षत्रियैतस्य विद्धि मोहान्मृत्युः सम्मतोऽयं कवीनाम्।
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि॥4।।
प्रमादाद् वै असुराः पराभवन्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च।
नैव मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जन्तून् न ह्यस्य रूपमुपलभ्यते हि॥5।।
यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहुरात्मावसन्नमृतं ब्रह्मचर्यम्।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम्॥6।।
अस्यादेशान्निःसरते नराणां क्रोधः प्रमादो लोभरूपश्च मृत्युः।
अहङ्कृतेनैव चरन् विमार्गान् न चात्मनो योगमुपैति कश्चित्॥7।।
ते मोहितास्तद्वशे वर्तमाना इतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति।
ततस्तान् देवा अनुविप्लवन्ते अतो मृत्युर्मरणाख्यामुपैति॥8।।
कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम्।
सदर्थयोगानवगमात् समन्तात् प्रवर्तते भोगयोगेन देही॥9।।
तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात्॥10।।

सनत्सुजात ने कहा—राजन्! (इस विषय में दो पक्ष हैं) मृत्यु है और वह (ब्रह्मचर्य पालन रूप) कर्म से दूर होती है—यह एक पक्ष है और 'मृत्यु है ही नहीं'—

यह दूसरा पक्ष है; परन्तु यह बात जैसी है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो और मेरे कथन में सन्देह न करना।।3।। क्षत्रिय! इस प्रश्न के उक्त दोनों ही पहलुओं को सत्य समझो। कुछ विद्वानों ने मोहवश इस मृत्यु की सत्ता स्वीकार की है; किन्तु मेरा कहना तो यह है कि प्रमाद ही मृत्यु है और अप्रमाद ही अमृत है।।4।। प्रमाद के कारण असुरगण (आसुरी सम्पत्ति वाले) मृत्यु से पराजित हुए और अप्रमाद से ही देवगण (दैवी सम्पत्ति वाले) ब्रह्मस्वरूप हुए। यह निश्चय है कि मृत्यु व्याघ्र के समान प्राणियों का भक्षण नहीं करती, क्योंकि उसका कोई रूप देखने में नहीं आता।।5।। कुछ लोग इस प्रमाद से भिन्न 'यम' को मृत्यु कहते हैं और हृदय से दृढ़तापूर्वक पालन किए हुए ब्रह्मचर्य को ही अमृत मानते हैं। यमदेव पितृलोक में राज्य शासन करते हैं। वे पुण्यात्माओं के लिए मङ्गलमय और पापियों के लिए अमङ्गलमय हैं।।6।। इन यम की आज्ञा से ही क्रोध, प्रमाद और लोभरूपी मृत्यु मनुष्यों के विनाश में ही प्रवृत्त होती है। अहङ्कार के वशीभूत होकर विपरीत मार्ग पर चलता हुआ कोई भी मनुष्य परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर पाता।।7।। मनुष्य (क्रोध, प्रमाद और लोभ से) मोहित होकर अहङ्कार के अधीन हो इस लोक से जाकर पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्कर में पड़ते हैं। मरने के बाद उनके मन, इन्द्रिय और प्राण भी साथ जाते हैं। शरीर से प्राणी रूपी इन्द्रियों का वियोग होने के कारण मृत्यु 'मरण' संज्ञा को प्राप्त होती है।।8।। प्रारब्ध कर्म का उदय होने पर कर्म के फल में आसक्ति रखने वाले लोग (देह त्याग के पश्चात्) परलोक का अनुगमन करते हैं; इसीलिए वे मृत्यु को पार नहीं कर पाते। देहाभिमानी जीव परमात्म साक्षात्कार के उपाय को न जानने से विषयों के उपभोग के कारण सब ओर (नाना प्रकार की योनियों में) भटकता रहता है।।9।। इस प्रकार विषयों का जो भोग है, वह अवश्य ही इन्द्रियों को महान् मोह में डालने वाला है और इन झूठे विषयों में राग रखने वाले मनुष्य की उनकी ओर प्रवृत्ति होनी स्वाभाविक है। मिथ्या भोगों में आसक्ति होने से जिसके अन्तःकरण की ज्ञान शक्ति नष्ट हो गयी है, वह सब ओर विषयों का ही चिन्तन करता हुआ मन-ही-मन उनका आस्वादन करता है।।10।।

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति लोकान् कामक्रोधावनुगृह्याशु पश्चात्।
एते बालान् मत्यवे प्रापयन्ति धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम्॥11।।
सोऽभिध्यायन्नुत्पतितान् निहन्यादनादरेणाप्रतिबुध्यमानः।
नैनं मृत्युर्मृत्युरिवात्ति भूत्वा एवं विद्वान् यो विनिहन्ति कामान्॥12।।
कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत् किञ्चित् पुरुषो रजः॥13।।
तमोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते।
मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रवत् सुखम्॥14।।
अमूढवृत्तेः पुरुषस्येह कुर्यात् किं वै मृत्युस्तार्ण इवास्य व्याघ्रः।
अमन्यमानः क्षत्रिय किञ्चिदन्यन्नाधीयीत निर्णुदन्निवास्य चायुः।15।।
स क्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः।

एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञाने तिष्ठन्न बिभेतीह मृत्योः।
विनश्यते विषये तस्य मृत्युर्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः॥16॥

पहले तो विषयों का चिन्तन ही लोगों को मारे डालता है। इसके बाद वह काम और क्रोध को साथ लेकर पुन: जल्दी ही प्रहार करता है। इस प्रकार ये विषय-चिन्तन (काम और क्रोध) ही विवेकहीन मनुष्यों को मृत्यु के निकट पहुँचाते हैं; परन्तु जो स्थिर बुद्धि वाले पुरुष हैं, वे धैर्य से मृत्यु के पार हो जाते हैं॥11॥ (अत: जो मृत्यु को जीतने की इच्छा रखता है) उसे चाहिये कि परमात्मा का ध्यान करके विषयों को तुच्छ मानकर उन्हें कुछ भी न गिनते हुए उनकी कामनाओं को उत्पन्न होते ही नष्ट कर डाले। इस प्रकार जो विद्वान् विषयों की इच्छा को मिटा देता है, उसको (साधारण प्राणियों की) मृत्यु की भाँति मृत्यु नहीं मारती (अर्थात् वह जन्म मरण से मुक्त हो जाता है)॥12॥ कामनाओं के पीछे चलने वाला मनुष्य कामनाओं के साथ ही नष्ट हो जाता है; परन्तु ज्ञानी पुरुष कामनाओं का त्याग कर देने पर जो कुछ भी जन्म-मरण रूप दु:ख है, उन सबको वह नष्ट कर देता है॥13॥ काम ही समस्त प्राणियों के लिए मोहक होने के कारण तमोमय और अज्ञानरूप है तथा नरक के समान दु:खदायी देखा जाता है। जैसे मद्यपान से मोहित हुए पुरुष चलते-चलते गड्ढे की ओर दौड़ पड़ते हैं, वैसे ही कामी पुरुष भोगों में सुख मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं॥14॥ जिसके चित्त की वृत्तियाँ विषय भोगों से मोहित नहीं हुई हैं, उस ज्ञानी पुरुष का इस लोक में तिनकों के बनाये हुए व्याघ्र के समान मृत्यु क्या बिगाड़ सकती है? इसलिए राजन्! विषय भोगों के मूल कारण रूप अज्ञान को नष्ट करने की इच्छा से दूसरे किसी भी सांसारिक पदार्थ को कुछ भी न गिनकर उसका चिन्तन त्याग देना चाहिए॥15॥ यह जो तुम्हारे शरीर के भीतर अन्तरात्मा है, मोह के वशीभूत होकर यही क्रोध, लोभ (प्रमाद) और मृत्यु रूप हो जाता है। इस प्रकार मोह से होने वाली मृत्यु को जानकर जो ज्ञाननिष्ठ हो जाता है, वह इस लोक में मृत्यु से कभी नहीं डरता। उसके समीप आकर मृत्यु उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे मृत्यु के अधिकार में आया हुआ मरणधर्मा मनुष्य॥16॥

धृतराष्ट्र उवाच

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान् द्विजातीनां पुण्यतमान् सनातनान्।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदा एतद् विद्वान् नोपैति कथं नु कर्म॥17॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजातियों के लिए यज्ञों द्वारा जिन पवित्रतम सनातन एवं श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति बतायी गयी है, यहाँ वेद उन्हीं को परम पुरुषार्थ कहते हैं। इस बात को जानने वाला विद्वान् उत्तम कर्मों का आश्रय क्यों न लें॥17॥

सनत्सुजात उवाच

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र तत्रार्थजातं च वदन्ति वेदाः।
अनीह आयाति परं परात्मा प्रयाति मार्गेण निहत्य मार्गान्॥18॥

सनत्सुजात ने कहा—राजन्! अज्ञानी पुरुष इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोकों में गमन करता है तथा वेद कर्म के बहुत-से प्रयोजन भी बताये हैं; परन्तु जो निष्काम पुरुष है,

वह ज्ञान मार्ग के द्वारा अन्य सभी मार्गों का बाध करके परमात्म स्वरूप होता हुआ ही परमात्मा को प्राप्त होता है।।18।।

धृतराष्ट्र उवाच

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण।
किं वास्य कार्यमथवा सुखं च तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत्॥19।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यदि वह परमात्मा ही क्रमशः इस सम्पूर्ण जगत् के रूप में प्रकट होता है तो उस अजन्मा और पुरातन पुरुष पर कौन शासन करता है? अथवा उसे इस रूप में आने की क्या आवश्यकता है और क्या सुख मिलता है?—यह सब मुझे ठीक-ठीक बताइये।।19।।

सनत्सुजात उवाच

दोषो महानत्र विभेदयोगे ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः।
तथास्य नाधिक्यमपैति किञ्चिदनादियोगेन भवन्ति पुंसः॥20।।
य एतद्वा भगवान् स नित्यो विकारयोगेन करोति विश्वम्।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः॥21।।

सनत्सुजात ने कहा—तुम्हारे इस प्रश्न के अनुसार जीव और ब्रह्म का विशेष भेद प्राप्त होता है, जिसे स्वीकार कर लेने पर वेद विरोध रूप महान् दोष की प्राप्ति होती है। अतएव अनादि माया के सम्बन्ध से जीवों का काम सुख आदि से सम्बन्ध होता रहता है। ऐसा होने पर भी जीव की महत्ता नष्ट नहीं होती; क्योंकि माया के सम्बन्ध से जीव के देहादि पुनः उत्पन्न होते रहते हैं।।20।। जो नित्य स्वरूप भगवान् हैं, वे ही परब्रह्म माया के सहयोग से इस विश्व ब्रह्माण की सृष्टि करते हैं। वह माया उन्हीं परब्रह्म की शक्ति है। महात्मा पुरुष इसे मानते हैं। इस प्रकार के अर्थ के प्रतिपादन में वेद भी प्रमाण हैं।।21।।

धृतराष्ट्र उवाच

येऽस्मिन् धर्मान् नाचरन्तीह केचित् तथा धर्मान् केचिदिहाचरन्ति।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते स्विदुताहो धर्मः प्रतिहन्ति पापम्॥22।।

धतृराष्ट्र बोले—इस जगत् में कुछ लोग ऐसे हैं, जो धर्म का आचरण नहीं करते तथा कुछ लोग उसका आचरण करते हैं, अतः धर्म पाप के द्वारा नष्ट होता है या धर्म ही पाप को नष्ट कर देता है?।।22।।

सनत्सुजात उवाच

उभयमेव तत्रोपयुज्यते फलं धर्मस्यैवेतरस्य च॥23।।
तस्मिन् स्थितो वाप्युभयं हि नित्यं ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम्।
तथान्यथा पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति सिद्धम्॥24।।
गत्वोभयं कर्मणा युज्यतेऽस्थिरं शुभस्य पापस्य स चापि कर्मणा।
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान् धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धिः॥25।।

सनत्सुजात ने कहा—राजन्! धर्म और पाप दोनों के पृथक् पृथक् फल होते हैं और उन दोनों का ही उपभोग करना पड़ता है।।23।। किन्तु परमात्मा में स्थित होने पर विद्वान् पुरुष उस (परमात्मा के) ज्ञान के द्वारा अपने पूर्वकृत पाप और पुण्य दोनों का नाश कर देता है; यह बात सदा प्रसिद्ध है। यदि ऐसी स्थिति नहीं हुई तो देहाभिमानी मनुष्य कभी पुण्य फल को प्राप्त करता है और कभी क्रमश: प्राप्त हुए पूर्वोपार्जित पाप के फल का अनुभव करता है।।24।। इस प्रकार पुण्य और पाप के जो स्वर्ग-नरक रूप दो अस्थिर फल हैं, उनका भोग करके वह (इस जगत् में जन्म ले) पुन: तदनुसार कर्मों में लग जाता है; किन्तु कर्मों के तत्त्व को जानने वाला पुरुष निष्काम धर्म रूप कर्म के द्वारा अपने पूर्व पाप का यहाँ ही नाश कर देता है। इस प्रकार धर्म ही अत्यन्त बलवान् है। इसलिए निष्काम भाव से धर्माचरण करने वालों को समयानुसार अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है।।25।।

धृतराष्ट्र उवाच

यानिहाहु: स्वस्य धर्मस्य लोकान् द्विजातीनां पुण्यकृतां सनातनान्।
तेषां क्रमान् कथय ततोऽपि चान्यान् नैतद् विद्वन् वेत्तुमिच्छामि कर्म॥26।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! पुण्य कर्म करने वाले द्विजातियों को अपने-अपने धर्म के फलस्वरूप जिन सनातन लोकों की प्राप्ति बतायी गई है; उनका क्रम बतलाइये तथा उनसे भिन्न जो अन्यान्य लोक हैं, उनका भी निरूपण कीजिये। अब मैं सकाम कर्म की बात नहीं जानना चाहता।।26।।

सनत्सुजात उवाच

येषां व्रतेऽथ विस्पर्धा बले बलवतामिव।
ते ब्राह्मणा इत: प्रेत्य ब्रह्मलोकप्रकाशका:॥27।।
येषां धर्मे च विस्पर्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम्।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ता: स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम्॥28।।
तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जना:।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम्॥29।।
यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोपलम्।
अन्नं पानं ब्राह्मणस्य तज्जीवेन्नानुसञ्ज्वरेत्॥30।।
यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम्।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान् नेतरो जन:॥31।।
यो वा कथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसञ्ज्वरेत्।
ब्रह्मस्वं नोपभुञ्जीत तदन्नं सम्मतं सताम्॥32।।
यथा स्वं वान्तमश्नाति श्वा वै नित्यमभूतये।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपसेवनात्॥33।।
नित्यमज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मण:।
ज्ञातीनां तु वसन् मध्ये तं विदुर्ब्राह्मणं बुधा:॥34।।
को ह्यनन्तरमात्मानं ब्राह्मणो हन्तुमर्हति।

निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वैतविवर्जितम्।।35।।
तस्माद्धि क्षत्रियस्यापि ब्रह्मावसति पश्यति॥36।।
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥37।।

सनत्सुजात ने कहा—जैसे दो बलवान् वीरों में अपना बल बढ़ाने की निमित्त एक-दूसरे से स्पर्धा रहती है, उसी प्रकार जो निष्काम भाव से यम-नियमादि के पालन में दूसरों से बढ़ने का प्रयास करते हैं, वे ब्राह्मण यहाँ से मरकर जाने के बाद ब्रह्मलोक में अपना प्रकाश फैलाते हैं।।27।। जिनकी धर्म के पालन में स्पर्धा है, उनके लिए वह ज्ञान का साधन है; किन्तु वे ब्राह्मण (यदि सकाम भाव से उसका अनुष्ठान करें) तो मृत्यु के पश्चात् यहाँ से देवताओं के निवास स्थान स्वर्ग में जाते हैं।।28।। ब्राह्मण के सम्यक् आचार की वेदवेत्ता पुरुष प्रशंसा करते हैं, किन्तु जो धर्मपालन में बहिर्मुख है, उसे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। जो (निष्काम भावपूर्वक) धर्म का पालन करने से अन्तर्मुख हो गया है, ऐसे पुरुष को श्रेष्ठ समझना चाहिए। जैसे वर्षा ऋतु में तृण-घास आदि की बहुतायत होती है, उसी प्रकार जहाँ ब्राह्मण के योग्य अन्न-पान आदि की अधिकता मालूम पड़े, उसी देश में रहकर वह जीवन निर्वाह करे। भूख-प्यास से अपने को कष्ट नहीं पहुँचाये।।29-30।। किन्तु जहाँ अपना माहात्म्य प्रकाशित न करने पर भय और अमङ्गल प्राप्त हो, वहाँ रहकर भी जो अपनी विशेषता प्रकट नहीं करता, वही श्रेष्ठ पुरुष है, दूसरा नहीं।।31।। जो किसी को आत्मप्रशंसा करते देख जलता नहीं तथा ब्राह्मण के स्वत्व का उपभोग नहीं करता, उसके अन्न को स्वीकार करने में सत्पुरुषों की सम्मति है।।32।। जैसे कुत्ता अपना वमन किया हुआ भी खा लेता है, उसी प्रकार जो अपने (ब्राह्मणत्व के) प्रभाव का प्रदर्शन करके जीविका चलाते हैं, वे ब्राह्मण वमन का भोजन करने वाले हैं और इससे उनकी सदा ही अवनति होती है।।33।। जो कुटुम्बीजनों के बीच में रहकर भी अपनी साधना को उनसे सदा गुप्त रखने का प्रयत्न करता है, ऐसे ब्राह्मणों को ही विद्वान् पुरुष ब्राह्मण मानते हैं।।34।। इस प्रकार जो भेदशून्य, चिह्नरहित, अविचल, शुद्ध एवं सब प्रकार के द्वैत से रहित आत्मा है, उसके स्वरूप को जानने वाला कौन ब्रह्मवेत्ता पुरुष उसका हनन (अधःपतन) करना चाहेगा?।।35।। इसलिए उपर्युक्त रूप से जीवन बिताने वाला क्षत्रिय भी ब्रह्म के स्वरूप का अनुभव करता है तथा ब्रह्म को प्राप्त होता है।।36।। जो उक्त प्रकार से वर्तमान आत्मा को उसके विपरीत रूप से समझता है, आत्मा का अपहरण करने वाले उस चोर ने कौन-सा पाप नहीं किया?।।37।।

अश्रान्तः स्यादनादाता सम्मतो निरुपद्रवः।
शिष्टो न शिष्टवत् स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित् कविः॥38।।
अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ।
ते दुर्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मणस्तनुम्॥39।।
सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद् य इह कश्चन।
न समानो ब्राह्मणस्य तस्मिन् प्रयतते स्वयम्॥40।।

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः।
न मान्यमानो मन्येत न मान्यमभिसञ्ज्वरेत्॥41।।
लोकः स्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत् सदा।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः॥42।।
अधर्मनिपुणा मूढा लोके मायाविशारदाः।
न मान्यं मानयिष्यन्ति मान्यानामवमानिनः॥43।।
न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा।
अयं हि लोको मानस्य असौ मौनस्य तद् विदुः॥44।।
श्रीः सुखस्येह संवासः सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि प्रज्ञाहीनेन क्षत्रिय॥45।।
द्वाराणि तस्येह वदन्ति सन्तो बहुप्रकाराणि दुराधराणि।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्या यथा न मोहप्रतिबोधनानि॥46।।

जो कर्त्तव्य पालन में कभी थकता नहीं, दान नहीं लेता, सत्पुरुषों में सम्मानित और उपद्रव रहित है तथा शिष्ट होकर भी शिष्टता का विज्ञापन नहीं करता, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता एवं विद्वान् है।।38।। जो लौकिक धन की दृष्टि से निर्धन होकर भी दैवी सम्पत्ति तथा यज्ञ उपासना आदि से सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी विषय से चलायमान नहीं होते। उन्हें ब्रह्म की साक्षात् मूर्ति समझना चाहिये।।39।। यदि कोई इस लोक में अभीष्ट सिद्ध करने वाले सम्पूर्ण देवताओं को जान ले, तो भी वह ब्रह्मवेत्ता के समान नहीं होता; क्योंकि वह तो अभीष्ट फल की सिद्धि के लिए ही प्रयत्न कर रहा है।।40।। जो दूसरों से सम्मान पाकर भी अभिमान न करे और सम्माननीय पुरुष को देखकर जले नहीं तथा प्रयत्न न करने पर भी विद्वान् लोग जिसे आदर दें, वही वास्तव में सम्मानित है।।41।। जगत् में जब विद्वान् पुरुष आदर दें, तब सम्मानित व्यक्ति को ऐसा मानना चाहिये कि आँखों को खोलने मीचने के समान अच्छे लोगों की यह स्वाभाविक वृत्ति है, जो आदर देते हैं।।42।। किन्तु इस संसार में जो अधर्म में निपुण, छल-कपट में चतुर और माननीय पुरुषों का अपमान करने वाले मूढ़ मनुष्य हैं, वे आदरणीय व्यक्तियों का भी आदर नहीं करते।।43।। यह निश्चित है कि मान और मौन सदा एक साथ नहीं रहते; क्योंकि मान से इस लोक में सुख मिलता है और मौन से परलोक में। ज्ञानीजन इस बात को जानते हैं।।44।। राजन्! लोक में ऐश्वर्यरूपा लक्ष्मी सुख का घर मानी गयी है, पर वह भी (कल्याण मार्ग में) लुटेरों की भाँति विघ्न डालने वाली है; किन्तु ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी प्रज्ञाहीन मनुष्य के लिए सर्वथा दुर्लभ है।।45।। सन्त पुरुष यहाँ उस ब्रह्मज्ञानमयी लक्ष्मी की प्राप्ति के अनेक द्वार बतलाते हैं, जो कि मोह को जगाने वाले नहीं हैं तथा जिनको कठिनता से धारण किया जाता है। उनके नाम हैं— सत्य, सरलता, लज्जा, दम, शौच और विद्या।।46।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः॥ 42 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्व के अन्तर्गत सनत्सुजात पर्व में बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।42।।

तृतीयोऽध्यायः

ब्रह्मज्ञान में उपयोगी मौन, तप, त्याग, अप्रमाद एवं दम आदि के लक्षण तथा मदादि दोषों का निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम्।
मौनेन विद्वानुत याति मौनं कथं मुने मौनमिहाचरन्ति॥1॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यह मौन किसका नाम है? (वाणी का संयम और परमात्मा का स्वरूप) इन दोनों में से कौन-सा मौन है? यहाँ मौन भाव का वर्णन कीजिये। क्या विद्वान् पुरुष मौन के द्वारा मौन रूप परमात्मा को प्राप्त होता है? मुने! संसार में लोग मौन का आचरण किस पकार करते हैं?॥1॥

सनत्सुजात उवाच

यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशन्ति ततोऽथमौनम्।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन्॥2॥

सनत्सुजात ने कहा—राजन्! जहाँ मन के सहित वाणी रूप वेद नहीं पहुँच पाते, उस परमात्मा का ही नाम मौन है; इसलिए वही मौन स्वरूप है। वैदिक तथा लौकिक शब्दों का जहाँ से प्रादुर्भाव हुआ है, वे परमेश्वर तन्मयतापूर्वक ध्यान करने से प्रकाश में आते हैं॥2॥

धृतराष्ट्र उवाच

ऋचो यजूंषि यो वेद सामवेदं च वेद यः।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते॥3॥

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन् जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को जानता है तथा पाप करता है, वह उस पाप से लिप्त होता है या नहीं?॥3॥

सनत्सुजात उवाच

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम्।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम्॥4॥
नच्छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम्।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले॥5॥

सनत्सुजात ने कहा—राजन्! मैं तुमसे असत्य नहीं कहता; ऋक्, साम अथवा यजुर्वेद कोई भी पाप करने वाले अज्ञानी की उसके पाप कर्म से रक्षा नहीं करते॥4॥ जो कपटपूर्वक धर्म का आचरण करता है, उस मिथ्याचारी का वेद पापों से उद्धार नहीं करते। जैसे पंख निकल आने पर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अन्तकाल में वेद भी उसका परित्याग कर देते हैं॥5॥

धृतराष्ट्र उवाच

न चेद् वेदा विना धर्मं त्रातुं शक्ता विचक्षण।
अथ कस्मात् प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः॥6।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वन्! यदि धर्म के बिना वेद रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं, तो वेदवेत्ता ब्राह्मणों के पवित्र होने का प्रलाप[1] चिरकाल से क्यों चला आता है?।।6।।

सनत्सुजात उवाच

तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति॥7।।
तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान्।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात् सआयते ज्ञानविदीपितात्मा॥8।।
ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वानथान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी।
अस्मिन् कृतं तत् परिगृह्य सर्वममुत्र भुङ्क्त्वा पुनरेति मार्गम्॥9।।
अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते।
ब्राह्मणानामिमे लोका ऋद्धे तपसि तिष्ठताम्॥10।।

सनत्सुजात ने कहा—महानुभाव! परब्रह्म परमात्मा के ही नाम आदि विशेष रूपों से इस जगत् की प्रतीति होती है। यह बात वेद अच्छी तरह से निर्देश करके कहते हैं। किन्तु वास्तव में उसका स्वरूप इस विश्व से विलक्षण बताया जाता है।।7।। उसी की प्राप्ति के लिए वेद में तप और यज्ञों का प्रतिपादन किया गया है। इन तप और यज्ञों के द्वारा उस श्रोत्रिय विद्वान् पुरुष को पुण्य की प्राप्ति होती है। फिर उस निष्काम कर्मरूप पुण्य से पाप को नष्ट कर देने के पश्चात् उसका अन्तःकरण ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है।।8।। तब वह विद्वान् पुरुष ज्ञान से परमात्मा को प्राप्त होता है; किन्तु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी पुरुष धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग फल की इच्छा रखते हैं, वे इस लोक में किये हुए सभी कर्मों को साथ ले जाकर उन्हें परलोक में भोगते हैं तथा भोग समाप्त होने पर पुन: इस संसार मार्ग में लौट आते हैं।।9।। इस लोक में जो तपस्या (सकाम भाव से) की जाती है, उसका फल परलोक में भोगा जाता है; परन्तु जो ब्रह्मोपासक इस लोक में निष्काम भाव से गुरुतर तपस्या करते हैं, वे इसी लोक में तत्त्व ज्ञान रूप फल प्राप्त करते हैं (और मुक्त हो जाते हैं)। इस प्रकार एक ही तपस्या ऋद्ध और समृद्ध के भेद से दो प्रकार की है।।10।।

धृतराष्ट्र उवाच

कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम्।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि यथा विद्याम तद् वयम्॥11।।

---

1. 'ऋक्यजु: सामभि: पूतो ब्रह्मलोके महीयते।' (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से पवित्र होकर ब्राह्मण ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है;) इत्यादि वेदवचन वेदवेत्ता ब्राह्मणों के पवित्र एवं निष्पाप होने की बात कहते हैं।

धृतराष्ट्र ने पूछा—सनत्सुजातजी! विशुद्ध भावयुक्त केवल तप ऐसा प्रभावशाली बढ़ा-चढ़ा कैसे हो जाता है? यह इस प्रकार कहिये, जिससे हम उसे समझ लें।।11।।

सनत्सुजात उवाच

निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परिचक्षते।
एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम्॥12।।
तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय।
तपसा वेदविद्वांसः परं त्वमृतमाप्नुयुः॥13।।

सनत्सुजात ने कहा—राजन्! यह तप सब प्रकार से निर्दोष होता है। इसमें भोग वासना रूप दोष नहीं रहता। इसलिए यह विशुद्ध कहा जाता है और इसीलिए यह विशुद्ध तप सकाम तप की अपेक्षा फल की दृष्टि से भी बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है।।12।। राजन्! तुम जिस (तपस्या) के विषय में मुझसे पूछ रहे हो, यह तपस्या ही सारे जगत् का मूल है; वेदवेत्ता विद्वान् इस (निष्काम) तप से ही परम अमृत मोक्ष को प्राप्त होते हैं।।13।।

धृतराष्ट्र उवाच

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम्॥14।।

धृतराष्ट्र बोले—सनत्सुजातजी! मैंने दोषरहित तपस्या का महत्त्व सुना। अब तपस्या के दोष हैं, उन्हें बताइये, जिससै में इस सनातन गोपनीय ब्रह्मतत्त्व को जान सकूँ।।14।।

सनत्सुजात उवाच

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषास्तथा नृशंसानि दशत्रि राजन्।
धर्मादयो द्वादशैते पितृणां शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम्॥15।।
क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्सा कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम्॥16।।
एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः॥17।।
विकत्थनः स्पृहयालुर्मनस्वी बिभ्रत् कोपं चपलोऽरक्षणश्च।
एतान् पापाः षण्नराः पापधर्मान्प्रकुर्वते नो त्रसन्तः सुदुर्गे॥18।।
सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी दत्तानुतापी कृपणो बलीयान्।
वर्गप्रशंसी वनितासु द्वेष्टा एते परे सप्त नृशंसवर्गाः॥19।।
धर्मश्च सत्यं च दमस्तपश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
यज्ञश्च दानं च धृतिः श्रुतं च व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य॥20।।

सनत्सुजात ने कहा—राजन्! तपस्या के क्रोध आदि बारह दोष हैं तथा तेरह प्रकार के नृशंस मनुष्य होते हैं। मन्वादि शास्त्रों में कथित ब्राह्मणों के धर्म आदि बारह

गुण प्रसिद्ध हैं।।15।। काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिकीर्षा, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्यों में रहने वाले ये बारह दोष मनुष्यों के लिए सदा ही त्याग देने योग्य हैं।।16।। नरश्रेष्ठ! जैसे व्याध मृगों को मारने का छिद्र (अवसर) देखता हुआ उनकी टोह में लगा रहता है, उसी प्रकार इनमें से एक-एक दोष मनुष्यों का छिद्र देखकर उन पर आक्रमण करता है।।17।। अपनी बहुत बड़ाई करने वाले, लोलुप, तनिक से भी अपमान को सहन न करने वाले, निरन्तर क्रोधी, चञ्चल और आश्रितों की रक्षा नहीं करने वाले—ये छ: प्रकार के मनुष्य पापी हैं। महान् सङ्कट में पड़ने पर भी ये निडर होकर इन पाप कर्मों का आचरण करते हैं।।18।। सम्भोग में ही मन लगाने वाले, विषमता रखने वाले, अत्यन्त मानी, दान देकर पश्चात्ताप करने वाले, अत्यन्त कृपण, अर्थ और काम की प्रशंसा करने वाले तथा स्त्रियों के दोषी—ये सात और पहले के छ: कुल तेरह प्रकार के मनुष्य नृशंस वर्ग (क्रूर समुदाय) कहे गये हैं।।19।। धर्म, सत्य, इन्द्रियनिग्रह तप, मत्सरता का अभाव, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष न देखना, यज्ञ करना, दान देना, धैर्य और शास्त्रज्ञान—ये ब्राह्मण के बारह व्रत हैं।।20।।

यस्त्वेतेभ्य: प्रभवेद् द्वादशभ्य: सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वार्थितो यस्तस्य स्वमस्तीति स वेदितव्य:॥21।।

दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम्।
तानि सत्यमुखान्याहुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण:॥22।।
दमो ह्यष्टादशगुण: प्रतिकूलं कृताकृते।
अनृतं चाभ्यसूया च कामार्थौ च तथा स्पृहा॥23।।
क्रोध: शोकस्तथा तृष्णा लोभ: पैशुन्यमेव च।
मत्सरश्च विहिंसा च परितापस्तथारति:॥24।।
अपस्मारश्चातिवादस्तथा सम्भावनाऽऽत्मनि।
एतैर्विमुक्तो दोषैर्य: स दान्त: सद्भिरुच्यते॥25।।
मदोऽष्टादशदोष: स्यात्त्यागो भवति षड् विध:।
विपर्यया: स्मृता एते मददोषा उदाहृता:॥26।।
श्रेयांस्तु षद् विधस्त्यागस्तृतीयो दुष्करो भवेत्।
तेन दु:खं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते॥27।।
श्रेयांस्तु षड् विधस्त्याग: श्रियं प्राप्य न हृष्यति।
इष्टापूर्ते द्वितीयं स्यान्नित्यवैराग्ययोगत:॥28।।
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृत:।
अप्यवाच्यं वदन्त्येतं स तृतीयो गुण: स्मृत:॥29।।
त्यक्तैर्द्रव्यैर्यद्भवति नोपयुक्तैश्च कामत:।
न च द्रव्यैस्तद्भवति नोपयुक्तैश्च कामत:॥30।।

जो इन बारह व्रतों (गुणों) पर अपना प्रभुत्व रखता है, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों को अपने अधीन कर सकता है। इनमें से तीन, दो या एक गुण से भी जो युक्त

है, उसके पास सभी प्रकार का धन है, ऐसा समझना चाहिए।।21।। दम, त्याग और अप्रमाद—इन तीन गुणों में अमृत का वास है। जो मनीषी (बुद्धिमान्) ब्राह्मण हैं, वे कहते हैं कि इन गुणों का मुख सत्य स्वरूप परमात्मा की ओर है (अर्थात् ये परमात्मा की प्राप्ति के साधन हैं)।।22।। दम अट्ठारह गुणों वाला है (निम्नाङ्कित अट्ठारह दोषों के त्याग को ही अट्ठारह गुण समझना चाहिये)—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय में विपरीत धारणा, असत्य भाषण, गुणों में दोष दृष्टि, स्त्री विषयक कामना, सदा धनोपार्जन में ही लगे रहना, भोगेच्छा, क्रोध, शोक, तृष्णा, लोभ, चुगली करने की आदत, डाह, हिंसा, संताप, शास्त्र में अरति, कर्त्तव्य की विस्मृति, अधिक बकवाद और अपने को बड़ा समझना—इन दोषों से जो मुक्त है, उसी को सत्पुरुष दान्त (जितेन्द्रिय) कहते हैं।।23-25।। मद में अट्ठारह दोष हैं; ऊपर जो दम के विपर्यय सूचित किये गये हैं, वे ही मद के दोष बताये गये हैं। त्याग छः प्रकार का होता है, वह छहों प्रकार का त्याग अत्यन्त उत्तम है; किन्तु इनमें तीसरा अर्थात् काम त्याग बहुत ही कठिन है, इसके द्वारा मनुष्य त्रिविध दुःखों को निश्चय ही पार कर जाता है। काम का त्याग कर देने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।।26-27।। राजेन्द्र! छः प्रकार का जो सर्वश्रेष्ठ त्याग है, उसे बताते हैं। लक्ष्मी को पाकर हर्षित न होना—यह प्रथम त्याग है; यज्ञ-होमादि में तथा कुएँ, तालाब और बगीचे आदि बनाने में धन खर्च करना दूसरा त्याग है और सदा वैराग्य से युक्त रहकर काम का त्याग करना—यह तीसरा त्याग कहा गया है। महर्षि लोग इसे अनिर्वचनीय मोक्ष का उपाय कहते हैं। अतः यह तीसरा त्याग विशेष गुण माना गया है।।28-29।। (वैराग्यपूर्वक) पदार्थों के त्याग से जो निष्कामता आती है, वह स्वेच्छापूर्वक उनका उपभोग करने से नहीं आती। अधिक धन सम्पत्ति के संग्रह से निष्कामता नहीं सिद्ध होती तथा कामना पूर्ति के लिए उसका उपभोग करने से भी काम का त्याग नहीं होता।।30।।

न च कर्मस्वसिद्धेषु दुःखं तेन च न ग्लपेत्।
सर्वैरेव गुणैर्युक्तो द्रव्यवानपि यो भवेत्॥31।।
अप्रिये च समुत्पन्ने व्यथां जातु न गच्छति।
इष्टान्पुत्रांश्च दारांश्च न याचेत कदाचन॥32।।
अर्हते याचमानाय प्रदेयं तच्छुभं भवेत्।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यष्टगुणो भवेत्॥33।।
सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथा सङ्ग्रहमेव च॥34।।
एवं दोषा मदस्योक्तास्तान्दोषान्परिवर्जयेत्।
तथा त्यागोऽप्रमादश्च स चाप्यष्टगुणो मतः॥35।।
अष्टौ दोषाः प्रमादस्य तान् दोषान् परिवर्जयेत्।
इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्त्युपेतः सुखी भवेत्॥36।।

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम्॥37॥
निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्।
एतद् धातृकृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम्॥38॥
दोषैरेतैर्वियुक्तस्तु गुणैरेतैः समन्वितः।
एतत् समृद्धमत्यर्थं तपो भवति केवलम्॥39॥
यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र सङ्क्षेपात् प्रब्रवीमि ते।
एतत्पापहरं पुण्यं जन्ममृत्युजरापहम्॥40॥

जो पुरुष सब गुणों से युक्त और धनवान् हो, यदि उसके किए हुए कर्म सिद्ध न हों तो उनके लिए दुःख एवं ग्लानि न करे॥31॥ कोई अप्रिय घटना हो जाए तो कभी व्यथा को न प्राप्त हो (यह चौथा त्याग है)। अपने अभीष्ट पदार्थ—स्त्री पुत्रादि की कभी याचना न करे (यह पाँचवाँ त्याग है)॥32॥ सुयोग्य याचक के आ जाने पर उसे दान करे (यह छठा त्याग है)। इन सबसे कल्याण होता है। इन त्यागमय गुणों से मनुष्य अप्रमादी होता है। उस अप्रमाद के भी आठ गुण माने गये हैं—सत्य, ध्यान, अध्यात्म विषयक विचार, समाधान, वैराग्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह॥33-34॥ ये आठ गुण त्याग और अप्रमाद दोनों के ही समझने चाहिये। इसी प्रकार जो मद के अट्ठारह दोष पहले बताये गये हैं, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। प्रमाद के आठ दोष हैं, उन्हें भी त्याग देना चाहिये॥35॥ भारत! पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन—इनकी अपने-अपने विषयों में जो भोगबुद्धि से प्रवृत्ति होती है, छः तो ये ही प्रमाद विषयक दोष हैं और भूतकाल की चिन्ता तथा भविष्य की आशा—दो दोष ये हैं। इन आठ दोषों से मुक्त पुरुष सुखी होता है॥36॥ राजेन्द्र! तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम, त्याग और अप्रमाद आदि गुण भी सत्यस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले हैं; सत्य में ही अमृत की प्रतिष्ठा है॥37॥ दोषों को निवृत्त करके ही यहाँ तप और व्रत का आचरण करना चाहिये, यह विधाता का बनाया हुआ नियम है। सत्य ही श्रेष्ठ पुरुषों का व्रत है। मनुष्य को उपुर्यक्त दोषों से रहित और गुणों से युक्त होना चाहिये। ऐसे पुरुष का ही विशुद्ध तप अत्यन्त समृद्ध होता है। राजन्! तुमने जो मुझसे पूछा है, वह मैंने सङ्क्षेप से बता दिया। यह तप जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था के कष्ट को दूर करने वाला, पापहारी तथा परम पवित्र है॥38-40॥

धृतराष्ट्र उवाच

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे॥41॥
द्विवेदाश्चैकवेदाश्चाप्यनृचश्च तथा परे।
तेषां तु कतरः स स्याद्यमहं वेद वै द्विजम्॥42॥

धृतराष्ट्र ने कहा—मुने! इतिहास पुराण जिनमें पाँचवाँ हैं, उन सम्पूर्ण वेदों के द्वारा कुछ लोगों का विशेष रूप से नाम लिया जाता है (अर्थात् वे पञ्चवेदी कहलाते हैं) दूसरे

लोग चुर्वेदी और त्रिवेदी कहे जाते हैं।।41।। इसी प्रकार कुछ लोग द्विवेदी, एकवेदी तथा अनृच[1] कहलाते हैं।इनमें से कौन-से ऐसे हैं, जिन्हें मैं निश्चित रूप से ब्राह्मण समझूँ?।।42।।

सनत्सुजात उवाच

एकस्य वेदस्याज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः॥43।।
एवं देवमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत् प्रवर्तते॥44।।
सत्यात् प्रच्यवमानानां सङ्कल्पश्च तथा भवेत्।
ततो यज्ञः प्रतायेत सत्यस्यैवावधारणात्॥45।।
मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा।
सङ्कल्पसिद्धः पुरुषः सङ्कल्पानधितिष्ठति॥46।।
अनैभृत्येन चैतस्य दीक्षितव्रतमाचरेत्।
नामैतद् धातुनिर्वृत्तं सत्यमेव सतां परम्॥47।।
ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः।
विद्याद् बहु पठन्तं तु द्विजं वै बहुपाठिनम्॥48।।
तस्मात् क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव वै द्विजम्।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया॥49।।
छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा पुरा जगौ महर्षिसङ्घ एषः।
छन्दोविदस्ते य उत नाधीतवेदा न वेदवेद्यस्य विदुर्हि तत्त्वम्॥50।।
छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य गता न वेदस्य न वेद्यमार्याः॥51।।
न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति कश्चित्त्वेतान् बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान् न स वेद वेद्यं सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्॥52।।
न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम्॥53।।

सनत्सुजात ने कहा—राजन्! सृष्टि के आदि में वेद एक ही थे, परन्तु न समझने के कारण (एक ही वेद के) बहुत-से विभाग कर दिए गए हैं। उस सत्यस्वरूप एक वेद के सारतत्त्व परमात्मा में तो कोई बिरला ही स्थित होता है।।43।। इस प्रकार वेद के तत्त्व को न जानकर भी कुछ लोग 'मैं विद्वान् हूँ' ऐसा मानने लगते हैं; फिर उनकी दान, अध्ययन और यज्ञादि कर्मों में (सांसारिक सुख की प्राप्ति रूप फल के) लोभ से प्रवृत्ति होती है।।44।। वास्तव में जो सत्यस्वरूप परमात्मा से च्युत हो गए हैं, उन्हीं का वैसा सङ्कल्प होता है। फिर सत्य रूप वेद के प्रामाण्य का निश्चय करके ही उनके द्वारा यज्ञों

---

1. जिन्होंने ऋगादि वेदों का अध्ययन नहीं किया है, वे अनृच कहलाते हैं

का विस्तार (अनुष्ठान) किया जाता है।।45।। किसी का यज्ञ मन से, किसी का वाणी से तथा किसी का क्रिया के द्वारा सम्पादित होता है। सत्य सङ्कल्प पुरुष सङ्कल्प के अनुसार ही लोकों को प्राप्त होता है।।46।। किन्तु जब तक सङ्कल्प सिद्ध न हो, तब तक दीक्षित व्रत का आचरण अर्थात् यज्ञादि कर्म करते रहना चाहिये। यह दीक्षित नाम 'दीक्षा व्रतादेशे' इस धातु से बना है। सत्पुरुषों के सत्यस्वरूप परमात्मा ही सबसे बढ़कर हैं।।47।। क्योंकि परमात्मा के ज्ञान का फल प्रत्यक्ष है और तप का फल परोक्ष है (इसलिए ज्ञान का ही आश्रय लेना चाहिए)। बहुत पढ़ने वाले ब्राह्मण को केवल बहुपाठी (बहुज्ञ) समझना चाहिये।।48।। इसलिए महाराज! केवल बातें बनाने से ही किसी को ब्राह्मण न मान लेना। जो सत्यस्वरूप परमात्मा से कभी पृथक् नहीं होता, उसी को तुम ब्राह्मण समझो।।49।। राजन्! अथर्वा मुनि एवं महर्षि समुदाय ने पूर्वकाल में जिनका गान किया है, वे ही छन्द (वेद) हैं। किन्तु सम्पूर्ण वेद पढ़ लेने पर भी जो वेदों के द्वारा जानने योग्य परमात्मा के तत्त्व को नहीं जानते, वे वास्तव में वेद के विद्वान् नहीं हैं।।50।। नरश्रेष्ठ! छन्द (वेद) उस परमात्मा में स्वच्छन्द सम्बन्ध से स्थित (स्वत:प्रमाण) हैं। इसलिए उनका अध्ययन करके ही वेदवेत्ता आर्यजन वेद्यरूप परमात्मा के तत्त्व को प्राप्त हुए हैं।।51।। राजन्! वास्तव में वेद के तत्त्व को जानने वाला कोई नहीं है अथवा यों समझो कि कोई बिरला ही उनका रहस्य जान पाता है। जो केवल वेद के वाक्यों को जानता है, वह वेदों के द्वारा जानने योग्य परमात्मा को नहीं जानता; किन्तु जो सत्य में स्थित है, वह वेदवेद्य परमात्मा को जानता है।।52।। जानने वालों में से कोई भी वेदों को अर्थात् उनके रहस्य को जानने वाला नहीं है; क्योंकि जानने में आने वाले मन-बुद्धि आदि के द्वारा न तो कोई वेद के रहस्य को जान पाता है और न जानने योग्य परमात्म तत्त्व को ही। जो मनुष्य केवल कर्म विधायक वेद को जानता है; वह तो बुद्धि द्वारा जानने में आने वाले पदार्थों को ही जानता है, वह (सकामी पुरुष) वास्तविक तत्त्व परब्रह्म परमात्मा को नहीं जानता।।53।।

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति॥54।।
धामांशभागस्य तथा हि वेदा यथा च शाखा हि महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथाऽऽमनन्ति तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे॥55।।
अभिजानामि ब्राह्मणं व्याख्यातारं विचक्षणम्।
यश्छिन्नविचिकित्सः स व्याचष्टे सर्वसंशयान्॥56।।
नास्य पर्येषणं गच्छेत् प्राचीनं नोत दक्षिणम्।
नार्वाचीनं कुतस्तिर्यङ् नादिशं तु कथञ्चन॥57।।
तस्य पर्येषणं गच्छेत्प्रत्यर्थिषु कथञ्चन।
अविचिन्वन्निमं वेदे तपः पश्यति तं प्रभुम्॥58।।
तूष्णीम्भूत उपासीत न चेष्टेन् मनसापि च।
उपावर्तस्व तद् ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम्॥59।।

मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः।
स्वलक्षणं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते॥60।।
सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत् तथा॥61।।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।
सत्ये वै ब्राह्मणस्तिष्ठंस्तद्विद्वान् सर्वविद् भवेत्॥62।।
धर्मादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति।
वेदानां चानुपूर्व्येण एतद् बुद्ध्या ब्रवीमि ते॥63।।

जो महापुरुष वेदों के रहस्य को जानता है, वह जानने योग्य परमात्मा को भी जानता है; परन्तु उस (जानने वाले) को न तो वेदों के शब्दों को जानने वाला जानता है और न वेद ही जानते हैं। तथापि वेद के रहस्य को जानने वाले जो ब्रह्मवेत्ता महापुरुष हैं, वे उस वेद के द्वारा ही वेद के रहस्य को जान लेते हैं (अर्थात् वेदों का कथन इतना गुप्त है कि केवल शब्द ज्ञान से उसका रहस्य एवं उसमें वर्णित परमात्म तत्त्व समझ में नहीं आता। अन्तःकरण शुद्ध होने पर सद्गुरु या प्रभु की कृपा से ही साधक उसे समझ पाता है)।।54।। द्वितीया के चन्द्रमा की सूक्ष्म कला को बताने के लिए जैसे वृक्ष की शाखा की ओर संकेत किया जाता है, उसी प्रकार उस सत्यस्वरूप परमात्मा का ज्ञान कराने के लिए ही वेदों का भी उपयोग किया जाता है; ऐसा विद्वान् पुरुष मानते हैं।।55।। मैं तो उसी को ब्राह्मण समझता हूँ, जो परमात्मा के तत्त्व को जानने वाला और वेदों की यथार्थ व्याख्या करने वाला हो, जिसके अपने सन्देह मिट गये हों और जो दूसरों के भी सम्पूर्ण संशयों को मिटा सके।।56।। इस आत्मा की खोज करने के लिए पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर की ओर जाने की आवश्यकता नहीं है; फिर आग्नेय आदि कोणों की तो बात ही क्या है? इसी प्रकार दिग्विभाग से रहित प्रदेश में भी उसे नहीं ढूँढ़ना चाहिये।।57।। आत्मा का अनुसन्धान अनात्म पदार्थों में तो किसी तरह करे ही नहीं, वेद के वाक्यों में भी न ढूँढ़ कर केवल तप के द्वारा उस प्रभु का साक्षात्कार करे।।58।। वागादि इन्द्रियों की सब प्रकार की चेष्टा से रहित होकर परमात्मा की उपासना करे, मन से भी कोई चेष्टा न करे। राजन्! तुम भी अपने हृदयाकाश में स्थित उस विख्यात परमेश्वर की बुद्धिपूर्वक उपासना करो।।59।। मौन रहने अथवा जङ्गल में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता। जो अपने आत्मा के स्वरूप को जानता है, वही श्रेष्ठ मुनि कहलाता है।।60।। सम्पूर्ण अर्थों को व्याकृत (प्रकट) करने के कारण ज्ञानी पुरुष 'वैयाकरण' कहलाता है। यह समस्त अर्थों का प्रकटीकरण मूलभूत ब्रह्म से ही होता है, अतः वही मुख्य वैयाकरण है; विद्वान् पुरुष भी इसी प्रकार अर्थों को व्याकृत (व्यक्त) करता है, इसलिए वह भी वैयाकरण है।।61।। जो (योगी) सम्पूर्ण लोकों को प्रत्यक्ष देख लेता है, वह मनुष्य उन सब लोकों को द्रष्टा कहलाता है; परन्तु जो एकमात्र सत्यस्वरूप ब्रह्म में ही स्थित है, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण सर्वज्ञ होता है।।62।। राजन्! पूर्वोक्त धर्म आदि में स्थित होने से तथा वेदों का क्रम से (विधिवत्) अध्ययन करने से भी मनुष्य इसी प्रकार

परमात्मा का साक्षात्कार करता है। यह बात अपनी बुद्धि द्वारा निश्चय करके मैं तुम्हें बता रहा हूँ।।63।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः॥ 43 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्व के अन्तर्गत सनत्सुजात वाक्य विषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।43।।

चतुर्थोऽध्याय:

ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्म का निरूपण

धृतराष्ट्र उवाच

सनत्सुजात यामिमां परां त्वं ब्राह्मीं वाचं वदसे विश्वरूपाम्।
परां हि कामेन सुदुर्लभां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यमिदं कुमार॥1।।

धृतराष्ट्र ने कहा—सनत्सुजातजी! आप जिस सर्वोत्तम और सर्वरूपा ब्रह्म सम्बन्धिनी विद्या का उपदेश कर रहे हैं, कामी पुरुषों के लिए वह अत्यन्त दुर्लभ है। कुमार! मेरा तो यह कहना है कि आप इस उत्कृष्ट विषय का पुन: प्रतिपादन करें।।1।।

सनत्सुजात उवाच

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या॥2।।

सनत्सुजात ने कहा—राजन्! तुम जो मुझसे बारम्बार प्रश्न करते समय अत्यन्त हर्षित हो उठते हो, सो इस प्रकार जल्दबाजी करने से ब्रह्म की उपलब्धि नहीं होती। बुद्धि में मन के लय हो जाने पर सब वृत्तियों का विरोध करने वाली जो स्थिति है, उसका नाम है ब्रह्मविद्या और वह ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही उपलब्ध होती है।।2।।

धृतराष्ट्र उवाच

अत्यन्तविद्यामिति यत् सनातनीं ब्रवीषि त्वं ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
अनारभ्यां वसतीह कार्यकाले कथं ब्राह्मण्यममृतत्वं लभेत॥3।।

धृतराष्ट्र ने कहा—जो कर्मों द्वारा आरम्भ होने योग्य नहीं है तथा कार्य के समय में भी जो इस आत्मा में ही रहती है, उस अनन्त ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली इस सनातन विद्या को यदि आप ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होने योग्य बता रहे हैं तो मुझ जैसे लोग ब्रह्म सम्बन्धी अमृतत्व (मोक्ष) को कैसे पा सकते हैं?।।3।।

सनत्सुजात उवाच

अव्यक्तविद्यामभिधास्ये पुराणीं बुद्ध्या च तेषां ब्रह्मचर्येण सिद्धाम्।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या॥4।।

सनत्सुजातजी बोले—अब मैं (सच्चिदानन्दघन) अव्यक्त ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली उस पुरातन विद्या का वर्णन करूँगा, जो मनुष्यों को बुद्धि और ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त होती है, जिसे पाकर विद्वान् पुरुष इस मरणधर्मा शरीर को सदा के लिए त्याग देते हैं तथा जो वृद्ध गुरुजनों में नित्य विद्यमान रहती है।।4।।

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमञ्जसा।
तत्कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद् ब्रह्मन् ब्रवीहि मे॥5।।

धृतराष्ट्र ने कहा—ब्रह्मन्! यदि वह ब्रह्मविद्या ब्रह्मचर्य के द्वारा ही सुगमता से जानी जा सकती है तो पहले मुझे यही बताइये कि ब्रह्मचर्य का पालन कैसे होता है?।।5।।

सनत्सुजात उवाच

आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम्॥6।।
अस्मिँल्लोके वै जयन्तीह कामान् ब्राह्मीं स्थितिं ह्यनुतितिक्षमाणाः।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहान् मुञ्जादिषीकामिव सत्त्वसंस्थाः॥7।।
शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत।
आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साजरामरा॥8।।
यः प्रावृणोत्यवितथेन वर्णानृतं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन्॥9।।
गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्तः।
मानं न कुर्यान्नादधीत रोषमेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः॥10।।
शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते॥11।।
आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते॥12।।

सनत्सुजातजी बोले—जो लोग आचार्य के आश्रम में प्रवेश कर अपनी सेवा से उनके अन्तरङ्ग भक्त हो ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे यहाँ शास्त्रकार हो जाते हैं और देह त्याग के पश्चात् परम योगरूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं।।6।। इस जगत् में जो लोग वर्तमान स्थिति में रहते हुए ही सम्पूर्ण कामनाओं को जीत लेते हैं और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करने के लिए ही नाना प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करते हैं, वे सत्त्व गुण में स्थित हो यहाँ ही मूञ्ज से सींक की भाँति इस देह से आत्मा को (विवेक द्वारा) पृथक् कर लेते हैं।।7।। भारत! यद्यपि माता और पिता—ये ही दोनों इस शरीर को जन्म देते हैं, तथापि आचार्य के उपदेश से जो जन्म प्राप्त होता है, वह परम पवित्र और अजर-अमर है।।8।। जो परमार्थ तत्त्व के उपदेश से सत्य को प्रकट करके अमरत्व प्रदान करते हुए ब्राह्मणादि वर्णों की रक्षा करते हैं, उन आचार्य को पिता माता ही समझना चाहिये तथा उनके किए हुए उपकार का स्मरण करके कभी उनसे द्रोह नहीं करना चाहिए।।9।। ब्रह्मचारी शिष्य

को चाहिये कि वह नित्य गुरु को प्रणाम करे, बाहर-भीतर से पवित्र हो प्रमाद छोड़कर स्वाध्याय में मन लगावे, अभिमान न करे, मन में क्रोध को स्थान न दे। यह ब्रह्मचर्य का पहला चरण है।।10।। जो शिष्य की वृत्ति से क्रम से ही जीवन निर्वाह करता हुआ पवित्र हो विद्या प्राप्त करता है, उसका यह नियम भी ब्रह्मचर्य का पहला ही पाद कहलाता है।।11।। अपने प्राण और धन लगाकर भी मन, वाणी तथा कर्म से आचार्य का प्रिय करे, यह दूसरा पाद कहलाता है।।12।।

समा गुरौ यथा वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन्द्वितीयः पाद उच्यते॥13।।
आचार्येणात्मकृतं विजानन् ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन।
यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः॥14।।
नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं प्राज्ञः कुर्वीत नैतदहं करोमि।
इतीव मन्येत न भाषयेत स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः॥15।।
कालेन पादं लभते तथार्थं ततश्च पादं गुरुयोगतश्च।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छेच्छास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति॥16।।
धर्मादयो द्वादश यस्य रूपमन्यानि चाङ्गानि तथा बलं च।
आचार्ययोगे फलतीति चाहुर्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम्॥17।।
एवं प्रवृत्तो यदुपालभेत वै धनमाचार्याय तदनुप्रयच्छेत्।
सतां वृत्तिं बहुगुणामेवमेति गुरोः पुत्रे भवति च वृत्तिरेषा॥18।।
एवं वसन् सर्वतो वर्धतीह बहून् पुत्राँल्लभते च प्रतिष्ठाम्।
वर्षन्ति चास्मै प्रदिशो दिशश्च वसन्त्यस्मिन् ब्रह्मचर्ये जनाश्च॥19।।
एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन्।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मलोकं मनीषिणः॥20।।
गन्धर्वाणामनेनैव रूपमप्सरसामभूत्।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्योऽप्यह्नाय जायते॥21।।
आकाङ्क्ष्यार्थस्य संयोगाद्रसभेदार्थिनामिव।
एवं ह्येते समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे॥22।।
य आश्रयेत् पावयेच्चापि राजन् सर्वं शरीरं तपसा तप्यमानः।
एतेन वै बाल्यमभ्येति विद्वान् मृत्युं तथा स जयत्यन्तकाले॥23।।
अन्तवतः क्षत्रिय ते जयन्ति लोकान् जनाः कर्मणा निर्मलेन।
ब्रह्मैव विद्वांस्तेन चाभ्येति सर्वं नान्यः पन्था अयनाय विद्यते॥24।।

गुरु के प्रति शिष्य का जैसा श्रद्धा और सम्मानपूर्ण बर्ताव हो, वैसा ही गुरु की पत्नी और पुत्र के साथ भी होना चाहिए। यह भी ब्रह्मचर्य का द्वितीय पाद कहलाता है।।13।। आचार्य ने जो अपना उपकार किया, उसे ध्यान में रखकर तथा उससे जो प्रयोजन सिद्ध हुआ, उसका भी विचार करके मन-ही-मन प्रसन्न होकर शिष्य आचार्य के प्रति जो ऐसा भाव रखता है कि इन्होंने मुझे बड़ी उन्नत अवस्था में पहुँचा दिया—यह ब्रह्मचर्य का तीसरा

पाद है।।14।। आचार्य के उपकार का बदला चुकाये बिना अर्थात् गुरु दक्षिणा आदि के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट किए बिना विद्वान् शिष्य वहाँ से अन्यत्र न जाए (दक्षिणा देकर या गुरु की सेवा करके) कभी मन में ऐसा विचार न लावे कि मैं गुरु का उपकार कर रहा हूँ तथा मुँह से भी कभी ऐसी बात न निकाले। यह ब्रह्मचर्य का चौथा पाद है।।15।। सनातनी विद्या के कुछ अंश को तथा उसके मर्म को तो मनुष्य समय के योग से प्राप्त करता है, कुछ अंश को गुरु के सम्बन्ध से तथा कुछ अंश को अपने उत्साह के सम्बन्ध से और कुछ अंश को परस्पर शास्त्र के विचार से प्राप्त करता है।।16।। पूर्वोक्त धर्मादि बारह गुण जिसके स्वरूप हैं तथा और भी जो धर्म के अङ्ग एवं सामर्थ्य हैं, वे भी जिसके स्वरूप हैं, वह ब्रह्मचर्य आचार्य के सम्बन्ध से प्राप्त वेदार्थ के ज्ञान से सफल होता है, ऐसा कहा जाता है।।17।। इस तरह ब्रह्मचर्य पालन में प्रवृत्त हुए ब्रह्मचारी को चाहिये कि जो कुछ भी धन (जीवन निर्वाह योग्य वस्तुएँ) भिक्षा में प्राप्त हों, उसे आचार्य को अर्पण कर दे। ऐसा करने से वह शिष्य सत्पुरुषों के अनेक गुणों से युक्त आचार को प्राप्त होता है। गुरुपुत्र के प्रति भी उसकी यही भावना रहनी चाहिए।।18।। ऐसी वृत्ति से गुरुगृह में रहने वाले शिष्य की इस संसार में सब प्रकार से उन्नति होती है। वह (गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके) बहुत-से पुत्र और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। सम्पूर्ण दिशा-विदिशाएँ उसके लिए सुख की वर्षा करती हैं तथा उसके निकट बहुत-से दूसरे लोग ब्रह्मचर्य पालन के लिए निवास करते हैं।।19।। इस ब्रह्मचर्य के पालन से ही देवताओं ने देवत्व प्राप्त किया और महान् सौभाग्यशाली मनीषी ऋषियों ने ब्रह्मलोक को प्राप्त किया।।20।। इसी के प्रभाव से गन्धर्वों और अप्सराओं को दिव्य रूप प्राप्त हुआ। इस ब्रह्मचर्य के ही प्रताप से सूर्यदेव समस्त लोकों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं।।21।। रसभेदरूप चिन्तामणि से याचना करने वालों को जैसे उनके अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी मनोवांछित वस्तु प्रदान करने वाला है। ऐसा समझ कर ये ऋषि-देवता आदि ब्रह्मचर्य के पालन से वैसे भाव को प्राप्त हुए।।22।। राजन्! जो इस ब्रह्मचर्य का आश्रय लेता है, वह ब्रह्मचारी यम-नियमादि तप का आचरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण शरीर को भी पवित्र बना लेता है तथा इससे विद्वान् पुरुष निश्चय ही अबोध बालक की भाँति राग-द्वेष से शून्य हो जाता है और अन्त समय में वह मृत्यु को भी जीत लेता है।।23।। राजन्! सकाम पुरुष अपने पुण्य कर्मों के द्वारा नाशवान् लोकों को ही प्राप्त करते हैं, किन्तु जो ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् है, वही उस ज्ञान के द्वारा सर्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। मोक्ष के लिए ज्ञान के सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है।।24।।

धृतराष्ट्र उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
सद् ब्रह्मणः पश्यति योऽत्र विद्वान् कथं रूपं तदमृतमक्षरं पदम्॥25।।

धृतराष्ट्र बोले—विद्वान् पुरुष यहाँ सत्य स्वरूप परमात्मा के जिस अमृत एवं अविनाशी परमपद का साक्षात्कार करते हैं, उसका रूप कैसा है? क्या वह सफेद सा, लाल सा, काजल सा काला या सुवर्ण जैसे पीले रङ्ग का प्रतीत होता है?।।25।।

सनत्सुजात उवाच

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमायसमर्कवर्णम्।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे नैतत् समुद्रे सलिलं बिभर्ति॥26॥
न तारकासु न च विद्युदाश्रितं न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य।
न चापि वायौ न च देवतासु नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये॥27॥
नैवर्क्षु तन्न यजुष्षु नाप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन् महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत्॥28॥
अपारणीयं तमसः परस्तात् तदन्तकोऽप्येति विनाशकाले।
अणीयो रूपं क्षुरधारया समं महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः॥29॥
सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद् ब्रह्म तद् यशः।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र हि॥30॥
अनामयं तन्महदुद्यतं यशो वाचो विकारं कवयो वदन्ति।
यस्मिञ्जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितं ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥31॥

सनत्सुजात ने कहा—यद्यपि श्वेत, लाल, काले, लोहे के सदृश अथवा सूर्य के समान प्रकाशमान अनेक प्रकार के रूप प्रतीत होते हैं, तथापि ब्रह्म का वास्तविक रूप न पृथ्वी में है, न आकाश में। समुद्र का जल भी उस रूप को नहीं धारण करता॥26॥ इस ब्रह्म का वह रूप न तारों में है, न बिजली के आश्रित है और न बादलों में ही दिखायी देता है। इसी प्रकार वायु, देवगण, चन्द्रमा और सूर्य में भी वह नहीं देखा जाता॥27॥ राजन्! ऋग्वेद की ऋचाओं में, यजुर्वेद के मन्त्रों में, अथर्ववेद के सूक्तों में तथा विशुद्ध सामवेद में भी वह नहीं दृष्टिगोचर होता। रथन्तर और बार्हद्रथ नामक साम में तथा महान् व्रत में भी उसका दर्शन नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्म नित्य है॥28॥ ब्रह्म के उस स्वरूप का कोई पार नहीं पा सकता। वह अज्ञानरूप अन्धकार से सर्वथा अतीत है। महाप्रलय में सबका अन्त करने वाला काल भी उसी में लीन हो जाता है। वह रूप अस्तुरे की धार के समान अत्यन्त सूक्ष्म और पर्वतों से भी महान् है (अर्थात् वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और महान् से भी महान् है)॥29॥ वही सबका आधार है, वही अमृत है, वही लोक, वही यश तथा वही ब्रह्म है। सम्पूर्ण भूत उसी से प्रकट हुए और उसी में लीन होते हैं॥30॥ विद्वान् कहते हैं, कार्यरूप जगत् वाणी का विकार मात्र है; किन्तु जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म रोग, शोक और पाप से रहित है और उसका महान् यश सर्वत्र फैला हुआ है। उस नित्य कारण स्वरूप ब्रह्म को जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं॥31॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः॥ 44 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्व के अन्तर्गत सनत्सुजात पर्व में सनत्सुजात वाक्य विषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥44॥

पञ्चमोऽध्यायः

गुण-दोषों के लक्षणों का वर्णन और ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन

सनत्सुजात उवाच

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्सुता॥1॥
द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः।
एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यान्पर्युपासते।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसञ्ज्ञो व्यवस्यति॥2॥
स्पृहयालुरुग्रः परुषो वा वदान्यः क्रोधं बिभ्रन्मनसा वै विकत्थी।
नृशंसधर्माः षडिमे जना वै प्राप्याप्यर्थं नोत सभाजयन्ते॥3॥
सम्भोगसंविद् विषमोऽतिमानी दत्त्वा विकत्थी कृपणो दुर्बलश्च।
बहुप्रशंसी वन्दितद्विट् सदैव सप्तैवोक्ताः पापशीला नृशंसाः॥4॥
धर्मश्च सत्यं च तपो दमश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया।
दानं श्रुतं चैव धृतिः क्षमा च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य॥5॥
यो नैतेभ्यः प्रच्यवेद् द्वादशभ्यः सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात्।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वान्वितो यो नास्य स्वमस्तीति च वेदितव्यम्॥6॥
दमस्त्यागोऽथाप्रमाद इत्येतेष्वमृतं स्थितम्।
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम्॥7॥
सद् वासद्वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते।
नरकप्रतिष्ठास्ते वै स्युर्य एवं कुर्वते जनाः॥8॥
मदोऽष्टादशदोषः स स्यात् पुरा योऽप्रकीर्तितः।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः॥9॥
कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम्।
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीडनम्॥10॥
ईर्ष्या मोदोऽतिवादश्च सञ्ज्ञानाशोऽभ्यसूयिता।
तस्मात् प्राज्ञो न माद्येत सदा ह्येतद् विगर्हितम्॥11॥

सनत्सुजातजी कहते हैं—राजन्! शोक, क्रोध, लोभ, काम, मान, अत्यन्त निद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता, गुणी में दोष देखना और निन्दा करना—ये बारह महान् दोष मनुष्यों के प्राणनाशक हैं। राजेन्द्र! क्रमशः एक के पीछे दूसरा आकर ये सभी दोष मनुष्यों को प्राप्त होते जाते हैं, जिनके वश में होकर मूढ़ बुद्धि मानव पापकर्म करने लगता है॥1-2॥ लोलुप, क्रूर, कठोरभाषी, कृपण, मन-ही-मन क्रोध करने वाले और अधिक आत्म प्रशंसा करने वाले—ये छः प्रकार के मनुष्य निश्चय ही क्रूर कर्म करने वाले होते हैं। ये प्राप्त हुई सम्पत्ति का उचित उपयोग नहीं करते॥3॥ सम्भोग में मन लगाने वाले, विषमता रखने वाले, अत्यन्त अभिमानी, दान देकर आत्मश्लाघा करने वाले, कृपण, असमर्थ होकर भी अपनी बहुत बड़ाई करने वाले और सम्मान्य

पुरुषों से सदा द्वेष रखने वाले—ये सात प्रकार के मनुष्य ही पापी और क्रूर कहे गये हैं।।4।। धर्म, सत्य, तप, इन्द्रियसंयम, डाह न करना, लज्जा, सहनशीलता, किसी के दोष न देखना, दान, शास्त्रज्ञान, धैर्य और क्षमा—ये ब्राह्मण के बारह महान् व्रत हैं।।5।। जो इन बारह व्रतों से कभी च्युत नहीं होता, वह इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन कर सकता है। इनमें से तीन, दो या एक गुण से भी जो युक्त है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता—ऐसा समझना चाहिए (अर्थात् उसकी किसी भी वस्तु में ममता नहीं होती)।।6।। इन्द्रियनिग्रह, त्याग और अप्रमाद—इनमें अमृत की स्थिति है। ब्रह्म ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन बुद्धिमान् ब्राह्मणों के ये ही मुख्य साधन हैं।।7।। सच्ची हो या झूठी, दूसरों की निन्दा करना ब्राह्मण को शोभा नहीं देता। जो लोग दूसरों की निन्दा करते हैं, वे अवश्य ही नरक में पड़ते हैं।।8।। मद के अट्ठारह दोष हैं, जो पहले सूचित करे भी स्पष्ट रूप से नहीं बताये गये थे—लोकविरोधी कार्य करना, शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करना, गुणियों पर दोषारोपण, असत्यभाषण,।।9।। काम, क्रोध, पराधीनता, दूसरों के दोष बताना, चुगली करना, धन का (दुरुपयोग से) नाश, कलह, डाह, प्राणियों को कष्ट पहुँचाना,।।10।। ईर्ष्या, हर्ष, बहुत बकवाद, विवेकशून्यता तथा गुणों में दोष देखने का स्वभाव। इसलिए विद्वान् पुरुष को मद के वशीभूत नहीं होना चाहिए; क्योंकि सत्पुरुषों ने इस मद को सदा ही निन्दित बताया है।।11।।

सौहृदे वै षड् गुणा वेदितव्याः प्रिये हृष्यन्त्यप्रिये च व्यथन्ते।
स्यादात्मनः सुचिरं याचते यो ददात्ययाच्यमपि देयं खलु स्यात्।
इष्टान् पुत्रान्विभवान् स्वांश्च दारानभ्यर्थितश्चार्हति शुद्धभावः॥12।।
त्यक्तद्रव्यः संवसेन्नेह कामाद्भुङ्क्ते कर्म स्वाशिषं बाधते च॥13।।
द्रव्यवान् गुणवानेवं त्यागी भवति सात्त्विकः।
पञ्च भूतानि पञ्चभ्यो निवर्तयति तादृशः॥14।।
एतत् समृद्धमप्यूर्ध्वं तपो भवति केवलम्।
सत्त्वात्प्रच्यवमानानां सङ्कल्पेन समाहितम्॥15।।
यतो यज्ञाः प्रवर्धन्ते सत्यस्यैवावरोधनात्।
मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा॥16।।
सङ्कल्पसिद्धं पुरुषमसङ्कल्पोऽधितिष्ठति।
ब्राह्मणस्य विशेषेण किञ्चान्यदपि मे शृणु॥17।।
अध्यापयेन् महदेतद् यशस्यं वाचो विकाराः कवयो वदन्ति।
अस्मिन् योगे सर्वमिदं प्रतिष्ठितं ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥18।।
न कर्मणा सुकृतेनैव राजन् सत्यं जयेज्जुहुयाद् वा यजेद्वा।
नैतेन बालोऽमृत्युमभ्येति राजन् रतिं चासौ न लभत्यन्तकाले॥19।।
तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेत मनसापि न।
तथा संस्तुतिनिन्दाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत्॥20।।
अत्रैव तिष्ठन् क्षत्रिय ब्रह्माविशति पश्यति।
वेदेषु चानुपूर्व्येण एतद् विद्वन् ब्रवीमि ते॥21।।

सौहार्द्र (मित्रता) के छः गुण हैं, जो अवश्य ही जानने योग्य हैं। सुहृद् का प्रिय होने पर हर्षित होना और अप्रिय होने पर कष्ट का अनुभव करना—ये दो गुण हैं। तीसरा गुण यह है कि अपना जो कुछ चिरसञ्चित धन है, उसे मित्र के माँगने पर दे डाले। मित्र के लिए अयाच्य वस्तु भी अवश्य देने योग्य हो जाती है और तो क्या सुहृद् के माँगने पर वह शुद्ध भाव से अपने प्रिय पुत्र, वैभव तथा पत्नी को भी उसके हित के लिए निछावर कर देता है।।12।। मित्र को धन देकर उसके यहाँ प्रत्युपकार पाने की कामना से निवास ने करे—यह चौथा गुण है। अपने परिश्रम से उपार्जित धन का उपभोग करे (मित्र की कमाई पर अवलम्बित न रहे) यह पाँचवाँ गुण है तथा मित्र की भलाई के लिए अपने भले की परवाह न करे—यह छठा गुण है।।13।। जो धनी गृहस्थ इस प्रकार गुणवान्, त्यागी और सात्त्विक होता है, वह अपनी पाँचों इन्द्रियों से पाँचों विषयों को हटा देता है।।14।। जो (वैराग्य की कमी के कारण) सत्त्व से भ्रष्ट हो गये हैं, ऐसे मनुष्यों के दिव्य लोकों की प्राप्ति के सङ्कल्प से सञ्चित किया हुआ यह इन्द्रिय निग्रह रूप तप समृद्ध होने पर भी केवल ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति का कारण होता है (मुक्ति का नहीं)।।15।। क्योंकि सत्यस्वरूप ब्रह्म का बोध न होने से ही इन सकाम यज्ञों की वृद्धि होती है। किसी का यज्ञ मन से, किसी का वाणी से और किसी का क्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है।।16।। सङ्कल्प सिद्ध अर्थात् सकामपुरुष से सङ्कल्परहित यानी निष्काम पुरुष की स्थिति ऊँची होती है; किन्तु ब्रह्मवेत्ता की स्थिति उससे भी विशिष्ट है। इसके सिवा एक बात ओर बताता हूँ, सुनो।।17।। यह महत्त्वपूर्ण शास्त्र परम यश रूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला है, इसे शिष्यों को अवश्य पढ़ाना चाहिये। परमात्मा से भिन्न यह सारा दृश्य प्रपञ्च वाणी का विकार मात्र है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इस योगशास्त्र में यह परमात्म विषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्रतिष्ठित है; इसे जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं।।18।। राजन्! (निष्काम भाव के बिना किए हुए) केवल पुण्य कर्म के द्वारा सत्यस्वरूप ब्रह्म को नहीं जीता जा सकता। अथवा जो हवन या यज्ञ किया जाता है, उससे भी अज्ञानी पुरुष अमरत्व—मुक्ति को नहीं पा सकता तथा अन्तकाल में उसे शान्ति भी नहीं मिलती।।19।। इसलिए सब प्रकार की चेष्टा से रहित होकर एकान्त में उपासना करे, मन से भी कोई चेष्टा न होने दे तथा स्तुति में राग और निन्दा में द्वेष न करे।।20।। राजन्! उपर्युक्त साधन करने से मनुष्य यहाँ ही ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसमें विलीन हो जाता है। विद्वन्! वेदों में क्रमशः विचार करे जो मैंने जाना है, वही तुम्हें बता रहा हूँ।।21।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि सनत्सुजातपर्वणि सनत्सुजातवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः॥ 45 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत उद्योगपर्व के अन्तर्गत सनत्सुजात पर्व में सनत्सुजात वाक्य विषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।45।।

सनत्सुजातगीता सम्पूर्णा

।। महाभारतीय-गीतामहोदधिः प्रथमभागः सम्पूर्णः ।।

दर्शन विभाग द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

		वर्ष	मूल्य
राजस्थानविश्वविद्यालयभारतीयदर्शनाध्ययनमाला:			
1.	**बौद्धार्थबाह्यार्थपर्यालोचनम्** - राजेन्द्रप्रसादशर्मा ISBN-81-86027-02-5	1993	225.00
2.	**सिद्धान्तलक्षणतत्त्वालोकप्रकाश:** - (प्रथमभाग:) पं. खड्गनाथ मिश्र, धर्मदत्त झा कृत सिद्धान्तलक्षणजगदीशीतत्त्वालोक की संस्कृत व्याख्या श्रीकृष्णशर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-04-1	1996	400.00
3.	**न्यायलीलावती** (प्रथम भाग) श्रीवल्लभाचार्य, दुर्गाधर झा कृत शाम्भवी एवं चन्द्रकान्त दवे कृत चन्द्रकान्ति हिन्दी व्याख्या द्वय संवलित - राजेन्द्र प्रसाद शर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-09-2	1996	400.00
4.	**सिद्धान्तलक्षणतत्त्वालोकप्रकाश:** (द्वितीयभाग:) पं. खड्गनाथ मिश्र, श्रीकृष्ण शर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-05-10	1997	400.00
5.	**पदार्थतत्त्वनिरूपणम्** – रघुनाथशिरोमणि विश्वम्भर पाहि एवं कुसुम जैन कृत हिन्दी पदानुवाद, भावानुवाद तथा रामभद्रसार्वभौमकृत पदार्थतत्त्वविवेचनप्रकाश संस्कृत टीका सहित ISBN-81-86027-06-8	1997	125.00
6.	**वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श** –विश्वम्भर पाहि ISBN-81-86027-10-6	2000	350.00
7.	**तत्त्वसङ्ग्रह:-शब्दार्थपरीक्षा** – आचार्यशान्तरक्षित रमेशचन्द्र शर्मा कृत हिन्दी अनुवाद एवं कमलशील की पञ्जिका पर आधारित व्याख्यासहित ISBN-81-86027-11-4	2000	200.00

8.	**सिद्धान्तलक्षणतत्त्वालोकप्रकाश**: (तृतीयभाग:) पं. खड्गनाथ मिश्र, श्रीकृष्णशर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-12-2	2003	350.00
9.	**न्यायलीलावती** (द्वितीय भाग) - श्रीवल्लभाचार्य, दुर्गाधर झा कृत शाम्भवी व्याख्या सहित, राजेन्द्रप्रसाद शर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-13-0	2004	400.00
10.	**न्यायलीलावती** (तृतीय भाग) - श्रीवल्लभाचार्य, दुर्गाधर झा कृत शाम्भवी, व्याख्या सहित, राजेन्द्रप्रसाद शर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-14-9	2005	400.00
11.	**पुरुषार्थ-शृङ्गारप्रकाश** श्रीभोजराजकृत शृङ्गारप्रकाश के धर्मार्थकाममोक्ष शृङ्गार रूप 18-21 प्रकाश, राजेन्द्र प्रसाद शर्मा व लोकेश कुमार शर्मा अनङ्ग कृत हिन्दी भावानुवाद सहित ISBN-81-86027-17-3	2010	300.00
12.	**गीतामहोदधि** प्रथमभाग, 1. गणेशगीता, 2. देवीगीता, 3. ईश्वरगीता, 4. रामगीता (अद्भुतरामायणोक्ता), 5. रामगीता (अध्यात्मरामायणोक्ता) तथा 6. रामगीता (स्कन्दपुराणोक्ता) का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन ISBN-81-86027-19-X	2010	300.00
13.	**गीतामहोदधि** द्वितीयभाग, 7. उद्धवगीता, 8. यमगीता, 9. कामगीता, 10. वसिष्ठगीता, 11. नारदगीता, तथा 12. विदुरगीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन ISBN-81-86027-20-3	2010	300.00
14.	**गीतामहोदधि** तृतीयभाग, 13. अनुगीता (काश्यपगीता व ब्राह्मणगीता), 14. हंसगीता, 15. बृहस्पतिगीता, 16. याज्ञवल्क्यगीता, 17. व्यासमैत्रेयगीता तथा 18. पराशर गीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन ISBN-81-86027-21-1	2010	300.00
15.	**गीतामहोदधि** चतुर्थ भाग, 19. शिवगीता, 20. अवधूतगीता, 21. अष्टावक्रगीता तथा 22. श्रीगुरुगीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-26-2	2018	300.00

16.	**महाभारतीय गीतामहोदधि** प्रथम भाग, 1. शौनक, 2. पुलस्त्य, 3. धौम्य, 4. अष्टावक्र, 5. हनुमद्, 6. आर्ष्टिषेण, 7. नहुष, 8. मार्कण्डेय, 9. सरस्वती, 10. मत्स्योपाख्यान, 11. बक, 12. युधिष्ठिर-I, 13. कौशिक (व्याध), 14. सावित्री, 15. युधिष्ठिर-II, 16.सनत्सुजातीय गीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-28-4	2018	600.00
17.	**महाभारतीय गीतामहोदधि** द्वितीय भाग, 17. भगवद्,18. विदुर, 19. जनक, 20. सेनजिद् I, 21.अश्म, 22. स्वायंभुवमनु, 23. भीष्मस्तवराज, 24. मनु, 25. उश्नो, 26. भार्गव, 27. यज्ञ, 28. नारायण, 29. आङ्गिरस (बृहस्पति), 30. कैकेय, 31. उतथ्य, 32. वामदेव, 33. ऋषभ, 34. ब्रह्म, 35. भीष्म, 36. खड्ग, 37. षड्ज, 38. सेनजिद् II, 39. पिङ्गला, 40. शम्पाक, 41. मङ्कि, 42. बोध्य, 43. आजगर, 44. शृगाल, 45. कर्मफल, 46. भृगु, 47. जापक, 48. मनुगीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-29-2	2018	600.00
18.	**महाभारतीय गीतामहोदधि** तृतीय भाग, 49. विष्णुवराह (अनुस्मृति), 50. गुरुशिष्य, 51. पञ्चशिख, 52. सनत्कुमार, 53. प्रह्लाद, 54. बलिवासव, 55. लक्ष्मीवासव, 56. नमुचिवासव, 57. जैगीषव्य, 58. व्यास, 59. मृत्यु, 60. जाजलि, 61. ब्रह्म, 62. विचख्नु, 63. गौतमचिरकारी, 64. कपिल, 65. असितदेवल, 66. माण्डव्यजनक, 67. पितापुत्र, 68. हारीत, 69. वृत्र, 70. समङ्ग, 71. श्रेयोवाचिका (गालव), 72. अरिष्टनेमि, 73. शुक्र, 74. पाराशर, 75. हंस, 76. सांख्ययोग, 77. वसिष्ठ, 78. मुनि गीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-30-0	2018	600.00
19.	**महाभारतीय गीतामहोदधि** चतुर्थ भाग, 79. याज्ञवल्क्य, 80. सुलभ, 81. व्यास, 82. ययाति, 83. नारद, 84. नारायणी, 85. बृहस्पति, 86. व्यासमैत्रेय, 87. माहेश्वर, 88. काम, 89. अनु, 90. काश्यप, 91. ब्राह्मण, 92. गुरुशिष्य, 93. अम्बरीश, 94. पाण्डव गीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-31-0	2018	600.00
20.	**योग अन्वीक्षा —** सुशिम दुबे ISBN-81-86027-31-9	2018	300.00

21.	**आचार्य विश्वम्भर पाहि के दार्शनिक विचारों की समीक्षा —** राजेन्द्रप्रसाद शर्मा व अनुभव वार्ष्णेय ISBN-81-86027-32-7	2018	300.00
22.	**भारतीय दर्शन चयनिका —** राजेन्द्रप्रसाद शर्मा व समीर कुमार ISBN-81-86027-33-5	2018	300.00

University of Rajasthan Philosophy Series

1.	**The Nietzschean Vision of Man** - Shirley Jethmalani ISBN-81-86027-00-9	1993	200.00
2.	**The Burden of Poetic Consciousness** - Edited by Shirley Jethmalani & P. C. Kar ISBN-81-86027-07-6	1996	125.00
3.	**Terrorism : An Enquiry in to its Nature and Roots -** Kusum Jain & Deepak Srivastava ISBN-81-86027-15-7	2010	350.00
4.	**नीतिशास्त्र के कुछ आधारभूत निबन्ध —** हिन्दी भावानुवाद कुसुम जैन द्वारा सम्पादित ISBN-81-86027-22-0	2010	150.00
5.	**Development : Various Dimensians and Approaches -** Edited by Kusum Jain ISBN-81-86027-16-5	2010	300.00
6.	**विकास की वैकल्पिक अवधारणा —** कुसुम जैन, राजकुमार शर्मा व मनीष सिनसिनवार ISBN-81-86027-23-8	2010	350.00
7.	**Various Dimensions of Environmental Ethics** — Kusum Jain ISBN-81-86027-24-6	2011	250.00

University of Rajasthan Foundational Studies

1.	**Studies in Formal Logic** - Biswambhar Pahi ISBN-81-86027-01-7	1993	250.00
2.	**जैव–नीतिशास्त्र की आधारभूत समस्याएँ —** कुसुम जैन, अंजना रानी व शोभा बारहठ ISBN-81-86027-25-4	2005	300.00